

015: gaJ32,2
G1

विद्युत छात्रावास में प्रदर्शन करते छात्रों को समझाने पहुंचे उपनिदेशक।

015:9x J 32,2 1197
G1

Rupeshwami
Shri Maribhaktirasa
mritasindhu

विवाहता की शादी दस माह पूरा हो चुकी है। पवन से हुई थी। विवाहिता का आरोप है कि पति मारपीट के साथ अप्राकृतिक यौन संबंध बनाता है। मुगलसराय समेत दो स्थानों पर घुमाने के बहाने ले गया और एक कमरे में उसे बंद कर दिया। थोड़ी देर में जब कमरे में शराब के नशे में धुत एक अजनबी पहुंचा तब मालूम हुआ कि पति ने रातभर के लिए उसका सौदा तय किया है। श्वसुर स्थान बिहारी अग्रवाल ने भी कई बार जबर्दस्ती की कोशिश की।

एडीजी कर रहे मानीटरिंग

दुष्कर्म में जमानत खारिज

वारणसी : जिला जज ओमप्रकाश की अदालत ने नाबालिग के साथ दुष्कर्म करने एवं आत्महत्या करने को विरुद्ध करने के मामले में नज़रबंदी को दो

छात्रों का आरोप था कि जब अफसर आते हैं तो उनके सामने अस्तर का ढाल दिखाने के लिए रखा जाता है लेकिन उनके जाते ही मटर की दाल बना दी जाती है। भोजन उन्हें कभी अच्छा नहीं मिलता।

ताल छोड़ डाक्टर फरार, प्राथमिकी

क्षेत्र के मुख्य अधिशासी अधिकारी जेबी सिंह ने घटना को गंभीरता से लेते हुए मंगलवार को अस्पतालकर्मियों का बयान लिया। अस्पताल में लगे सीसी कैमरे को जवाब देकर प्राथमिकी दर्ज की जा सकती है। साध ही जेबी सिंह ने आश्वासन दिया कि यदि डाक्टर के खिलाफ सबूत मिलें तो कड़ी कार्रवाई होगी।

सिपाही पर नहीं हुई कार्रवाई
कैप्ट पुलिस ने मामले को दबाने में सोमवार को दिनभर जुटे रहे सिपाही संजय के खिलाफ अब तक कोई कार्रवाई नहीं की है। आरोप है कि प्रबंधक से प्रार्थना पत्र लेने के बाद उसने संबंधित पुलिस अधिकांशियों को कोई सूचना नहीं दी और तहरीर लेकर प्रबंधक पर सुल्ह के लिए दबाव बनाता रहा।

वारणसी : छात्रों
ताल में तेनात डाक्टर
खिलाफ मंगलवार को कैप्ट

सीसी कैमरा सिस्टम जल्द
वाला चोकर वीर्य किशोर अपने साथी के साथ डाक्टर एसपी गुप्ता को दिखाने गया था। आरोप है कि डाक्टर ने किशोर को देखने के बहाने उसके साथ यौन शोषण किया व शम को आने के लिए कहते हुए तीन सौ रुपये भी थमाए। किशोर छात्रावास पहुंचा और प्रबंधक को घटना की जानकारी दी। प्रबंधक एक दर्जन से अधिक लोगों के साथ थाने पहुंचे और तहरीर देने के बाद अस्पताल गए। वहां डाक्टर व प्रबंधक के बीच काफी देर तक बहस हुई लेकिन डाक्टर आरोप को सुलझाते रहे। थक हार कर प्रबंधक, मुख्य अधिशासी अधिकारी के यहां गए। छात्रनी

ता, वारणसी : छात्रनी
ताल में तेनात डाक्टर
खिलाफ मंगलवार को कैप्ट

सीसी कैमरा सिस्टम जल्द
वाला चोकर वीर्य किशोर अपने साथी के साथ डाक्टर एसपी गुप्ता को दिखाने गया था। आरोप है कि डाक्टर ने किशोर को देखने के बहाने उसके साथ यौन शोषण किया व शम को आने के लिए कहते हुए तीन सौ रुपये भी थमाए। किशोर छात्रावास पहुंचा और प्रबंधक को घटना की जानकारी दी। प्रबंधक एक दर्जन से अधिक लोगों के साथ थाने पहुंचे और तहरीर देने के बाद अस्पताल गए। वहां डाक्टर व प्रबंधक के बीच काफी देर तक बहस हुई लेकिन डाक्टर आरोप को सुलझाते रहे। थक हार कर प्रबंधक, मुख्य अधिशासी अधिकारी के यहां गए। छात्रनी

ता, वारणसी : छात्रनी
ताल में तेनात डाक्टर
खिलाफ मंगलवार को कैप्ट

सीसी कैमरा सिस्टम जल्द
वाला चोकर वीर्य किशोर अपने साथी के साथ डाक्टर एसपी गुप्ता को दिखाने गया था। आरोप है कि डाक्टर ने किशोर को देखने के बहाने उसके साथ यौन शोषण किया व शम को आने के लिए कहते हुए तीन सौ रुपये भी थमाए। किशोर छात्रावास पहुंचा और प्रबंधक को घटना की जानकारी दी। प्रबंधक एक दर्जन से अधिक लोगों के साथ थाने पहुंचे और तहरीर देने के बाद अस्पताल गए। वहां डाक्टर व प्रबंधक के बीच काफी देर तक बहस हुई लेकिन डाक्टर आरोप को सुलझाते रहे। थक हार कर प्रबंधक, मुख्य अधिशासी अधिकारी के यहां गए। छात्रनी

सीसी कैमरा सिस्टम जल्द
वाला चोकर वीर्य किशोर अपने साथी के साथ डाक्टर एसपी गुप्ता को दिखाने गया था। आरोप है कि डाक्टर ने किशोर को देखने के बहाने उसके साथ यौन शोषण किया व शम को आने के लिए कहते हुए तीन सौ रुपये भी थमाए। किशोर छात्रावास पहुंचा और प्रबंधक को घटना की जानकारी दी। प्रबंधक एक दर्जन से अधिक लोगों के साथ थाने पहुंचे और तहरीर देने के बाद अस्पताल गए। वहां डाक्टर व प्रबंधक के बीच काफी देर तक बहस हुई लेकिन डाक्टर आरोप को सुलझाते रहे। थक हार कर प्रबंधक, मुख्य अधिशासी अधिकारी के यहां गए। छात्रनी

C. NO-1197

● ● ● ● ●

**Please return this volume on or before the date last stamped
Overdue volume will be charged 1/- per day.**

[illegible]

दिखाने के लिए रखा
उके लाने ही मटर

015: g2J3232

G1

006

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY.

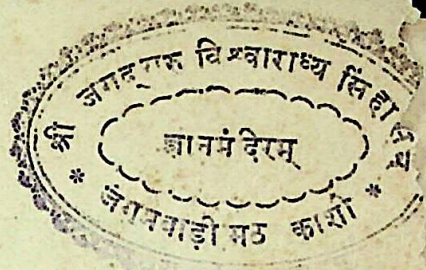
Jangamwadi Math, VARANASI.

Acc. No. 1197

1988

57

1931



श्रीः ।

संपादकस्य वक्तव्यविशेषः— C.No-11 १४



श्रीमद्ब्रह्मसूत्रम् श्रीमद्भगवद्गीता श्रीमद्भक्तिसूत्रम् श्रीमद्भक्त्योगम् श्रीमद्भक्त्योगम् श्रीमद्भक्त्योगम्
 ग्रहपूर्णतमाह्लादिनीशक्त्यभिनीकृतस्वरूपप्रेमावतारभगवत्श्रीश्रीगौरकृष्णः
 शरणम् ,

सौन्दर्ये कामकोटिः सकलजनसमाह्लादने चन्द्रकोटि-
 र्वात्सल्ये मातृकोटिस्त्रिदशविटपितोऽप्यद्भुतौदार्यकोटिः ।
 गाम्भीर्येऽम्भोधिकोटिर्मधुरिमणि सुधाक्षीरमाध्वीककोटि-
 गौरो देवः स जीयात् प्रणयरसपदे दर्शिताश्चर्य्यकोटिः ॥

इह किलानादिप्रवाहपरम्परया प्रवहमाणे प्रपञ्चे परीक्षकैः पटिमभिः
 परीक्षितस्वरूपात्मपदार्थे तद्विशेषस्य चेश्वरस्य धर्मिग्राहकमानैः सर्वज्ञत्वादि-
 विशिष्टस्य तत्त्वविचाराद्वितीयस्य च प्रतिपन्नत्वेऽपि ब्रह्मतायां ज्योतीरूप-
 तयैतस्यामूर्त्ततां भगवन्तायां च ज्योतिष्मत्त्वेन मूर्त्ततां प्राकृतगुणराहित्येन
 निर्विशेषतामप्राकृतानन्तकल्याणगुणधामतया च सविशेषतां संगिरमाणास्ता-
 वदुपनिषदादयस्सत्तर्कोपोद्बलिता विजयन्तेतस्मादित्यतिरोहितमेव निरपेक्ष-
 शास्त्रमार्मिकाणाम् ,

एवं हि करुणावशंवदत्त्वेनानितरसाध्यप्रयोजनसंपिपादयिष्या तत्तद्गु-
 णोपबृंहितमायोपधानेन हिरण्यगर्भादिसंज्ञास्तथा चिकीर्षितोपयुक्तस्वैश्वर्य्य-
 प्रकाशतारतम्यतश्च विलासाद्याख्याः; त्रिपादविभूतिः पादविभूताविर्भावा-
 त्मकावतारविभेदान् समयघटितनियमाक्रान्तविधित्सया युगमन्वन्तराद्यावि-
 र्भूतीश्चासादयतो यथोपयोगं स्वांशशक्तिकलाः संचार्य्य; योग्यविधेयानावि-
 ष्कृत्य; कापि चैष्वाविश्य; च जगदुद्धारैकव्रतस्यैश्वर्य्योपस्कृतानन्तमाधुर्य्यप्रा-

कठ्यानुसारेण पूर्णपूर्णतरपूर्णतमताश्चाधिकारिप्रपत्त्यनुरोधानुबन्धेन प्रकाशयतोऽस्योपासनामन्तरेण नतरां यावत्तापमात्रनिवृत्तिः स्वापारोक्ष्यं वास्तवस्वरूपानन्दानुभूतिर्वैति निखिलनिगमादिदुन्दुभिषोषः,

प्रत्यपादि चायमर्थः—“तरति शोकमात्मविद्” इत्यादिश्रुतिभिः,

“दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति त”-

इत्यादिस्मृतिभिश्च,

असूचिषत च भङ्ग्या प्रपदनीयत्वेन सच्चिदानन्दविग्रहो भगवान् , प्रपत्तत्वेन जीवाः, प्रपत्त्या तरणीयत्वेन माया च,

सुव्यांश्चिषत च सर्वस्थितिप्रयोजकताऽवच्छेदकतया सर्वप्रकाशकताऽवच्छेदकतया सर्वमुख्यप्राप्यताऽवच्छेदकतया च सिद्धाः क्रमेण संधिनीसंवित्त्वादिनीशक्तयः स्वाश्रयतादात्म्यभाजः,

यासु किलान्तिमाया वृत्तिविशेषो भक्तिः फलात्मकप्रीत्यादिरूपा, ससाधनामेनां वर्णयितुमेवैष श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुनामा निबन्धो न्यबन्धि द्रुतचित्ताधिकारिकृते,

इदमत्राकृतम्—अनादिवासनावशाद् द्रुताद्रुतचित्तशालितया द्विविधेषु जनेष्वधिकारिभेदेन प्रपत्तिपद्धतिरपि द्वैविध्यमश्नुते,

तत्राद्रुतचेतसस्तावदद्वैततत्त्वचिन्तयाऽद्वैते संभूय शोकं तरन्ति,

अपरे पुनः रुचिपरतन्त्रा भक्त्या द्रुतचित्ता द्रवप्रयोजकसत्त्वप्राधान्यात्तदानीमुद्भूतसात्त्विकप्रकाशवृत्तिप्रतिबिम्बोद्ग्राहियामप्राकृत्यां ह्लादिनीदीधितौ वस्तुतो रतिपदवाच्यायां विषयवैचित्र्याद् नानाविधाभिः स्वदमानायां मुख्यस्थायित्वेन व्यपदेश्यायां मुख्यरसस्वरूपताऽविर्भावस्वरूपयोग्यताशालिन्यां फलात्मिकायां भक्तावायतन्ते,

अत एव रसानां मुख्यत्वे पाञ्चविध्यमेव फलति, हास्यादीनां सप्तानां स्थायिषु रतेरुपस्कारकत्वेनाप्राधान्याद् हासादीनामेवाङ्गित्वाद् रसत्वं भवति

किन्तु गौणं; हासार्दानां चित्तधर्माणां प्राकृतत्वेन रसजातीयताविरहाद्,
एतेन मुन्यननुमोदितत्वभ्रान्त्या वितथं तथयितुकामाः पराकृताः, रसदर्शनप्रस्थानैदम्पर्यप्रापणाय खल्वयमेव घण्टापथः,

एवं चात्रेत्यं प्रणाडी पर्यवस्यति—

तत्रादौ नित्यकर्मानुष्ठानाद् विशुद्धेऽन्तःकरणे वैराग्योपोद्बलिते चेतस्यद्रुतचित्तानां तत्त्वज्ञानोदयान्मुख्यधिगमः, यद्वा—श्रवणादिसाधनसाहायकाद् द्रुते चेतसि रुच्यादिक्रमेण भगवति प्रेमोदयः, इत्थमधिकारिभेदेन व्यवस्था निर्धारिता शास्त्रैः,

एवं चाद्रुतचित्तानां वर्तमान्यन्यत्र प्रदर्श्य; द्रुतचित्तानामेनत्प्रदिदर्शयिष्वो विपश्चिदप्रेसराः सिद्धदेहा महाकवयो भावुकमूर्धन्याः श्रीरूपगोस्वामिचरणाः प्रकृतग्रन्थं निविभन्तसवः संदर्भसौकर्यायात्र सिन्ध्वारोपस्वारस्यात् पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरात्मनि विभागचतुष्टयेऽभिमतं प्रथमे सामान्यसाधनभावप्रेमलक्षणा भक्तीलहरीचतुष्केनोपपाद्य; द्वितीयस्मिन् रसनीयतौपयिकान् विभावानुभावसात्त्विकसंचारिस्थायिनः पञ्चलहरीभिः क्रमेण प्रदर्श्य; तृतीये च शान्तप्रीतप्रेयोवत्सलमधुराख्यानं पञ्च मुख्यरसान् तत्तल्लहरीभिस्तथैवोपपाद्य; शेषे तु सप्त गौणरसान् हास्याद्भुतवीरकरुणारौद्रभयानकवीभत्सान् रसानां मिथोविरोधाविरोधं तदाभासांश्च क्रमेण लहरीनवकेनापवर्ण्य; साकल्येन सपरिकरं भक्तिरसं व्यवतिष्ठिपन्,

अस्मिन्निबन्धे प्रधानतयोपपाद्यस्य भक्तिरसस्य संचेपतस्तत्त्वमवजिगमिषूणामुत्कण्ठाविनोदायैतत्सम्बद्धावश्यज्ञेयसंकलनस्य प्रतुष्टूषया किंचिदुपक्रम्यते—

इह तावद् रससंबद्धाः प्रश्नाः संचेपतश्चत्वारः समापतन्ति—रसः किंप्रमाणकः ? किंप्रयोजनः ? किंस्वरूपः ? कथं चोपलब्धव्य ? इति,

तत्र—

“मानाधीना मेयसिद्धिर्मानसिद्धिश्च लक्षणाद्”—

इत्यभिद्युक्तोक्तदिशा रसो येन प्रमित्सितव्यस्तदीये हि स्वरूपे यथाऽर्थ-
ज्ञानसाधनत्वात्मके फलतः सर्वसिद्धान्तरीत्या पर्यवसिते तत्संख्यायां तैर्थि-
कानां सगोत्रकलहस्यानपेक्षणीयत्वेनोत्थापनानर्हत्वात् प्रकृताचार्यानुमोदिता-
नामेव प्रमाणानामुपगन्तव्यतायां रसप्रस्थानिभिराचार्यैः प्रत्यक्षानुमानागमा-
एव प्रमाणत्वेनोपेयन्त इति वक्तुं युज्यते,

यद्यपि प्रमेयविशेषनिरूपणप्रवणतावशंवदेन शास्त्रकारेण “परमतमप्र-
तिषिद्धमनुमतं भवती”ति नयमनुसृत्य; प्रकृतविषयकसर्वोक्तित्रातस्यानुस-
र्त्तव्यताप्रसक्तावपि रसनादाभिन्नतानिबन्धनसमानतन्त्रसिद्धान्तादरेण संगी-
तशास्त्रोदितत्वप्रयुक्तं; रसप्रत्यायनधूर्वहतयाऽस्यादृतव्यञ्जनायां यदुपज्ञताऽस्ति
तेषां वैयाकरणानां राद्धान्ते महाभाष्यकारादिभिर्व्यवहृतत्वायत्तं; चरमोपेय-
तया पारमार्थिकस्वरूपप्रदर्शनपरायणानां महर्षिशाण्डिल्यादीनां सूत्राक्षरतो-
वा लब्धं त्रैविध्यमुक्तनिष्ठमेवेति प्रकृते निर्दिष्टा प्रमाणत्रय्येवेहानुमुद्यत इति
पक्षः शक्यस्वीकरणः;

परेषामत्रैवान्तर्भावादेतन्त्रिकेणैव रसः प्रमातव्यः, यद्यपि रसस्य प्रका-
शाभिन्नतया नापरेण प्रकाश्यताऽपेक्षा; तथाऽपि कथमपेक्षेत्यादिकमुपरिष्ठा-
न्निपुणतरमुपपादनीयम्,

तत्र प्रत्यक्षं तावन्नाट्यदर्शनां सहृदयानामानुभविकमैवेति नेह किमपि
विवक्षणीयम्, अनुमानमपि पक्षीकृतात्मनि “आत्मनस्तु कामाये”त्यादिभिः
श्रुतिभगवतीभिः प्रमापितेन निरतिशयप्रेमास्पदत्वेन हेतुना खल्वानन्दात्मक-
त्वसाधकतया स्वभ्युपगममेव, निरतिशयानन्दस्य रसात्मकतयाऽऽत्मनश्च र-
साभिन्नतया तदभिन्नाभिन्नस्य तदात्मकताया औत्सर्गिकत्वादिकमपि स्व-
रूपविवेचने प्रतिपिपादयिष्यमाणम्, आगमस्तु “रसो वै सः” इत्यादिरपि
किलोपक्रमोपसंहारादिभिर्निर्णीततत्परताको नैव तिरोहित इति प्रमाणसिद्धे
रसतत्त्वे न का चिद् विमतिः, ततश्च निरतिशयानन्दसाक्षात्कार एव प्रयो-
जनत्वेनावधार्यतेऽत्रेत्यास्माकीनः समयः,

प्रयोजने चेदमीये निश्चिकीषितव्येऽयमेव प्रयोजनात्मेति सिद्धान्तः, तथा हि—प्रयोजनं हि फलं, तच्च मुख्यगौरणरूपतया द्विविधं, फलान्तरेच्छा-
ऽधीनेच्छाविषयत्वं गौणत्वं, तदनधीनेच्छाऽस्पदत्वं तु मुख्यत्वं, तत्त्वं च
सुख एव विश्राम्यतीत्यत्र नैव विवादो विश्वजनीनानुभवसिद्धत्वात्,

यद्यपि लोके सुखत्वेन व्यवहियमाणं न वस्तुतः सुखं; विनाशित्वेन
दुःखाधायकत्वाद्, यदाहुर्महर्षिपतञ्जलिपादाः—“परिणामतापसंस्कार-
दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च सर्वमेव दुःखं विवेकिनः” अत एव दुःखमिश्रित-
त्वेन सुखस्यापि मधुसंपृक्तगरलवद्वेयत्वात्तदपि दिध्वंसयिषितव्यमेवेति
महर्षिगोतमपादा व्यवतिष्ठिपन्; तथाऽपि वांस्तविकसुखमलभमानाः संसा-
रिणस्तदाभासेनैव कृतकृत्यंसन्यमानाः समवलोक्यन्ते,

वस्तुतः सुखं च “आनन्दो ब्रह्मणो विद्वान्” “तस्यैवानन्दस्यान्ये मात्रा-
मुपजीवन्ती”त्यादिभिर्भगवतीभिः श्रुतिभिरेवावगमितं, तच्चात्मस्वरूपघटक-
तया परिणामादिदुःखकालुष्यासंपृक्तमित्यात्मस्वरूपावगत्या स्ववगममौपनि-
षदप्रस्थानाध्वनीनैः, अत एवेदं विविच्यमानं रसतत्त्वं साहित्यदर्शनपरमजी-
वारुपात्मस्वरूपोपजीव्यतयाऽऽश्रित्य चतुर्मुखादिभरतमुन्यन्ताचार्याणामा-
र्षप्रमाणोपबृंहितं रसशास्त्रत्वेन व्यपदेश्यं न दर्शनान्तरैर्गतार्थमाशङ्कितव्यम्,
दर्शनान्तरेषु किल लौकायतिकसौगतानामात्मनः शाश्वतिकतैव दुर्लभेति
निर्दिष्टदूषणं जागरूकमेव,

विवसनसमये कथमपि नित्यत्वेऽपि तस्यानन्दता शशविषाणायमानैव,
नैयायिकवैशेषिकाणां मते तन्नित्यत्वेऽपि निरानन्दतैवैतस्य स्वरूपं, सा-
नन्दता तु दुःखवत्ताऽऽवृत्तैवेति न सिषाधयिषितसिद्धिः,

कापिलपातञ्जलानामपि तथात्वेन तथात्वेवेति नाभीष्टपूर्तिः,
अध्वरमीमांसाविदां नयेषु प्रायेणोक्तचर्यैवाशान्तिः क चिन्मुक्तौ नित्य-
सुखाभिव्यक्त्यभ्युपगमेऽपि दुर्निवाराऽर्थान्तरता, मुक्तिः पूर्वं तदीयव्यक्ते-
रसत्करूपत्वाद्,

अनयैव दिशाऽऽत्मनोऽज्ञानन्दितावादिनामवशिष्टदर्शनानां सिद्धान्तेभ्योऽप्यगतार्थता विवेक्तव्या,

औपनिषदसिद्धान्तानां त्वद्वैतविशिष्टाद्वैतशुद्धाद्वैतद्वैताद्वैतद्वैतवादिनां पञ्चानामपि प्रस्थानेषु चात्मतत्त्वस्य नित्यतयाऽऽनन्दतया च महतः संवादस्य सत्त्वेऽपि न तथाऽऽनुकूल्यं यादृशप्रयोजनसंपिपादयिषयाऽऽचार्या रसशास्त्रमुपनिविभन्त्सव एनदाविरवीभवन्, एतच्चानुपदमेव स्वरूपनिर्णये वक्ष्यते,

रसस्वरूपजिज्ञासायां तावदात्मैव रस इति रसदर्शनिनां राट्टान्तः, “रसो वै सः” “आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्” “आनन्दाद्ध्येवेमानी”ति श्रौतवचनानि स्वरूपतटस्थलक्षणाभ्यामात्मानमेव लक्षयन्ति, आत्मा चात्र यद्यपि ब्रह्मपरमात्मादिपर्यायो भगवानेवोपक्रमोपसंहारादिभिस्तात्पर्यास्पदतयाऽवजिगमिषितस्तथाऽपि प्रतिविम्बतया परिच्छिन्नतया वस्तुतया वा यथाऽग्नेर्विस्फुलिङ्गाः” “समैवांशो जीवलोके” “अंशो नानाव्यपदेशाद्” इत्यादिश्रुतिस्मृतिब्रह्मसूत्रादिभिर्व्यवस्थापितो जीवोऽपि तत्त्वदृशा सच्चिदानन्दात्मा, परन्तु सिन्धोर्विन्दुरिव तत्त्वभावः कणकल्पः सुतरां तदुपात्तसरणितः सर्वोऽप्येव न तादृशो, नातो जगत्कर्तृत्वाद्यापत्तिरपि चैनं तर्कोपिष्टधानि “जगद्व्यापारावर्जमि”त्यादिप्रमाणान्युपोद्बलयन्ति, अत एवायं तदीयतटस्थशक्त्यात्मकतया शास्त्रेषु व्यवहियते,

सच्चिदानन्दरूपस्य भगवतः किल तिस्रः शक्तयः शास्त्रप्रमिताः स्वरूपातटस्थाबहिरङ्गास्तासां स्वरूपाख्यायां पुनस्तावत्यो भिदाः संधिनीसंविद्ब्रह्मादिनीनामिकाः, तथा च तत्त्वतो भगवत्स्वरूपसजातीयः सर्वथा तद्विजातीयबहिरङ्गातो विलक्षणः सन् जीवः तटस्थ इति गीयते, एवं चोक्तस्वरूपो जीवोऽपि रसपदवाच्यतां नार्हतीति न, न खलु रससमुद्रस्य विन्दू रसान्यो भवितुमर्हति, एतदेवाभिप्रेत्य रसशास्त्राचार्याः प्राकृताप्राकृतभेदतो द्वैविध्यं रसस्य संगिरमाणास्तथैवोपापीदन्, मूलं चैतदीयमाग्नेयपुराणादिषु व्यक्तमेव, आचार्यभरतमुनिना तु यानुपचिकोर्षुणा न्यबन्धि नाट्यशास्त्रं ते किलानादिका-

लतो बभ्रन्म्यमाणप्रपञ्चचक्रचङ्क्रमणताचणा; अपरिशीलितचरपरमपुमर्थ-
प्रापकपद्धतयः सुकुमारमतयो द्विविधवासनावासितहृदयाः काव्यार्थचिन्त-
नालङ्कर्मणीयोग्यतापरिपचेलिमचातुरीका विनेयाः, तानेनान्

“असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहत” —

इत्यादिस्वरूपेण गुडजिह्विकान्यायेन चरमगन्तव्यदिक्संमुखीनीकर्तुंका-
मेन परमरसास्वादमाधुरीसंपल्लेशोऽपि यदवधि नानुभवगोचरीकार्ये तद-
वधि कथमिवादसीयमर्म स्पृह्यालवोऽमी क्रियेरन्निति विचिन्त्य दुष्करप्रवृ-
त्त्यास्पदानि निःश्रेयसप्रापणपटूनि श्रवणादीनि साधनान्यव्यापार्यापि निखि-
लानर्थनिदानाज्ञानमनुन्मूल्यापि चिरसंचितचरकर्मकलापानपरिप्लुष्यापि
जनैर्यथा तादृशं वस्त्वास्वादपदवीं नीयेत यादृशं तत् तानि व्यापार्य;
तदुन्मूल्य; तान् परिप्लुष्य सूरिभिस्तथा क्रियते, स प्रकारो दिव्यज्ञानमन्द-
रेण निगमपयोधीन् प्रमथ्य नाट्याभ्यायपीयूषवपुराविरकारि, सुतरां प्रथम-
भूमिकाऽऽरूढानामधिकारिणामुपकारः प्राकृतरसपरिचयेन यथा सुकरो; न
तथाऽप्राकृतरसज्ञापनेत्यधिकारानुरूपमुपदेष्टारः श्रद्धेयवचनाः फलेग्रहिय-
न्ताश्च भवन्ति नापरथा, अतो मुनिनाऽस्यैव प्रबन्धो निर्बन्धेनावन्धि नापर-
स्य, नैतावता स नास्त्येव नानुमता एव वेत्यवगन्तव्यं. कथमन्यथाऽऽत्म-
दर्शनासाधनतायामस्य शास्त्रस्य दर्शनता, कथं चोपक्रम एव चतुर्वर्गाप्ति-
प्रयोजकतोक्तिरस्य संगच्छेत, कथं च रसताऽपि जीवस्वरूपघटकानन्दस्य ?
रसत्वप्रतिपादिका हि भगवती श्रुतिरूपक्रमोपसंहारादिपरिचारकवृन्दसे-
विता खलु स्वैष्टमाप्नोति,

न च तत्सग्रीचीनश्रुतितात्पर्यविषयाभिन्नत्वाज्जीवस्य नोक्तापत्तिरिति
वाच्यम् ?

तयोरभेदस्य याथातथ्यचिन्तायामुदस्यापि संप्रतिपन्नभेदकालेऽभेदोक्ते-
रनुपयुक्तत्वात्, प्रदर्शितविधया शास्त्रप्रवृत्त्युपजीव्यविरोधाच्च,

एतेन ज्ञानकाण्डेन रसकाण्डस्य गतार्थतया काण्डान्तरारम्भचर्चा मुधैवेति

वदन्तो निरस्ताः,

प्रयोजनपार्थक्यं हि प्रस्थानपार्थक्यं प्रयोजयति, तच्चैहिकमामुष्मिकं वा,
उत्कृष्टमपकृष्टं वाऽशत इत्यन्यदेतद्,

इत्थं चैष रसः प्राकृतालम्बनकतया प्राकृत इति व्यवहियते, अप्राकृता-
लम्बनकोऽप्राकृत इति शास्त्रविदां मर्यादा व्यवहारासंकरार्थमादरणीयैव,
द्वैविध्यं चैतदाचार्यभरतेनापि बहुशो ध्वनितमप्यनधिकार्यत्वेन नाभिहितं,-
तदेव पुनराग्नेयादौ स्पष्टमुक्तं; नेयता काऽपि क्षतिः,

यत्तु प्राकृताप्राकृतौ रसौ क्रमेण लौकिकालौकिकावित्युच्येते इति तत्र
समीचीनम्, उभयोरप्यलौकिकत्वाद्, न हि जातु लौकिको रसाऽध्यात्म-
विद्यानां प्रधानत्वेन प्रतिपाद्यो भवितुमर्हति, स हि तृतीयपुमर्थगृह्योऽन्यथा
प्रस्थानमेदानुपपत्त्या बाधव्यादिसंहितानामानर्थक्यमापतेदित्यादिभूयानुप-
प्लवः स्याद्, अलौकिकत्वं चैनयोर्लौकिकमर्यादाऽतिशायित्वात्, दर्शयिष्यते
चानुपदमेतत्, प्राकृतत्वं च पादविभूतिविलासविजृम्भितत्वं, त्रिपादवैभवं-
चाप्राकृतमिति वस्तुस्थितिः, अत्र प्राकृतो रस उच्यते, अप्राकृतस्तु भाव-
इति नाट्यशास्त्रीया परिभाषा,

वस्तुतस्त्वप्राकृतो भक्तिरस उच्यते-रसत्वव्यपदेशजीवातोस्तादृशान-
न्दात्मकताया उभयत्र सत्त्वादिति,

रसोपलब्धिप्रकारस्त्वेषः-वक्ष्यमाणस्वरूपकैर्विभावानुभावसात्त्विकसंचा-
रिभिरव्यक्तो व्यक्तिविषयीकृतः स्थाय्येव रसतां भजतेऽयमर्थस्तु यावद्रसदर्श-
निभिरनुमोदितोऽपि स्थायिस्वरूपे तद्व्यक्तौ च प्रक्रियाभेदो मतभेदनिबन्धनो-
ऽस्त्येव, तत्र-आहंकारिके चित्ते कारणविशेषोद्बुद्धसत्त्वे स्वेतरगुणावभिभूय
प्रकाशमाने जातु चिदनुभूतरत्यादिस्थायिसंस्कारोऽप्युद्बुद्धीभूय प्रतीयमान-
उपचीयमानः पुण्यमाणोऽभिन्नायमाननेदिष्टचिच्छक्त्याऽऽस्मीयत्वेन भुज्यमा-
नो रसव्यपदेशभागिति कापिली प्रक्रिया, परन्त्वसौ जडत्वपरप्रकाश्यत्वप्राकृत-
त्वादिमत्वाद् भिन्नमेव वस्तु नास्माकीनो रसः, भौतिके चित्ते हेतुविशेषादुदित-

अदिमनि मुद्रितो रत्यादिस्थाय्याकारः संस्कारः स्वोद्बोधकमहिमतिरस्कृता-
वृत्तिकचिद्विशिष्टो रस इत्यौपनिषदैकदेशिनां सरणिः,

अत्र पूर्वोक्तदोषासत्त्वेऽपि चितोऽङ्गत्वोक्त्या श्रुतिस्वारस्यभङ्गोऽस्त्येव,
एतद्दोषं परिहर्तुकामैः कैश्चिन् स्थाय्यवच्छिन्नभग्नावरणचिदेव रस उक्तः,
किन्त्वेवमपि गौणत्वभानप्रयुक्तास्वारस्ये समाहितेऽप्यव्यवहितोत्तरवाक्यस-
हितवाक्यैकवाक्यतास्वारस्यभङ्गस्तदवस्थ एव, तद् वाक्यं च—“रसं ह्येवायं
लब्ध्वाऽऽनन्दीभवती”ति, एतद्वाक्यघटकायंपदार्थकर्तृकलाभकमेव भवता
रसत्वेन विवक्ष्यतेऽतः स्पष्ट एव स्वारस्यभङ्गो भग्नावरणचैतन्यस्यैवायं-
पदार्थतया कर्तृकर्मणोरभेदापत्तेः,

न च सावरणस्यैवायंत्वेन कर्तृतयाऽनावरणस्य कर्मतयौपाधिकभेदेना-
विरोधान्न स्वारस्यभङ्ग इति वाच्यम् ?

स्वप्रकाशवादे किलावरणभङ्गमन्तरेणेतरस्यानपेक्षणादावरणभङ्गादेवा-
नन्दीभवनप्राप्तेः पूर्वोक्तवैयर्थ्यस्य बञ्जलेपायितत्वाद् ,

एतेन सावरणोऽयमनावरणं रसं लब्ध्वेत्यादिवाचोयुक्तयः प्रत्युक्ताः, सा-
वरणोऽनावरणः सन्नित्यादिनैव भवदिष्टसिद्धेः, तस्मादखिलानि कण्टकित-
संकीर्णवर्तमान्युत्सृज्य परिष्कृतघण्टापथेन संचरिष्णूनां रसविदामेष सिद्धान्तः—सः = प्रकृतः, स्वरूपतटस्थलक्षणलक्षितो ब्रह्मपरमात्मपर्यायो भगवान्
वै = निश्चयेन, रसः = रसपदार्थः तमेन रसमेव = नापरं लब्ध्वा हि = यतः,
अयं = स्वरूपानन्दो जीवः आनन्दीभवति प्रशस्तानन्दो भवतीति, इत्थमे-
वोक्तौ प्रकृतशास्त्रस्य दर्शनताऽपि परमपुमर्थप्रापकतया संगच्छते,

न चावरणभङ्गवैशिष्ट्येऽपि परमपुमर्थसंपादकत्वात्तदितिरिति वाच्यम् ?

तथा सत्युत्तरमीमांसयैव गतार्थतायां भवन्मते शास्त्रस्यानारम्भणीय-
ताऽऽपत्तेः,

न चेष्टापत्तिः, अन्यैर्भवदभिमतानारम्भणेऽपि तुल्ययुक्त्येष्टापत्तेः सुव-
चत्वाद्,

न चोत्तरमीमांसायामपि प्रस्थानान्तरे कथंकारं रसशास्त्रारम्भणीयता-
निर्वाह इति शङ्क्यम् ?

गुडजिह्विकान्यायेन तथोपेयप्रतिपत्त्यर्था इत्यादिपूर्वोक्तयुक्तेः सार्थक्य-
संभवाद्,

न चास्माभिरपि सार्थक्यमेवं सूपपादमिति वक्तव्यम् ?

अपारमार्थिकतापिशाचीभयादेवमुपगन्तुं भवतोऽसामर्थ्यात् प्रकृतशा-
स्त्रकृदभिमतरसस्य भवन्मते चरमोपेयत्वाभावाच्च,

तथा च परमर्षिभरताचार्यसूत्रं “विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस-
निष्पत्तिः” इति, अत्र विभावयन्ति = आविर्भावयन्ति = उद्बोधयन्ति प्रसुप्त-
स्थायिनमिति विभावा आलम्बनान्युद्दीपनानि च,

एवं च विषयतासंबन्धेन स्थायिविशिष्टमालम्बनं, स्वोद्बोधजनकतासंब-
न्धेन स्थायिविशिष्टमुद्दीपनं स्थायिपोषकत्वे सत्यालम्बनचेष्टारूपोऽनुभावः,
आलम्बनावच्छेदेनाविर्भूणुतिरोभूणुः स्थायिपोषकरूपो व्यभिचारीति वि-
वेचनीयं, सूत्रे पञ्चमी हेत्वर्था, हेतुत्वं तु कारकत्वज्ञापकत्वान्यतररूपं, ज्ञाप-
कत्वं च तद्विषयकज्ञानजनकज्ञानविषयत्वं, ज्ञानं चात्र त्रिविधं प्रत्यक्षम्,
अनुमितिः, शास्त्रधीश्च, प्रत्यक्षं तु द्विविधं—यथाऽर्थमयथाऽर्थं च, द्वितीयं-
पुनर्द्विधा दोषजन्यं भ्रमत्वेन प्रसिद्धम्, इच्छाजन्यम् आरोपत्वेन ख्यातम्,

एवं च—दमयन्त्यादिदर्शनजनलादिसमवेतरत्याद्युद्बोधस्य तत्कायं-
कटाक्षदिसहचरितोत्कण्ठाऽऽदीनां चानुकार्यनलादिनैव सम्बन्धात्तत्रैव रस-
उत्पन्नो, नटे तु तत्तदनुकृत्या सादृश्यमूलकारोप इति भट्टलोहटादयः ।

के चन नाट्यादिषु प्रकटविभावादिषु व्यञ्जनया नलादौ दमयन्त्या-
दिरतौ ज्ञातायां भावनादोषेण कल्पितनलत्वाद्यवच्छिन्ने स्वस्मिन् समुत्पन्नो-
ऽनिर्वचनीयो दमयन्त्यादिविषयकरत्यादिरेव रस इति समगिरिषत ।

अन्ये तु व्यञ्जनाऽनिर्वचनीयख्यात्यनुपगमाद् भावनादोषेणात्मनि
नलाद्यभेदग्राही दमयन्त्यादिरतिमदभेदबोधो विषयासत्त्वेऽपि मानसो भ्रम-

एव स इत्यास्थिषत् ।

परे तु श्रीशङ्कुकाणुयायिनः—नलत्वेन गृहीते नटात्मके पक्षेऽकृत्त्रिमत्वेन गृहीतेर्विभावादिहेतुभिर्नलादिगतरत्यादिरनुमीयमानो रस इत्युपागमन् ।

अपरे च नाट्यादिना व्यक्तिविशेषवृत्तित्वनिरूपितत्वाभ्यां जनितेऽपि स्थायिज्ञाने भावनया तयोः प्रमोषाद् रतित्वादिनैव प्रतीतरत्यादेः स्ववृत्तिरत्यादिसाजात्येनानुभूतचररत्यादिसंस्कारोद्बोधे ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वेन सत्त्वोद्रेकेणानन्दरूपो रसः शब्दस्य भोगाख्यतृतीयव्यापारेण साक्षात् क्रियत-
इत्यभ्युपागुर्भट्टनायकानुवर्तिनः ।

इत्थं स्वस्वशेषमुषीविकाससाहायकमवलम्ब्य, पारमर्षसूत्रघटकसंयोगपञ्चमीनिष्पत्त्यर्थविविधतयाऽभियुक्ताः स्वस्वमतानुरूपेण रसतत्त्वं प्राचीकशन्, परन्तु मुनिसंमतरहस्यानाकलाच्छास्त्रसिद्धान्तिनामननुमतान्येवाखिलान्येवोक्तमतानि तदनुसारीणि चानिर्दिष्टान्येकदेशिमतानि ।

इमानि चाश्रद्धावीजानि संक्षेपतः प्रधानानि—तत्र प्रथमे विप्रकृष्टत्वादलौकिकत्वात् काल्पनिकारोपविषयत्वादर्थान्तरता,

द्वितीयेऽस्मिन् विमतानिर्वचनीयत्वाद् भ्रमविषयत्वात्तथात्वम्,

तृतीयेऽपि भ्रमास्पदत्वम्,

तुरीये भेदग्रहवाधात् कथमपि भेदग्रहेऽपि नलादौ भैम्यादिरतिग्रहस्य सामाजिकप्रवृत्त्यनौपयिकत्वात्, श्रव्यस्थले पक्षधर्मताज्ञानविरहाच्चाभिन्तरसपरिप्रस्थिताऽनिवार्या,

पञ्चमे तु प्रमाणगोचरस्य शब्दनिष्ठक्रमिकव्यापारत्रयस्यैवारुन्दतेति,

श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यास्तु—विभावानुभावव्यभिचारिभिः संयोगाद् व्यञ्जनाद्, रसस्य स्थाप्युपहितचिदानन्दात्मनः, निष्पत्तिः स्वरूपप्रकाश इति सूत्रार्थं सिद्धान्तयति स्म, फलबलकल्पेन विभावादीनां साधारणीकरणात्मना व्यापारेण सर्वथा हि विशेषांशप्रमोषात् सामाजिकात्मनि स्थायी व्यज्यमानो-
रसः, दशमस्त्वमसीत्यादिरीतितः शब्दादप्यपरोक्षज्ञानाभ्युपगमाच्च पारोक्ष्यप्रयु-

क्तमपि वैरस्यम् , उक्तलौकिकव्यापारमहिम्ना लौकिककारणकार्यभावाद्
दुःखजनकतया क्लृप्तेभ्योऽपि सुखोत्पत्तेः सुरतक्षणवर्त्यधरदशनादाविवानुभ-
विकत्वादान्तःकरणावृत्तित्वाच्चालौकिकत्वं निष्प्रत्यूहमेव, कार्यत्वज्ञाप्यत्वा-
भावाद् भूतवर्तमानभविष्यत्ववैधुर्यात् सविकल्पनिर्विकल्पकत्रेद्यत्वविरहाच्च
तादृशत्वं सुवचं, नित्यत्वानन्दत्वस्वप्रकाशादिकं त्वात्मत्वादेव निर्विवादमेव,
उत्पादविनाशिकादाचित्कत्वादिव्यवहारोऽपि चर्वणानिबन्धना भवितुमर्हन्ति,
इत्येव निष्कर्षं तत्र भवन्मम्मटभट्टाः समाद्रियन्ते स्म, अन्येऽपि रसशास्त्रनि-
बन्धारः प्रायेणैनामेव दिशमनुस्रुः,

इयांस्तु विशेषः सर्वमप्येतद्दिग्दर्शनविधया विनेयोऽमुखीकरणाय भर-
ताचार्येण प्राकृतरसनिरूपणव्याजेन प्रदर्शितं वास्तविकतयोद्देश्यभूतोऽप्राकृ-
तरसस्तु श्रीभगवदालम्बनक एव तस्यैवाखिलशेषित्वेन चरमप्राप्ततया परम-
पुमर्थफलत्वेन चोपनिषत्स्मृतिपुराणादिषु व्यवस्थापितत्वेन निखिलशास्त्रदर्श-
नानां साक्षात्परम्परासाधारण्येन तन्निरूपणौपयिकभूयःप्रकारानाश्रित्य तत्रैव
पर्यवसानस्याखिलसंमतत्वाद्,

एवं च निसर्गतोऽलौकिके तस्मिन् यादृगलौकिकतासंपादनाय नाट्या-
दिषु तादृशानन्दानुगुणसाधारणीकरणोपरीकरणमुपेयते तादृशत्वस्योत्सर्गि-
कतयाऽऽनन्दव्यक्तिप्रयोजकत्वांशे फलानुपधानेऽपि परत्रोपयोगित्वेन नाप्र-
योजकताऽत एव प्रकारभेदोन्नयनायाचार्यैरेव भक्तिरसनाम्ना व्यपदिश्यते
व्यतानि चायमितोऽपि बहिष्ठविधाभिः श्रीकृष्णद्वैपायनादिभिराचार्यैरिति
न तिरोहितं विशेषं विदुषामिति कृतं विस्तरेण, ईदृशस्य चास्य ग्रन्थस्य टी-
कामप्यन्वर्थनान्नीं दुर्गमसङ्गमनीं कृत्वा श्रीजीवगोस्वामिपादाः वस्तुतो-
दुर्गमानि मूलस्थलानि समजोगमन् ,

अधुना मूलटीकोभयकृतसम्बद्धं बहुधैव वक्तव्यमस्ति परन्त्वत्रासन्न-
निर्दिष्टसमय एवं ग्रन्थप्रकाशनानुरोधेन समयाभावात् सर्वमेव तद्विहाय
ग्रन्थसंबद्धैव स्वल्पा दिक् प्रदर्शिता, प्रकाशयितव्ये स्वत्वेतत्संबद्धे ग्रन्थान्तरे

तत्सर्वमवगमयिष्यते,

प्रकृतकार्यमेतत्पुस्तकद्वयमवलम्ब्य समापितं, तयोरेकं तावत् प्रख्यात-
चरवैदुषीकैर्द्वैतरहस्यप्रतिष्ठापकधुरीणैर्माध्वसंप्रदायाचार्यैरर्चनीयचरणैरस्मत्ता-
तगोस्वामिश्रीगोपीलालमहाराजैर्महता यन्त्रेन संगृह्य पुरुषक्रमायाते स्वेन व-
र्धिते च श्रीवृन्दावनस्थेऽस्मदीयश्रीमदनगोपालपुस्तकालये रक्षितस्तत्र विरा-
जमानेभ्यः संगीतागमपारदर्शिभ्यो माध्वसंप्रदायाचार्येभ्यः पूज्यपादास्मद्-
भ्रातृविद्याभूषणश्रीवनमालिलालमहाराजेभ्य आनीय उपायोजि, द्वितीयं चा-
स्मत्तातशिष्येण पण्डितरामनारायणविद्यारत्नशर्मणा बङ्गाचरैः प्रकाशि-
तं नातिशुद्धम्,

एवं भगवत्कृपया मुहुर्मुहुरुपजातान् विघ्नानुपमर्द्य प्रकाशतामनायि
ग्रन्थरत्नमेतत्,

अत्र च मानुष्यकनान्तरीयकदोषनिबन्धनाः मुद्रणादिजाश्च त्रुटीरूपेक्ष्यै-
तत्सिन्धूत्थं पीयूषमास्वादयन्तु भगवद्रसभावुका इति प्रार्थयमानः प्रीयतां-
चानेन व्यापारेण सर्वान्तर्ध्यामी भगवान् श्रीराधिकारमणतनुः श्रीगौरकृष्ण-
इत्याशास्ते—

श्रीरामजयन्त्याम्

सं० वै० १९८८,

वाराणस्याम् ।

श्रीमाध्वसंप्रदायाचार्य्यदार्शनिकसार्वभौमसा-

हित्यदर्शनाद्याचार्य्यतर्करत्नयायराज —

गोस्वामिदामोदरशास्त्री ।

इति शम् ।





श्रीश्रीगौरकृष्णः शरणम्
श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धौ
विषयानुक्रमः—

तत्र

भक्तिभेदनिरूपके प्रथमे पूर्वविभागे
 सामान्यभक्तिनिरूपिकायां

प्रथमलहर्याम्—

विषयाः	पृष्ठे	विषयाः	पृष्ठे
मङ्गलाचरणम्	१-६	श्रीकृष्णाकर्षणी	२१-२३
पूर्वभागस्यानुक्रमणिका	१०	प्रथमलहरीसमाप्तिः	॥
उत्तमाभक्तेर्लक्षणम्	११	साधनभक्तिहर्यारम्भः	॥
भक्तेर्गुणाः	१३	साधनत्वादिना भक्तिभेदाः	॥
क्लेशघ्नत्वम्	॥	पुनस्तस्या द्वैविध्यम्	२५
तन्मध्ये पापघ्नत्वम्	॥	वैधी भक्तिः	॥
भक्तेरप्रारब्धहरत्वम्	१४	तत्राधिकारी	२६
प्रारब्धहरत्वम्	॥	तत्रैविध्यम्	॥
अविद्याहरत्वम्	१५	उत्तमः	२७
शुभदत्वम्	१६	मध्यमः	२८
सुखप्रदत्वम्	॥	कनिष्ठः	॥
मोक्षलघुताकृत्	१८	भक्तानां मोक्षानिच्छुत्वम्	३२
सुदुर्लभा	१९	भक्तौ नरमात्राधिकारः	४२
सान्द्रानन्दविशेषात्मा	२१	साधनभक्तेः चतुःषष्टिरङ्गानि	४६

विषयाः	पृष्ठे	विषयाः	पृष्ठे
गुरुपादाश्रयः	४८	दण्डवत्प्रणामः	५६
कृष्णदीक्षाऽऽदिशिक्षणम्	,,	अभ्युत्थानम्	,,
विश्वासेन गुरुसेवा	,,	अनुव्रज्या	,,
साधुवर्त्मानुवर्तनम्	,,	स्थाने गतिः	,,
सद्धर्मजिज्ञासा	४९	परिक्रमणम्	,,
कृष्णप्रीत्यर्थभोगत्यागः	५०	अर्चनम्	५७
द्वारकाऽऽदिवासः	,,	परिचर्या	५८
गङ्गाऽऽदिवासः	,,	गीतम्	,,
यावदर्थानुवर्तिता	,,	सङ्कीर्तनम्	,,
हरिवासरसंमानम्	,,	लीलाकीर्तनम्	५९
घात्र्यश्वत्थादिगौरवम्	,,	जयः	,,
कृष्णविमुखसङ्गपरित्यागः	५१	विज्ञप्तिः	,,
शिष्याद्यननुबन्धित्वादीनि	,,	संप्रार्थनात्मिका विज्ञप्तिः	,,
म्यबहारेऽप्यकूपणता	५२	दैन्यबोधिका	,,
शोकमोहाद्यवशीभूतता	,,	लालसामयी	६०
अन्यदेवताऽद्यनवज्ञा	,,	स्तवपाठः	,,
भूतानुद्वेगदायिता	,,	नैवेद्यास्वादः	६१
सेवानामापराधवर्जनम्	,,	पाद्यास्वादः	,,
तन्निन्दाऽऽद्यसहिष्णुता	५३	धूपसौरभम्	,,
वैष्णवचिन्हधारणम्	५४	निर्माल्यसौरभम्	,,
नामाक्षरधारणम्	५५	श्रीमूर्तिस्पर्शनम्	,,
निर्माल्यधारणम्	,,	श्रीमूर्तिदर्शनम्	६२
हरिसंमुखनृत्यम्	,,	आरात्रिकदर्शनम्	,,

विषयाः	पृष्ठे	विषयाः	पृष्ठे
उत्सवदर्शनम्	६२	शरणापत्तिः	७०
पूजादर्शनम्	॥	तुलसीसेवनम्	॥
श्रवणम्	६३	शास्त्रसेवनम्	७१
नामश्रवणम्	॥	मथुरासेवनम्	॥
चरित्रश्रवणम्	॥	वैष्णवसेवा	७२
गुणश्रवणम्	॥	यथावैभवोत्सवः	७३
श्रीकृष्णकृपाऽपेक्षणम्	॥	कार्तिकमासव्रतादरः	॥
स्मृतिः	॥	जन्मदिनयात्रा	॥
ध्यानम्	॥	श्रीमूर्तिचरणसेवनप्रीतिः	७४
गुणध्यानम्	६४	श्रीभागवतार्थस्वादः	७६
क्रीडाध्यानम्	॥	सजातीयवासनभक्तसङ्गः	॥
सेवाध्यानम्	॥	नामसंकीर्तनम्	॥
अथ दास्यम्	६५	मथुरामण्डलीस्थितिः	७७
कर्मापर्णदास्यम्	६६	श्रीमूर्तिप्रभृतिपञ्चकेऽल्पश्रद्ध-	
कैङ्कर्यदास्यम्	॥	याऽपि मनुष्यकर्याणम्	७८
सरस्यम्	६७	ज्ञानवैराग्ययोर्भक्तियोगान-	
विश्वाससरस्यम्	॥	ङ्गत्वम्	८२
मित्रवृत्तिसरस्यम्	६८	ज्ञानवैराग्यसाध्यस्य भक्त्यै-	
आत्मनिवेदनम्	॥	व सिद्धिः	८३
देहिसमर्पणम्	६९	वैराग्यम्	८५
देहसमर्पणम्	॥	फलगुवैराग्यम्	॥
निजप्रियोपहरणम्	७०	उत्तमायां भक्तावनुपयुक्तान्य-	
तदर्थेऽखिलचेष्टितम्	॥	ज्ञानि	८६

विषयाः	पृष्ठे	विषयाः	पृष्ठे
एकाङ्गा भक्तिः	८६	क्षान्तिः	१०६
अनेकाङ्गा भक्तिः	८७	अव्यर्थकालत्वम्	॥
रागानुगा भक्तिः	॥	विरक्तिः	॥
भक्तस्य रिपोश्च पार्थक्ये-		मानशून्यता	१०८
न गतिः	९१	आशाबन्धः	॥
कामरूपा	९२	समुत्कण्ठा	॥
सम्बन्धरूपा	९४	नामगाने सदारुचिः	१०९
तत्राधिकारी	९५	तद्गुणाख्यानासाक्तिः	॥
तल्लोभोत्पत्तिकारणम्	॥	तद्वसतिस्थले प्रीतिः	॥
कामानुगा	९६	रतिलक्षणम्	११०
सम्बन्धानुगा	९८	रत्याभासः	॥
साधनभक्तिलहरीसमाप्तिः	९९	प्रतिबिम्बः	॥
भावभक्तिलहरीरम्भः	१००	छाया	११२
अथ भावभक्तिः	॥	भावभक्तिलहरीसमाप्तिः	११४
साधनाभिनिवेशजः	१०३	प्रेमलहरीरम्भः	११५
रागानुगासाधनाभिनिवेशजः	॥	प्रेमा	॥
श्रीकृष्णतद्भक्तप्रसादजः	१०५	भावोत्थः	॥
कृष्णप्रसादजः	॥	वैधभावोत्थः	॥
वाचिकप्रसादजः	॥	रागानुगीयभावोत्थः	११६
आलोकप्रदानजः	॥	हर्यतिप्रसादोत्थः	॥
हार्दभावः	१०६	माहात्म्यज्ञानयुक्तः	॥
तद्भक्तप्रसादजः	॥	केवलप्रेमा	११७
ज्ञाताङ्कुरभावभक्तेरनुभावाः	॥		

विषयाः	पृष्ठे	विषयाः	पृष्ठे
प्रेमोदयक्रमः	११७	विविधाद्भुतभाषावित्	१३४
प्रेमलहरीसमाप्तिः	११८	सत्यवाक्यः	„
पूर्वभागसमाप्तिश्च	११६	प्रियंवदः	१३५
भक्तिरसभासान्यानिरूपको-		वाबटुकः	„
दक्षिणभागः	१२०	सुपाण्डित्यः	१३६
विभावलहरी	„	बुद्धिमान्	१३८
दक्षिणविभागानुक्रमः	„	प्रतिभाऽन्वितः	„
विभावः	१२३	विदग्धः	१३६
आलम्बनम्	„	चतुरः	„
कृष्णः	„	दक्षः	१४०
अन्यरूपेण सः	„	कृतज्ञः	„
स्वरूपेण सः	„	सुहृद्व्रतः	„
आवृतः	„	देशकालसुपात्रज्ञः	१४१
प्रकटस्वरूपः	१२४	शास्त्रचक्षुः	१४२
कृष्णगुणाः	„	शुचिः	„
सुरम्याङ्गः	१२६	वशी	१४३
सल्लक्षणान्वितः	„	स्थिरः	„
गुणोत्थः	„	दान्तः	१४४
अङ्गोत्थः	१३०	क्षमाशीलः	„
रुचिरः	१३१	गम्भीरः	१४५
तेजसा युक्तः	१३२	धृतिमान्	„
बलीयान्	१३३	समः	१४६
दयाऽन्वितः	„	वदान्यः	१४७

विषयाः	पृष्ठे	विषयाः	पृष्ठे
धार्मिकः	१४७	नित्यनूतनः	१६०
शूरः	,,	सच्चिदानन्दसान्द्राङ्गः	१६१
करुणः	,,	सर्वसिद्धिनिषेवितः	१६३
मान्यमानकृत्	१४६	दिव्वसर्गादिकर्तृत्वम्	,,
दक्षिणः	,,	ब्रह्मरुद्राहिमोहनम्	१६४
विनयी	१५०	भक्तप्रारब्धविध्वंसित्वम्	,,
हीमान्	,,	कोटिब्रह्माण्डविग्रहः	१६५
शरणागतपालकः	१५१	अवतारावलीबीजम्	१६६
सुखी	,,	हतारिगतिदायकः	,,
भक्तसुहृत्	१५२	आत्मारामगणार्कर्षी	१६७
प्रेमवश्यः	१५३	लीलाधिक्यम्	,,
सर्वशुभंकरः	१५४	प्रेम्णा प्रियाधिक्यम्	१६८
प्रतापी	,,	वेणुमाधुर्यम्	,,
प्रीतिमान्	,,	रूपमाधुर्यम्	१६९
रक्तलोकः	१५५	पूर्णतमत्वादिभेदाः	१७१
साधुसमाश्रयः	,,	धीरोदात्तः	१७२
नारीगणमनोहारी	१५६	धीरललितः	,,
सर्वाराध्यः	,,	धीरशान्तः	१७३
समृद्धिमान्	१५७	धीरोद्धतः	१७४
वरीयान्	,,	दोषराहित्यम्	१७६
ईश्वरः	,,	अष्टसद्गुणाः	१७८
सदास्वरूपसंप्राप्तः	,,	शोभा	,,
सर्वज्ञः	१५६	विलासः	१७९

विषयाः	पृष्ठेः	विषयाः	पृष्ठेः
माधुर्यम्	१७६	मृदुता	१६६
मङ्गल्यम्	१८०	चेष्टा	"
स्थैर्यम्	"	रासः	"
तेजः	"	दुष्टवधः	"
ललितम्	१८१	प्रसाधनम्	१६७
औदार्यम्	"	वसनम्	"
श्रीकृष्णसहायाः	१८२	युगम्	"
कृष्णभक्ताः	"	चतुष्कम्	"
साधकः	"	भूमिष्ठम्	१६८
सिद्धः	१८३	आकल्पः	"
प्राप्तिसिद्धः	"	मण्डनम्	१६६
साधनसिद्धः	"	स्मृतम्	२००
कृपासिद्धः	१८४	सौरभम्	"
नित्यसिद्धः	१८५	वंशः	"
उद्दीपनानि	१८७	वेणुः	२०१
गुणः	"	मुरली	"
वयः	१८८	वंशी	"
प्रथमकैशोरम्	१८६	शृङ्गम्	२०२
मध्यकैशोरम्	१८०	कम्बुः	"
शेषकैशोरम्	१८२	पदाङ्कः	२०३
मोहनता	१८४	क्षेत्रम्	"
सौन्दर्यम्	१८५	तुलसी	"
रूपम्	"	भक्ताः	२०४

विषयाः	पृष्ठे	विषयाः	पृष्ठे
भगवद्भासरः	२०४	रोमाञ्चः	२१४
विभावलहरीसमाप्तिः	,,	स्वरभेदः	२१५
अनुभावाः	२०५	वेपथुः	२१६
नृत्यम्	,,	वैवर्ण्यम्	२१७
विलुठितम्	,,	अश्रु	२१८
गीतम्	२०६	प्रलयः	२१९
क्रोशनम्	,,	सात्त्विकचतुर्विधत्वम्	२२१
तनुमोटनम्	,,	धूमायितः	,,
हुङ्कारः	,,	ज्वलितः	,,
जृम्भणम्	२०७	दीप्तिः	२२२
श्वासभूमा	,,	उद्दीप्तिः	२२३
लोकापेक्षापरित्यागः	,,	सात्त्विकाभासचतुर्विधत्वम्	२२४
लालासावः	२०८	रत्याभासभवः	,,
अट्टहासः	,,	सत्त्वाभासभवः	,,
घृणा	,,	निःसत्त्वः	२२५
हिक्का	,,	प्रतीपः	२२६
अनुभावलहरीसमाप्तिः	२०९	सात्त्विकलहरीसमाप्तिः	,,
सात्त्विकलहरीरम्भः	,,	व्यभिचारिलहरीरम्भः	२२७
स्निग्धाः	२१०	अथ व्यभिचारिणः	,,
दिग्धाः	,,	निर्व्वेदः	,,
रूक्षाः	२११	विषादः	२२९
स्तम्भः	२१२	दैन्यम्	२३०
स्वेदः	२१४	ग्लानिः	२३१

विषयाः	पृष्ठे	विषया	पृष्ठे
श्रमः	२३२	अमर्षः	२५६
मदः	२३३	असूया	२६०
गर्वः	२३४	चापलम्	२६१
शङ्का	२३५	निद्रा	"
त्रासः	२३७	सुप्तिः	२६३
आवेगः	"	बोधः	"
उन्मादः	२४१	अपरभावाः सर्वेऽन्यभावा—	
अपस्मारः	२४३	न्तर्गताः	२६६
व्याधिः	२४४	संचारी	२६८
मोहः	"	परतन्त्रः	२६९
मृतिः	२४६	साक्षात्	"
आलस्यम्	२४७	व्यवहितः	"
जाग्यम्	"	अवरः	२७०
ब्रीडा	२४८	स्वतन्त्रः	"
अवहित्था	२४०	रतिशून्यः	"
स्मृतिः	२५२	रत्यनुस्पर्शः	२७१
वितर्कः	२५३	रतिगन्धिः	"
चिन्ता	२५४	प्रातिकूल्यम्	२७२
मतिः	२५५	अनौचित्यम्	२७३
धृतिः	२५६	सन्धिः	२७५
हर्षः	२५७	शाबल्यम्	२७६
औत्सुक्यम्	२५८	शान्तिः	२७७
उग्रता	"		

विषयाः	पृष्ठे	विषयाः	पृष्ठे
भक्तभेदेन भावे तारतम्यम्	२७८	क्रोधरतिः	२६७
व्यभिचारिलहरीसमाप्तिः	२८२	भयरतिः	२६८
स्थायिलहरीरम्मः	२८३	जुगुप्सरतिः	,,
अथ स्थायिभावः	,,	सात्त्विकराजसतामसरतिभेदाः	२६६
मुख्यः	,,	रतेः शीतत्वमुष्णत्वम्	३००
स्वार्थः	,,	रतेर्विभावादिप्राप्तिः	३०१
परार्थः	२८४	भक्तिरसे मुख्यगौणभेदः	३०६
शुद्धः	,,	मुख्यभक्तिरसः	,,
सामान्या	,,	गौणभक्तिरसः	,,
स्वच्छा	२८५	द्वादशभक्तिरसे वर्णदेवताभेदः	,,
शान्तिः	२८६	शान्तादिरस आनन्दानुभवः	३१२
रतेर्भेदत्रयम्	२८७	भक्तिरसास्वादने बहिर्मुखः	३१३
केवला	२८८	पश्चिमविभागः	३१५
संकुला	,,	शान्तभक्तिरसः	,,
प्रीतिः	,,	आलम्बनम्	३१६
सख्यम्	२८९	शान्तः	३१८
वात्सल्यम्	२९०	आत्मारामः	,,
प्रियता	२९१	तापसः	,,
अथ गौणाः	२९२	उद्दीपनम्	३१९
हासरतिः	२९४	अनुभावः	३२०
विस्मयरतिः	२९५	सात्त्विकः	३२१
उत्साहरतिः	२९६	सञ्चारी	,,
शोकरतिः	,,		

विषयाः	पृष्ठे	विषयाः	पृष्ठे
स्थायी	३२२	अयोगः	३४५
शान्तलहरीसमाप्तिः	३२५	उत्कण्ठितम्	३४६
प्रीतभक्तिः	३२६	निर्वेदः	३४७
आलम्बनम्	३२८	चिन्ता	३४८
दासः	३२९	चापलम्	३४९
अधिकृतदासः	३३०	जडता	३५०
शरण्यः	३३१	उन्मादः	३५१
ज्ञानिचरः	३३२	वियोगः	३५२
सेवानिष्ठः	३३३	तापः	३५३
पारिषदः	३३४	कृशता	३५४
अनुगः	३३५	जागर्या	३५५
पुरस्थानुगः	३३६	आलम्बनशून्यता	३५६
ब्रजस्थानुगः	३३७	अधृतिः	३५७
धुर्यादिपारिषदत्रयम्	३३८	जडता	३५८
आश्रितादित्रिविधा दासाः	३३९	व्याधिः	३५९
नित्यसिद्धादिभेदः	३४०	उन्मादः	३६०
अनुभावः	३४१	मूर्च्छितम्	३६१
सात्त्विकः	३४२	मृतिः	३६२
व्यभिचारी	३४३	योगः	३६३
स्थायी	३४४	सिद्धिः	३६४
अथ प्रेमा	३४५	तुष्टिः	३६५
स्नेहः	३४६	स्थितिः	३६६
रागः	३४७		

विषयाः	पृष्ठे	विषयाः	पृष्ठे
गौरवप्रीतिः	३५६	पुरसम्बन्धिवयस्यः	३६६
आलम्बनम्	,,	व्रजसम्बन्धिवयस्यः	३६७
हरिः	,,	सुहृत्	३६८
अन्यलाह्यः	३५७	बलदेवस्य रूपम्	३७०
रूपम्	,,	सखा	,,
उद्दीपनम्	३५८	प्रियसखः	३७१
अनुभावः	,,	प्रियनर्मसखः	३७३
सात्त्विकः	३५९	उद्दीपनम्	३७५
व्यभिचारी	,,	वयः	३७६
स्थायी	३६०	कौमारम्	,,
गौरवप्रीतिः	,,	पौगण्डम्	,,
प्रेमा	३६१	आद्यपौगण्डम्	,,
स्नेहः	,,	मध्यपौगण्डम्	३७८
रागः	३६२	शेषपौगण्डम्	३७९
उत्काण्ठितः	,,	कैशोरम्	३८०
वियोगः	३६३	रूपम्	३८१
तुष्टिः	,,	शृङ्गम्	,,
स्थितिः	,,	बेणुः	,,
प्रीतिभक्तिरसलहरीसमाप्तिः	,,	शङ्खः	३८२
प्रेयोभक्तिरसलहयारम्भः	३६४	विनोदः	,,
प्रेयोभक्तिरसः	,,	अनुभावः	,,
आलम्बनम्	,,	सात्त्विकाः	३८४
श्रीकृष्णस्य वयस्यः	३६४	व्यभिचारी	३८५

विषयाः	पृष्ठे	विषयाः	पृष्ठे
स्थायी	३८६	पौगण्डम्	४०३
सख्यरतिः	३८७	कैशोरम्	,,
प्रणयः	,,	शैशवे चापलम्	४०४
प्रेमा	,,	अनुभावः	,,
स्नेहः	३८८	सात्त्विकः	४०५
रागः	,,	व्यभिचारी	४०६
अयोग उत्कण्ठितम्	३८९	स्थायी	४०७
अथ वियोगः	,,	वात्सल्यरतिः	,,
तापादिदशदशा	,,	प्रेमवत्	,,
अथ योगे सिद्धिः	३९२	स्नेहवत्	४०८
प्रेयोभक्तिरसलहरीसमाप्तिः	३९४	रागवत्	४१०
वत्सलभक्तिरसः	३९५	अथायोगउत्कण्ठितम्	,,
आलम्बनम्	,,	वियोगः	,,
गुरुवर्गः	३९७	व्यभिचारी	४११
ब्रजेश्वरीरूपम्	,,	योगे सिद्धिः	४१३
वात्सल्यम्	३९९	तुष्टिः	,,
नन्दस्य रूपम्	,,	स्थितिः	४१४
वात्सल्यम्	,,	वत्सलभक्तिरसलहरीसमाप्तिः	४२५
उद्दीपनम्	,,	मधुरभक्तिरसलहरी	४२६
कौमारम्	,,	आलम्बनम्	,,
आद्यकौमारम्	४००	कृष्णः	,,
मध्यकौमारम्	४०१	प्रेयसीवर्गः	,,
शेषकौमारम्	४०२	रूपम्	४२७

विषयाः	पृष्ठे	विषयाः	पृष्ठे
रतिः	४२७	अद्भुतभक्तिरसलहरी	४४१
उद्दीपनम्	४२८	साक्षात्	"
अनुभावः	"	दृष्टम्	४४२
सात्त्विकः	"	श्रुतम्	"
व्यभिचारी	४२९	संकीर्तितम्	४४३
स्थायी	४३०	अनुमितम्	"
विप्रलम्भः	४३२	अद्भुतभक्तिरससमाप्तिः	"
पूर्वरागः	"	वीरभक्तिरसलहरी	४४४
मानः	"	युद्धवीरः	"
प्रवासः	४३३	कृष्णः	"
संभोगः	"	सुहृद्द्वरः	४४६
मधुरभक्तिरसलहरीसमाप्तिः	"	कथितम्	"
पश्चिमविभागसमाप्तिः	४३४	आहोपुरुषिका	४४७
उत्तरविभागः	४३५	आहाय्योत्साहरतिः	४४८
हास्यभक्तिरसलहरी	"	दानवीरः	४४९
कृष्णः	४३६	बहुप्रदः	४५०
तदन्वयी	"	आभ्युदयिकः	"
स्मितम्	४३७	तत्संप्रदानकः	४५१
हसितम्	४३८	प्रीतिदानम्	"
विहसितम्	"	उपस्थितदुरापार्थत्यागी	४५२
अवहसितम्	"	दयावीरः	४५३
अपहसितम्	"	धर्मवीरः	४५४
अतिहसितम्	४३९	वीरभक्तिरसलहरीसमाप्तिः	४५५
हास्यभक्तिरसलहरीसमाप्तिः	४४०		

विषयाः	पृष्ठे	विषयाः	पृष्ठे
करुणभक्तिरसलहरी	४५६	प्रायिकी	४७१
आलम्बनं कृष्णः	४५७	बीभत्सरसलहरीसमाप्तिः	४७२
कृष्णस्य प्रियजनाः	,,	रसानां मैत्रीवैरस्थितिः	४७३
स्वप्रियः	,,	सुहृत्कृत्यम्	४७६
करुणभक्तिरसलहरीसमाप्तिः	४६०	वैरिंकृत्यम्	४८५
रौद्रभक्तिरसलहरी	४६१	मैत्रीवैरस्थितिलहरीसमाप्तिः	४८३
कृष्णं प्रति सखीक्रोधः	,,	रसाभासलहरी	४८४
जरण्याः क्रोधः	,,	उपरसः	,,
हितः	४६२	शान्तोपरसः	,,
अनवहितः	,,	प्रीतोपरसः	४८५
ईर्ष्युः	४६३	प्रेयउपरसः	,,
अहितः	४६४	वत्सलोपरसः	४८६
क्रोधरतिः	४६५	शृङ्गरोपरसः	,,
रौद्रभक्तिरसलहरीसमाप्तिः	४६६	विभाववरूप्यम्	४८६
भयानकभक्तिरसलहरी	४६७	अनुभाववरूप्यम्	,,
भक्ते आलम्बनरूपे कृष्णः	,,	ग्राम्यत्वम्	५००
बन्धुषु दारुणाः	४६८	अनुरसः	,,
भयानकभक्तिरसलहरीसमाप्तिः		अपरसः	५०१
बीभत्सभक्तिरसलहरी	४७०	रसाभासलहरीसमाप्तिः	५०२
जुगुप्सारतिः	,,	उत्तरविभागसमाप्तिः	५०३
विवेकजा	४७१	ग्रन्थसमाप्तिश्च	,,





पूज्यपादश्रीरूपगोस्वामिचरणनिर्मितः—
श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धुः

पूज्यतमश्रीजीवगोस्वामिपादकृतया
दुर्गमसंगमन्याख्यटीकया सहितः

श्रीश्रीगोविन्ददेवो विजयते ।

अखिलरसामृतमूर्तिः प्रसृमरुचिरुद्धतारकापालिः ॥

कलितश्यामाललितो राधाप्रेयान् विधुर्जयति ॥ १ ॥

दुर्गमसंगमनी ।

श्रीश्रीराधादामोदरौ जयतः ।

सनातनसमो यस्य ज्यायान् श्रीमान् सनातनः ॥

श्रीवल्लभोऽनुजः सोऽसौ श्रीरूपो जीवसद्गतिः ॥ १ ॥

अथ श्रीमान् सोऽयं ग्रन्थकारः सकलभागवतलोकहिताभिलाष-
परवशतया प्रकाशितैः स्वहृदयदिव्यकमलकोषविलासिभिः श्रीम-
द्भागवतरसैरेव भक्तिरसामृतसिन्धुनामानं ग्रन्थमपूर्वरचनमाचिन्वा-
नस्तद्वर्णयितव्यस्यैव च सर्वोत्तमतां निश्चिन्वानस्तद्व्यञ्जनयैव मङ्ग-
लमासञ्जयति, एवं सर्व एव ग्रन्थोऽयं मङ्गलरूप इति च विज्ञाप-
यति—अखिलेति ।

ज्योत्स्ना ।

श्रीश्रीगौरकृष्णः शरणम् ।

श्रीगौरकृष्णचरणौ नत्वा कुर्वेऽत्र टिप्पणीं ज्योत्स्नाम् ।

भक्तिरसामृतसिन्धौ व्याख्यायां चास्य गूढविषयेषु ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

विधुः श्रीकृष्णो जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते, यद्यपि विधुः श्रीव-
त्सलाञ्छन इति सामान्यभगवदाविर्भावपर्यायस्तथाऽपि विधुनोति
खण्डयति सर्वदुःखमतिक्रामति सर्वं चेति; यद्वा विदधाति करोति
सर्वसुखं सर्वं चेति निरुक्तेः पर्यवसाने विचार्यमाणे तत्रैव वि-
श्रान्तेः, असुराणामपि मुक्तिप्रदत्वेन स्ववैभवातिक्रान्तसर्वत्वेन पर-
मापूर्वस्वप्रेममहासुखपर्यन्तसुखविस्तारकत्वेन स्वयंभगवत्त्वेन च
तस्यैव प्रसिद्धेः, अत एवामरेणापि तत्प्राधान्येनैव तानि नामानि
प्रोक्तानि; वसुदेवोऽस्य जनक इत्याद्युक्तेः, एतदेव सर्वं जयत्यर्थेन
स्पष्टीकृतं सर्वोत्कर्षेण वृत्तिर्नाम तत्तदेवेति, अत एव प्राकट्यसमय-
मात्रदृष्ट्या या लोकस्याप्रतीतिस्तस्या निरासको वर्त्तमानप्रयोगः
तथा च प्रमाणानि—‘विजयरथकुटुम्ब’ इत्यादौ—

‘यमिह निरीक्ष्य हता गताः स्वरूपमि’ति,

स्वयं त्वसाम्यातिशयस्य धीशः

स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः ॥

वलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः

किरीटकोटीडितपादपीठ इति, ॥

यस्याननं मकरकुण्डलचारुकर्ण-

भ्राजत्कपोलसुभगं सुविलासहासम् ।

नित्योत्सवं न तत्पुर्दग्भिः पिबन्त्यो-

नार्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेष्येति, ॥

का स्यङ्ग ! ते कलपदामृतवेणुगीत-

संमोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेन्निलोक्याम् ॥

त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूप-

यद्गोद्विजद्गुममृगाः पुलकान्यविभ्रमिति,

दुर्गमसङ्गमनी ।

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग-

मायाबलं दर्शयता गृहीतम् ।

विस्मापनं स्वस्य च सौभगधैः

परं पदं भूषणभूषणाङ्गमिति,

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयमिति,

जयति जननिवासो देवकीजन्मवाद-

इत्यादि श्रीभागवते,

अथ तत्तदुत्कर्षहेतुं स्वरूपलक्षणमाह—

अखिलरसा वक्ष्यमाणाः शान्ताद्या द्वादश यस्मिन् तादृशममृत-
परमानन्द एव मूर्तिर्यस्य सः, 'आनन्दमूर्तिमुपगुह्ये'ति 'त्वय्येव नि-
त्यसुखबोधतनावनन्त' इति 'मल्लानामशनिरि'त्यादि श्रीभागवतात्,

'तस्मात् कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्तं रसयेदि'ति श्रीगोपाल-
तापिनीभ्यश्च, तत्रापि रसविशेषविशिष्टपरिकरवैशिष्ट्येनाविर्भाववै-
शिष्ट्यं दृश्यते; अत एवादिरसविशेषविशिष्टसंबन्धेन नितरां, यथा-

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूप-

लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम् ।

दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-

मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्येति ॥

त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधदिति

तत्रातिशुशुभे ताभिरित्यादि

श्रीभागवते,

तासु च गोपीषु मुख्या दश भविष्योत्तरे श्रूयन्ते-

गोपाली पालिका धन्या विशाखाऽन्या धनिष्ठिका ।

राधाऽनुराधा सोमाभा तारका दशमी तथेति ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

विशाखा ध्याननिष्ठिकेति पाठान्तरं, तथेति । दशम्यपि तारकानामन्येवेत्यर्थः, दशमीत्यप्येकं नाम वा,

स्कान्दप्रह्लादसंहिताद्वारकामाहात्म्ये च—

ललितोवाचेत्यादौ मुख्यास्वष्टसु पूर्वोक्ताभ्योऽन्या ललिता-
श्यामलाशैव्यापन्नामद्राश्च श्रूयन्ते, पूर्वोक्तास्तु राधाधन्याविशाखाश्च,
तदेतदभिप्रेत्य तत्रापि मुख्यमुख्याभिरुत्तरोत्तरवैशिष्ट्यं दर्शयितुम-
वरमुख्ये द्वे तावन्निष्कृष्य ताभ्यां वैशिष्ट्यमाह—प्रसमराभिः प्रसर-
णशीलाभिः रुचिभिः कान्तिभिः रुद्धे वशीकृते तारकापालिः येन
सः, पालिकेति तु संज्ञायां कन्विधानात्, पालीति दीर्घान्तोऽपि
क चिद् दृश्यते,

अथ मध्यममुख्याभ्यामाह—कलिते आत्मसात्कृते श्यामा स्या-
मला ललिता च येन सः,

अथ परममुख्ययाऽऽह—राधायां प्रेयानतिशयेन प्रीतिकर्त्ता, 'इगु-
पधज्ञाप्रीकिरः क' इति कर्त्तरि कप्रत्ययविधेः, अत एवास्या एवासा-
धारण्यमालोक्य पूर्ववद्युगमत्वेनापि नेयं निर्दिष्टा, अतस्तस्या एव
प्राधान्यं पात्रे कार्तिकमाहात्म्ये तत्कुण्डप्रसङ्गे—

यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा ।

सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभेति ॥

अत एव मात्स्यस्कान्दादौ शक्तित्वसाधारण्येनाभिन्नतया गणना-
यामपि तस्या एव वृन्दावने प्राधान्याभिप्रायेणाह—

रुक्मिणी द्वारवत्यां तु राधा वृन्दावने वन इति

तथा च बृहद्गीतमीये तस्या एव मन्त्रकथने-

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता ।

सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः संमोहनी परेति ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

ऋक्परिशिष्टश्रुतावपि—

‘राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका ।

विभ्राजते जनेष्वा’ इति

अत एवाहुः—‘अनयाराधितो नूनमि’त्यादि,

अथ श्लेषार्थव्याख्या—तत्रैव श्लेषेणोपमां सूचयंस्तयाऽर्थविशेषं-
पुष्पाति सर्वलौकिकालौकिकातीतेऽपि तस्मिन् लौकिकार्थविशेषोप-
माद्वारा लोकानां बुद्धिप्रवेशः स्यादिति केनाप्यंशेनोपमेयं सर्वतमस्ता-
पजदुःखशमकत्वेन सर्वसुखदत्त्वेन च, तत्र पूर्ववन्निरुक्तिपर्यवसाने
विचार्यमाणे राकापतेरेव विधुत्वं मुख्यं पर्यवस्यतीति सर्वतः
प्रभावात्पूर्णत्वांशेन च, एवं सूर्यादीनां तापशमनत्वादि नास्तीति
नोपमानयोग्यता ततो विधुः सर्वत उत्कर्षेण वर्त्तत इति लभ्यते,
वर्त्तमानप्रयोगांशस्तु प्रत्युत्तराजमेव तत्तद्रूपतयाऽनुवृत्तेः, एवं विशेष्ये
साम्यं दर्शयित्वा विशेषणेऽपि साम्यं दर्शयति—अखिलेत्यादिभिः,
अखिलः अखण्डो रस आस्वादो यत्र तादृशममृतं पीयूषं तदात्मिकैव
मूर्तिर्मण्डलं यस्य, अत्र शब्देन साम्यं रसनीयत्वांशेनार्थेनापि योज्यं,
तथा प्रस्रमराभी रुचिभिः कान्तिभी रुद्धाऽऽवृता तारकाणां पालिः
श्रेणी येनेति पूर्ववन्निकान्तिवशीकृतकान्तिमतीगणविराजमान-
त्वांशेनापि ज्ञेयम्,

तथा

‘श्यामा तु वागुलौ;

अप्रसूताङ्गनायां च तथा सोमलतोषधौ ।

त्रिवृता शारिवा गुन्द्रा निशा कृष्णा प्रियङ्गुष्विति—

विश्वप्रकाशात्, कलितमूरीकृतं श्यामाया रात्रेर्ललितं विलासो ये-
नेति रात्रिविलासत्वेनापि ज्ञेयं, तथा राधायां विशाखानाम्भ्यां-
तारायां प्रेयानधिकम्प्रीतिमान् ऋतुराजपूर्णमायां तदनुगामित्वाद्,

हृदि यस्य प्रेरणया प्रवर्तितोऽहं वराकरूपोऽपि ॥

तस्य हरेः पदकमलं वन्दे चैतन्यदेवस्य ॥ २ ॥

विश्राममन्दिरतया तस्य सनातनतनोर्मदीशस्य ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

इति तदनुगतिमात्रसाध्यस्य वैभवविज्ञत्वांशेनापि ज्ञेयम्, उपमानस्य चैतानि विशेषणान्युत्कर्षवाचकानि सूर्यादेस्तादृशमूर्तित्वाभावात् तारानाशनक्रियत्वेन तत्साहित्यशोभित्वाभावात् सुखविशेषकरा-
त्रिविलासाभावात् तादृशविज्ञत्वानभिव्यक्तेश्चेति,

सिद्धान्तरसभावानां ध्वन्यलंकारयोरपि

अनन्तत्वात्स्फुटत्वाच्च व्यज्यते दुर्गमं त्विह ॥

लिखनं सर्वमेवास्मिन्नाशङ्कानाशगर्भितम् ।

वृथात्वशङ्कया तत्र नावध्येयमबुद्धिभिः ॥

ग्रन्थकृतां स्वारस्यात् कति चित्पाठास्तु ये त्यक्ताः ।

नात्रानिष्टं चिन्त्यं चिन्त्यं तेषामभीष्टं हि ॥ १ ॥

अथ निजभक्तिप्रवर्त्तनेन कलियुगपावनावतारं विशेषतः स्वा-
श्रयचरणकमलं श्रीश्रीकृष्णचैतन्यदेवं भगवन्तं नमस्करोति—

हृदीति । हृदि यस्य प्रेरणया प्रवर्तितोऽस्मिन् संदर्भ इति शेषः, वरा-
केति स्वयं दैन्येनोक्तं सरस्वती तु तदसहमाना वरं श्रेष्ठम् आ-
सम्यक् कायति शब्दायत इति तमेव तं स्तावयति, सत्कवितायामपि
तत्प्रेरणयैवात्र प्रवृत्तिः स्यान्नान्यथेत्यपरर्थः ॥ २ ॥

अथ निजेष्टदेवावतारत्वेन निजगुरुं स्तुवन् प्रार्थयते—

विश्रामेति । भक्तिरसरूपस्यामृतस्य सिन्धुरिवेति तन्नामायं ग्रन्थः

ज्योत्स्ना ।

१ विश्राम इति । यद्यप्यस्य प्रयोगस्यापाणिनीयत्वेन प्रयोगानर्हताऽभियुक्तैर्ध्वनिता;

भक्तिरसामृतसिन्धुर्भवतु सदाऽयं प्रमोदाय ॥ ३ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तस्य श्रीकृष्णाख्यस्य मदीशस्य सदा स्वेनैव रूपेण स्थितस्यैव प्रकाशितनानारूपतनोर्या सनातननाम्नी तनुस्तस्या विश्राममन्दिरतया तत्तुल्यतयाऽङ्गीकारेणेत्यर्थः, अन्यस्या अपि नारायणाख्यायाः सदा प्रसिद्धसमानार्थसनातनतनोः सिन्धुर्विश्राममन्दिरं भवतीति ॥ ३ ॥

ज्योत्स्ना ।

तथाऽपि प्रयोगस्यापि प्रामाणिकत्वेन व्यवस्थाप्यतौचित्यमावहति,

तत्रापणिनीयत्वं वित्थम्-उदात्तोपदेशस्य श्रमेर्ध्वि “नोदात्तोपदेशस्य मान्त-स्यानाचमेः” इति सूत्रेण वृद्धिनिषेधे विश्रमेण भाव्यम्,

न च ‘रजो विश्रामयन् राज्ञां धुर्यान् विश्रामयेति स’-

इतिवद् णिजन्तादेरचि निर्वाह इति सांप्रतम् ?

“नोदात्तोपदेशस्ये”त्यत्रा“तो युगि” त्यादितः कृतीत्यस्यानुवृत्त्या णिचि वृद्धिनिषेधाप्रसक्त्या दृष्टान्तवैषम्याद्,

“मितां ह्रस्व” इत्यनेन विरुद्धो दृष्टान्त इत्युक्तिस्तु न सती “वा चित्तविराग”-इत्यतो वेत्यनुवृत्तौ व्यवस्थितविकल्पाश्रयेण तत्र सामञ्जस्यात् ; किन्तु णिच्यर्थवैलक्ष-ण्यस्य दुष्परिहरता तदवस्थैवेति निवृत्तप्रेषणात्साधुता समर्थनीयेति के चिद्,

वस्तुतस्तु तस्याप्यगतिकगतिनुल्यतया श्रमशब्दात्प्रज्ञाऽऽयणि विशब्देन “प्रादि-भ्यो गताद्यर्थे प्रथमये” त्यनेन विशिष्टः श्रामो विश्रामः प्राचार्यादिवत्समासेन सुसाधः, एतेन

‘रोगी चिरप्रवासी परान्नभोजी परावसथशायी ।

यज्जीवति तन्मरणं यन्मरणं सोऽस्य विश्रामः’ इत्यादिकमपि व्याख्यातम्,

अपाणिनीयत्वोक्तिस्तु कामवामादिजातीयसाधुतातात्पर्यिकेति वैयाकरणरूपा वि-दाङ्कुर्वन्तु ।

भक्तिरसामृतसिन्धौ चरतः परिभूतकालजालभियः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तदेवं नामग्राहं तं बन्दित्वा स्वाभीष्टानन्यानापि सामान्यतः
सङ्गत्तान् बन्दते—

भक्तिरसेति । भक्ता एव मकरा मीनराजाख्या जलचरास्तान्नम-
स्यामि, मकरत्वेन रूपके सादृश्यत्रयमाह—भक्तिरस एवामृतासिन्धु-
नानाविधमुक्तिनदीनामाश्रयः परमपरमानन्दः तस्मिन् चरतो विह-
रतोऽतो न शीलता नादृता मुक्तिरेव नदी तद्रूपतया निरूपितं-
जन्ममरणादिबन्धच्छेदकमप्यनवच्छिन्नप्रवाहमपि ब्रह्मकैवल्यादि-
सुखं यैस्तान्; अनादृतेत्येव वा पाठः, अत एवप रिभूतं जन्ममरणा-
दिवधदुःखपरंपराहेतोः कालरूपाज् जालाद्भयं यैस्तान्,

ज्योत्स्ना ।

१ अत्र मानं तु—

न कर्हि चिन्मत्पराः शान्तरूपे ! नङ्क्षयन्ति नानिमिषो लेढि हेतिः ।

येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥

तथा—

त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः स्वौको विलङ्घ्य परमं व्रजतां पदं ते ।

नान्यस्य बर्हिषि वलीन् ददतः स्वभागान् धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्ध्नि ॥

इत्यादिश्रीमद्भागवतादि ।

२ नामग्राहमिति । णामुलन्तत्वेन त्वत्र न भ्रमितव्यम्, तद्विधायकेन “समूलाकृत-
जीवेषु हनूकृज्ग्रह” इत्यनेन जीवोपपदादेव ग्रहेस्तद्विधानात्, “कषादिषु यथाविध्यनु-
प्रयोगः” इत्यनेन तस्यैवानुप्रयोगाच्च, तस्माद् व्यधिकरणबहुव्रीहिगर्भं बन्दनक्रियावि-
शेषणं ज्ञेयम् ।

३ रूपक इति । अत्रेदं चिन्तनीयम्—रूपक इत्यस्य तस्यैव विशेषे पाणिनाम इत्यर्थः,
विषयिणां मकराणां तादृशसिन्धौ चरणकर्तृत्वपरिभूतकालजालभीकत्वाशीलितमुक्ति-

भक्तमकरानशीलितमुक्तिनदीकान्नमस्यामि ॥ ४ ॥

मीमांसकवडवाऽग्नेः कठिनामपि कुण्ठयन्नसौ जिह्वाम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

सालोक्यसाष्टिसारूप्येत्यादेर्मत्सेवया प्रतीतं त इत्यादेश्च पूर्वहे-
तोरेव परिभूतं जन्ममरणादिवन्धदुःखपरम्पराहेतुं कालरूपाज्जालाद्
भयं यैस्तान्, नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्ड इत्युक्तेः ॥ ४ ॥

अथ निजग्रन्थस्य विरोधिकृतपराभवाभावकरीं सदा स्फूर्ति-
श्रीगुरुचरणान् प्रार्थयते-मीमांसकेति ।

मीमांसको द्विविधः-कर्मज्ञानविचारभेदेन, वडवाऽग्नेर्जिह्वा ज्वाला

ज्योत्स्ना ।

नदीकत्वानि न हि स्वरूपेण सम्भवन्ति; किन्तु विषयताऽऽपन्नभक्ततादात्म्यापत्यैवेति
युक्तं भाति ।

स्पष्टं चैतद्—

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाऽधिपत्यम् ।

न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस ! त्वां विरहय्य काङ्क्षे ॥

इत्यादिपरमहंससंहिताऽऽदितः ।

१ मीमांसकेत्युक्तिः—ये भजनीयतमं भगवन्तमेव रसनाभिर्नोपगच्छन्ति तदीया-
एव रसनाः कुण्ठयितव्या इति भगवद्विद्वेष्युपलक्षणपरा ज्ञेया, बन्धविशेषारोपस्तु
रूपकविशेषानुरोधतः ।

स्फुटमेतत्—

श्रेयःसुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो !

क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।

तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते

नान्यद्यथा मूलतुषावघातिनाम् ॥

इत्यादितत्रत्यादिमानैः ।



स्फुरतु सनातन ! सुचिरं तव भक्तिरसामृताम्भोधिः ॥५॥

भक्तिरसस्य प्रस्तुतिरखिलजगन्मङ्गलप्रसङ्गस्य ॥

अज्ञेनापि मयाऽस्य क्रियते सुहृदां प्रमोदाय ॥ ६ ॥

एतस्य भगवद्भक्तिरसामृतपथोनिधेः ॥

चत्वारः खलु वक्ष्यन्ते भागाः पूर्वादयः क्रमात् ॥ ७ ॥

तत्र पूर्वे विभागेऽस्मिन् भक्तिभेदनिरूपके ॥

अनुक्रमेण वक्तव्यं लहरीणां चतुष्टयम् ॥ ८ ॥

आद्या सामान्यभक्त्याख्या द्वितीया साधनाङ्किता ॥

भावाश्रिता तृतीया च तुर्या प्रेमनिरूपिका ॥ ९ ॥

तत्रादौ सुष्ठु वैशिष्ट्यमस्याः कथयितुं स्फुटम् ॥

लक्षणं क्रियते भक्तेरुत्तमायाः सतां मतम् ॥ १० ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तद्भेदेनैवाग्नेः सप्तजिह्वत्वेन प्रसिद्धे, तां यथा कुण्ठयन्नम्भोधिर्वर्त्तते
तथाऽयमपि मीमांसकानां वचनशक्तिमित्यर्थः, तत्कुण्ठनातिशयविव-
क्षायामेव तात्पर्याद्, उभयत्रापि तदीयरसस्वाभाव्यादिति भावः,
अथ वाऽन्याम्भोधितो विलक्षणत्वमत्रोक्तं सिन्धवावन्यत्र बडवाग्नेः स्वा-
भाविकी स्थितिरेव तु मीमांसकस्य यथा कथं चिदागन्तुकी स्यादि-
त्याशङ्क्य तदेव प्रार्थितम् ॥ ५ ॥

मम पुनरनुकूलानां प्रतिकूलानां च पण्डितानां समाधाने न
शक्तिः किं त्वेतदर्थमेवेदं क्रियते इत्याह-भक्तिरसस्येति ।

अज्ञेनेति । पूर्ववद्दैन्येऽपि न विद्यते हो यस्मात्तेनेति ज्ञेयम्,
अपिरत्र स्वतः प्रयोजनाभावं व्यञ्जयति ॥ ६ ॥

अथ ग्रन्थमारब्धुं तत्परिपाटीं दर्शयति-एतस्येति चतुर्भिः ।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्म्मघनावृतम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तत्रादाविति । तत्र=पूर्वविभागगतप्रथमलहरीयां, आदौ=प्रथमतः एवोत्तमायां भक्तेर्लक्षणं क्रियते प्रतिपाद्यतयाऽभिधीयते, न तु सर्वात्मिकायाः; तत्र हेतुः-सुष्ठु वैशिष्ट्यं कथयितुमिति । अन्यत्रान्याभिलाषज्ञानकर्म्माद्यावृत्तत्वेनापूर्णबलत्वादेतदंशत एवास्यास्तादृशत्वव्यक्तेः, यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचनेत्यादेशः ॥ ७-१० ॥

अथ तस्या लक्षणं वदन्नेव ग्रन्थमारभते-अन्येति ।

अनुशीलनमत्र क्रियाशब्दवद्भात्वर्थमात्रमुच्यते, धात्वर्थश्च द्विविधः-प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मकः कायवाङ्मानसीयस्तत्तच्चेष्टारूपः; प्रीतिविषादात्मको मानसस्तत्तद्भावरूपः, सत्ताऽसत्ते तु परस्परोपमर्दितत्वाच्चेष्टाऽन्तर्गते एव, तदेवं सति कृष्णसम्बन्धि कृष्णार्थं वाऽनुशीलनमिति तत्सम्बन्धमात्रस्य तदर्थस्य वा विवक्षितत्वाद्गुरुपादाश्रयादौ; भावरूपस्यापि कोडीकृतत्वात् स्थायिनि व्यभिचारिषु च भावेषु नाव्याप्तिः; एतच्च कृष्णतद्भक्तकृपयैव लभ्यं श्रीभगवतः स्वरूपशक्तिवृत्तिरूपमतोऽप्राकृतमपि कामादिवृत्तितादात्म्येनैवाविर्भूतमिति ज्ञेयम्, अत्रे तु स्पष्टीकरिष्यते, कृष्णशब्दश्चात्र

ज्योत्स्ना ।

१ धात्वर्थमात्रमिति । यद्यपि धात्वर्थत्वस्य “फलव्यापारयोर्धातुरिति”त्यभिद्युक्तोक्त्या फलशेऽप्यविशिष्टत्वं, तथाऽपि प्राधान्याद् यथा क्रियापदाद् व्यापार एव परामृश्यते तथा प्रकृते शीलनपदेनापीत्यर्थः ।

२ द्विविध इति । एवमुक्तिः स्पन्दाभिप्रायेण; न तु साध्यत्वेन परिणामाभिप्रायिका, तथात्वे द्वैविध्यानुपपत्तेः ।

३ तदर्थस्येति । तदुद्देश्यकस्येति भावः । पूर्वकल्पे सम्बन्धस्य साक्षात्त्वे वक्ष्यमाणान्यासस्तादवस्थात्, पारम्परिकत्वेऽतिप्रसङ्गादरुचेः कल्पान्तरानुसरणम् ।

भानुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥ ११ ॥

यथा श्रीनारदपञ्चरात्रे—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम् ।

हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

स्वयं भगवतः श्रीकृष्णस्य तद्रूपाणां चान्येषामपि ग्राहकः, तारतम्य-
श्चाग्रे विवेचनीयं, तत्र भक्तिमात्रत्वसिद्ध्यर्थं विशेषणमानुकूल्येनेति,
प्रातिकूल्ये भक्तित्वाप्रसिद्धेः, आनुकूल्यं चास्मिन्नुद्देश्याय श्रीकृष्णाय
रोचमाना प्रवृत्तिः, प्रातिकूल्यं तु तद्विपरीतं ज्ञेयम्, तृतीया चेत्यं-
विशेषण एव न तूपलक्षणे, ततश्च यथा शस्त्रिणः समानयेत्युक्ते
शस्त्राणामपि समानयनं प्रसज्यते तथाऽऽनुकूल्यस्यापि भक्तित्ववि-
धानं; न तु शस्त्रिणो भोजयेत्पत्र शस्त्राणामभोजनवदविधानम् ।

नन्वानुकूल्यं भक्तिरित्येवास्तां ततश्च राजाऽयं गच्छतीत्यत्र राजप-
देन तत्परिकराणां ग्रहणमिव तत्परिकराणां ग्रहणं स्यात्? सत्यं;
तथाऽपि धात्वर्थभेदानां स्यष्टा प्रतिपत्तिर्न स्यादिति धात्वर्थमात्रग्रहणा-
यानुशीलनं पदमुपादीयते, अन्विति पदं चानुकूल्ये जाते मुहुरेव शी-
लनं स्यादित्यभिप्रायेण कृतं, तदेतत्स्वरूपलक्षणम्; उत्तमत्वसिद्ध्यर्थं-
तु तदस्थलक्षणेन विशेषणद्वयम् अन्याभिलाषिताश्रयमित्यादि ।
अत्रान्येति । भक्त्येकाभिलाषेण युक्तमित्यर्थः, ज्ञानमत्र निर्भेदब्रह्मानुस-
न्धानं; न तु भजनीयत्वानुसन्धानमपि तस्यावश्यापेक्षणीयत्वात्
कर्म स्मृत्याशुक्तं नित्यनैमित्तिकादि न तु भजनीयपरिचर्यादि
तस्य तदनुशीलनरूपत्वाद्, आदिशब्देन वैराग्ययोगसांख्याभ्यासा-
दयः, अत्र कृष्णानुशीलनं कृष्णभक्तिरिति वक्तव्ये भगवच्छास्त्रेषु
केवलस्य च भक्तिशब्दस्य तत्रैव विश्रान्तिरित्यभिप्रायात्तथोक्तं-
तथैव ह्यग्रिमवाक्यमिति ॥ ११ ॥

श्रीभागवतस्य तृतीयस्कन्धे च—

अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ॥

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ।

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत इति

सालोक्येत्यादिपद्यस्थभक्तोत्कर्षनिरूपणम् ॥

भक्तोर्विशुद्धताव्यक्त्या लक्षणे पर्यवस्यति ॥ १२ ॥

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा ॥

सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकार्षणी च सा ॥ १३ ॥

तत्रास्याः क्लेशघ्नत्वम्—

क्लेशस्तु पापं तद्वीजमविद्या चेति ते त्रिधा ॥

तत्र पापम्—

अप्रारब्धं भवेत् पापं प्रारब्धं चेति तद् द्विधा ॥ १४ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तत्परत्वेनानुकूल्येन, सर्वैत्यन्याभिलाषिताशून्यं, सेवनमनुशीलनं, निर्मलं ज्ञानकर्माधनावृतमत उत्तमतत्वं स्वत एवोक्तम् ।

अहैतुकीति । अत्राहैतुकी=अन्याभिलाषिताशून्या, अव्यवहिता=ज्ञानकर्माधनावृता, भक्तिः=भावरूपा, तथाऽप्येतदव्यभिचारिणी क्रियारूपाऽपि लक्ष्यते ॥ ११ ॥

अहैतुकीत्वमेव विशेषेण दर्शयति—सालोक्येति, यस्यामिति शेषः, आत्यन्तिकः परमपुरुषार्थ इत्यर्थः ॥ १२ ॥

अथ वैशिष्ट्यं कथयितुमिति यदुक्तं तदेव संक्षिप्य दर्शयति—क्लेशघ्नीति ॥ १३-१४ ॥

तत्राप्रारब्धहरत्वं यथैकादेशे—

यथाऽग्निः सुसमिद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।

तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥

प्रारब्धहरत्वं यथा तृतीये—

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्-

यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्व चित् ।

श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते

कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥

दुर्जातिरेव सवनायोग्यत्वे कारणं मतम् ।

दुर्जात्यारम्भकं पापं यत्स्यात्प्रारब्धमेव तत् ॥ १५ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

पाकाद्यर्थं प्रज्वलितोऽग्निर्यथा काष्ठानि भस्मीकरोति तथा म-
द्विषया भक्तिर्यथा कथं चित् श्रवणादिलक्षणा समस्तानि पापानि
दहतीति ।

यन्नामेति । श्वादत्वमत्र श्वभक्षकजातिविशेषत्वमेव श्वानमत्ती-
तिनिरुक्तौ वर्तमानप्रयोगात् क्रव्यादवत्तच्छीलत्वप्राप्तेः कादाचित्क-
श्वभक्षणप्रायश्चित्तविवक्षायां त्वतीतप्रयोगः क्रियते रुद्धिर्योगमपहर-
तीति न्यायेन च तद्विरुध्येत; अत एव श्वपक्ष इति स्वामिचरणै-
र्व्याख्यातं ततश्चास्य भगवन्नामश्रवणाद्येकतरात् सद्य एव सवनयो-
ग्यतायाः प्रतिकूलदुर्जातित्वप्रारम्भकप्रारब्धपापनाशपूर्वकसवनयो-
ग्यजातिजनकपुण्यलाभः प्रतिपद्यते ब्राह्मणानां शौक्रे जन्मनि दु-
र्जातित्वाभावेऽपि सवनाय सुजातित्वजनकसावित्रजन्मापेक्षावत्
तस्माद् “भक्तिः पुनाति मन्त्रिष्ठा इवपाकानपि सम्भवाद्” इति तु
कैमुत्यार्थमेव प्रोक्तमित्यायाति ॥ १५ ॥

पात्रे च—

अप्रारब्धफलं पापं कूटं बीजं फलोन्मुखम् ॥

क्रमेणैव प्रलीयन्ते विष्णुभक्तिरतात्मनाम् ॥ १६ ॥

• बीजहरत्वं यथा पष्ठे—

तैस्तान्यधानि पूयन्ते तपोदानव्रतादिभिः ।

नाधर्मजं तदृष्टदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया ॥

अविद्याहरत्वं यथा चतुर्थे—

यत्पादपङ्कजपलाशविश्रामभक्त्या

कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः ।

तद्वन्न रिक्तमतयो यतयो निरुद्ध-

श्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तस्माद् दुर्जातिरेवात्र सवनायोग्यत्वे कारणमिति तद्योग्यता प्र-
तिकूलपापमपीत्यर्थो न तु तद्योग्यत्वाभावमात्रमपीति, ब्राह्मणा-
नां शौक्रे जन्मनि दुर्जातित्वाभावेऽपि सवनयोग्यत्वाय पुण्यविशे-
षमयसावित्रजन्मसापेक्षत्वात्, ततश्च सवनयोग्यत्वप्रतिकूलदुर्जा-
त्यारम्भकं प्रारब्धमपि गतमेव किन्तु शिष्टाचाराभावात् सावित्रं-
जन्म नास्तीति ब्राह्मणकुमाराणां सवनयोग्यताऽवच्छेदकपुण्यवि-
शेषमयसावित्रजन्मापेक्षावदस्य जन्मान्तरापेक्षा वर्त्तत इति भावः,
अतः प्रमाणवाक्येऽपि सवनाय कल्पते सम्भावितो भवति न तु त-
दैवाधिकारो स्यादित्यभिप्रेतं, व्याख्यातं च तैः “सवनाय सोमयागाय
कल्पते; अनेन पूज्यत्वं लक्ष्यत” इति, तदेवं दुर्जात्यारम्भकस्य पापस्य
सद्यो नाशे वचनादवगते दुःखारम्भकस्यापि नाशस्तु भक्त्यावृत्त्या
सम्भावित इति सर्वप्रारब्धहारितायामिदमुदाहरणं युक्तमेव, यथोक्तं-
न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित् ।

जन्ममृत्युजराव्याधिभयं वाऽप्युपजायत इति ॥ १६ ॥

पात्रे—

कृतानुयात्रा विद्याभिर्हरिभक्तिरनुत्तमा ।

अविद्यां निर्दहत्याशु दावज्वालेव पन्नगीम् ॥

शुभदत्वम्—

शुभानि प्रीणनं सर्वजगतामनुरक्तता ॥

सद्गुणाः सुखमित्यादीन्याख्यातानि मनीषिभिः ॥१७॥

तत्र जगत्प्रीणनादिद्वयप्रदत्वं यथा पात्रे—

येनार्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि ।

रज्यन्ति जन्तवस्तत्र जङ्गमाः स्थावरा अपि ॥

सद्गुणादिप्रदत्वं यथा पात्रे—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥

सुखदत्वम्—

सुखं वैषयिकं ब्राह्ममैश्वरं चेति तन्निधा ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

पूर्वार्थमेव स्पष्टयति—पात्रे चेति । पापमिति विशेष्यं, तत्र फलो-
न्मुखं प्रारब्धं, बीजं वासनामयं प्रारब्धत्वोन्मुखमिति यावत्, कूट-
बीजत्वोन्मुखम्, अप्रारब्धफलं=न प्रारब्धं कूटत्वादिरूपकार्याव-
स्थत्वं येन तत्, तच्चानादिसिद्धमनन्तमेष कारिकायां त्वेतदेवाप्रारब्ध
मित्युक्तं, बीजप्रारब्धे तु पूर्वं गणिते ।

यत्तु कूटमवशिष्टं तदप्यप्रारब्ध एवान्तर्भाव्यं, क्रमेण=पूर्वपूर्वा-
नुक्रमेण, तथाऽपि पूर्वोक्तं सद्यः सवनायेति कमलपत्रबेधन्यायेन
किञ्चित्कालविलम्बो ज्ञेय इति ॥ १७ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

बीजहरत्वं विशेषतो दर्शयतीत्याह-बीजेति ।

नैष्ठिक्यास्तु तस्या अविद्याहरत्वमपि प्रतिज्ञाय द्वाभ्यां दर्शयति-यत्पादेति । रिक्तमतयः=भगवद्भानादिविनाभूतमतयः, अरणं=शरणं, क्रमश्चात्र श्रीसूतेन श्रवणोपलक्षणतया प्रोक्तः—

शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः ।

हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया ।

भगवत्पुत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥

तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादश्च ये ।

चेत एतैरनाविद्धं स्थिते सत्त्वे प्रसीदति ॥

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।

भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीदवरे ॥ इति ।

नैष्ठिकी निश्चलेति टीकाकाराः ॥ १५ ॥

सर्वजगतामिति । सर्वजगत्कर्मकं प्रीणनं तत्कर्तृकानुरक्तता च, अनयोः साहुण्यान्तर्भावेऽपि पृथगुक्तिः सर्वोत्तमताऽपेक्षया; किंवा ते एते यद्यपि साहुण्यकृते अपि तत्र सम्भवतस्तथाऽप्यन्यत्रैव तावन्मात्रकृते न स्यातां किन्तु स्वरूपकृते अपीति पृथगुक्तिः कृता, यथोक्तं चतुर्थे—

यस्य प्रसन्नो भगवान् गुणमैश्यादिभिर्हरिः ।

तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नआप इव स्वयम् ॥ इति,

आदिग्रहणात्सर्ववशीकारित्वमङ्गलकारित्वादीनि ज्ञेयानि ।

सहुणादीत्यत्रादिग्रहणात्सर्ववशीकारित्वोपलक्षकसुरवशीकारित्वं गृह्यते, सहुणादिप्रदत्वमित्यत्र सहुणादिवशीकारयितृत्वमिति ३ ह० र०

यथा तन्त्रे—

सिद्धयः परमाश्चर्या भुक्तिर्भुक्तिश्च शाश्वती ।

नित्यं च परमानन्दो भवेद्भोविन्दभक्तितः ॥

यथा हरिभक्तसुधोदये च—

भूयोऽपि याचे देवेश ! त्वयि भक्तिर्दृढाऽस्तु मे ।

या मोक्षान्तचतुर्वर्गफलदा सुखदा लता ॥ इति,

मोक्षलघुताकृत्—

मनागेव प्ररूढायां हृदये भगवद्रतौ ॥ १७ ॥

पुरुषार्थास्तु चत्वारस्तृणायन्ते समन्ततः ॥

यथा नारदपञ्चरात्रे—

हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वां मुक्त्यादिसिद्धयः ।

भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेदिकावदनुव्रताः ॥ इति

सुदुर्लभा—

साधनौघैरनासङ्गैरलभ्या सुचिरादपि ॥ १८ ॥

हरिणा चाश्वदेयेति द्विधा सा स्यात्सुदुर्लभा ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

ह्यर्थः, सुराः=भगवदादयः स च तथा तत्परिकरा देवा मुनयश्चेत्यर्थः, समासते=वशीभूय तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥

सिद्धयः=अणिमादयः, भुक्तिश्च=विषयमयसुखं, मुक्तिः=ब्रह्मसुखं, पारिशेष्यान्नित्यं परमानन्दमैश्वरसुखं तत्तच्च तत्तदनुभवमयम् ।

सुखदा=ईश्वरानुभवानन्ददात्री, मनागेवेति । अल्पमपि प्ररूढायां न तु जनितायां; तस्याः स्वयंप्रकाशरूपत्वात्, पुरुषार्थाः=धर्मार्थकाममोक्षाख्यास्तृणायन्ते तत्र गन्तुं लज्जन्तइत्यर्थः । हरिभक्तीति । चेदिकावदिति । भीताइत्यर्थः । हरिणा चाऽऽश्वदेयेत्यत्रासङ्गेऽपीति गम्यते, अन्यथा द्वैविध्यानुपपत्तेः, द्विधा सुदुर्लभेति प्रकारद्वयेनापि

तत्राद्या यथा तन्त्रे—

ज्ञानतः सुलभा मुक्तिर्भुक्तिर्यज्ञादिपुण्यतः ।

सेयं साधनसाहसैर्हरिभक्तिः सुदुर्लभा ॥

द्वितीया यथा पञ्चमस्कन्धे—

राजन् ! पतिर्गुरुलं भवतां यदूनां—

दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः ॥

अस्त्वेवमङ्ग ! भजतां भगवान्मुकुन्दो—

मुक्तिं ददाति कर्हि चित्स्म न भक्तियोगम् ॥ इति ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

सुदुर्लभत्वं तस्यादित्यर्थः ॥ १७-१८ ॥

ज्ञानत इति । तन्त्रमतं तावद्विचार्यते—अत्र ज्ञानयज्ञादिपुण्ये सासङ्गे एव वाच्ये तयोस्तादृशत्वं विना भुक्तिमुक्तयोः सिद्धिरपि न स्याद्; अस्तु तावत्सुलभत्ववार्त्ता, अतः साधनसहस्राणामपि सासङ्गत्वमेव लभ्यते, वाक्यार्थक्रमभङ्गस्यावश्यपरिहार्यत्वात् सहस्रबाहुल्यासिद्धेश्च, तत्र यदि ज्ञानयज्ञादिपुण्ययोः सासङ्गत्वं तदेकनिष्ठत्वमात्रं वाच्यं; तदा तादृशाभ्यामपि ताभ्यां तयोः सुलभत्वं नोपपद्यते;

“क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसामित्यादेः,”

“श्रुद्राशा भूरिकर्माणो बालिशा बुद्धमानिन—”

इत्यादेश्च, तस्मात्तयोः सासङ्गत्वं नैपुण्येन विहितत्वमित्येव वाच्यं, नैपुण्यं च भक्तियोगसंयोजकत्वमिति “पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिन” इत्यादेः “स्वर्गापवर्गयोः पुंसाम्” इत्यादेश्च, अथ हरिभक्तिशब्देन साध्यरूपो रतिपर्यायस्तद्भावं एवोच्यते भक्त्या सञ्जातया भक्त्येतिवत् ततश्च साधनशब्देन हरिसम्बन्धिसाधनमेवोच्यते तत्सम्बन्धित्वं विना तद्भावाजन्मायोगात्; तथा च साधनशब्देन साक्षात्तद्भजने वाच्ये तत्र पूर्वक्रमतः सासङ्गत्वे लब्धे

दुर्गमसङ्गमनी ।

सहस्रबहुत्वनिर्देशेनापथ्यवसानात् सुशब्दाच्च भीतस्य कस्यापि-
तत्र प्रवृत्तिर्न स्यात् तेन तत्र सुलभत्वं तु—

शृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्वचेष्टितम् ।

नातिदीर्घेण कालेन भगवान् विशते हृदि ॥

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायतामनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः ।

ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः प्रियश्रवस्यङ्ग ! ममाभवद्रतिः ॥

इत्यादौ प्रसिद्धं, तस्मात्साधनशब्देन “न साधयति मां योगो न सांख्य-
मि”त्यादिवत्तदर्थविनियुक्तकर्म्मणादिकमेवोच्यते; अत एव साधनशब्द-
एव विन्यस्तो न तु भजनशब्दः, तस्य सासङ्गत्वं नाम च तदर्थविनि-
योगात् पूर्ववन्नैपुण्येन विहितत्वमेव, तत्साहस्रैरपि सुदुर्लभेत्युक्तिस्तु
साक्षात् तद्भजनमेव कर्त्तव्यत्वेन प्रवर्त्तयति; तथाऽपि कारिका-
यामनासङ्गेरिति यदुक्तं; तत्र चासङ्गेन साधननैपुण्यमेव बोध्यते
तन्नैपुण्यं च साक्षात्तद्भजने प्रवृत्तिः ततश्च तस्य तादृशसामर्थ्येऽप्य-
न्यत्र स्वर्गादौ प्रवृत्त्या न विद्यत आसङ्गो नैपुण्यं येषु तादृशैर्नानासाध-
नैरित्यर्थः, तादृशनानासाधनत्वं तु नेष्टं—

तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्त्वतां पतिः ।

श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यश्चेच्छताऽभयम् ॥

इत्यादौ, तस्मादितरमिश्रताऽपि न युक्तेति साध्वेव लक्षितं ज्ञान-
कर्म्मार्थनावृतमिति ।

कहिं चिन्न ददातीत्युक्ते कहिं चिद्ददातीत्यायाति, “असाकल्ये तु
विच्चन्नौ,” अत एव कहिं चिदपीति नोक्तं, तस्मादासङ्गेनापि कृते
साधनभूते साक्षाद्भक्तियोगे सति यावत्फलभूते भक्तियोगे गाढास-
क्तिर्न जायते तावन्न ददातीत्यर्थः, तथैव च लक्षितम्—अन्याभिलाषि-
त्ताशून्यमिति ।

सान्द्रानन्दविशेषात्मा—

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः ॥ १९ ॥

नैति भाक्तिसुखाम्भोधेः परामाणुतुलामपि ॥

यथा हरिभक्तिसुधोदये—

त्वत्साक्षात्करणाह्लादविशुद्धाब्धिस्थितस्य मे ।

सुखानि गोप्पदायन्ते ब्राह्मण्यपि जगद्गुरो ! ॥

तथा भावार्थदोषिकायां च—

त्वत्कथाऽमृतपाथोद्यौ विहरन्तो महासुदः ।

कुर्वन्ति कृतिनः के चिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम् ॥

श्रीकृष्णाकर्षिणी—

कृत्वा हरिं प्रेमभाजं प्रियवर्गसमन्वितम् ॥ २० ॥

भक्तिर्वशीकरोतीति श्रीकृष्णाकर्षिणी मता ॥

यथैकादशे—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ! ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

परार्द्धेति । परार्द्धकालसमाधिना समुदितं तत्सुखमपीत्यर्थः ।

ब्राह्मणीत्यत्र पारमेष्ठानीति तु न व्याख्येयं; परब्रह्मानन्देनैव तस्य तारतम्यं श्रीभागवतादिप्रसिद्धमिति तस्यारविन्दनयनस्य पद-
रविन्देत्यादिभ्यः ।

सत्स्वपि बहुषूदाहरिष्यमाणेषु श्रीभागवतादिवाक्येषु भावार्थ-
दीपिकोदाहरणं तु तत्कर्तुंस्तत्तात्पर्यज्ञत्वेन सर्वतत्तद्वाक्यार्थसंग्रहो-
ऽयमित्यभिप्रायात् ।

प्रेमभाजमिति आकर्षणशब्दबलात्; प्रियवर्गसमन्वितमिति श्री-
शब्दबलाद् व्याख्यातम् ।

न साधयतीत्यत्र यद्यपि योगादिसाधनप्रतिस्पर्धित्वेन साधनत्व-

न स्वाध्यायस्तपस्त्यागौ यथा भक्तिर्ममोजिता ॥

सप्तमे च नारदोक्तौ—

यूयं नृलोके वत भूरिभागा लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति ।

येषां गृहानावसतीति साक्षाद् गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् ॥ इति,

अग्रतो वक्ष्यमाणायास्त्रिधा भक्तेरनुक्रमात् ॥ २१ ॥

द्विशः षड्भिः पदैरेतन्माहात्म्यं परिकीर्तितम् ॥

किञ्च—

स्वल्पाऽपि रुचिरेव स्याद्भक्तितत्त्वावबोधिका ॥ २२ ॥

युक्तिस्तु केवला नैव यदस्या अप्रतिष्ठता ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

मेवास्या आयाति ततश्चाग्रत इत्यादिवक्ष्यमाणानुसारेण साध्यभक्ति-
महिमप्रस्तावेऽस्मिन्नुदाहरणं न सम्भवति; तथाऽपि साध्यामेव जन-
यित्वा वशीकरोत्यसाविति तथोक्तम् ।

अत एव तत्रापरितुष्यन् प्रियवर्गसमन्वितत्वोदाहरणं च करि-
ष्यन्नपरमाह-यूयमिति ।

द्विशो द्वाभ्यां द्वाभ्यां षड्भिः पदैः क्लेशघ्नीत्यादिभिः; परिकीर्त्ति-
तमिति । असाधारणत्वेनेति परिशब्दार्थः, तेन साधनरूपाया द्वौ-
गुणौ, भावरूपायाश्चत्वारो गुणाः; प्रेमरूपायाः षडपि ज्ञेयाः, तत्र तत्र
तत्तदन्तर्भावाद् वाय्वादिभूतचतुष्टयवत् ।

अत्र बहिर्मुखान् प्रत्यन्यदप्युच्यत इत्याह—किञ्चेति, रुचिरत्र-
भक्तितत्त्वप्रतिपादकशब्देषु श्रीमद्भागवतादिषु प्राचीनसंस्कारेणो-
त्तमत्वज्ञानं सैव भक्तितत्त्वमवबोधयति यथाशब्दं श्रद्धापयतीति,
केवला—शुष्का नैवेति किं तु तद्गुचिसहिता, इत्थमेव वक्ष्यते शास्त्रे
युक्तौ च निपुण इति ।

अप्रतिष्ठतामेव दर्शयति—तथेति । प्राचीनैः “स्तर्काप्रतिष्ठानादि”ति

तथा प्राचीनैरप्युक्तम्—

यत्नेनापादितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।

अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे भक्तिसामान्य-
लहरी प्रथमा ॥ १ ॥

सा भक्तिः साधनं भावः प्रेमा चेति त्रिधोदिता ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

न्यायानुसारिभिर्वाचिककारादिभिः, अभियुक्ततराः=तार्किकेषु प्रवी-
णतराः ॥ १९-२२ ॥

इति दुर्गमसङ्गमनीनाम्न्यां भक्तिरसामृतसिन्धुटीकायां लहरीच-
तुष्ट्यात्मके पूर्वविभागे भक्तिसामान्यलहरी प्रथमा ॥ १ ॥

सा भक्तिरिति । आपाततः प्रतीत्यर्थमेवेदं विवेचनं; विशेषतस्त्वि-
दं ज्ञेयम्—भक्तिस्तावद् द्विविधा—साधनरूपा साध्यरूपा च, तत्र प्रथमा-
या लक्षणं भेदाश्च वक्ष्यन्ते, द्वितीया तु हार्दरूपा साऽपि भक्तिशब्देनो-
च्यते यथैकादशे—

भक्त्या सज्जातया भक्त्या विभ्रत्युत्पुलकां तनुमिति,

अस्याश्च भावप्रेमप्रणयस्नेहरागाख्याः पञ्च भेदाः; तथोज्ज्वलनी-
लमणावस्य परिशिष्टग्रन्थे मानानुरागमहाभावास्त्रयश्च सन्ति
तदेवमष्टौ; तथाऽपि भावः प्रेमेति द्विभेदत्वेनोक्तिस्तूपलक्षणार्थमेव ।

प्रेम्ण एव विलासत्वाद्वैरल्यात् साधकेष्वपि ।

अत्र स्नेहादयो भेदा विविच्य न हि शंसिताः ॥

इत्यत्रैव प्रेमलहरीर्यन्ते वक्ष्यमाणत्वात् ।

तत्र साधनभक्तिः—

कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा ॥ १ ॥

नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता ॥

सा भक्तिः सप्तमस्कन्धे भङ्ग्या देवर्षिणोदिता ॥ २ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

कृतीति । सामान्यतो लक्षितोत्तमा भक्तिः कृत्येन्द्रियप्रे-
रणया साध्या चेत्सा साधनाभिधा भवति कृत्यास्तदन्तर्भावश्च
पूर्वक्रियाया यज्ञान्तर्भाववत्, तत्र भावाद्यनुभावरूपाया व्यवच्छेदार्थ-
माह-साध्यो भावो प्रेमादिरूपो यया सा न तु भावसिद्धा सा हि तद्-
ङ्गत्वात् साध्यरूपैवेति साध्यभावेत्यनेन सा साध्यपुमर्थान्तरा परिहृ-
ता; उत्तमाया एवोपक्रान्तत्वात्, भावस्य साध्यत्वे कृत्रिमत्वात् पर-
मपुरुषार्थत्वाभावः स्यादित्याशङ्क्याह-नित्येति । भगवच्छक्तिविशेष-
वृत्तिविशेषत्वेनाग्रे साधयिष्यमाणत्वादिति भावः ॥ १ ॥

सेति । नन्वत्र—

तस्माद्वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा ।

स्नेहात्कामेन वा युञ्ज्यात् कथं चिन्नेक्षते पृथग् ॥ इति,

भयद्वेषावपि विहितौ तर्हि तावपि भक्ती स्यातां यदि स्यातां-
तदानुकूल्येनेति विशेषणविरोधः स्यात् ? तत्राह-भङ्ग्येति । यः खलु
भयद्वेषयोरपि मङ्गलं विदधीत तस्मिन्नपि को वा परमपामरो भक्ति-
न कुर्वीत प्रत्युत तौ विदधीतेति परिपाठ्येत्यर्थः । युञ्ज्यादिति तु
सम्भावनायामेव लिङ् न तु विधौ; भयद्वेषयोर्विधातुमशक्यत्वाद्,
यद्यपि श्रीकृष्णपरमेवेदं वाक्यं तथाऽपि तदंशादौ च तारतम्येन ज्ञेयम्,
तस्मादिति । उपायेन कामादिना निर्वैरशब्दप्रतिपादयितव्येन विधिना
च द्वारा मनोनिवेशोपलक्षणत्वेन तत्तदिन्द्रियचेष्टा च भक्तिरित्यर्थः,

यथा—

तस्मात्केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेदिति ।

वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा ॥

तत्र वैधी—

यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते ॥ ३ ॥

शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते ॥

यथा द्वितीये—

तस्माद् भारत ! सर्व्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः ।

श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यश्चेच्छताऽभयम् ॥

पादो च—

स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातु चित् ।

सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः ॥

इत्यसौ स्याद्विधिर्नित्यः सर्ववर्णाश्रमादिषु ॥ ४ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तथाऽपि केनाऽपि योग्येन भयद्वेषातिरिक्तेन स्वमनोऽनुकूलेनैकतरे-
णैवेत्यर्थः ॥ २ ॥

यत्र=भक्तौ; प्रवृत्तिः पुंसो रागानवाप्तत्वाद् रागेणानवाप्तेति हेतोः
शास्त्रस्य शासनेनैवोपजायते सा भक्तिर्वैध्युच्यते, रागोऽत्रानुराग-
स्तद्रुचिश्च, अत्र रागात्मिकारागानुगयोर्भेदस्य वक्ष्यमाणत्वात्,
शासनेनैवेत्येवकाराद् रागप्राप्तत्वमपि चेत्तर्हीशेनैव वैधीत्वं ज्ञेयम्, सर्व-
इति । “अहरहः संध्यामुपासीत”, “ब्राह्मणो न हन्तव्य” इत्यादिरूपाः,
एतयोः स्मर्त्तव्याविस्मर्त्तव्यरूपयोर्विधिनिषेधयोरेव किङ्कराः=अधीनाः,
विपरीते तु विपरीतफला भवन्तीति भावः, विच्छब्दस्त्वत्र जातु-
शब्दस्यार्थद्योतक एव न तु वाचकः ।

नित्यत्वेऽप्यस्य निर्णीतमेकादश्यादिवत्फलम् ॥

एकादशे तु व्यक्तमेवोक्तम्—

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह ।

चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् ॥

य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् ।

न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥

तत्फलं च तत्रैव—

एवं क्रियायोगपथैः पुमान् वैदिकतान्त्रिकैः ।

अर्चन्नुभयतः सिद्धिं मत्तो विन्दत्यभीप्सिताम् ॥

पञ्चरात्रे च—

सुरपे ! विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया ।

सैव भक्तिरिति प्रोक्ता तया भक्तिः परा भवेदिति ॥

तत्राधिकारी—

यः केनाप्यतिभाग्येन जातश्रद्धोऽस्य सेवने ॥ ५ ॥

नातिसक्तो न वैराग्यभागस्यामधिकार्यसौ ॥

दुग्मसङ्गमनी ।

इत्यसावित्येषा कारिका त्वेवं क्रियायोगपथैरित्यनन्तरं पठनीया;
इतिशब्देन पूर्वप्रकरणस्य हेतुतायां योग्येन कृतमुखाया एतस्याः का-
रिकाया उपसंहारवाक्यताप्राप्तेस्तत्प्रकरणान्त एव योग्यत्वात् ।

तत्फलमुदाहरन्नर्चनमुपलक्ष्याह—एवमिति । तदुक्तम्—“अकामः
सर्वकामो वे”त्यादेः ।

सामस्त्येन दर्शयन् परमफलमाह—पञ्चेति । सैव भक्तिरित्यत्र
वैधीति गम्यं तत्प्रकरणपठितत्वात् ।

अतिभाग्येन=महत्सङ्गादिजातसंस्कारविशेषेण ।

यथैकादशे—

यदृच्छया मत्कथाऽऽदौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।

न निर्विघ्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥

उत्तमो मध्यमश्च स्यात्कनिष्ठश्चेति स त्रिधा ॥ ६ ॥

तत्रोत्तमः—

शास्त्रे युक्तौ च निपुणः सर्वथा दृढनिश्चयः ॥

दुर्गमसङ्गमनी । —

यदृच्छयेति । तदेतच्च विवृतं स्वयं भगवता—

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विघ्णः सर्वकर्मसु ।

वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः ॥

ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः ।

जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदार्काश्च गर्हयन् ॥ इति,

अत्र तत इति=तामवस्थामारभ्येत्यर्थः, भक्तिर्हि स्वतः प्रबलत्वा-
दन्यनिरपेक्षा न तु ज्ञानादिवत् सम्यग्वैराग्यादिसापेक्षा कर्मनिर्वे-
दापेक्षा त्वनन्यतासिद्ध्यैवेति तस्यामेवावस्थायां प्रवृत्तिर्युक्ता किन्तु
“आत्मारामाश्च मुनयः” इत्यादेर्न तु तत्रैव तस्याः समाप्तिरिति भावः

पूर्वं शास्त्रस्य शासनेनैव प्रवृत्तिरित्युक्तत्वाच्छास्त्रार्थविश्वास-
एवादिकारणं लब्धम्, अतः श्रद्धाशब्दस्तत्र प्रयुक्तस्तस्माच्छास्त्रार्थ-
विश्वास एव श्रद्धेति लब्धे श्रद्धातारतम्येन श्रद्धावतां तारतम्य-
माह—शास्त्र इति द्वाभ्याम् । निपुणः=प्रवीणः, सर्वथेति । तत्त्वविचा-
रेण साधनविचारेण च दृढनिश्चय इत्यर्थः, युक्तिश्चात्र शास्त्रानुग-
तैव ज्ञेया, “युक्तिस्तु केवला नैवे”ति युक्तेः स्वातन्त्र्यनिषेधात्, “श्रु-
तेस्तु शब्दमूलत्वादि”ति न्यायात् ।

पूर्वापरानुरोधेन कोऽन्वर्थोऽभिमतो भवेत् ।

इत्याद्यमूहनं तर्कः शुक्ततर्कं तु वर्जयेद् ॥ इति—

प्रौढश्रद्धोऽधिकारी यः स भक्तावुत्तमो मतः ॥ ७ ॥

मध्यमः—

य शास्त्रादिष्वनिपुणः श्रद्धावान्स तु मध्यमः ॥

कनिष्ठः—

यो भवेत्कोमलश्रद्धः स कनिष्ठो निगद्यते ॥ ८ ॥

तत्र गीतादिषूक्तानां चतुर्णामधिकारिणाम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

वैष्णवतन्त्राच्च, एवंभूतो यः प्रौढश्रद्धः स एवोत्तमोऽधिकारी-
त्यर्थः ॥ ३-७ ॥

अनिपुण इति । निपुणसदृशः बलवद्वाधे दत्ते सति समाधातुम-
समर्थ इत्यर्थः; तथाऽपि श्रद्धावान् मनसि दृढनिश्चयएवेत्यर्थः ।

यो भवेदित्यत्रापि शास्त्रादिष्वनिपुण इत्यनुवर्त्तनीयं; श्रद्धामात्र-
स्य शास्त्रार्थविश्वासरूपत्वात्, ततश्चात्रानिपुण इति यत्किञ्चिन्नि-
पुण इत्यर्थः, कोमलश्रद्धः शास्त्रयुक्त्यन्तरेण भेत्तुं शक्यः ॥ ८ ॥

श्रीगीतादिषु ये चतुर्विधा अधिकारिण उक्तास्तेऽपि शुद्धभक्तिः
पूर्वावस्था एवेत्याह-तत्रेति । तत्र च यस्मिन्निति स इति च सामान्ये-
नोक्तिर्यस्मिन् यस्मिन् स स इत्यर्थः, शौनकादिर्गणः, चतुःसनः=स-
नकादिः, श्रीगीतावाक्यं चेदम्—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ! ।

आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ! ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।

आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।

मध्ये यस्मिन् भगवतः कृपा स्यात्तत्प्रियस्य वा ॥ ९ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्ते ऽन्यदेवताः ।

इत्यादि, तत्र ज्ञानी=आत्मविदिति टीकाकाराः, तत्रोत्तमत्वस्य कारणं च व्याख्यातवन्तः—ज्ञानिनो देहाद्यभिमानाभावेन चित्तविक्षेपाभावाभित्ययुक्तत्वमेकान्तभक्तित्वं च सम्भवति नान्यस्येति, अत्र चेदं प्रतिपद्यते—तादृशत्वं तस्य तत्त्वम्पदार्थज्ञानेऽपि सम्भवतीत्यास्तां तज्ज्ञानी तत्त्वम्पदार्थज्ञानानन्तरभाव्यैक्यज्ञानिगुरूणामपि श्रीभगवत्प्रसादात् शुद्धभक्तिप्रवेशो दृश्यते यथा तृतीये—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-

किंजल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ॥

अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां-

संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥ इति

तदेतदभिप्रेत्याह—स च चतुःसन इति, तदेवं शुद्धभक्तेरुत्कर्षव्यञ्जनार्थमेवैष उदाहृतो; न तु वैध्यंशेऽपि रागप्राप्तत्वात्, तच्चानुभवज्ञानित्वाद् अत एव शास्त्रशासनातीतत्वाच्च, वैध्युदाहरणं तु तादृशशब्दज्ञानिषु ज्ञेयं, तथाऽऽरम्भत एव शुद्धभक्त्युत्थाने पञ्चममप्युदाहरणं द्रष्टव्यं—यथा पूर्वजन्मनि श्रीनारद एव, श्रीगीतादिष्वपि राजविद्याराजगुह्याध्यायादावीदृश एवाधिकारी दर्शितः, तदेतद्वीतोदाहरणं च तन्मतानुसारेणापि शुद्धभजने पर्यवस्यतीति ग्रन्थकृद्भिर्दर्शितम् ।

श्रीवैष्णवानां मते तु सुनरामेवेति तन्नोदङ्कितं, वस्तुतस्तु तत्र हि ज्ञानिशब्देन भगवज्ज्ञान्येवोच्यते पूर्वं हि—

“ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः”-

दुर्गमसङ्गमनी ।

इत्युक्त्वा; तस्य च ज्ञानस्य “मनुष्याणां सहस्रेष्वि”त्यादिना-
ऽऽत्मज्ञानसिद्धेरपि दुर्लभत्वमुक्त्वा, स्वस्य च “भूमिराप” इत्यादिना
प्रधानाख्यजोवाख्यशक्तिद्वयकारणके स्वस्मिन् परमकारणत्वमुक्त्वा;
तत एव सर्वश्रेष्ठत्वं सर्वाश्रयत्वं चोक्तं सर्वाश्रयत्वेऽपि “पुण्यो गन्ध”-
इत्यादौ पुण्यादिशब्दानां यथायोगं सर्वत्र योजनया प्राप्ता दोषास्पृष्टा-
ये सर्वे गुणास्तेषामतितुच्छानामपि स्वाभेदनिर्देशेन स्वगुणच्छविम-
यत्वं दर्शयित्वा साक्षात् स्वगुणानां तु कैमुत्यमेवानीतमानन्त्यं च, तत्र
ये चैव सार्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।

मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥

इत्यनेन मायागुणास्पृष्टगुणत्वं दर्शितं, तदेवं भेदेऽपि लब्धे यदु-
त्तरत्र बहूनां जन्मनामित्यादौ “वासुदेवः सर्वमि”ति “ज्ञानवान्मां-
प्रपद्यत” इत्यत्र प्रतिपाद्ये यदभेद इव श्रूयते तत् खलु सूर्यतद्रश्म्या-
दिवद्वासुदेवात् सर्वं न भिन्नं सर्वस्मात्तु वासुदेवो भिन्न इत्येव
सङ्गच्छते,

यथोक्तम्—

श्रीभागवते ब्रह्मणा--

सोऽयं तेऽभिहितस्तात ! भगवान् भूतभावनः ।

समासेन हरेर्नान्यदन्यस्मान्सदसच्च याद् ॥ इति,

अत्रैव श्रीभगवता प्रोक्तं “ये चैव सार्विका भावा” इत्यादि, श्री-
मदर्जुनेन तु “सर्वं समाप्नोसि ततोऽसि सर्वं” इत्येव वक्ष्यते, यस्मादेव
चैवं भूतज्ञानवान् यः स मां प्रपद्यत इति प्रपत्तिरेव प्रोक्ता, यतो-
वासुदेवः सर्वमिति मायागुणातीतबाह्याभ्यन्तरानन्तमहागुणगणा-
लङ्घनः सोऽहमिति स्वज्ञानमेव निर्दिशन् स्वस्य भजनमेव निश्चिकाय,

अथ चतुर्विधा इत्यादिपद्यानां चायमेवार्थः—आर्त्तो=दुःखहानेच्छुः,
अर्थार्थी=सुखप्राप्तीच्छुः, स च स च द्विविधः—परिच्छिन्नापरिच्छिन्नत्व-

स क्षीणतत्तद्भावः स्याच्छुद्धभक्त्यधिकारवान् ॥

यथेभः शौनकादिश्च ध्रुवः स च चतुःसनः ॥ १० ॥

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

दृष्टिभेदेन, अपरिच्छिन्नदृष्टिश्चेत् तत्तदर्थं कश्चित्तत्त्वजिज्ञासुरपि भवति
व्यतिक्रमेणोक्तिरार्त्तिहानेच्छाऽनन्तरमेव च जिज्ञासा जायत इति, ज्ञानी
पूर्वोक्तप्रकारकशाब्दज्ञानवान्, स च त्रिविधः तादृशैश्वर्यमाधुर्य-
तत्तन्मिश्रत्वज्ञानभेदेन, सुकृतं भक्तिवासनाहेतुमहत्सङ्गादिमयं विद्यते
येषां ते, तत्राद्येषु सुकृतस्य सन्देह इति यदि सुकृतिनस्ते तदा भजन्त-
इत्यर्थः, चतुर्थं तु निश्चयः यतोऽसौ सुकृतित्वाज्जातज्ञानस्ततो भजत-
एवेत्यर्थः, तेषां मध्ये स एव पूर्वोक्तमज्ज्ञान्येवान्याभिलाषिताया मता-
न्तरप्रसिद्धतत्त्वम्पदार्थैक्यभावनारूपज्ञानस्य स्मृतिप्रसिद्धवर्णाश्र-
मधर्मस्य चोपेक्षया केवलं मां भजन्तुत्तमभक्तत्वाद् ममात्यन्तप्रिय-
स्तस्य चाहमत्यन्तप्रिय इति सहेतुकमाह-तेषामित्यादिद्वयेन,

नन्वात्तादित्रयस्यान्ते का निष्ठा स्यात्तत्राह-बहुनामिति । सुकृ-
तिन इत्यत्र ज्ञापितं सुकृतविशेषं विना त्वन्ये संसरन्तीत्याह-का-
मैरित्यादि, तस्माच्चतुर्विधत्वमेव भक्तानामिति भगवत्प्रतिज्ञैव
निर्णया ॥ ९—१० ॥

अथ मूलमनुसरामः-पूर्वत्र हेतुं व्यतिरेकेणाह-भुक्तीति । अत्र
मुक्तिस्पृहायामपि पिशाचीत्वं; भावान्तरेण भक्तिस्पृहाऽऽवरकत्वात्
पूर्वा; परा च स्वोन्मुखतात्पर्यवतीति, तत्र यद्यपि भक्ता अपि संसा-
रतो मुक्ता भवन्त्येव; तथाऽपि तदंशे तु तेषां तात्पर्यं न भवत्येव
किन्तु भक्तेः प्रभावेणैव सा स्यादिति,

व्याप्नोति हृदयं यावद्भुक्तिमुक्तिस्पृहाग्रह-

इति पाठान्तरं तु सुस्थिरम्, तदेवमनया कारिकया साधकाना-

तावद्भक्तिमुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥ ११ ॥

तत्रापि च विशेषेण गतिमर्षीमनिच्छतः ॥

भक्तिर्हृतमनःप्राणान् प्रेम्णा तान् कुरुते जनान् ॥ १२ ॥

तथा च तृतीये—

तैर्दर्शनीयावयवैरुदारविलासहासेक्षितवामसूक्तैः ।

हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो मे गतिमर्षीं प्रयुङ्क्ते ॥ इति ।

श्रीकृष्णचरणाम्भोजसेवानिर्वृतचेतसाम् ॥

एषां मोक्षाय भक्तानां न कदाऽपि स्पृहा भवेत् ॥ १३ ॥

यथा तत्रैव श्रीमदुद्धवोक्तौ—

को न्वीश ! ते पादसरोजभाजां सुदुर्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह ।

तथाऽपि नाहं प्रवृणोमि भूमन् ! भवत्पदाम्भोजनिपेवणोत्सुकः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

मपि भुक्तिमुक्तिस्पृहा न युकेत्युक्तं, ततः सुतरामेव सिद्धानां नास्तीत्यभिप्रायस्तु परत्रोभयविधतत्तदुदाहरणेषु ज्ञेयः ।

मुक्तीच्छारहिताया भक्तेर्वैशिष्ट्यमाह—तत्रापीति । अर्षीं मोक्षलक्षणां, भक्तिः=श्रवणादिलक्षणा, हृतमात्मसात् कृतं मनः प्राणाश्चन्द्रियाणि येषां तथाभूतान् प्रेमद्वारा कुरुते,

एतत्प्रमाणयति—तथा चेति । दर्शनीयावयवाद्यनुभवजातप्रेमद्वारेत्यर्थः, प्रयुङ्क्ते=कुरुते, तदेवमङ्गेशप्राप्तत्वाद्याख्यातं, व्याख्यान्तरेऽपि अर्षीं सूक्ष्मां दुर्ज्ञेयां पार्षदत्वलक्षणामित्येवार्थः, प्रकरणप्राप्तत्वात्, श्रियं भागवतीं च स्पृहयन्ति भद्रां परस्य मे तेऽदनुवते हि लोके”

इति वक्ष्यमाणाद्, अस्या अप्यनिच्छा दैन्येनैवेति भावः ॥ १२ ॥

एकात्मताम्=ब्रह्मसायुज्यं भगवत्सायुज्यमपि ।

सार्द्धिः=समानैश्वर्यम् ।

तत्रैव श्रीकपिलदेवोक्तौ—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति के चिद् मत्पादसेवाभिरता मदीहाः ।

येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसह्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवने जनाः ॥

चतुर्थे श्रीध्रुवोक्तौ—

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्मध्यानाद्भवजनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।

सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ ! मा भूत् किं न्वन्तकासिलुलितात् पततां विमानात् ॥

तत्रैव श्रीमदादिराजोक्तौ—

न कामये नाथ ! तदप्यहं क्व चिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः ।

महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेव मे वरः ॥

पञ्चमे श्रीशुकोक्तौ—

यो दुस्त्यजक्षितिष्ठतस्वजनार्थदारान् प्रार्थ्यो श्रियं खरवरैः सद्यावलोकाम् ।

नैच्छन्पुस्तदुचितं महतां मधुद्विदसेवाऽनुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः ॥

षष्ठे श्रीवृत्रोक्तौ—

न नाकपृष्ठं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाऽऽधिपत्यम् ।

न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस ! त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

स्वमहिमनि स्वोऽसाधारणो महिमा यस्य तस्मिन्नपि, अन्त-
कस्यासिना कालेन लुलिताद् विमानात् पततां नास्तीति किमुत
वक्तव्यम् ।

तदपि=कैवल्यमपि, यत्र भवत्पदाम्भोजमकरन्दो यशःश्रवणा-
दिसुखं नास्ति, तर्हि किं कामयसे ? तत्राह—यशःश्रवणाय कर्णाणा-
मयुतं विधत्स्व एव मे वरः ।

यः=आर्षभयो भरतः ।

नाकपृष्ठम्=ध्रुवपदं, सार्वभौमं=श्रीप्रियव्रतादीनामिव महारा-

तत्रैव श्रीरुद्रोक्तौ—

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन विभ्यति ।

स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥

तत्रैवेन्द्रोक्तौ—

आराधनं भगवत ईहमाना निराशिषः ।

ये तु नेच्छन्त्यपि परं ते स्वार्थकुशलाः स्मृताः ॥

ससमे श्रीप्रह्लादोक्तौ—

तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त ! आद्ये किं तैर्गुणव्यतिकरादिह ये स्वसिद्धाः ।

धर्म्मादयः किमगुणेन च काङ्क्षितेन सारं जुषां चरणयोरुपगायतां नः ॥

तत्रैव शक्रोक्तौ—

प्रत्यानीताः परम ! भवता त्रायता नः स्वभागा-

दैत्याक्रान्तं हृदयकमलं त्वद्गृहं प्रत्यबोधि ।

कालप्रस्तं कियदिदमहो नाथ ! शुश्रूषतां ते

मुक्तिस्तेषां न हि बहुमता नारसिंहापरैः किम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

ज्यं, रसाऽऽधिपत्यम्=पातालादिसाम्राज्यम्, अपुनर्भवम्=मोक्षमपि, त्वा=त्वां, विरहय्य=त्यक्त्वा, अत्र नाकपृष्ठादीनामनुक्रमश्च न्यूनत्व-विवक्षया, ततश्चोत्तरोत्तरकैमुल्यमपि, ध्रुवपदस्य श्रेष्ठ्यं विष्णुपद-संनिहितत्वाद्, योगसिद्धादिकं तु सर्वत्रैतेषां पश्चाद्विन्यस्तम् अनयोस्तूत्तरत्र श्रेष्ठ्यम् ।

श्रीनारायणं विनाऽन्यत्र हानोपादानदृष्टिराहित्याद्, अपवर्ग इव स्वर्गे नरकेऽपि तुल्यमेकमेवार्थं द्रष्टुमनुभवितुं शीलं येषां ते तुल्यशब्दस्यैकवाचित्वम्, “रषाभ्यां नो णः समानपदे” इतिवत् ।

परं=मोक्षमपि ।

अगुणेन=मोक्षेण, सारं जुषां तन्माधुर्यास्वादिनां सताम् ।

अष्टमे श्रीगजेन्द्रोक्तौ—

एकान्तिनो यस्य न कं चनार्थं वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः ।

अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमङ्गलं गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः ॥

नवमे श्रीवैकुण्ठनाथोक्तौ—

मत्सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादिचतुष्टयम् ।

नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविप्लुतम् ॥

श्रीदशमे नागपत्नीस्तुतौ—

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाऽऽधिपत्यम् ।

न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः ॥

तत्रैव श्रीवेदस्तुतौ—

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो-

श्रितमहामृताब्धिपरिवर्त्तपरिश्रमणाः ।

न परिलपन्ति के चिदपवर्गमपीश्वर ! ते

चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥

एकादशे श्रीभगवदुक्तौ—

न किं चित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।

वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

नाकपृष्ठमपि न वाञ्छन्ति किमुत सार्वभौमं, पारमेष्ठ्यमपि न वाञ्छन्ति किमुत रसाऽऽधिपत्यमिति पूर्वार्धे योज्यम्; उत्तरार्धे वाशब्दोऽप्यर्थे, पादरजःशब्देन भक्तिविशेषज्ञापनया गाढप्रतिपत्तिर्ज्ञाप्यते।

हे ईश्वर ! दुरवगमं यद् आत्मनः स्वस्य भगवतस्तत्त्वं ब्रह्मान्दाच्छादकरूपगुणलीलायाथार्थं तस्य निगमाय निगमनाय विज्ञापनायात्ता प्रपञ्चानीता तनुः श्रीविग्रहो येन तस्य तव चरितमेव महामृताब्धिस्तत्र यः परिवर्त्तः मुहुः परिवृत्य प्लवनं तेन परिश्रमणाः वर्जितसंसारश्रमास्ते के चिद् विरलप्रचारा अपवर्गमपि

तथा—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाऽऽधिपत्यम् ।

न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्भिनाऽन्यत् ॥

द्वादशे श्रीरुद्रोक्तौ—

नैवेच्छत्याशिपः क्वापि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत ।

भक्तिं परां भगवति लब्धवान् पुरुषेऽन्यये ॥

पादूमे कार्तिकमाहात्म्ये—

वरं देव ! मोक्षं न मोक्षावधिं वा न चान्यं वृणेऽहं वरेशादपीह ।

इदं ते वपुर्नाथ ! गोपालबालं सदा मे मनस्याविरास्तां किमन्यैः ॥

कुवेरात्मजौ बद्धमूर्त्यैव यद्वत्त्वया मोचितौ भक्तिभाजौ कृतौ च ।

तथा प्रेमभक्तिं स्वकां मे प्रयच्छ न मोक्षे ग्रहो मेऽस्ति दामोदरेह ॥

हयशीर्षश्रीनायणव्यूहस्तवे च—

न धर्मकाममर्थं वा मोक्षं वा वरदेश्वर ! ।

प्रार्थये तव पादाब्जे दास्यमेवाभिकामये ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

नेच्छन्ति; कीदृशास्ते तत्राहुः—ते चरणसरोजयोर्हंसानां भागवतपर-
महंसाख्यानां यानि कुलानि शिष्योपशिष्यपरम्परा तेषां सङ्गेन
विसृष्टगृहाः तन्मते प्रथमत एव प्रवृत्तास्तेऽपि; आसतां तावत्ते हंसा-
स्तत्कुलानि चेत्यर्थः ।

अत्र पारमेष्ठ्यादिचतुष्टयस्यानुक्रमश्चाधोऽधो विवक्षया न्यून-
त्वविवक्षया च, ततश्च पूर्ववत् कैमुत्यमपि, योगादिद्वयं तु पूर्ववत्,
किं बहुना यत् किञ्चिदन्यदपि साध्यजातं तत्सर्वं नेच्छन्त्यपि किन्तु
मां विना तादृशभक्तिसाध्यं मामेव सर्वपुरुषार्थाधिकमिच्छन्तीत्यर्थः,
मय्यर्पितात्मा=कृतात्मनिवेदनः ।

मोक्षावधिं मोक्षं चेति नरकादिमोक्षास्तु तत्र के वराका इति
भावः ।

तत्रैव—

पुनः पुनर्वरान् दिव्यविष्णुर्मुक्तिं न याचितः ।
भक्तिरेव वृता येन प्रह्लादं तं नमाम्यहम् ॥
यदृच्छया लब्धमपि विष्णोर्दाशरथेस्तु यः ।
नैच्छन्मोक्षं विना दास्यं तस्मै हनुमते नमः ॥

अत एव प्रसिद्धं श्रीहनुमद्वचनम्—

भवबन्धच्छिदे तस्मै स्पृहयामि न मुक्तये ।
भवान् प्रभुरहं दास इति यत्र विलुप्यते ॥

श्रीनारदपञ्चरात्रे च जितन्तेस्तोत्रे—

धर्मार्थकाममोक्षेषु नेच्छा मम कदा चन ।
त्वत्पादपङ्कजस्याधो जीवितं दीयतां मम ॥
मोक्षसालोक्यसारूप्यान् प्रार्थये न धराधर ! ।
इच्छामि हि महाभाग ! कारुण्यं तत्र सुव्रत ! ॥

श्रीभागवते षष्ठे—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः ।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ! ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

विष्णुर्न याचित इति । दुहादौ गौणकर्मण एव विष्णोरुक्त्वात्
प्रथमा विभक्तिरेव, वृतेत्यत्र वृणोतेरपि तदादित्वे मुख्यकर्मणो भक्ते-
रुक्त्वमार्थम् ।

मुक्तानां प्राकृतशरीरस्थत्वेऽपि तदभिमानशून्यानां सिद्धानां
प्राप्तसालोक्यादीनां च कोटिष्वपि मध्ये नारायणसेवामात्रकाङ्क्षी
सुदुर्लभः ।

तदेवं श्रीकृष्णचरणाम्भोजसेवानिर्वृतचेतसामित्यनेन तत्सेवा-
सुखैकस्पृहिणा यन्मोक्षस्पृहा नास्तीत्युक्तं तत्र प्रमाणानि विवृतानि,

प्रथमे च श्रीधर्मराजमातुः स्तुतौ—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।

भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः ॥

तत्रैव श्रीसूक्तौ—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युत्क्रमे ।

कुर्वन्त्यहेतुर्कीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः, इति ॥

अत्र त्याज्यतयैवोक्ता मुक्तिः सर्वविधाऽपि चेत् ॥

सालोक्यादिस्तथाऽप्यत्र भक्त्या नातिविरुध्यते ॥ १४ ॥

सुखैश्वर्योत्तरा सेयं प्रेमसेवोत्तरेत्यपि ॥

सालोक्यादिर्द्विधा तत्र नाद्या सेवाजुषां मता ॥ १५ ॥

किन्तु प्रेमैकमाधुर्यभुज एकान्तिनो हरौ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

अथ तादृशेषु तस्य च स्वसेवादान एव प्रयत्न इत्याह—

प्रथमे चेत्यनन्तरं तथा परमेत्यनेन, परमहंसानां भक्तियोगविधानमर्थो यस्य तं त्वामिति शेषः, पश्येमहि जानीमहि ।

निर्ग्रन्थाः=विधिनिषेधात्मकग्रन्थेभ्यो निर्गता अपि ॥ १३ ॥

अत्र त्याज्येति। अपि चेद्=यद्यपि, तथाऽपि सालोक्यादिः सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यरूपा नातिशयेन विरुध्यते किन्तु केनाप्यंशेन विरुध्यते प्रतिकूलतया भाव्यत इति तत्र तत्र भक्तिश्रवणात् ।

तत्रातिशब्दप्रतिपाद्यमाह—सुखेति । तल्लोकादिस्वभावजं सुखैश्वर्यमुत्तरं प्राधान्येन वाञ्छनाय यस्यां सा; प्रेम्णा प्रेमस्वाभाव्येन सेवैवोत्तरा यस्यां सा; तत्र नाद्या सेवाजुषां मतेति सालोक्यसार्ष्टिसामीप्येत्याद्युक्तत्वात् तत्र सालोक्यादिचतुष्टयं सेवनं विनाभूतं चेत् तर्हि न गृह्णन्ति, एकत्वं तु नित्यं तद्विनाभूतत्वाद् न गृह्णन्त्येवेत्यर्थः, तच्चेद्वरे ब्रह्मणि च सायुज्यं ज्ञेयम् ।

नैवाङ्गीकुर्वते जातु मुक्तिं पञ्चविधामपि ॥ १६ ॥

तत्राप्येकान्तिनां श्रेष्ठा गोविन्दहृतमानसाः ॥

येषां श्रीशप्रसादोऽपि मनो हर्तुं न शक्नुयात् ॥ १७ ॥

सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि कृष्णश्रीशस्वरूपयोः ॥

रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः ॥ १८ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

नैवाङ्गीकुर्वत इति । प्रेमसेवोत्तरेत्युत्तरशब्दोपादानादन्यांशस्यापि सद्भावापत्तेस्तत्रान्यांशं नेच्छन्तीत्यर्थः, “मत्सेवया प्रतीतं त” इत्यादौ तु प्रथमा सेवा साधनरूपा, द्वितीया तु तया सिद्धरूपा, प्रतीतमानुषङ्गिकतया प्राप्तमपि सालोक्यादिचतुष्टयं तद्गतसुखैश्वर्यादि किं तु नेच्छन्तीत्यर्थः, ततः साक्षात्तदीयसेवयैव लब्धपरमानन्दाः सेवा ह्येषा सालोक्यादिकमपेक्षत एव एतच्च न वाञ्छन्ति चेत् कैमुत्ये-
नैक्यं सालोक्यादिभ्यो यदन्यत्तत् कालविप्लुतमेव तद्वा कथं वाञ्छ-
न्तिवत्यर्थः ।

गोविन्दः=श्रीगोकुलेन्द्रः, श्रीशः=परव्योमाधिपः ।

रसेनेति । सर्वोत्कृष्टप्रेममयरसेनेत्यर्थः । उत्कृष्यते=अन्तर्भूतण्यर्थ-
त्वाद् उत्कृष्टतया प्रकाश्यत इत्यर्थः, यतस्तस्य रसस्यैवैव स्थितिः
स्वभावः यत्कृष्णरूपमेवोत्कृष्टत्वेन दर्शयतीत्यर्थः, यथोक्तं कुरुक्षेत्र-
यात्रायां षोडशानां सहस्रेणापि श्रीमहिषीभिः--

न वयं साध्वि ! साम्राज्यं स्वाराज्यं भोज्यमप्युत ।

वैराज्यं पारमेष्ठ्यं वा आनन्त्यं वा हरेः पदम् ॥

कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजःश्रियः ।

कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना व्योढुं गदाभृतः ॥

व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति पुलिन्धस्तृणवीरुधः ।

गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्शं महात्मनः, इति ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

अत्र साम्राज्यं सार्वभौमं पदं, स्वाराज्यमैन्द्रं, भोज्यं तदुभयभोगभाक्त्वं वैराज्यमणिमादिसिद्ध्या विराजमानत्वं. पारमेष्ठ्यं प्राजापत्यम्, आनन्त्यं 'थि ते शतमित्यादि' श्रुतिरीत्या मनुष्यानन्दमारभ्य शतशतगुणितत्वेन प्राजापत्यानन्दस्य गणनायाः परां काष्ठां दर्शयित्वा परब्रह्मणि तु यतो वाचो निवर्त्तन्त इत्यनेन यदानन्दस्यानन्त्यं दर्शितं तदपीत्यर्थः, किं बहुना हरेः श्रीपतेः पदं सामीप्यादिकमपि यत् तदेतदपि न कामयामहे नाधीनं कर्तुमिच्छाम इत्यर्थः, तर्हि किमधिकं लब्धं कामयध्वे ? तत्राहुः—एतस्यास्मत्पतित्वेन सर्वविज्ञातस्य गदाभृतः श्रीमत्पादरज एव तावन्मूर्ध्ना व्योढुं कामयामहे तत्रापि यत् श्रियः कुचकुङ्कुमगन्धेनाढ्यं तद्गन्धेन प्राप्तसंपद्विशेषं तत्पुनरधिकं कामयामह इत्यर्थः ।

ननु श्रीपतेरेव पदं श्रीकुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं तत्सामीप्यादित्यागात् तत्तु भवत्यस्त्यक्तवत्य एव, यदि श्रीरत्र रुक्मिण्यभिप्रेयते तर्हि तत्तु भवतीनां प्राप्तमेव तस्मात्तत्तद्विलक्षणाया एव श्रियः कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं तत्स्यादिति गम्यते ततस्तदवबोधनाय पुनर्विशिष्यतां ? तत्राहुः ब्रजस्त्रिय इति,

पूर्णाः पुलिन्ध उरुगायपदाब्जराग-

श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन ।

तद्दर्शनस्मररजस्तृणरूपितेन

लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम् ॥ इति,

स्ववाक्याद्यनुसारेण ब्रजस्यादयो यद्वाञ्छन्ति ववाञ्छुरित्यर्थः, वर्त्तमानप्रयोगेण तत्तदविच्छेद उत्प्रेक्ष्यते, अत्र पुलिन्धादिनिर्देशस्तु स्वेषामपि तत्प्राप्तियोग्यताविवक्षया, तृणवीरुधो=दूर्वाद्याः, आसां तादृगनुभवश्च तत्सौरभवासितात्वाविच्छिन्नतत्पदप्रभावादेवेति भावः, आसां वाञ्छा-केवलेन हि भावेन गोप्पो गावो मृगा नगा इति दृष्टेः,

दुर्गमसङ्गमनी ।

गावो गाश्चारयन्तो गोपा इत्यन्ते निर्देशस्तु तेषां केषांचित्
प्रियनर्मसखादीनां तदनुमोदकारित्वेऽपि पुरुषत्वात्तत्रायोग्यत्व-
विवक्षया, अयं भावः—स्त्रीत्वेन प्रसिद्धायाः श्रियः तत्र कामनैव
श्रूयते न तु सङ्गतिः,

कस्यानुभावोऽस्य न देव ! विश्वहे

तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः ।

यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽऽचरत्तपो-

विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता ॥ इति;

नागपत्नीनामुक्तेः, “या वै श्रियाऽर्चितमि”त्युद्धवस्याप्युक्तेः, न
च रुक्मिणीत्वेन प्रसिद्धायाः श्रियस्तत्र सङ्गतिः ? कालदेशयोरन्यत्वाद्,
न च व्रजस्त्रीणां श्रीसम्बन्धलालसा युक्ता ?

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः

स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः;

इत्यादिना ततोऽपि परमाधिक्यश्रवणात्,

तस्माद्

रुक्मिणी द्वारवन्धां तु रांधा वृन्दावने वने,

इति मात्स्ये रुक्मिण्या सह पठिता “शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वाम-
देववदि”तिन्यायरीत्या महेन्द्रेण परमेश्वर इव दुर्गयाऽप्यहंग्रहोपास-
ना शास्त्रदृष्ट्या स्वाभेदेनोपदिष्टा, श्रीराधा तु सर्वतः पूर्णा तल्लक्ष्मीः;
तथा—

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता ।

सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा ॥

इति बृहद्गौतमीयदृष्ट्या च तासु राधात्वेन प्रसिद्धा सर्वतो-
विलक्षणा श्रीर्विराजते; तामुद्दिश्यैव तासां तदिदं वाक्यम्—

अनया राधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।

किं च—

शास्त्रतः श्रूयते भक्तौ नृमात्रस्याधिकारिता ॥

सर्वाधिकारितां माघस्नानस्य ब्रुवता यतः ॥ १९ ॥

दृष्टान्तिता वशिष्ठेन हरिभक्तिर्नृपं प्रति ॥

यथा पात्रे—

सर्वेऽधिकारिणो ह्यत्र हरिभक्तौ यथा नृप ! ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः ॥ इति;

“अप्येणपन्त्युपगतः प्रिययेहे”त्यादि द्वयं च, ततश्च तासां यथा तत्र स्पृहाऽऽस्पदता तथाऽस्माकं चेति; तदेवं तादृशप्रेमस्फूर्तिमयतद्गन्धाढ्य-
तायाः संप्रत्यस्मासु प्रकाशः स्यादिति दर्शितं, न केवलं तादृशं तद्रज-
एव वाञ्छन्ति; अपि तु तादृशं पादस्पर्शं च वाञ्छन्ति ततो वयमपि
तं च कामयामह इत्यर्थः, यद्वा तद्रजस एव विशेषणं पादस्पर्शमिति
तदव्यभिचारिफलत्वात्तदभिन्नमेवेत्यर्थः, एतस्य तत्र कीदृशस्य
महान् सर्वत्रत्यादपि स्वभावादुत्तम आत्मा सौन्दर्यादिप्रकाशमय-
स्वभावो यस्य तादृशस्य;

तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः,

इति श्रीशुकोक्तेः,

तस्मात् साधूक्तं—

तत्राप्येकान्तिनां श्रेष्ठा गोविन्दहृतमानसा—

इत्यादिना, कृष्णरूपमित्यनेन च तादृशं तत्सौन्दर्यमेवोपलक्षितमिति,

यद्यप्येतत् प्रकरणं सिद्धभक्तगुणाश्रितम् ।

तथाऽप्यन्ये तथा दृष्ट्या स्युरित्यत्रानुकीर्तितम् ॥ १४-१८ ॥

नन्वेवं भुक्तिमुक्तिस्पृहारहिताः श्रद्धालवः शुद्धभक्त्याधिकारिण-
इत्यायातं; तत्र ते त्रैवर्णिका एव किं वा सर्वे ? तत्राह—किं चेति ।

काशीखण्डे च तथा—

अन्त्यजा अपि तद्वाट्टे शङ्खचक्राङ्गधारिणः ।

संप्राप्य वैष्णवीं दीक्षां दीक्षिता इव संबभूवुः, इति ॥

अपि च—

अननुष्ठानतो दोषो भक्त्यङ्गानां प्रजायते ॥ २० ॥

न कर्मणामकरणादेष भक्त्यधिकारिणाम् ॥

निषिद्धाचारतो दैवात् प्रायश्चित्तं च नोचितम् ॥ २१ ॥

इति वैष्णवशास्त्राणां रहस्यं तद्विदां मतम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

काशीखण्डे च भक्तौ नृमात्रस्याधिकारिता श्रूयते इत्येतन्मात्रा-
शेनान्वयः ।

दीक्षिताः=याज्ञिकाः ।

तदेवमन्यामिलाषिताशून्यमिति स्थापितं; तत्प्रसङ्गसङ्गत्या
सर्वेषामप्यधिकारित्वं दर्शितम्,

तत्र शङ्कते—

ननु भवन्तु सर्व एवाधिकारिणः किं तु स्वस्वधर्मयुक्ता एवेति
युज्यते; तं विना प्रत्यवायश्रवणात् तथा सर्वेषां प्रायो निषिद्धकर्मा-
पतत्येव, सति च तेन दुष्टत्वे कथं शुद्धत्वं स्यात् कृते च प्रायश्चित्ते
कर्मावृत्तत्वमापद्येत ? तत्राह—अपि चेति । भक्त्यङ्गानां नित्यानामिति
ज्ञेयम् ॥ १९—२० ॥

दैवादिति । यस्य भक्तौ तादृशी रुचिः श्रद्धया जाता तस्य तु विक-
र्मणि स्वतः प्रवृत्तिर्न सम्भवत्येवेति भावः, प्रायश्चित्तं तु नोचित-
मिति भक्तिप्रभाव एव तत्प्रायश्चित्ताय कल्पत इति भावः ।

तदेतदेव स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य इत्यन्तेन ग्रन्थेनाह—
स्वे स्व इति । स्वे स्वेऽधिकार इति पूर्वोक्तकेवलकर्मज्ञानभक्तिविष-

यथैकशो—

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।

विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेप निश्चयः ॥

प्रथमे—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि ।

यत्र क वा भद्रमभूदमुष्य किं को वाऽर्थ आप्तो भजतां स्वधर्मतः ॥

एकादशे—

आज्ञायैवं गुणान् दोषान्मयाऽऽदिष्टानपि स्वकान् ।

धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान्मां भजेत्स च सत्तमः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

यतया पृथक् पृथग् निर्दिष्ट इत्यर्थः, उभयोर्गुणदोषयोः, तत्र शुद्ध-
त्तधिकारिण इतरद्वयकरणे दोष एव,

न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह,

इति तत्रैवोक्तेः,

तावत्कर्माणि कुर्वीतेत्यादेश्च, कर्मज्ञानाधिकारिणोस्तु तादृश-
द्वारहितयोः सङ्गादिवशात्तादृशशुद्धभक्तौ प्रवृत्तयोरप्यनादरदो-
षेण झटित्यसिद्धेर्दोषप्राय एवेति ज्ञेयं, विपर्ययः स्वाधिकारानिष्ठा
तदितरनिष्ठा च,

यत्र क वा नीचयोनावपि; अमुष्य भक्तौ प्रवृत्तस्याभद्रं किमभूत्
किं स्याद्? अपि तु नेत्यर्थः, भक्तिवासनाया अपरिच्छेदादिति भावः,
अभजतामभजद्भिस्तु स्वधर्मतः को वाऽर्थ आप्तो; न कोऽपीत्यर्थः ।

कृपालुरकृतद्रोह इत्यादौ स्थिरः स्वधर्मे कविः सम्यग्ज्ञानीति
टीकाऽनुसारेण कर्मज्ञानमिश्रा भगवच्छ्रवणलक्षणा भक्तिर्दर्शिता ।
तदनन्तरं चाह—आज्ञायैवमिति । यदि च स्वात्मनि तत्तद्गुणयोगाभावः
तथाऽप्येवं पूर्वोक्तप्रकारेण गुणान् कृपालुत्वादीन् दोषान् तद्विपरीतां
श्चाज्ञाय हेयोपादेयत्वेन निश्चित्यापि यो मया तेषु गुणेषु मध्ये तत्रा-

तत्रैव—

देवर्षिभूतासृणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन् ! ।

सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम् ॥

श्रीभगवद्गीताद्यु—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥

अगस्त्यसंहितायां—

यथा विधिनिषेधौ तु मुक्तं नैवोपसर्पतः ।

तथा न स्पृशतो रामोपासकं विधिपूर्वकम् ॥

एकादश एव—

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्त्वाऽन्यभावस्य हरिः परेशः ।

विकर्म यच्चोत्पतितं कथं विद्मधुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः, इति ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

दिष्टानपि स्वकान् नित्यनैमित्तिकलक्षणान् सर्वानेव वर्णाश्रमविहितान् स्वधर्मान् तदुपलक्षकं ज्ञानमपि मदनन्यभक्तिविघातकतया सन्त्यज्य मां भजेत् स च सत्तमः चकारात् पूर्वोक्तोऽपि सत्तम इत्युत्तरस्य तत्तद्गुणाभावेऽपि पूर्वसाम्यमिति बोधयति,

परिहृत्य कर्त्तमिति । अयमिन्द्रः सेव्योऽयं चन्द्रः सेव्य इत्यादिलक्षणेभेदं, शरणमनेन प्रारब्धनाशाद् वर्णाश्रमिद्वन्द्वनाशेन न नित्यकर्माधिकारः, कृत्यमिति पाठेऽपि स एवार्थः ।

सर्वधर्मान् परित्यज्येति । परिशब्दः स्वरूपतोऽपि त्यागं बोधयति सर्वपापेभ्यः सर्वान्तरायेभ्य इत्येवार्थः, श्रीभगवदाज्ञया भक्तौ श्रद्धावतां तस्यागे पापानुत्पत्तेः ।

विधिनिषेधौ स्मार्तौ विधिपूर्वकं वैदिकतान्त्रिकपूजाविधिसहितम् ।

हरिभक्तिविलासेऽस्या भक्तेरङ्गानि लक्षशः ॥ २२ ॥

किं तु तानि प्रसिद्धानि निर्देश्यन्ते यथामति ॥

तत्राङ्गलक्षणम्—

आश्रितावान्तरानेकभेदं केवलमेव वा ॥ २३ ॥

एकं कर्मात्रं विद्वद्भिरेकं भक्त्यङ्गमुच्यते ॥

अथाङ्गानि—

गुरुपादाश्रयस्तस्मात् कृष्णदीक्षाऽऽदिशिक्षणम् ।

विस्त्रम्भेण गुरोः सेता साधुवर्त्मानुवर्त्तनम् ॥

सद्धर्मपृच्छा भोगादित्यागः कृष्णस्य हेतवे ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

त्यक्तोऽन्यत्र भाव उपास्यबुद्धिर्येन तस्य कथं चिद्वैवादुत्पतित-
मुत्पातरूपेण जातम्,

आश्रितेति । यथाऽर्चनादि, केवलमत्रास्पृष्टस्वगतभेदं यथा गुरुपा-
दाश्रयो यथाऽभ्युत्थानादि च ॥ २१-२३ ॥

गुरुपादाश्रय इति ।

अस्मिन् ग्रन्थे अङ्का द्विविधाः औत्पत्तिकाः; टीकाकमलाभार्थ-
कल्पिताश्च, तत्र पूर्वा द्विविन्दुमस्तकाः; उत्तरास्तु तच्छून्या इति
भेदो ज्ञेयः ।

कृष्णदीक्षेति । दीक्षापूर्वकशिक्षणमित्यर्थः ।

साधुवर्त्मानुवर्त्तनं सदाचरितश्रुत्यादिविधिसेवित्वम् ।

कृष्णस्येति । कृष्णप्राप्तेर्यो हेतुस्तत्प्रसादस्तदर्थमित्यर्थः, अतो-

ज्योत्स्ना ।

१ रीतिरियं प्राचीनलिखितपुस्तकेषु सौकर्याय व्यवहृता; संप्रति प्रयोजनाभावा-
न्नापेक्ष्येति ।

निवासो द्वारकाऽऽदौ च गङ्गाऽऽदेरपि सन्निधौ ॥
व्यवहारेषु सर्वेषु यावदर्थानुवर्त्तिता ।
हरिवासरसम्मनो धात्र्यश्वत्थादिगौरवम् ॥
एषामत्र दशाङ्गानां भवेत् प्रारम्भरूपता ।
सङ्गत्यागो विदूरेण भगवद्विमुखैर्जनैः ॥
शिष्याद्यननुबन्धित्वं महारम्भाद्यनुद्यमः ।
बहुग्रन्थकलाभ्यासव्याख्यावादविवर्जनम् ॥
व्यवहारेऽप्यकार्पण्यं शोकाद्यवशवर्त्तिता ।
अन्यदेवानवज्ञा च भूतानुद्वेगदायिता ॥
सेवानामापराधानामुद्भवाभावकारिता ।
कृष्णतद्भक्तविद्वेषिविनिन्दाऽऽद्यसहिष्णुता ॥
व्यतिरेकतयाऽमीषां दशानां स्यादनुष्ठितिः ।
अस्यास्तत्र प्रवेशाय द्वारत्वेऽप्यङ्गविंशतेः ॥
त्रयं प्रधानमेवोक्तं गुरुपादाश्रयादिकम् ।
धृतिवैष्णवचिह्नानां हरेर्नामाक्षरस्य च ॥
निर्माल्यादेश्च तस्याग्रे ताण्डवं दण्डवन्नतिः ।
अभ्युत्थानमनुवृज्या गतिः स्थाने परिक्रमा ॥
अर्चनं परिचर्या च गीतं सङ्कीर्तनं जपः ।
विज्ञप्तिः स्तवपाठश्च स्वादो नैवेद्यपाद्ययोः ॥
धूपमाल्यादिसौरभ्यं श्रीमूर्तः स्पृष्टिरीक्षणम् ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

वैयधिकरणपात्तादर्थ्यं चतुर्थ्येव, अन्नस्य हेतोर्वसतत्यत्र “षष्ठी हेतु-
प्रयोगे” इति त्वन्नेहेत्वोः सामानाधिकरण्य एव प्रवृत्तं, कृष्णार्थे भोगा-
दित्याग इत्यस्यानुवदिष्यमाणस्यापि कृष्णप्रापकतत्प्रसादार्थ इत्ये-
वार्थः, आदिग्रहणाल्लोकवित्तपुत्रा गृह्यन्ते,

आरात्रिकोत्सवादेश्च श्रवणं तत्कृपेक्षणम् ॥
 स्मृतिध्यानं तथा दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।
 निजप्रियोपहरणं तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥
 सर्वथा शरणापत्तिस्तदीयानां च सेवनम् ।
 तदीयास्तुलसीशास्त्रमथुरावैष्णवादयः ॥
 यथावैभवसामग्री सद्गोष्ठीभिर्महोत्सवः ।
 ऊर्जादरो विशेषेण यात्रा जन्मदिनादिषु ॥
 श्रद्धाविशेषतः प्रीतेः श्रीमूर्तेरङ्घ्रिसेवनम् ।
 श्रीमद्भागवतार्थानामास्वादो रसिकैः सह ॥
 सजातीयाशये स्निग्धे साधौ सङ्गः स्वतो वरे ।
 नामसङ्कीर्तनं श्रीमन्मथुरामण्डले स्थितिः ॥
 अङ्गानां पञ्चकस्यास्य पूर्वं विलिखितस्य च ।
 निखिलश्रैष्ठ्यबोधाय पुनरप्यत्र संशनम् ॥
 इति कायहृषीकान्तःकरणानामुपासनाः ।
 चतुःपष्टिः पृथक् सांघातिकभेदात् क्रमादिमाः ॥

अथार्थानुमतेनैषामुदाहरणमीर्यते ॥ २४ ॥

तत्र गुरुपादाश्रयो १ यथैकादशे—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
 शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥

कृष्णदीक्षाऽऽदिशिक्षणं २ यथा तत्रैव—

तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः ।
 अमाययाऽनुवृत्त्या यैस्तुप्येदात्मप्रदो हरिः ॥

विस्त्रम्भेण गुरोः सेवा ३ यथा तत्रैव—

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हि चित् ।
 न मर्त्यबुद्धयाऽसूयेत सर्वदैवमयो गुरुः ॥

साधुवर्तमानुवर्त्तनं यथा स्कान्दे—

स मृग्यः श्रेयसां हेतुः यथा सन्तापवर्जितः ।

अनवासश्चर्मं पूर्वं येन सन्तः प्रतस्थिरे ॥

ब्रह्मयामले च—

श्रुतिस्मृतिपुराणादिपञ्चरात्रविधिं विना ।

ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते ॥ इति,

भक्तिरैकान्तिकीवेयमविचारात्प्रतीयते ।

वस्तुतस्तु तथा नैव यदशास्त्रीयतेक्ष्यते ॥ २५ ॥

सद्धर्मपृच्छा यथा नारदीये—

अचिरादेव सर्वार्थः सिद्धयत्येषामभीप्सितः ।

सद्धर्मस्यावबोधाय येषां निर्बन्धिनी मतिः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तच्च साधुवर्तमं श्रुत्यादिविध्यात्मकमेव; ततस्तदकरणे दोषमाह—
श्रुतीति । श्रुत्यादयोऽप्यत्र वैष्णवानां स्वाधिकारप्राप्तास्तद्भागा एव
ज्ञेयाः, स्वे स्वेऽधिकार इत्युक्तेः, श्रुत्यादिविधिं विनेति । नास्तिकत-
या तं न मत्वेत्यर्थः, न त्वज्ञानेनालस्येन वा त्यक्त्वेत्यर्थः, धावन्नि-
मील्य वा नेत्रे इत्यादेरैकान्तिकनिष्ठां प्राप्ताऽपि,

ननु तर्हि कथमैकान्तिकी स्यात्तद्रूपत्वे च कथमुत्पाताय कल्पते?
तत्राह—भक्तिरिति । इयं नास्तिकतामयी बौद्धादीनां बुद्धदत्तात्रेयादि-
षु भक्तिर्यदैकान्तिकीव प्रतीयते तदप्यविचारादेवेत्यर्थः, तत्र हेतुः
यद् यस्मादशास्त्रीयता शास्त्रावज्ञामयता तत्रेक्ष्यते; शास्त्रमत्र वेदत-
दङ्गादि, “शास्त्रयोनित्वादि”ति न्यायात्, तदा तत्तदवतारिभगवदा-
ङ्गारूपानादिसत्परम्पराप्राप्तवेदवेदाङ्गविद्यायां सत्यां कथमैकान्तिकी
सा स्यादिति भण्यतां ? किं च येनैव वेदादिप्रामाण्येन बुद्धादीनाम-
वतारत्वं गम्यते तेनैव बुद्धस्यासुरमोहनार्थं पाषण्डशास्त्रप्रपञ्चवि-

कृष्णार्थं भोगादित्यागोद्यथा पादो—

हरिमुद्दिश्य भोग्यानि काले त्यक्तवत्स्तव ।

विष्णुलोके स्थिता सम्पदलोला सा प्रतीक्षते ॥

द्वारकाऽऽदिनिवासोऽयथा स्कान्दे—

संवत्सरं वा षण्मासान् मासं मासार्द्धमेव वा ।

द्वारकावासिनः सर्वे नरा नार्घ्यश्चतुर्भुजाः ॥

आदिशब्देन पुरुषोत्तमक्षेत्रवासश्च यथा ब्राह्मे—

अहो क्षेत्रस्य माहात्म्यं समन्ताद्दशयोजनम् ।

दिविष्ठा यत्र पश्यन्ति सर्वानेव चतुर्भुजान् ॥

गङ्गाऽऽदिवासो यथा प्रथमे—

या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्रकृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री ।

पुनाति लोकानुभयत्र सेशान् कस्त्वां न सेवेत मरिष्यमाणः ॥

यावदर्थानुवर्तिताऽयथा नारदीये—

यावता स्यात्स्वनिर्वाहः स्वीकुर्यात्तावदर्थवित् ।

आधिक्ये न्यूनतायां च च्यवते परमार्थतः ॥

हरिवासरसम्मनोऽयथा ब्रह्मवैवर्ते—

सर्वपापप्रशमनं पुण्यमात्यन्तिकं तथा ।

गोविन्दस्मारणं नृणामेकादश्यामुपोषणम् ॥

धात्र्यश्चत्थादिगौरवं १० यथा स्कान्दे—

अश्वत्थस्तुलसी धात्री गोभूमीसुरवैष्णवाः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

तत्त्वं च श्रूयते विष्णुधर्मादौ त्रियुगनामव्याख्याने, तत्र तु भगवदा-
वेशमात्रं चोपाख्यायते तस्मात्तदाज्ञाऽपि न प्रमाणीकर्तव्येति ।

त्यक्तवत् इति । त्यक्तवन्तं त्वामित्यर्थः ।

स्वनिर्वाह इति । स्वस्वभक्तिनिर्वाह इत्यर्थः ।

अश्वत्थस्य तद्विभूतिरूपत्वात् पूज्यत्वं, भूमीसुराः=ब्राह्मणाः, गो-

पूजिताः प्रणता ध्याताः क्षपयन्ति नृणामघम् ॥

अथ श्रीकृष्णविमुखसङ्कत्यागो ११ यथा कात्यायनसंहितायाम्—

वरं हुतवहज्वालापञ्जरात्तव्यवस्थितिः ।

न शौरिचिन्ताविमुखजनसंवासवैशसम् ॥

विष्णुरहस्ये च—

आलिङ्गनं वरं मन्ये व्यालव्याघ्रजलौकसाम् ।

न सङ्गः शल्ययुक्तानां नानादैवैकसेविनाम् ॥

शिष्याद्यननुबन्धित्वादित्रयं १२, १३, १४, सप्तमे यथा—

न शिष्याननुबन्धीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद्बहून् ।

न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत् क चित् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

ब्राह्मणयोर्हितावतारत्वाद्भगवतो भागवतैरेतावपि पूज्याविति भावः,
सर्वेषामेषां तुलसीवैष्णवसाहित्योक्तिर्विचिकित्सानिरसनाय, तत्र
गवां पूजा तु श्रीगोपालोपासकानां परमाभीष्टप्रदा यथा गौतमीये—

गवः कण्डूयनं कुर्याद्गोप्रासं गोप्रदक्षिणम् ।

गोषु नित्यं प्रसन्नासु गोपालोऽपि प्रसीदति ॥ इति,

वैशसं=विपत्तिः ।

शल्यमत्र तत्तद्देवसेवावासना ।

न शिष्याननुबन्धीतेत्यादिको यद्यपि संन्यासधर्मस्तथाऽपि निवृ-
त्तानामपि भक्तानामुपयुज्यत इति भावः, एतच्चानधिकारिशिष्याद्य-
पेक्षया, श्रीनारदादौ तच्छ्रवणात् तत्तत्सम्प्रदायनाशप्रसङ्गाच्च; अन्य-
था ज्ञानशास्त्रापत्तेः; अत एव नानुबन्धीतेति स्वसम्प्रदायवृद्ध्यर्थमन-
धिकारिणोऽपि न सङ्गृह्णीयादित्यर्थः, बहूनि निति । भगवद्बहिर्मुखानन्या-
स्त्वित्यर्थः, आरम्भानित्यपि तद्वत् ।

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASANA JNANAMANDIR
LIBRARY

Jangamawadi Math, Varanasi

Acc. No. 1197

व्यवहारेऽप्यकार्पण्यं १६ यथा पाप्मे—

अलब्धे वा विनष्टे वा भक्ष्याच्छादनसाधने ।

अविकलवमतिर्भूत्वा हरिमेव धिया स्मरेत् ॥

शोकाद्यवशवर्त्तिता १६ यथा तत्रैव—

शोकामर्षादिभिर्भावैराक्रान्तं यस्य मानसम् ।

कथं तत्र मुकुन्दस्य स्फूर्तिसम्भावना भवेत् ॥

अन्यदेवानवज्ञा १७ यथा तत्रैव—

हरिरेव सदाऽऽराध्यः सर्वदेवेश्वरेश्वरः ।

इतरे ब्रह्मरुद्राद्या नावज्ञेयाः कदा चन ॥

भूतानुद्वेगदायिता १८ यथा महाभारते—

पितेव पुत्रं कर्णो नोद्वेजयति यो जनम् ।

विशुद्धस्य हृषीकेशस्तूणं तस्य प्रसीदति ॥

सेवानामापराधवर्जनं १९ यथा वाराहे पाप्मे च—

ममार्चनापराधा ये कीर्त्यन्ते वसुधे ! मया ।

वैष्णवेन सदा ते तु वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥

सर्वापराधकृदपि मुच्यते हरिसंश्रयः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

अलब्ध इति । स्मरणादिपराणामेवेयं रीतिः, सेवापरैस्तु यथाला-
भमेव सेवा कार्य्या न तु याञ्चाऽऽद्यतिशयेन कार्पण्यं कार्यमिति ज्ञेयम् ।

सेवानामापराधवर्जनमिति वाराहे पाप्मे च यथाक्रमं योज्यं, तत्र
सेवापराधा आगमानुसारेण गण्यन्ते—

यानैर्वा पादुकैर्वाऽपि गमनं भगवद्गृहे ।

देवोत्सवाद्यसेवा च अप्रणामस्तदग्रतः ॥

उच्छिष्टे वाऽप्यशौचे वा भगवद्वन्दनादिकम् ।

एकहस्तप्रणामश्च तत्पुरस्तात्प्रदक्षिणम् ॥

पादप्रसारणं चाग्रे तथा पर्यङ्कबन्धनम् ।

हरेरप्यपराधान् यः कुर्याद् द्विपदपांशुलः ॥

नामाश्रयः कदा चित्स्यात्तरत्येव स नामतः ।

नाम्नोऽपि सर्वसुहृदो ह्यपराधात्पतत्यधः ॥

तन्निन्दाऽऽद्यसुहिष्णुता २० यथा श्रीदशमे—

निन्दां भगवतः शृण्वन्स्तत्परस्य जनस्य वा ।

ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्युतः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

पर्यङ्कबन्धनमिति । वस्त्रादिना सङ्कुचितचरणद्वयसहितमध्यदे-

शबन्धनम् ।

शयनं भक्षणञ्चापि मिथ्याभाषणमेव च ।

उच्चैर्भाषा मिथो जलपो रोदनानि च विग्रहाः ॥

निग्रहानुग्रहौ चैव नृषु च क्रूरभाषणम् ।

कम्बलावरणं चैव परनिन्दा परस्तुतिः ॥

अदलीलभाषणं चैव अधोवायुविमोक्षणम् ।

शक्तौ गौणोपचारश्च अनिवेदितभक्षणम् ॥

तत्तत्कालोज्ज्वानां च फलादीनामनर्पणम् ।

विनियुक्तावशिष्टस्य प्रदानं व्यञ्जनादिके ॥

पृष्ठीकृत्यासनं चैव परेषामभिवादनम् ।

गुरौ मौनं निजस्तोत्रं देवतानिन्दनं तथा ।

अपराधास्तथा विष्णोर्द्वार्त्रिंशत्परिकीर्त्तिताः ।

वाराहे-च येऽन्येऽपराधास्ते सङ्क्षिप्य लिख्यन्ते-राजान्नभक्षणं,

ध्वान्तागारे हरेः स्पर्शः, विधिं विना हर्युपसर्पणं, वाद्यं विना तद्वा-

रोद्धाटनं, कुक्कुरदृष्टभक्ष्यसङ्ग्रहः, अर्चने मौनभङ्गः, पूजाकाले विडुत्-

सर्गाय सर्पणं, गन्धमाल्यादिकमदत्त्वा धूपनम्, अनर्हपुष्पेण पूजनम्,

तथा

अकृत्वा दन्तकाष्ठं च कृत्वा निधुवनं तथा ।

अथ वैष्णवचिन्हधृतिः २१ यथा पादौ—

ये कण्ठलग्नतुलसीनलिनाख्यमाला ये बाहुमूलपरिचिन्हितशङ्खचक्राः ।

ये वा ललाटफलके लसदूर्ध्वपुण्ड्रास्ते वैष्णवा भुवनमाशु पवित्रयन्ति ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

स्पृष्ट्वा रजस्वलां दीपं तथा मृतकमेव च ॥

रक्तं नीलमधौतं च पारक्यं मलिनं पटम् ।

परिधाय मृतं दृष्ट्वा विमुच्यापानमारुतम् ॥

क्रोधं कृत्वा श्मशानं च गत्वा भुक्त्वाऽप्यजीर्णयुक् ।

भुक्त्वा कुसुम्भं पिण्याकं तैलाऽप्यङ्गं विधाय च ॥

हरेः स्पर्शो हरेः कर्मकरणं पातकावहम् ।

तथा तत्रैवान्यत्र—

भगवच्छास्त्रानादरेण तत्प्रतिपत्तिः, अन्यशास्त्रप्रवर्त्तनं, तदग्र-
तस्ताम्बूलचर्वणम्, एरण्डपत्रस्थपुष्पैरर्चनम्, आसुरकाले पूजा,
पीठे भूमौ वोपविश्य पूजनं, स्नपनकाले वामहस्तेन तत्स्पर्शः, पर्यु-
षितैर्याचितैर्वापुष्पैरर्चनं, पूजायां निष्ठीवनं, तस्यां स्वगर्वप्रतिपादनं,
तिर्यक्पुण्ड्रधृतिः, अप्रक्षालितपादत्वेऽपि तन्मन्दिरे प्रवेशः, अवैष्णव-
पकनिवेदनम्, अवैष्णवदृष्टौ पूजनं, विघ्नेशमपूजयित्वा कपालिनं दृष्ट्वा
वा पूजनं, नखाम्भसा स्नपनं, घर्मांस्तुलितत्वेऽपि पूजनमित्यादयः,
अन्यत्र निर्माल्यलङ्घनं भगवच्छपथादयोऽन्ये च बहव इति ।

अथ नामापराधाश्च पादोक्ताः—

सतां निन्दा, श्रीविष्णोः सकाशाच्छिवनामादेः स्वातन्त्र्यमननं,
गुर्ववज्ञा, श्रुतितदनुगतशास्त्रनिन्दनं, हरिनाममाहिम्न्यर्थवादमात्र-
मिदमिति मननं, तत्र प्रकारान्तरेणार्थकल्पनं, नामबलेन पापे प्रवृत्तिः,
अन्यशुभक्रियाभिर्नामसाम्यमननम्, अश्रद्धायादादौ नामोपदेशः, नाम-
माहात्म्ये श्रुतेऽप्यप्रीतिरिति, सर्व एवैते हरिभक्तिविलासे प्रमा-
णवचनैर्द्रष्टव्याः ।

नामाक्षरधृतिः २२ यथा स्कान्दे—

हरिनामाक्षरयुतं भाले गोपीमृदङ्कितम् ।

तुलसीमालिकोरस्कं स्पृशेयुर्न यमोद्भटाः ॥

पात्रे च—

कृष्णनामाक्षरैर्गात्रमङ्कयेच्चन्दनादिना ।

स लोकपावनो भूत्वा तस्य लोकमवाप्नुयात् ॥

निर्माल्यधृतिः २३ यथैकादशे—

त्वयोपभुक्तस्त्रगन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः ।

उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि ॥

स्कान्दे च—

कृष्णोत्तीर्णं तु निर्माल्यं यस्याङ्गं स्पृशते मुने ! ।

सर्वरोगैस्तथा पापैर्मुक्तो भवति नारद ! ॥

अग्रे ताण्डवं २४ यथा द्वारकामाहात्म्ये—

यो नृत्यति प्रहृष्टात्मा भावैर्बहुषुभक्तिः ।

स निर्दहति पापानि मन्वन्तरशतेष्वपि ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

गोपीमृदङ्कितं=गोपीचन्दनेन तिलकितम् ।

त्वयोपभुकेति । श्रीमदुद्धवाक्यं परोक्षपूजादावपीति भावः ।

जयेम जेतुं शक्नुम इत्यर्थः ।

एतदुत्तरं पद्यद्वयं चास्ति—

वातरशना य ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनः ।

ब्रह्माख्यं धाम ते यान्ति शान्ताः संन्यासिनोऽमलाः ॥

वयं त्विह महायोगिन् ! भ्रमामः कर्मवर्त्मसु ।

त्वद्वार्त्तया तरिष्यामस्तावकैर्दुस्तरं तमः ॥ इति,

तरिष्यामस्तर्त्तुं शक्नुम इत्यर्थः ।

मन्वन्तरशतेष्वपीति । अत्र जातानीति शेषः ।

तथा श्रीनारदोक्तौ च—

नृत्यतां श्रीपतेरग्रे तालिकावादनैर्भृशम् ।

उड्डीयन्ते शरीरस्थाः सर्वे पातकपक्षिणः ॥

दण्डवन्नतिः २५ यथा नारदीये—

एकोऽपि कृष्णाय कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथैर्न तुल्यः ।

दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥

अभ्युत्थानं २६ यथा ब्रह्माण्डे—

यानारूढं पुरः प्रेक्ष्य समाधान्तं जनार्दनम् ।

अभ्युत्थानं नरः कुर्वन् पातयेत्सर्वकिल्बिषम् ॥

अथानुव्रज्या २७ यथा भविष्योत्तरे—

रथेन सह गच्छन्ति पार्श्वतः पृष्ठतोऽग्रतः ।

विष्णुनैव समाः सर्वे भवन्ति श्वपचादयः ॥

स्थाने गतिः २८—

स्थानं तीर्थं गृहं चास्य तत्र तीर्थे गतिर्यथा ॥

पुराणान्तरे—

संसारमरुकान्तारनिस्तारकरणक्षमौ ।

श्लाघ्यौ तावेव चरणौ यौ हरेस्तीर्थगामिनौ ॥

गृहे यथा हरिभक्तिसुधोदये—

प्रविशन्नालयं विष्णोर्दर्शनार्थं सुभक्तिमान् ।

न भूयः प्रविशेन्मातुः कुक्षिं कारागृहं सुधीः ॥

परिक्रमा २९ यथा तत्रैव—

विष्णुं प्रदक्षिणीकुर्वन् यस्तन्नावर्त्तते पुनः ।

तदेवावर्त्तनं तस्य पुनर्नावर्त्तते भवे ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

रथेनेत्युपलक्षणम् । अन्येनापीत्युन्नेयमिति भावः, एवं पूर्वत्र च यानारूढमित्यत्र ज्ञेयम् ।

स्कान्दे च चातुर्मास्यमाहात्म्ये—

चतुर्वारं भ्रमीभिस्तु जगत्सर्वं चराचरम् ।

क्रान्तं भवति विप्राग्र्य ! तत्तीर्थगमनाधिकम् ॥ इति,

अथार्चनम् ३०—

शुद्धिन्यासादिपूर्वाङ्गकर्मनिर्वाहपूर्वकम् ॥२६॥

अर्चनं तूपचाराणां स्यान्मन्त्रेणोपपादनम् ॥

तद्यथा श्रीदशमे—

स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम् ।

सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम् ॥

विष्णुरहस्ये—

श्रीविष्णोरर्चनं ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि ।

ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरानन्दं परमं पदम् ॥ इति,

दुर्गमसङ्गमनी ।

चतुरित्यत्र विष्णुं परित इति प्रकरणप्राप्तं, तीर्थानां गङ्गाऽऽदीनां-
गमनादप्यधिकं शीघ्रं भगवद्भक्तिप्रदत्वादित्यर्थः ।

शुद्धिर्भूतशुद्धिः, न्यासा मातृकान्यासादयः, तदादिकं पूर्वमङ्गयस्य
तादृशकर्मनिर्वाहपूर्वकं यन्मन्त्रेणोपचाराणं समर्पणं तदर्चनमित्यन्वयः ।

स्वर्गापवर्गयोरिति । अत्रार्चनं प्रधानं कृत्वा भक्त्यन्तरमहिमा
सूचित इत्यर्चनमहिमन्येव लिखितं, मूलमिति । अन्यन्तु तदभावादेव
विधीयत इत्यर्थः ।

कालेन नष्टा वाणीयं प्रलये वेदसंज्ञिता ।

मयाऽऽदौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः ॥ इति,

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकामे उदारधीरित्यादेः,

यद्वा तद्वहिर्मुखानां साधनान्तरस्याप्यसिद्धेः, तच्च मन्त्रतस्तन्त्र-
तश्छिद्रमित्यादेः, मुखबाहूरुपादेभ्य इत्यादेः, तपस्विनो दानपरा-
हस्यादेश्च ।

परिचर्या ३१—

परिचर्या तु सेवोपकरणादिपरिष्क्रिया ॥ २७ ॥

तथा प्रकीर्णकच्छत्रवादित्राद्यैरुपासना ॥

यथा नारदीये—

सुहृत्तं वा सुहृताद्धं यस्तिष्ठेद् हरिमन्दिरे ।

स याति परमं स्थानं किमु शुश्रूषणे रताः ॥

चतुर्थे च—

यत्पादसेवाऽभिरुचिस्तपस्विनामशेषजन्मोपचितं मलं धियः ।

सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरिद् ॥ इति,

अङ्गानि विविधान्नेव स्युः पूजापरिचर्ययोः ॥ २८ ॥

न तानि लिखितान्यत्र ग्रन्थबाहुल्यभीतितः ॥

अथ गीतं ३२ यथा लैङ्गे—

ब्राह्मणो वासुदेवाख्यं गायमानोऽनिशं परम् ।

हरेः सालोक्यमाप्नोति रुद्रगानाधिकं भवेद् ॥ इति,

सङ्कीर्तनम् ३३—

नामलीलागुणादीनामुच्चैर्भाषा तु कीर्तनम् ॥ २९ ॥

तत्र नामकीर्तनं यथा विष्णुधर्मे—

कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्त्तते ।

भस्मीभवन्ति राजेन्द्र ! महापातककोटयः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

परिचर्याऽत्र राज्ञ इव सेवोच्यते, सा च द्विविधा-उपकरणादि-
परिष्क्रिया चामरादिभिरुपासना चेत्यर्थः ।

ब्राह्मण इति । गानसामान्यस्य ब्राह्मणे निषिद्धत्वाद्ब्राह्मणोऽपीत्यर्थः,
रुद्रकर्त्तृकगानादपि भगवदग्रे तस्य गानमाधिकं भवेदित्यर्थः ।

कृष्णेति मङ्गलं नामेत्यर्चनवदेव व्याख्येयं, तदेतत् प्राधान्येन

लीलाकीर्त्तनं यथा सप्तमे—

सोऽहं परस्य सुहृदः परदेवताया लीलाकथास्तव नृसिंह ! विरिञ्चिगीताः ।

अञ्जस्तितम्यनुगुणन् गुणविप्रमुक्तो दुर्गाणि ते पद्मगालयहंससङ्गः ॥

गुणकीर्त्तनं यथा प्रथमे—

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः ।

अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥

जपः ३४—

मन्त्रस्य सुलघूच्चारो जप इत्यभिधीयते ॥

यथा पाद्ये—

कृष्णाय नम इत्येव मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ।

भक्तानां जपतां भूयः स्वर्गमोक्षफलप्रदः ॥

विज्ञप्तिः ३५ यथा स्कान्दे—

हरिसुहृद्विश्वं यत्किञ्चित्कृतं विज्ञपन् गिरा ।

मोक्षद्वारार्गलामोक्षस्तेनैव विहितस्तव ॥ इति,

सम्प्रार्थनात्मिका दैन्यबोधिका लालसामयी ॥ ३० ॥

इत्यादिर्विविधा धीरैः कृष्णे विज्ञप्तिरीरिता ॥

तत्र संप्रार्थनात्मिका यथा पाद्ये—

युवतीनां यथा यूनि यूनां च युवतौ यथा ।

मनोऽभिरमते तद्वन्मनो मे रमतां त्वयि ॥

दैन्यबोधिका यथा तत्रैव—

मत्तुल्यो नास्ति पापात्मा नापराधी च कश्चन ।

परीहारेऽपि लज्जा मे किं ब्रुवे पुरुषोत्तम ! ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

नामान्तरकीर्त्तनमपि ज्ञेयमिति, एवमन्यत्रापि ।

तितमि=तारिण्यामीत्यर्थः ।

लालसामयी यथा श्रीनारदपञ्चरात्रे—

कदा गम्भीरया वाचा श्रिया युक्तो जगत्पते ! ।

चामरव्यग्रहस्तं मामेवं कुर्विति वक्ष्यसि ॥ इति,

यथा वा—

कदाऽहं यमुनातीरे नामानि तव कीर्त्तयन् ।

उद्धाप्यः पुण्डरीकाक्ष ! स्वयिष्यामि ताण्डवम् ॥

स्तवपाठः ३६

प्रोक्ता मनीषिभिर्गीतास्तवराजादयः स्तवाः ॥ ३१ ॥

यथा स्कान्दे—

श्रीकृष्णस्तवर्त्तनौघैर्येषां जिह्वा त्वलंकृता ।

नमस्या मुनिसिद्धानां बन्दनीया दिवौकसाम् ॥

नारसिंहे च—

स्तोत्रैः स्तवैश्च देवाग्ने यः स्तौति मधुसूदनम् ।

सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोकमवाप्नुयात् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

कदाऽहं यमुनातीरे इति दूरतः प्रार्थना कस्य चिदजातभावस्य, यतः सम्प्रार्थनाऽनुत्पन्नभावस्य, लालसा तूत्पन्नभावस्येति भेदः, लालसामयत्वात् प्रार्थनाऽप्यत्र लालसेत्येव हि भण्यते; अतो लालसामयीयम्, अत्रेदृशे सम्प्रार्थनालालसे प्रस्तावादेव दर्शिते; किं तु रागानुगायामेव ज्ञेये ।

गीताया स्तवत्वं भगवन्महिमात्मकत्वात्, स्तवराजः=गौतमी-योक्तः स्तवराजः;

स्तोत्रस्तवयोरभेदेऽप्यवान्तरभेदः पूर्वसिद्धत्वस्वकृतत्वाभ्यां ज्ञेयः, स्तोत्रस्य करणसाधनत्वेन पूर्वसिद्धत्वप्रतीतेः, स्तवस्य भावसाधनत्वेन स्वकृतत्वप्रतीतेः, तथाऽपि प्रोक्ता मनीषिभिरित्यादौ गीताऽऽदी-

अथ नैवेद्यास्वादो ३७ यथा पात्रे—

नैवेद्यमन्नं तुलसीविमिश्रं विशेषतः पादजलेन सिक्तम् ।

योऽश्नाति नित्यं पुरतो मुरारेः प्राप्नोति यज्ञायुतकोटिपुण्यम् ॥

पाद्यास्वादो ३८ यथा तत्रैव—

न दानं न हविर्येषां स्वाध्यायो न मुरार्चनम् ।

तेऽपि पादोदकं पीत्वा प्रयान्ति परमां गतिम् ॥

अथ धूपसौरभ्यं ३९ यथा हरिभक्तिस्तोत्रे—

आघ्राणं यद्धरेर्दत्तधूपोच्छिष्टस्य सर्वतः ।

तद्भवव्यालदष्टानां नश्यं कर्म विपापहम् ॥

माल्यसौरभ्यं यथा तन्त्रे—

प्रविष्टे नासिकारन्ध्रे हरेर्निर्माल्यसौरभे ।

सद्यो विलयमायाति पापपञ्जरबन्धनम् ॥

अगस्त्यसंहितायां च—

आघ्राणं गन्धपुष्पादेरर्चितस्य तपोधन ! ।

विशुद्धिः स्यादनन्तस्य घ्राणस्येहामिधीयते ॥

अथ श्रीमूक्तैः स्पर्शनं ४० यथा विष्णुधर्मोत्तरे—

स्पृष्ट्वा विष्णोरधिष्ठानं पवित्रः श्रद्धयाऽन्वितः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

नां स्तवत्वमुक्तं तत्र त्वनन्यगत्या करणसाधनत्वमेव कर्त्तव्यं, देवाग्रे श्रीमदर्चार्याः पुरतः ।

मुरारेः पुरत इति लपल्लोपे पञ्चमी, पुरमन्तःपुरं परित्यज्येत्यर्थः, तदग्रतो भोजनस्य निषेधात् ।

अर्चितस्यानन्तस्य भगवतः सम्बन्धी यो गन्धपुष्पादिस्तस्या-
घ्राणं घ्राणेन्द्रियस्य इह=जगति विशुद्धिस्तद्वेतुः स्यादित्यभिधी-
यत इत्यर्थः ।

अथ श्रीमदर्चामात्रस्य स्पर्शाधिकारिणां स्पर्शमाहात्म्यमाह—

पापबन्धैर्विनिर्मुक्तः सर्वान् कामानवाप्नुयात् ॥

अथ श्रीमूक्तदर्शनं ४१ यथा वाराहे—

वृन्दावने तु गोविन्दं ये पश्यन्ति वसुन्धरे ! ।

न ते यमपुरं यान्ति यान्ति पुण्यकृतां गतिम् ॥

आरात्रिकदर्शनं ४२ यथा स्कान्दे—

कोटयो ब्रह्महत्यानामगम्यागमकोटयः ।

दहत्यालोकमात्रेण विष्णोः सारात्रिकं मुखम् ॥

उत्सवदर्शनं यथा भविष्योत्तरे—

रथस्थं ये निरीक्षन्ते कौतुकेनापि केशवम् ।

देवतानां गणाः सर्वे भवन्ति श्वपचादयः ॥

आदिशब्देन पूजादर्शनं यथा आग्नेये—

पूजितं पूज्यमानं वा यः पश्येद् भक्तितो हरिम् ।

श्रद्धया मोदमानस्तु सोऽपि योगफलं लभेत् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

स्पृष्टेति ।

अथ सर्वान् प्रति दर्शनमाहात्म्यं च सर्वासामर्चानां वदन्
भक्त्यावेशविशेषादुपर्युपरि परिस्फूर्त्या श्रीमदर्चाविशेषायमाणस्य
साक्षाद्भगवतः श्रीगोविन्ददेवस्य दर्शने माहात्म्यविशेषमाह—वृन्दा-
वन इति । यान्ति पुण्यकृतां गतिमिति,

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोज्ञ-
इतिन्यायेन सुविचारवतां सर्वसत्कर्मणामेकान्तगतिं भक्त्या-

ख्यपरममहापुरुषार्थसिद्धिमाप्नुवन्तीत्यर्थः ।

श्रीमदर्चामात्रारात्रिकस्य दर्शनफलमाह—कोटय इति । कोटीः
मुखं कर्तुं ।

रथस्थमित्युत्सवान्तरोपलक्षणं, सर्वे श्वपचादयोऽपि देवतानां=
पार्षदानाम् ।

अथ श्रवणं ४३

श्रवणं नामचरितगुणादीनां श्रुतिर्भवेत् ॥

तत्र नामश्रवणं यथा गारुडे—

संसारसर्पसंदष्टनष्टचेष्टैकभेषजम् ।

कृष्णेति वैष्णवं मन्त्रं श्रुत्वा मुक्तो भवेन्नरः ॥

चरितश्रवणं यथा चतुर्थे—

तस्मिन् महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्रपीपूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति ।

ता ये पिबन्त्यवितृपो नृप ! गाढकर्णैस्तान्न स्पृशन्त्यशनवृद्धभयशोकमोहाः ॥

गुणश्रवणं यथा द्वादशे—

यस्तूत्तमश्लोकगुणानुवादः संगीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः ।

तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः ॥

अथ तत्कृपेक्षणं ४४ यथा श्रीदशमे—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।

हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥

अथ स्मृतिः ४५

यथा कथञ्चिन्मनसा सम्बन्धः स्मृतिरुच्यते ॥ ३२ ॥

यथा विष्णुपुराणे—

स्मृते सकलकल्याणभाजनं यत्र जायते ।

पुरुषस्तमजं नित्यं व्रजामि शरणं हरिम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

योगोऽत्र पञ्चरात्राद्युक्तः क्रियायोगः ।

तस्मिन्महतां सदसि महद्भिर्मुखरिताः शब्दायमानीकृताः तान् प्राप्य स्वयमेव स्वव्यञ्जकशब्दं कुर्वत्य इव जाता इत्यर्थः, शेषः= सारः ।

तत्तेऽनुकम्पामित्यत्रानुकम्पेक्षणं नमस्कारश्चेति पृथगेव साधन-
द्वयं; वैशिष्ट्याय त्वेकत्र पठितं, तत उभयमपि समानफलमेव ज्ञेय-

यथा वा पादौ—

प्रयाणे चाप्रयाणे च यन्नाम स्मरतां नृणाम् ।

सद्यो नश्यन्ति पापौघा नमस्तस्मै चिदात्मने ॥

अथ ध्यानं ४६

ध्यानं रूपगुणक्रीडासेवादेः सुष्ठु चिन्तनम् ॥

तत्र रूपध्यानं यथा नारसिंह—

भगवच्चरणद्वन्द्वध्यानं निर्द्वन्द्वमीरितम् ।

पापिनोऽपि प्रसङ्गेन विहितं सुहितं परम् ॥

गुणध्यानं यथा निष्णुधमं—

ये कुर्वन्ति सदा भक्त्या गुणानुस्मरणं हरेः ।

प्रक्षीणकलुषौघास्ते प्रविशन्ति हरेः पदम् ॥

क्रीडाध्यानं यथा पादौ—

सर्वमाधुर्यसाराणि सर्वाद्भुतमयानि च ।

ध्यायन् हरेश्चरित्राणि ललितानि विमुच्यते ॥

सेवाध्यानं यथा पुराणान्तरे—

मानसेनोपचारेण परिचर्य्य हरिं सदा ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

मिति भावः, नवमपदार्थस्य मुक्तेरप्याश्रये दशमपदार्थे त्वपि स-
दायभागभवति त्वं तस्य दायत्वेन वर्त्तस इत्यर्थः ।

प्रयाणे=मरणदशायाम्, अप्रयाणे जीवनदशायां, प्रयाणकाले
मनसाऽचलेनेति श्रीगीतातः ।

निर्द्वन्द्वं शीतोष्णादिमयदुःखपरम्पराऽतीतम् ईरितं शास्त्रे, मङ्ग-
लं विहितं, तच्च पापिनोऽपि प्रसङ्गेनापि परमुत्कृष्टं सुहितं विहितं-
तत्रैवेत्यर्थः ।

मानसेनेत्यत्र ब्रह्मवैवर्तकथा च यथा—“प्रतिष्ठानपुरे कश्चिद्विप्र-

परे वाङ्मनसागम्यं तं साक्षात् प्रतिपेदिरे ॥

अथ दास्यं ४७

दास्यं कर्मर्पणं तस्य कैङ्कर्यमपि सर्वथा ॥ ३३ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

आसीत् ; स च दरिद्रोऽपि कर्माधीनमात्मानं मन्यमानः शान्त एवा-
सीत् ; स तु सरलबुद्धिः कदा चिद्विप्रेन्द्राणां सदसि वैष्णवान् धर्मान्
शुश्राव; ते च धर्मा मनसाऽपि सिञ्चन्तीति श्रुत्वा दरिद्रः स्वयं तथै-
वाचरितवान् ; ततश्च गोदावरस्नानपूर्वकं नित्यकर्म समाप्य शान्त-
मतिर्भूत्वा विविक्तासनप्राणायामादिपूर्वकं स्थिरीभूय मनसैवाभि-
मतां श्रीहरिमूर्तिं स्थापयित्वा स्वयं दुकूलदिकं परिधाय तां प्रणम्य
दृढं परिकरं बद्ध्वा तत्सदनं संमार्ज्यं तां प्रणम्य राजतसौवर्णघटैः
सर्वेषां गङ्गाऽऽदितीर्थानां जलमाहृत्य तथा नानापरिचर्याद्रव्याप्युप-
नीय तदीयं स्नपनादिकमारात्रिकान्तं महाराजोपचारं समाप्य दिन-
दिनं सुखातिशयमाप्नुवन्नासीत् , तदेवं बहुषु कालेषु गतेषु कदा चिद्
मनसैव सघृतं पायसान्नं निर्माय सौवर्णपात्रेण तद्भोजनार्थ-
मुत्थाप्य स्थितस्तस्यतया स्फुरिते तस्मिन् प्रविष्टमङ्गुष्ठयुगलं दग्धं-
प्रतियन् हन्त तदिदं दुष्टं जातमिति दुःखेन तद् हित्वा समाधिभ-
ङ्गेऽपि जाते दग्धाङ्गुष्ठतया बहिरपि पीडितो बभूव, तदवधाय वैकुण्ठ-
समुपविष्टेन श्रीवैकुण्ठनाथेन हसता श्रीप्रभृतिभिस्तत्कारणं पृष्टेन
सता तं स्वनिकटं विमानेनानिनाय, तथाविधतया दर्शयामास
स्वनिकटयोग्यतया स्थापयामास चेति” ।

कर्मर्पणमित्यनूद्य दास्यमिति विधीयते, तदेतच्चान्यमतं, स्वमतं-
तु कैङ्कर्यमिति, तच्च किङ्करोऽस्मीत्यभिमानः, यथोक्तमितिहाससमुच्चये-

जन्मान्तरसहस्रेषु यस्य स्यान्मतिरीदृशी ।

दासोऽहं वासुदेवस्य सर्वाल्लोकान्समुद्धरेद् ॥ इति,

तत्राद्यं यथा स्कान्दे—

तस्मिन्समर्पितं कर्म स्वाभाविकमपीश्वरे ।

भवेद्भागवतं धर्मं तत्कर्म किमुतार्पितम् ॥ इति,

कर्म स्वाभाविकं भद्रं जपध्यानार्चनादि च ॥

इतीदं द्विविधं कृष्णे वैष्णवैर्दास्यमर्पितम् ॥ ३४ ॥

मृदुश्रद्धस्य कथिता स्वल्पा कर्माधिकारिता ॥

तदर्पितं हरौ दास्यमिति कैश्चिदुदीर्यते ॥ ३५ ॥

द्वितीयं यथा नारदीये—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

तथैव व्याख्यातम्—

“तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्रीदास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्याद्”

इत्यत्र श्रीदामविप्रवाक्ये, स्वामिभिरपि दास्यमिति;

सेवकत्वमित्येतस्य च कार्यभूतं परिचर्याऽऽदिकं ज्ञेयं, केवलपरिचर्यारूपत्वे भेदो न स्यात् ,

तत्राद्यं कर्मारपणमुदाहरति—तस्मिन्निति ।

तत्रैव विधेयं दास्यमपि द्वैविध्येनाह—कर्म स्वाभाविकमिति । स्वाभाविकं तत्तद्वर्णाश्रमाद्युपाधिस्वभावप्राप्तं तच्च भद्रमेव न त्वन्यत् तथा जपेति, इतीदं द्विविधं कर्म वैष्णवैः कृष्णेऽर्पितं चेद् दास्यमुच्यते,

तत्रोत्तरस्यापणाभावाद्दास्यत्वाभावेऽपि शुद्धभक्त्यङ्गत्वमस्ति, पूर्वस्य तदपि नास्तीति सुतरामेव न तत्स्वमतमित्याह—मृदुश्रद्धस्येति । तेन तस्यार्पितमर्पणं दास्यं तदेवं पूर्वत्राप्यर्पण एव तात्पर्यं, “श्रवणङ्गीर्त्तनमि”त्यादौ तु “इति पुंसाऽर्पिता विष्णोरि”त्यनेन दास्यादन्यदर्पणं प्रतीयते,

अथ स्वमते महिम्ना दर्शयति—ईहा यस्येति । दास्ये निमित्त ईहा

अखिलास्वप्नवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥

अथ सख्यं ४८

विश्वासो मित्रवृत्तिश्च सख्यं द्विविधमीरितम् ॥

तत्राद्यं यथा श्रीमहाभारते—

प्रतिज्ञा तव गोविन्द ! न मे भक्तः प्रणश्यति ।

इति संस्मृत्य संस्मृत्य प्राणान् संधारयाम्यम् ॥

एकादशे च—

त्रिभुवनविभवेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्महारादिभिर्विस्मृयात् ।

न चलति भगवत्पदारविन्दाह्वनिमिषार्द्धमपि स वैष्णवाड्यः ॥ इति,

श्रद्धामात्रस्य तद्भक्तावधिकारित्वहेतुता ॥ ३६ ॥

अङ्गत्वमस्य विश्वासविशेषस्य तु केशवे ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

दासो भवामीति स्पृहेत्यर्थः ।

विश्वास इति पूर्ववदन्यमतं, मित्रवृत्तिरिति स्वमतं, मित्रं बन्धुमात्रं “यन्मित्रं परमानन्दमि”तिवत्, तद्वृत्तिस्तत्तयाऽभिमानः ।

प्रतिज्ञेति श्रीद्रौपदीवाक्यं, तस्मादस्या यद्यपि प्रेमविशेषमयपरिकरान्तर्गतत्वेन दर्शयिष्यमाणाया वाक्यमिदं प्रेमविशेषकार्यमेव न तु साधनं तथाऽपि परमप्रेमातिशयानां साधनमपि स्यादित्येवमुदाहृतम्, एवमुत्तरत्र च भागवतोत्तमवर्णनमयप्रकरणादुद्धृते पद्ये ज्ञेयं, “प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्म” इति तदुपसंहारात्,

त्रिभुवनविभवाय किमुत तद्धेतव इत्यर्थः, सर्वोऽपि द्वन्द्वो-विभाषयैकवद्भवतीति न्यायादेकवचनम् ।

श्रद्धामात्रस्येति । यद्यपि श्रद्धाविश्वासयोरेकपदार्थात्त्वमेव तथाऽपि तत्पूर्वोत्तरावस्थयोस्तत्तच्छब्दप्रयोगप्राप्तेर्यमिति पृथक् शब्दप्रयोगः । फलसामान्यावश्यकसर्वोत्तमसाधनत्वेन प्रतीतिरत्र मात्रपदार्थः, फल-

द्वितीयं यथाऽगस्त्यसंहितायाम्—

परिचर्यापराः के चित्प्रासादेषु च शेरते ।

मनुष्येष्विव तं द्रष्टुं व्यवहर्तुं च बन्धुवद् ॥ इति,

रागानुगाङ्गताऽस्यं स्याद्विधिमार्गानपेक्षणात् ॥ ३७ ॥

मार्गद्वयेन चैतेन साध्या सख्यरतिर्मता ॥

अथात्मनिवेदनं ४९

यथैकादशे—

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मनिवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।

तदाऽमृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै ॥ इति,

अर्थो द्विधाऽऽत्मशब्दस्य पण्डितैरुपपाद्यते ॥ ३८ ॥

देहहन्ताऽऽस्पदं कैश्चिद्देहः कैश्चिन्ममत्वभाक् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

विशेषस्य तादृशसाधनत्वेन स्वतः सर्वोत्तमफलरूपत्वेन वा प्रतीति-
विशेषपदार्थः तत्र प्रस्तुतत्वाद् द्वयं क्रमेणोदाहृतमिति भावः ।

तदेवं यद्यपि पूर्वमुदाहरणं वक्ष्यमाणरागानुगाऽङ्गत्वमेव प्रविशति
तथाऽप्येतदनुसारेण वैध्यङ्गोदाहरणमपि द्रष्टव्यमित्यभिप्रायेणाह-रा-
गानुगाऽङ्गतेति । सख्यरतिर्बन्धुभावरतिरित्यर्थः ।

मर्त्य इति । यतो निवेदितात्माऽतस्त्यक्तं समस्तमैहिकामुष्मिकं-
कर्म=आत्मात्मियपोषणादिरूपं येन सः; तर्हि मे मया विशिष्टः कर्तुं-
मिष्टो भवति, अमृतत्वमिति । मृत्युपरम्परामतिक्रामन्नित्यर्थः, मया सह
मत्साम्येनात्मभूयाय कल्पते स्वरूपावस्थितिं मत्सार्ष्टिलक्षणां मुक्तिं-
प्राप्नोतीत्यर्थः ।

देहः कैश्चिदित्यनुकल्प एव ।

तत्र देही यथा यामुनाचार्यस्तोत्रे—

वपुरादिषु योऽपि कोऽपि वा गुणतोऽसानि यथातथाविधः ।

तदर्थं तव पादपद्मयोरहमद्यैव मया समर्पितः ॥

देहो यथा भक्तिविवेके—

चिन्तां कुर्यान्न रक्षायै विक्रीतस्य यथा पशोः ।

तथाऽर्पयन् हरौ देहं विस्मदस्य रक्षणात् ॥

दुष्करत्वेन विरले द्वे सख्यात्मनिवेदने ॥ ३९ ॥

केषां चिदेव धीराणां लभते साधनार्हताम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

योऽपि कोऽपि वेति । वादिभेदात्स्वरूपतोऽथ वा गुणतो यथा-
तथाविधो देवमनुष्यादिरूपोऽसानि भवानि कामचारे लोढ्, तदय-
मिति । स चासावयञ्चेति विग्रहात् सोऽयमित्यर्थः ।

दुष्करत्वेनेत्यत्रात्मनिवेदनस्य केवलस्य दुष्करत्वेन वैरल्यं न तु
महिमाधिक्येन भावशून्यत्वात्, सख्यस्य तु दुष्करत्वेन महिमाधिक्येन
च वैरल्यं भावोत्तमरूपत्वाद्, यदि च भावमिश्रभात्मनिवेदनं भवति
तदा तु सुतरां महिमाधिक्येनापि विरलं स्यात् तत्र केवलमात्म-
निवेदनं दानसमये श्रीवलिराजे दृश्यते; शरणापतिः खलु रक्षितृत्वेन
वरणं तदिदं स्वात्मनस्तदायत्ततासम्पादनमिति भेदः, भावमिश्रेषु दा-
स्येनात्मनिवेदनं श्रीमदम्बरीषे; तदुक्तं “स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
रि”त्यारभ्य “कामं च दास्ये न तु कामकाश्ये”त्याद्यं; तेन तदेवोक्तं-
श्रीभगवतैकादशे “दास्येनात्मनिवेदनमि”ति तथा प्रेयसीभावेन
श्रीरुक्मिणीदेव्यां, यथोक्तं तत्रैव—

“तन्मे भवान् खलु वृतः पतिरङ्ग जाया

मात्माऽऽर्पितश्च भवतोऽत्र विभो ! विधेही”ति,

एवं सख्यादिनाऽपीति ज्ञेयम् ।

अथ निजप्रियोपहरणं ५० यथैकादशे—

यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।

ततन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥

अथ तदर्थेऽखिलचेष्टितं ५१ यथा पञ्चरात्रे —

लौकिकी वैदिकी वाऽपि या क्रिया क्रियते मुने ! ।

हरिसेवाऽनुकूलैव सा कार्या भक्तिमिच्छता ॥ इति,

अथ शरणापत्तिः ५२

यथा हरिभक्तिविलासे—

तवास्मीति वदन् वाचा तथैव मनसा विदन् ।

तत्स्थानमाश्रितस्तन्वा मोदते शरणागतः ॥

श्रीनारसिंहे च—

त्वां प्रपन्नोऽस्मि शरणं देवदेव ! जनार्दन ! ।

इति यः शरणं प्राप्तस्तं क्लेशादुद्धराम्यहम् ॥

अथ तुलस्याः सेवनं ५३ यथा स्कान्दे—

या दृष्टा निखिलाघसङ्घशमनी स्पृष्टा वपुःपावनी

रोगाणामभिवन्दिता निरसनी सिक्ताऽन्तकत्रासिनी ।

प्रत्यासत्तिविधायिनी भगवतः कृष्णस्य संरोपिता

त्यक्ता तच्चरणे विमुक्तिफलदा तस्यै तुलस्यै नमः ॥

तथा च तत्रैव—

दृष्टा स्पृष्टा तथा ध्याता कीर्तिता नमिता स्तुता ।

रोपिता सेविता नित्यं पूजिता तुलसी शुभा ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

यद्यदिति । चकारान्मम प्रियं च ।

शरणं प्रपन्नोऽस्मि रक्षितृत्वेन वृतवानस्मि शरणं तदाश्रयं प्राप्तः
शरणशब्देन हि तत्तद्द्वयमेवोच्यत इति ।

या दृष्टेति । वपुःपावनी कुजन्मत्वादिशोधनी, रोगाणां क्लेशमा-

नवधा तुलसीं देवीं ये भजन्ति दिने दिने ।

युगकोटिसहस्राणि ते वसन्ति हरेर्गृहे ॥

अथ शास्त्रस्य—५४

शास्त्रमत्र समाख्यातं यद्भक्तिप्रतिपादकम् ॥ ४० ॥

यथा स्कान्दे—

वैष्णवानि तु शास्त्राणि ये शृण्वन्ति पठन्ति च ।

धन्यास्ते मानवा लोके तेषां कृष्णः प्रसीदति ॥

वैष्णवानि च शास्त्राणि येऽर्चयन्ति गृहे नराः ।

सर्वपापविनिर्मुक्ता भवन्ति सुखन्दिताः ॥

तिष्ठते वैष्णवं शास्त्रं लिखितं यस्य मन्दिरे ।

तत्र नारायणो देवः स्वयं वसति नारद ! ॥

श्रीभागवते—

सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते ।

तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्यादतिः क चित् ॥

अथ मथुरायाः ५५यथाऽऽदिवाराहे—

मथुरां च परित्यज्य योऽन्यत्र कुरुते रतिम् ।

मूढो भ्रमति संसारे मोहितो मम मायया ॥

ब्रह्माण्डे च—

त्रैलोक्यवर्त्तितीर्थानां सेवनाद् दुर्लभा हि या ।

परानन्दमयी सिद्धिर्मथुरास्पर्शमात्रतः ॥ इति,

श्रुता स्मृता कीर्तिता च वाञ्छिता प्रेक्षिता गता ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

त्राणां, प्रत्यासत्तिर्मनस आसङ्गः, विमुक्तिर्विशिष्टा मुक्तिः सप्रेमभक्तिरित्यर्थः ।

परानन्दमयी=प्रेमलक्षणा ।

प्रेक्षिता दूराद् दृष्टा, गता तत्समीपं प्राप्ता, श्रिता निजाश्रयत्वेन

स्पृष्टा श्रिता सेविता च मथुराऽभीष्टदा नृणाम् ॥ ४१ ॥

इति ख्यातं पुराणेषु न विस्तरभियोच्यते ॥

अथ वैष्णवानां ६६ यथा पात्रे—

आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम् ।

तस्मात्परतरं देवि ! तदीयानां समर्चनम् ॥

तृतीये च—

यत्सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः ।

रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोर्व्यसनार्दनः ॥

स्कान्दे च—

शङ्खचक्राङ्किततनुः शिरसा मञ्जरीधरः ।

गोपीचन्दनलिसाङ्गो दृष्टश्चेत्तदधं कुतः ॥

प्रथमे—

येषां संस्मरणात्पुंसां सद्यः शुष्यन्ति दै गृहाः ।

किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः ॥

आदिपुराणे—

ये मे भक्तजनाः पार्थ ! न मे भक्ताश्च ते जनाः ।

मद्भक्तानां च ये भक्ता मम भक्तास्तु ते नराः ॥ इति,

यावन्ति भगवद्भक्तेरङ्गानि कथितानि ह ॥ ४२ ॥

प्रायस्तावन्ति तद्भक्तभक्तेरपि बुधा विदुः ॥

अथ यथावैभवमहोत्सवः ६७—

यथा पात्रे—

यः करोति महीपाल ! हरेर्गेहे महोत्सवम् ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

वृता, सेविता तत्तत्स्थानसत्कारादिना परिचरिता, अभीष्टदेत्युत्तर-
वैशिष्ट्येन ज्ञेयम् ।

“एकरूपतया तु यः; कालव्यापी स कूटस्थ” इत्यमरः, मधुद्विषः

तस्यापि भवति नित्यं हरिलोके महोत्सवः ॥

अथोर्जादरो ५८ यथा पादो—

यथा दामोदरो भक्तवत्सलो विदितो जनैः ।

तस्यायं तादृशो मासः स्वल्पमप्युत्कारकः ॥

तत्रापि माथुरे विशेषो यथा तत्रैव—

भुक्तिं मुक्तिं हरिर्दद्यादर्चितोऽन्यत्र सेविनाम् ।

भक्तिं तु न ददात्येव यतो वश्यकरी हरेः ॥

सा त्वञ्जसा हरेर्भक्तिर्लभ्यते कार्तिके नरैः ।

मथुरायां सङ्कदपि श्रीदामोदरसेवनात् ॥

अथ श्रीजन्मदिनयात्रा ५९ यथा भविष्योत्तरे—

यस्मिन् दिने प्रसूतेयं देवकी त्वां जनार्दन ! ।

तद् दिनं ब्रूहि वैकुण्ठ ! कुर्मस्ते तत्र चोत्सवम् ॥

तेन सम्यक्प्रपन्नानां प्रसादं कुरु केशव ! ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

पादयोरतिरासो स्तेरुल्लासो भवेत् तीव्रो नितान्तः ।

यथा दामोदरो जनैर्भक्तवत्सलो विदितस्तद्रूपश्च सन् स्वल्प-
मप्युत्कारक ऋणनिर्यातक इव स्वल्पमप्युरु कृत्वा ददातीत्यर्थः,
तस्य दामोदरस्यायं कार्तिकाख्योऽपि मासस्तादृशः सन् स्वल्पमप्यु-
त्कारक इति पूर्ववत् “अकेनोर्भविष्यदाधर्मर्ण्ययोरिति षष्ठीनिषेधः ।

यतो वश्यकरीति। वश्यकरीत्वमत्र सुखदानेनैव ज्ञेयं न तु दुःख-
दानेनातो भक्त्यदाने न तदत्र प्रयोजकं किं तु तेन लक्षितं परमो-
त्कृष्टत्वमेव तथाविधा च सा नायोग्ये सहसा दातुं योग्येति
यावदयोग्यता तावद्भगवता न दीयत एवेति, योग्यता च सर्वान्य-
स्वहितनिरपेक्षत्वमेव तस्माद्योग्यतायामेव सत्यां दातव्यत्वेऽपि यदि
मथुराकार्तिकयोः सङ्गमे पूजनं घटते तदा योग्यतारहितेनापि वस्तु-
प्रभावात्सहसैव प्राप्यत एवेति भावः ।

अथ श्रीमूर्त्तोरङ्घ्रिसेवने प्रीतिः ६० यथाऽऽदिपुराणे—

मम नामसदाग्राही मम सेवाप्रियः सदा ।

भक्तिस्तस्मै प्रदातव्या न च मुक्तिः कदा चन ॥

अथ श्रीभागवतास्वादो ६१ यथा प्रथमे—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुक्लमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।

पिवत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका ! भुवि भावुकाः ! ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

सेवाप्रियः सेवैकपुरुषार्थः सन्, मुक्तिरत्र भक्तिशून्या ज्ञेया ।

हे भावुकाः! परममङ्गलायनाः हे रसिका ! भगवद्भक्तिरसज्ञा इत्यर्थः, ते यूयं वैकुण्ठात्क्रमेण भुवि पृथिव्यामेव गलितमवतीर्णं निगमकल्पतरोः सर्वफलोत्पत्तिभुवः शाखोपशाखाभिर्वैकुण्ठमप्यध्यारूढस्य वेदरूपतरोर्यत् खलु रसरूपं श्रीभागवताख्यं फलं तद् भुव्यपि स्थिताः पिवतास्वाद्यान्तर्गतं कुरुत; अहो इत्यलभ्यलाभव्यञ्जना, भागवताख्यं यच्छास्त्रं तत् खलु रसवदपि रसैकमयताविवक्षया रसशब्देन निर्दिष्टं, भागवतशब्देनैव तस्य रसस्यान्यदीयत्वं च व्यावृत्तं, भागवतस्य तदीयत्वेन रसस्यापि तदीयत्वाक्षेपात् शब्दश्लेषेण च भगवत्सम्बन्धिरसमिति गम्यते, स च रसो भगवद्भक्तिमय एव, “यस्यां वै श्रूयमाणायामि”त्यादिफलश्रुतेः; यन्मयत्वेनैव श्रीभगवति रसशब्दः श्रुतौ प्रयुज्यते “रसो वै सः” स एव च प्रशस्यते—“रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवती”ति, अत्र रसिका इत्यनेन प्राचीनार्वाचीनसंस्काराणामेव तद्विशिष्टत्वं दर्शितं, गलितमित्यनेन तस्य सुपक्विमत्वमुक्त्वा शास्त्रपक्षे सुनिश्चयार्थत्वमधिकस्वादुत्वं च दर्शितं, रसमित्यनेन फलपक्षे त्वगष्ट्यादिरहितत्वं व्यज्पात्रं च पक्षे हेयांशराहित्यं दर्शितं, तथा निगमतरोः परमफलत्वोक्त्या तस्य परमपुरुषार्थत्वं दर्शितम्, एवं तस्य रसात्मकफलस्य स्वरूपतोऽपि वैशिष्ट्ये सति परमोत्कर्षबोधनार्थं वैशिष्ट्यान्तरमाह—शुकेति । अत्र फलपक्षे कल्प-

दुर्गभसङ्गमनी ।

तस्वासित्वादलौकिकत्वेन शुक्रोऽप्यमृतमुखोऽभिप्रेयते ततस्तन्मुखं-
प्राप्य यथा तत्फलं विशेषतः स्वादु भवति तथा परमभागवतमुखस-
म्बन्धं भगवद्गुणवर्णनमपि ततस्तादृशपरमभागवतवृन्दमहेन्द्रश्रीशु-
कदेवमुखसम्बन्धं किमुतेति भावः, अत एव परमस्वादु परमकाष्ठाप्रा-
प्तत्वात् स्वतोऽन्यतश्च तृप्तिरपि न भविष्यतीति, आलयं मोक्षानन्द-
मप्यभिव्याप्य पिबतेत्युक्तं, तथा च वक्ष्यते “परिनिष्ठितोऽपी”त्यादि,
अनेनास्वाद्यान्तरवन्नेदं कालान्तरेऽप्यास्वादकबाहुल्येऽपि व्ययिष्य-
तीत्यपि दर्शितं, यद्वा तत्र तस्य रसस्य भगवद्भक्तिभयत्वेऽपि द्वैविध्यं,-
तद्भक्त्युपयुक्तत्वं तद्भक्तिपरिणामत्वं चेति,

यथोक्तं द्वादशे—

कथा इमास्ते कथिता महात्मनां विताय लोकेषु यशः परेयुषाम् ।

विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो ! वचोविभूर्तीर्न तु पारमार्थ्यम् ॥

यस्तूत्तमश्लोकगुणानुवादः संगीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः ।

तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः ॥ इति,

ततः सामान्यतो रसत्वमुक्ता विशेषतोऽप्याह—

अमृतेति । अमृतद्रवस्तल्लीलारसः,

हरिलीलाकथाव्रातामृतानन्दितसत्सुरम् ;

इति द्वादशे श्रीभागवतविशेषणात् ; लीलाकथारसनिषेवणमिति
तस्यैव रसत्वनिर्देशाच्च, सत्सुरमिति । सन्तोऽत्रात्मारामाः, “इत्थं सता-
मि”त्यादिषत्, त एव सुरा अमृतमात्रास्वादित्वात् तेन समवेतं तत्रापि
तादृशशुकमुखाद्गलितं प्रवाहरूपेण वहन्तमित्यर्थः, तदेवं भगवद्भक्तेः
परमरसत्वापत्तिः शब्दोपात्तैव, अन्यत्र च “सर्ववेदान्ते”त्यादौ “तद्रसा-
मृततृप्तस्ये”त्यादि, एवमेवाभिप्रेत्य भावुका इत्यत्र रसविशेषभावना-
चतुरा इति टीका, तथा

स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो जन-

द्वितीये च—

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया ।

गृहीतचेता राजपं ! आख्यानं यदधीतवान् ॥

अथ सजातीयवासनश्रीभगवद्भक्तसङ्गो ६२ यथा प्रथमे—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।

भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिपः ॥

हरिभक्तिछधोदये—

यस्य यत्सङ्गतिः पुंसो मणिवत्स्यात्स तद्गुणः ।

स्वकुलद्वयै ततो धीमान् स्वयूथ्यानेव संश्रयेत् ॥

अथ नामसङ्कीर्तनं ६३ यथा द्वितीये—

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।

योगिनां नृप ! निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

इत्यादि ।

निर्गुणमेव नैर्गुण्यं स्वार्थं व्यञ्जं तस्मिन् ब्रह्मण्यपीत्यर्थः ।

भगवदिति । भगवति सङ्ग आसक्तिः स नित्यं विद्यते यस्य तस्य यः सङ्गस्तस्य लवेनापि स्वर्गादिकं न तुलयामेति तत्प्रशंसया स्वस्य तत्समानवासनत्वं दर्शितं, तच्चान्येषामपि शिक्षणाय जायत इति; अत्रोदाहृतम्, एतदुपलक्षणत्वेन स्निग्धत्वादिकमपि दृश्यम्, अत्र “क्षणाद्धेनापि तुलयेन स्वर्गमि”त्यादिकं चतुर्थस्य पद्यमप्यनुसन्धेयम्।

अत्र सजातीयसङ्गस्य प्रभावं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यस्य यत्सङ्ग-तिरिति । श्रीप्रह्लादं प्रति हिरण्यकशिपोर्वाक्यं, तत्र तस्याभिप्रायान्तरेऽपि सामान्यवचनत्वेन स्वाभिप्रायेऽपि तद्योजयितुं शक्यत इति ग्रन्थकृतामभिप्रायः, मणिवत्=स्फटिकमणिवदिति संनिहितगुणग्रहण-मात्रांशे दृष्टान्तो न तु तदस्थैर्याशेनापि, स्वयूथ्यान्=सजातीयान् ।

निर्विद्यमानानां=मुमुक्षूणाम्, इच्छतां=कामिनां, योगिनां=मुक्ता-

आदिपुराणे च—

गीत्वा तु मम नामानि विचरेन्मम संनिधौ ।
इति ब्रवीमि ते सत्यं क्रीतोऽहं तस्य चार्जुन ! ॥

पाद्मे च—

येन जन्मसहस्राणि बाह्यदेवो निपेवितः ।
तन्मुखे हरिनामानि सदा तिष्ठन्ति भारत ! ॥

यतस्तत्रैव—

नामचिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः ।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः ॥ इति,
अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः ॥ ४३ ॥
सेवोन्मुखे हि जिह्वाऽऽदौ स्वयमेव स्फुरत्यदः ॥

अथ श्रीमथुरामण्डले स्थितिः ६४ यथा पाद्मे—

अन्येषु पुण्यतीर्थेषु मुक्तिरेव महाफलम् ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

नां, चैतदकुतोभयं न कुतश्चिदपि भयं यत्र तद्रूपं साधनं साध्यं च
निर्णीतमित्यर्थः ।

येन जन्मेति । एतादृशस्यास्यस्य पुनःपुनर्जन्म समुत्कण्ठामय-
भक्तिवर्द्धनार्थं परमेश्वरेच्छयैव ज्ञेयम् ।

नामैव चिन्तामणिः सर्वाभीष्टदाता यतस्तदेव कृष्णः कृष्णस्य
स्वरूपमित्यर्थः, कृष्णस्य विशेषणानि चैतन्येत्यादीनि, तस्य कृष्णत्वे
हेतुः—अभिन्नत्वादिति, एकमेव सच्चिदानन्दरसादिरूपं तत्त्वं द्विधाऽऽ-
विर्भूतमित्यर्थः, विशेषजिज्ञासा चेष्टीभागवतसन्दर्भस्य भगवत्स-
न्दर्भो दृश्यः ।

सेवोन्मुखे हीति । सेवोन्मुखे भगवत्स्वरूपतन्नामग्रहणाय प्रवृत्त-
इत्यर्थः, हि—प्रसिद्धौ, यथा मृगशरीरं त्यजतो भरतस्य वर्णितं—

मुक्तैः प्रार्थ्यां हरेर्भक्तिर्मथुरायां तु लभ्यते ॥

त्रिवर्गदा कामिनां या मुमुक्षूणां च मोक्षदा ।

भक्तीच्छोर्भक्तिदा कस्तां मथुरां नाश्रयेद् बुधः ॥

अहो मथुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी ।

दिनमेकं निवासेन हरौ भक्तिः प्रजायते ॥ इति,

दुरुहान्नुतवीर्येऽस्मिन् श्रद्धा दूरेऽस्तु पञ्चके ॥ ४४ ॥

यत्र स्वल्पोऽपि सम्बन्धः सद्धियां भावजन्मने ॥

तत्र श्रीमूर्तिर्यथा—

स्मेरां भङ्गीत्रयपरिचितां साचिविस्तीर्णदृष्टि-

वंशान्यस्ताधरकिशलयामुज्ज्वलां चन्द्रकेण ।

गोविन्दाख्यां हरितनुमितः केशितीर्थोपकण्ठे

मा प्रेक्षिष्ठास्तव यदि सखे ! बन्धुसङ्गेऽस्ति रङ्गः ॥

श्रीभागवतं यथा—

शङ्के नीताः सपदि दशमस्कन्धपद्यावलीनां-

दुर्गमसङ्गमनी ।

“नारायणाय हरये नमस्त्युदारं--

हास्यन्मृगत्वमपि यः समुदाजहारे”ति,

यथा च गजेन्द्रस्य—

“जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितमि”त्यादि ।

सद्धियां=निरपराधचित्तानाम् ।

स्ववाक्यमाधुरीद्वारा पूर्वमेवार्थपञ्चकमनुभावयन्नाह—स्मेरामि-
त्यादिपञ्चभिः,

मा प्रेक्षिष्ठा इति । निषेधव्याजेनावश्यकविधिरयं-; तदेतन्माधु-
र्येऽनुभूयमाने स्वयमेव सर्वमेव तुच्छं मंस्यसे, तस्मादेनामेव पश्ये-
रित्यभिप्रायात् ।

शङ्के नीता इति । उपालम्भव्याजेन स्तुतिरियं, श्लोकद्वयीयमप्र-

वर्णाः कर्णाध्वनि पथिकतामानुपूर्व्याद्भवद्भिः ।

हंहो डिम्भाः ! परमशुभदान् हन्त धर्मार्थकामान्

यद्गृहन्तः सुखमयममी मोक्षमप्याक्षिपन्ति ॥

कृष्णभक्तो यथा—

दृगम्भोभिर्धौतः पुलकपटलीमण्डिततनुः

स्खलन्नन्तःफुल्लो दधदतिष्ठु वेपथुमपि ।

दृशोः कक्षां यावन्मम स पुरुषः कोऽप्युपययौ

न जाने किं तावन्मतिरिह गृहे नाभिरमते ॥

नाम यथा—

यद्वधि मम शीता वैणिकेनानुगीता

दुर्गमसङ्गमनी ।

स्तुतप्रशंसाऽऽलङ्कारमयी, सा च

कार्थ्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ।

तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥

इत्युक्तत्वात्; सामान्ये प्रस्तुते विशेषप्रस्तावमय्यपि स्यात्, तदे-
वमत्र श्रीमूर्तिश्रीभागवतमात्रयोः प्रस्तुतयोस्तत्तद्विशेषप्रस्तावः कृतः,
स हि तावत्तत्पर्यन्तमहिमज्ञानप्रयोजक इति, किं च पूर्वपद्ये स्मेरामि-
त्यादिना तस्या हरितनोः प्रशंसनात्तत्प्रेक्षणनिषेधे तात्पर्यं नास्तीति
तद्वत्तदुत्तरपद्ये धर्मादीनां परमसुखदानां मोक्षस्य च सुखमयस्य
दशमस्कन्धश्रवणजभावेनातिक्रमात्तस्य परमसुखरूपत्वप्राप्त्या; हंहो
डिम्भा इत्यत्राधिक्ये तात्पर्यं नास्तीति, पद्यद्वयेऽस्मिन्नत्यन्तति-
रस्कृतवाच्यध्वनिना स्तुतावेव नयनात्, स्तुतिश्च सा निन्दाव्याजे-
नेति व्याजस्तुतिनामाऽलङ्कारोऽयं गम्यते ।

इह मदन्तःस्फुरति कस्मिंश्चिदप्यनिर्वचनीये श्यामसुन्दरे
मम मतिरभिरमते गृहे तु नाभिरमत इत्यर्थः ।

शीता=कर्णयोस्तापशमनी, वैणिकेनेत्यज्ञातनामत्वाद्धीनारदस्य

श्रुतिपथमघशत्रोर्नामिगाथा प्रयाता ।

अनवकलितपूर्वा' हन्त कामप्यवस्थां-

तदवधि दधदन्तर्मानसं शाम्यतीव ॥

श्रीमधुरामण्डलं यथा—

तटभुवि कृतकान्तिः श्यामलायास्तटिन्याः

स्फुटितनवकदम्बालम्बिकूजद्विरेफा ।

निरवधिमधुरिम्णा मण्डितेयं कथं मे

मनसि कमपि भावं काननश्रीस्तनोति ॥

अलौकिकपदार्थानामचिन्त्या शक्तिरीदृशी ॥ ४५ ॥

भावं तद्विषयं चापि या सहैव प्रकाशयेत् ॥

केषां चित् क्व चिदङ्गानां यत्क्षुद्रं श्रूयते फलम् ॥ ४६ ॥

बहिर्मुखप्रवृत्त्यैतत्किं तु मुख्यं फलं रतिः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तादृशतामात्रेणोद्देशः, तद्वत् कामप्यवस्थामिति प्रेम्ण एवोद्देशः,
इवेति वाक्यालङ्कारे, शाम्यति=सर्वं बहिरुपद्रवं परिहृत्य निर्वृत्त-
भवतीत्यर्थः ।

कमपि भावं श्यामसुन्दरविषयम् ।

अलौकिकेति । । तेषां पञ्चानामिति प्रकरणालुभ्यते, यथा—

“सकृद्यदङ्गप्रतिमान्तराहिता मनोमयी भागवती ददौ गतिमि”ति,

“धर्मः प्रोज्झिते”त्यादौ “किं वा परैरीश्वरः सद्यो हृद्यवरुद्धतेऽत्र

कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणादि”ति, “भवापवर्गो भ्रमत”इति,

“नामव्याहरणं विष्णेर्यतस्तद्विषया मतिरि”ति,

“परानन्दमयी सिद्धिर्मथुरास्पर्शमात्रत” इति,

पञ्चस्वपि दर्शनात् ।

मुख्यं फलमिति । “अकामः सर्वकामो वे”त्यादेः “सत्यं दिश-

सम्मतं भक्तिविज्ञानां भक्त्यङ्गत्वं तु कर्मणाम् ॥ ४७ ॥

यथा चैकादशे—

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

त्यर्थितमि”त्यारभ्य; “स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छतामि”त्यादेः, “स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोरि”त्यादौ; “कामं च दास्ये न तु काम-
काम्यये”त्यस्माच्च, यद्वा बहिर्मुखप्रवृत्त्याइति । अन्तर्मुखानां तु
तत्तदनायासभजनेऽपि कर्मादिदुर्लभफलप्रापकतत्तद्गुणश्रवणेन- रत्यु-
त्पादनाद्रतिरेव मुख्यं फलमिति, तदेवं रतिफलत्वेऽप्यंशशिभगव-
द्रूपभेदेन रतेरपि भेदो ज्ञेयः ।

ननु सर्वासां केवलानामेव भक्तीनां माहात्म्यं खलु तादृशमेव
किं तु श्रीपराशरेण यदिदमुक्तम्—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् ।

विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम् ॥ इति,

तत्र तु कर्मणां भक्त्यङ्गत्वं प्रतीयते; वर्णाश्रमाचारसंयोगेनैव
विष्णोराराधने सम्मतिप्रतीतिः ?

तत्राह—सम्मतमिति । भक्तिविज्ञानां भक्तिं विशेषतो जानतां-
शुद्धभक्तानां श्रीपराशरादीनामेवेत्यर्थः,

तदुक्तं तैरेव—

यज्ञेशान्युत गोविन्द माधवानन्त केशव !

कृष्ण विष्णो हृषीकेशेत्याह राजा स केवलम् ॥

नान्यज्जगाद् मैत्रेय ! किञ्चित्स्वप्नान्तरेष्वपि । इति,

वर्णाश्रमाचारेत्यादिकं त्वजातदृढश्रद्धान् शुद्धभक्त्यनधिकारिणः
प्रत्येवोक्तमिति भावः ।

तदेवोपपादयति—यथेति । तस्माद्वर्णाश्रमेत्यस्य चायमेवार्थः—

मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥ इति,

ज्ञानवैराग्ययोर्भक्तिप्रवेशाद्योपयोगिता ॥

ईषत्प्रथममेवेति नाङ्गत्वमुचितं तयोः ॥ ४८ ॥

यदुभे चित्तकाठिन्यहेतू प्रायः सतां मते ॥

सुकुमारस्वभावेयं भक्तिस्तद्धेतुरीरिता ॥ ४९ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

वर्णाश्रमाचारवताऽपि यद्विष्णुराराध्यते सोऽयमेव पन्थास्तत्तोष-
कारणं नान्यत्किमपि, अत एवोक्तं तेनैव—

“सा हानिस्तन्महच्छिद्रं स मोहः स च विभ्रमः ।

यन्मुहूर्त्तं क्षणं वाऽपि वासुदेवं न कीर्त्तयेद् ॥ इत्यादि,

ज्ञानमत्र त्वम्पदार्थविषयं तत्पदार्थविषयं तयोरैक्यविषयं चेति
त्रिभूमिकं ब्रह्मज्ञानमुच्यते, तत्रेषदिति । ऐक्यविषयं त्यक्त्वेत्यर्थः,
वैराग्यं चात्र ब्रह्मज्ञानोपयोग्येव; तत्र चेषदिति भक्तिविरोधि त्यक्त्वे-
त्यर्थः, तच्च तच्च प्रथममेवेत्यन्यावेशपरित्यागमात्राय ते उपादीयेते
तत्त्यागेन जाते च भक्तिप्रवेशे तयोरकिञ्चित्करत्वात् तत्तद्भाव-
नाया भक्तिविच्छेदकत्वाच्च,

उत्तरतस्तु तयोरनुगतौ दोषान्तरमित्याह—यदुभे इति ।
काठिन्यहेतुत्वं च नानावादनिरसनपूर्वकतत्त्वविचारस्य दुः-
खसहनाभ्यासपूर्वकवैराग्यस्य च रूक्षस्वरूपत्वात्, तर्हि सहाय-
विनोत्तरोत्तरभक्तिप्रवेशः कथं स्यात्? तत्राह—भक्तीति । तस्य भक्ति-
प्रवेशस्य हेतुर्भक्तिरीरिता, उत्तरोत्तरभक्तिप्रवेशस्य हेतुः पूर्वपूर्वभक्ति-
रेवेत्यर्थः ।

ननु भक्तिरपि तत्तदायाससाध्यत्वात्काठिन्ये हेतुः स्यात्? तत्राह—
सुकुमारस्वभावेयमिति । श्रीभगवन्मधुररूपगुणादिभावनामयत्वादि-

यथा तत्रैव—

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य त्यागिनो वै मदात्मनः ।

न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥ इति,

किं तु ज्ञानविरक्त्यादिसाध्यं भक्त्यैव सिध्यति ॥

तथा तत्रैव—

यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यद् ।

योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

ति, तस्माद्भगवति निजचित्तस्य सार्द्रतां कर्तुमिच्छता भक्तिरेव
कार्येति भावः,

प्राधान्येन च तथोक्तं श्रीमत्प्रह्लादेन—

नैते गुणा न गुणिनो महदादयो ये

सर्वे मनःप्रभृतयः सह देवमर्त्याः ।

आद्यन्तवन्त उरुगाय ! विदन्ति हि त्वा—

मेवं विविच्य सुधियो विरमन्ति शब्दात् ॥

तत्तेऽर्हत्तम ! नमःस्तुतिकर्मपूजा

कर्मस्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम् ।

सत्सेवया त्वयि विनेति षडङ्गया किं—

भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत ॥ इति,

अत्र कर्म=परिचर्या, कर्मस्मृतिः=लीलास्मरणं चरणयोरिति
भक्तिव्यञ्जकं तच्च षट्स्वप्नान्वितं, तथा सत्सेवया विनेति वैरा-
ग्यादिकमपि नादृतम् ।

ज्ञानसाध्यं मुक्तिलक्षणं वैराग्यसाध्यं ज्ञानं तत्तच्च भक्त्यैव
सिध्यति,

इतरैः सालोक्यादिकामनामयभक्त्यादिभिः, कथं चिद्भक्त्युपयो-
गित्वेन, यथा चित्रकेतोर्विमानचारित्वे गर्भस्थशुकदेवस्य मायात्यागे

सर्वं मङ्गक्तियोगेन मङ्गक्तो लभतेऽञ्जसा ।

स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथं चिद्यदि वाञ्छति ॥ इति,

दुर्गमसङ्गमनी ।

प्रह्लादस्य भगवत्पाद्वर्गमने वाञ्छा,

यथोक्तं पद्ये—

रेमे विद्याधरस्त्रीभिर्गापयन् हरिमीश्वरमिति ।

ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णं प्रति शुकदेवप्रार्थना—

त्वं ब्रूहि माधव ! जगन्निगडोपमेया

मायाऽखिलस्य न विलङ्घ्यतमा त्वदीया ।

बध्नाति मां न यदि गर्भमिमं विहाय

तद्यामि सम्प्रति मुहुः प्रतिभूस्त्वमत्र ॥ इति,

सप्तमे श्रीमत्प्रह्लादस्यैव वाक्यं—

अस्तोऽस्म्यहं कृपणवत्सल ! दुःसहोऽग्र-

संसारचक्रकदनाद् असतां प्रणीतः ।

वद्धः स्वकर्मभिरुशत्तम ! तेऽङ्घ्रिमूलं-

प्रीतोऽपवर्गमरणं ह्यसे कदा नु ॥ इति,

दुःसहं यदुग्रं संसारचक्रकदनं दुःखं तस्मादहं अस्तोऽस्मि
दुःसहेति त्वद्वहिर्मुखतामयत्वादिति भावः, तत्रापि असतां त्वद्भक्तेः
सर्वङ्गिलानामसुराणां मध्ये स्वकर्मभिर्बद्धः सन् प्रणीतो निक्षिप्तोऽस्मि
ततो हे उशत्तम ! प्रीतः सन् ते तवाङ्घ्रिमूलं चरणारविन्दयोर्नित्या-
धिष्ठानं श्रीवैकुण्ठं प्रति कदा नु ह्यसे ।

ननु पूर्वं भक्तिप्रविष्टस्य वैराग्यं चित्तकाठिन्यहेतुतया हेयत्वेनोक्तं;
तर्हि तस्य विषयभोग एव विहितः, तच्च

विषयाविष्टचित्तानां कृष्णावेशः सुदूरतः ।

वारुणीदिग्गतं वस्तु ब्रजभैन्द्रीं किमाप्नुयाद् ॥

इत्यादिशास्त्राविरुद्धम् ?

रुचिमुद्रहतस्तत्र जनस्य भजने हरेः ॥ ५० ॥
 विषयेषु गरिष्ठोऽपि रागः प्रायो विलीयते ॥
 अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः ॥ ५१ ॥
 निर्वन्धः कृष्णसंबन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते ॥
 प्रापञ्चितया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः ॥ ५२ ॥
 मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते ॥
 प्रोक्तेन लक्षणेनैव भक्तेरधिकृतस्य च ॥ ५३ ॥
 अङ्गत्वे सुनिरस्तेऽपि नित्याद्यखिलकर्मणाम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

अत्रोच्यते--भक्तौ रुचिमात्रमेव तस्य विषयरोगविलापकं त-
 स्माद्वैराग्याभ्यासकाठिन्यं न युक्तमित्याह--रुचिमिति । अत्र रुचि-
 मुद्रहतः प्रायो विलीयत इति; परिणामतस्तु कातस्न्येनैव विलीयत-
 इत्यर्थः; तदेतदुपलक्षणमुक्तं ज्ञानं च भवतीत्यस्य,

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥

इत्यादेः;

तत् प्रागुक्तं भक्तिप्रवेशयोग्यमेव वैराग्यं व्यनक्ति-अनासक्तस्येति ।
 अनासक्तस्य सतः यथाऽर्हं स्वभक्त्युपयुक्तमात्रं यथा स्यात्तथा विष-
 यानुपयुञ्जतो भुञ्जानस्य पुरुषस्य यद्वैराग्यं तद्युक्तमुच्यते, अत्र कृष्ण-
 सम्बन्धे निर्वन्धः स्यादित्यर्थः ।

अथ फल्गु वैराग्यं तु भक्त्यनुपयुक्तं तत्तदेव ज्ञेयं, तच्च भगवद्बहि-
 र्मुखाणामपराधपर्यन्तं स्यादित्याह-प्रापञ्चितयेति । हरिसम्बन्धि-
 वस्त्वत्र तत्प्रसादादि; तस्य परित्यागो द्विविधः--अप्रार्थना प्राप्तान-
 ङ्गीकारश्च, तत्रोत्तरस्तु सुतरामपराध एव ज्ञेयः, "प्रसादाग्रहणं वि-

ज्ञानस्याध्यात्मिकस्यापि वैराग्यस्य च फल्गुनः ॥५४॥

स्पष्टताऽर्थं पुनरपि तदेवेदं निराकृतम् ॥

धनशिष्यादिभिर्द्वारैर्यो भक्तिरूपपाद्यते ॥ ५५ ॥

विदूरत्वादुत्तमताहान्या तस्याश्च नाङ्गता ॥

विशेषणत्वमेवैषां संश्रयन्त्यधिकारिणाम् ॥ ५६ ॥

विवेकादीन्यतोऽमीषामपि नाङ्गत्वमुच्यते ॥

कृष्णोन्मुखं स्वयं यान्ति यमाः शौचादयस्तथा ॥५७॥

इत्येषां च न युक्ता स्याद्भक्त्यङ्गान्तरपातिता ॥

यथा स्कान्दे—

पते न ह्यद्भुता व्याध ! तवाहिंसाऽऽद्यो गुणाः ।

हरिभक्तौ प्रवृत्ता ये न ते स्युः परतापिनः ॥

तत्रैव—

अन्तःशुद्धिर्बहिःशुद्धिस्तपः शान्त्यादयस्तथा ।

अमी गुणाः प्रपद्यन्ते हरिसेवाऽभिकामिनम् ॥ इति,

सा भक्तिरेकमुख्याङ्गाश्रितानैकाङ्गिकाऽथ वा ॥ ५८ ॥

स्ववासनाऽनुसारेण निष्ठातः सिद्धिर्कृद्भवेत् ॥

तत्रैकाङ्गा यथा ग्रन्थान्तरे—

श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिद्भवद्द्वैयासकिः कीर्त्तने

दुर्गमसङ्गमनी ।

ष्णोरि"त्यादिवचनेषु तच्छ्रवणात् ।

प्रोक्तेनेति द्वयोरप्यन्वयः, अधिकृतस्य भक्तिशास्त्राधिकारेण व्याप्तस्य; वैराग्यस्य वैराग्यमात्रस्य विशेषतः फल्गुन इत्यर्थः ।

धनेति । "ज्ञानकर्माद्यनावृतमि" त्यादिग्रहणेन शैथिल्यस्यापि ग्रहणादिति भावः । नाङ्गतेति । अत्रोत्तमायामिति शेषः ।

प्रह्लादः स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने ।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिदांस्येऽथ सख्येऽर्जुनः
सर्वस्वात्मनिवेदने वलिरभूत् कृष्णासिरेपां परम् ॥

अनेकाङ्गा यथा श्रीनवमे—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्गतगात्रस्पर्शेऽङ्गसंगमम् ।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमनुलस्या रसनां तदर्पिते ॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने ।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ॥ इति,
शस्त्रोक्तया प्रबलया तत्तन्मर्यादयाऽन्विता ॥ ५९ ॥
वैधी भक्तिरियं कैश्चिन्मर्यादामार्ग उच्यते ॥

अथ रागानुगा—

विराजन्तीमभिव्यक्तं व्रजवासिजनादिषु ॥ ६० ॥
रागात्मिकामनुमृता या सा रागानुगोच्यते ॥
रागानुगाविवेकार्यमादौ रागात्मिकोच्यते ॥ ६१ ॥
इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तदङ्घ्रिभजन इत्यत्र तथाऽङ्घ्रिभजन इत्येव युक्तम् ।

लिङ्गानि=प्रतिमाः, तुलस्या यस्तस्य पादसरोजयोरर्पितत्वात्तयोः
सौरभविशेषयोगः स्यात्तस्मिन्नित्यर्थः, क्षेत्रं श्रीमथुराऽऽदि, पदं तदा-
लयादि तदेतच्च सर्वं तथा चकार यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः
स्यात्तेषामभिरुचिः स्यात्तथैवेत्यर्थः ।

इष्टे स्वानुकूल्यविषये स्वारसिकी स्वाभाविकी परमाविष्टता
तस्या हेतुः प्रेममयतृष्णेत्यर्थः सा रागो भवेत्, तदाधिक्यहेतुतया

तन्मयी या भवेद्भक्तिः साऽत्र रागात्मकोदिता ॥६२॥

सा कामरूपा सम्बन्धरूपा चेति भवेद् द्विधा ॥

तथा हि सप्तमे—

कामाद् द्वेषाद्भयात्स्नेहाद्यथा भक्त्येकवरे मनः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

तदभेदोक्तिरायुर्धृतमिति वद्, एवमुत्तरत्रापि, तन्मयी तदेकप्रेरिता;*
तत्प्रकृतवचने मयद्,

कामेन रागविशेषरूपेण रूप्यते क्रियत इति; तथा सम्बन्धेन तद्धेतुकेन रागविशेषेण रूप्यते क्रियत इति, तत्तत्प्रेरितेत्यर्थः, यद्यपि कामरूपायामपि सम्बन्धविशेषोऽस्त्येव तथाऽपि पृथगुपादान-सम्बन्धप्राधान्यविवक्षया, सर्वे समायान्ति राजा चेति वत् ।

कामादिति । अत्र स्वरसत एवोत्पद्यमानानां कामादीनां विधा-
तुमशक्यत्वात्तन्मयीनां कथमपि न वैधीत्वम्,

यश्च

तस्माद्वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा ।

स्नेहात्कामेन वा पुञ्ज्यादिति—

लिङ्प्रत्ययः श्रूयते; सोऽपि सम्भावनायामेव सम्भवति, तस्मा-
त्केनाप्युपायेनेति त्वभ्यनुज्ञामात्रं, यथा यथावत्, तद्गतिं तद्रूपं गम्य-

क्वचिदधिकः—

*तदेकप्रेरितेति । अत्र तन्मयी या प्रेममयतृष्णा प्राचुर्येण प्रस्तुता यस्यां सामा-
न्यलक्षणायां भक्तौ सा तदर्थेति ज्ञेयं, न तु स्वार्थे मयद्, सा प्रस्तुता तन्मयीति व्या-
ख्याने तन्मयस्य भक्तिविशेषणत्वं न स्याद्, अन्यपदार्थप्राधान्येन विशेषणत्वमेव सूच-
यितुं तन्मयी तदेकप्रेरितेति व्याख्यातम् ।

ननु माऽस्त्वन्यपदार्थप्राधान्यं; स्वार्थ एव मयडस्त्विति चेद् ? न—मूलासङ्गतेः;
मूले च यत्तच्छब्दाभ्यामन्यपदार्थप्राधान्यस्यैव स्वीकृतत्वात् ।

आवेश्य तदधं हित्वा बहवस्तद्वर्ति गताः ॥

गोप्यः कामाङ्गयात्कंसो द्वेषाच्छैद्यादयो नृपाः ।

सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद्युयं भक्त्या वयं विभो ! इति,

आनुकूल्यविपर्यासाद् भीतिद्वेषौ पराहतौ ॥ ६३ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

प्राप्ताः, तदधमिति । तेषां मध्ये यद् द्वेषभययोरधं भवति तदपि तदावे-
शप्रभावेण हित्वेत्यर्थो न तु कामेऽपीति मन्तव्यं--

द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोज्ञप्रिया-

इति तस्य द्वेषादिगणपातितामुलङ्घयः स्तुतत्वात् ।

गोप्य इति । पूर्वरागावस्था ज्ञेयाः, एवं वृष्ण्यादयोऽपि ।

तदेवं बहुङ्गत्वे प्राप्ते कामादिद्वयमात्रस्योपादाने कारणान्याह--

आनुकूल्येतिद्वयेन--

श्रीनारदेन त्वनयोर्भीतिद्वेषयोरुपादानं भक्तौ कैमुत्योपपादनायैव,-

तदुक्तम्--

वैरेण ये नृपतयः शिशुपालशाल्व-

पौण्ड्रादयो गतिविलासविलोकनाद्यैः ॥

ध्यायन्त आहृतधियः शयनासनादौ

तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम् ॥ इति,

तथा च व्याख्यातम्--

सा भक्तिः सप्तमस्कन्धे भङ्ग्या देवर्षिणोदिता-

इत्यत्र, एवमपि; यत्तु--

यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात् ।

न तथाभक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः-

इत्युक्तं; तदपि भावमयकामाद्यपेक्षया विधिमयस्य चित्तावेशहेतु-
त्वेऽत्यन्तन्यूनत्वमिति व्यञ्जनार्थमेव, येषु भावमयेषूपायेषु निन्दि-

स्नेहस्य सख्यवाचित्वाद्वैधभक्त्यनुवर्तिता ॥

किं वा प्रेमाभिधायित्वान्नोपयोगोऽत्र साधने ॥ ६४ ॥

भक्त्या वयमिति व्यक्तं वैधी भक्तिरुदीरिता ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तोऽपि वैरानुबन्धो विधिरिति, तन्मयता ह्यत्र तदाविष्टता स्त्रीमयः
कामुक इतिवत्,

स्नेहस्येति । अयमर्थः—पाण्डवानां यः स्नेहः स सख्यरूपरागा-
त्मिकायामेव पर्यवस्यति; तादृशव्यवहारश्रवणात्,

तथाऽप्यैश्वर्यज्ञानप्रधानत्वात्तेषां विधिमार्गे प्रधानत्वमेव स्यादि-
ति शुद्धरागानुगायां नोपयोगः,

यदि च स्नेहशब्देन प्रेमसामान्यमुच्यते तदा तद्विशेषानभिधा-
नात् तत्क्रियानिर्धारणाभावेनानुकरणासम्भव इत्येवमत्र रागानुगा-
ख्ये साधने तस्योपजीव्यत्वाभावेन नोपयोगो विद्यत इति,

प्रेमविशेषे तु वाच्ये सम्बन्धरूपायामेव पर्यवसानात्पुनरुक्तत्व-
मिति च ज्ञेयम् ।

भक्त्येति । पारिशेष्यप्रामाण्येन वैधत्व एव पर्यवसानाद्,
वैधी भक्तिश्चास्य पूर्वजन्मनि महदुपासनालक्षणा, कामाद् द्वेषादिति
पूर्वपद्यानुसारेण पञ्चतयत्वे प्राप्तेऽप्यत्र षट्तयत्वेन व्याख्या स्वा-
म्यनुरोधेनैव,

वस्तुतस्तु सम्बन्धाद्यः स्नेहस्तस्माद् वृष्णयो यूयं चेत्येकमिति
वोपदेवानुसारेण ज्ञेयम्, उभयत्र सम्बन्धस्नेहयोरविशेषाद्,

एवमेव—

कतमोपि न वेनः स्यात्पञ्चानां पुरुषं प्रति—

इति सुष्ठु सङ्गच्छते, पुरुषं=भगवन्तं प्रतीत्यस्मिन्नेवाथै सार्थ-
कता स्यादिति ।

यदरीणां प्रियाणां च प्राप्यमेकमिवोदितम् ॥ ६५ ॥

तद्ब्रह्मकृष्णयोरैक्यात्किरणार्कोपमाजुषोः ॥

ब्रह्मण्येव लयं यान्ति प्रायेण रिपवो हरेः ॥ ६६ ॥

के चित्प्राप्यापि सारूप्याभासं मज्जन्ति तत्सुखे ॥

तथा च ब्रह्माण्डपुराणे—

सिद्धलोकास्तु तमसः पारे यत्र वसन्ति हि ।

सिद्धा ब्रह्मसुखे मग्ना दैत्याश्च हरिणा हताः ॥ इति,

दुर्गमसङ्गमनी ।

तत्र तद्वृत्ति गता इत्युक्तौ सन्देहान्तरं निरस्यति—यदरीणामिति ।

प्रियाणां श्रीगोपीवृष्ण्यादीनाम् ,

अनयोः किरणार्कोपमाने ब्रह्मसंहिता यथा—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-

कोटिष्वशेषवसुधाऽऽदिविभूतिभिन्नम् ॥

तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं-

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥ इति,

श्रीभगवद्गीताश्च—

“ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहमि”ति प्रतिष्ठा=आश्रयः, तथैव स्वामि-

टीका च दृश्या, तच्च युक्तम्, एकस्यापि तस्याधिकारिविशेषं प्राप्य

सविशेषाकारभगवत्त्वेनोदयाद् घनत्वं निर्विशेषाकारब्रह्मत्वेनोद-

यादघनत्वमिति प्रभास्थानीयत्वात् प्रमेति ज्ञेयम्, अत एवात्मारामा-

णामपि भगवद्गुणेनाकर्षणमुपपद्यते, विशेषजिज्ञासा चेष्टीभगवत्स-

न्दर्भो दृश्यः ।

अरीणां ब्रह्मगतिमेव विवृणोति-ब्रह्मण्येवेति ।

तत्र पूर्वस्य प्रमाणं निभृतमरुदित्याद्यर्द्धं वक्ष्यत इत्यभिप्रायेणो-
त्तरस्याह-तथा चेति । तमसः=प्रकृतेः ।

रागबन्धेन केनापि तं भजन्तो ब्रजन्त्यमी ॥ ६७ ॥

अङ्घ्रिपद्मसुधाः प्रेमरूपास्तस्य प्रियाजनाः ॥

तथा हि श्रीदशमे—

निभृतमरुन्मनोऽक्षद्वययोगयुजो हृदि यन्—

मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात् ॥

स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविपक्तधियो—

वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ॥ इति,

तत्र कामरूपा—

दुर्गमसङ्गमनी ।

तत्र श्रीगोपीनां विशेषमाह—रागबन्धेनेति ।

तत्र ब्रह्मण्येवेतिपद्याद्धेन रागबन्धेनेति पद्येन च दशमस्थश्रुति-
वाक्यं तुल्यति—तथा हीति ।

निभृतेति । प्रतियुगमान्तःस्थस्यापिशब्दस्य द्वयेन युग्मद्वयं-
पृथगवगम्यते; ततश्च यद्ब्रह्माख्यं तत्त्वं मुनय उपासते तदरयोऽपि
स्मरणाद्ययुः, स्त्रियः=श्रीगोपसुन्दर्यः तासामेव तथाप्रसिद्धेः,
ता अङ्घ्रिसरोजसुधाः=तत्प्रेममयमाधुर्याणि ययुर्वयमपि समदृश-
स्ताभिः समभावाः सत्यः समास्ताभिस्तुल्यतां प्राप्ता व्यूहान्तरेण
गोप्यो भूत्वा तवाङ्घ्रिसरोजसुधा ययिमेत्यर्थः, अर्थविशेषस्त्वस्य
दशमटिप्पण्यां वैष्णवतोषणीनाम्न्यां दृश्यः,

तथा च बृहद्भामनपुराणे—श्रुतिभिः प्रार्थ्य गोपिकात्वं प्राप्तमिति
प्रसिद्धिः; कारिकायां भजन्त इत्यादिना जनसामान्यनिर्देशस्त्वे
तदुपलक्षणतया कृतः, तदेवं स्त्रिय इत्यनेन वक्ष्यमाणा कामरूपा,
वयमित्यनेन कामानुगा, चोदङ्किता; तदेतदनुसारेण वृष्ण्यादी-
नामपि तत्प्राप्तिविशेषो ज्ञेयः ।

तत्र कामरूपेति । कामोऽत्र स्वेष्टविषयरगात्मकप्रेमविशेषत्वेनाग्रे

सा कामरूपा सम्भोगतृष्णां या नयति स्वताम् ॥६८॥

यदस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यमः ॥

इयं तु व्रजदेवीषु सुप्रसिद्धा विराजते ॥ ६९ ॥

आसां प्रेमविशेषोऽयं प्राप्तः कामपि माधुरीम् ॥

तत्तत्क्रीडानिदानत्वात्कामं इत्युच्यते बुधैः ॥ ७० ॥

तथा च तन्त्रे—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम् । इति,

इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

निरूपणीयः,

तदेवाह—सेति । सा प्रसिद्धा प्रेमरूपैवात्र कामरूपा न त्वन्ये-
त्यर्थः, या सम्भोगतृष्णाप्रसिद्धं काममपि स्वस्वरूपतां नयति, तत्र
प्रेमरूपत्वे हेतुः—

यदस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यम इति ।

तदेव दर्शयति—इयं त्विति । सुप्रसिद्धत्वं च “यत्ते सुजातचरणा-
म्बुरुहं स्तनेष्वि”त्यादितद्वाक्यदर्शनात् ।

नन्वत्र कामरूपाशब्देन कामात्मिकैवोच्यते; सा च क्रियैव न तु
भावः ततस्तस्यास्तृष्णायाः स्वस्वरूपतानयने सामर्थ्यं न स्याद् ?

उच्यते—क्रियाऽपीयं मानसक्रियारूपेण स्वांशेन स्वरूपतानयने
तत्र समर्था स्यात् ; सा च मत्तोऽस्य सुखं स्यादिति भावनारूपेति
ज्ञेयम्, एवमेव च स्वतानयनं सिद्ध्यति—

“एताः परं तनुभूत” इत्यनुसृत्य; तत्र हेतुमाह—इतीति । एतं एतादृ-
शेन कान्तत्वाभिमानरूपेण भावेनोपलक्षितो यः प्रेमातिशयस्तमे-
वेति ज्ञेयं; तादृशेन विशिष्टं तमिति तु न ज्ञेयं; मुमुक्षुमुक्तभक्तानामैक-

कामप्राया रतिः किन्तु कुब्जायामेव सम्मता ॥ ७१ ॥

सम्बन्धरूपा—

सम्बन्धरूपा गोविन्दे पितृत्वाद्यभिमानिता ॥

अत्रोपलक्षणतया वृष्णीनां वल्लवा मताः ॥ ७२ ॥

यदैश्यज्ञानशून्यत्वादेषां रागे प्रधानता ॥

कामसम्बन्धरूपे ते प्रेममात्रस्वरूपके ॥ ७३ ॥

नित्यसिद्धाश्रयतया नात्र सम्यग्विचारिते ॥

रागात्मिकाया द्वैविध्याद् द्विधा रागानुगा च सा ॥ ७४ ॥

कामानुगा च सम्बन्धानुगा चेति निगद्यते ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

मत्से भावभेदव्यवस्थाऽनुपपत्तेः, तादृशप्रेमातिशयप्रापकं तद्भावं विनैव हि तत्प्रेमातिशयं वाञ्छन्तीत्येवोक्त्वा तत्प्राप्तिर्नाभिमत इति ।

कामप्रायेति । यत्ते सुजातेत्यादिशुद्धप्रेमरीत्यदर्शनात् प्रत्युतोत्तरीयान्तमाकृष्येत्यादिकामरीतिमात्रदर्शनात्; तथाऽपि रतिस्तदुपाधितयाऽंशेन ज्ञेया ।

पितृत्वाद्यभिमानितेति । तत्प्रभवरागप्रेरितेत्यर्थः, “सम्बन्धाद्गुण्य”-इत्यत्र वृष्णीनामुपलक्षणतया ये वल्लवाः प्राप्तास्त एवाजहल्लक्षणया मताः, “अद्भुत्वाद्गुण्यवायेऽपी”ति सूत्रे यथा नुम उपलक्षणत्वेनानुस्वारमात्रं गृह्यते तद्वदिति भावः ।

तत्र हेतुमाह—यदिति । एषां वल्लवानां प्रेममात्रं स्वरूपं कारणं ययोः, नित्यसिद्धाः श्रीव्रजेश्वरादय एवाश्रया मूलस्थानानि ययोस्तयोर्भावस्तत्ता तथा हेतुना, अत्र—साधनप्रकरणे, न सम्यग्विचारिते किन्तु तत्प्रकरण एव विचारयिष्येते इत्यर्थः ।

तत्तद्भावादिमाधुर्यं श्रीभागवतादिषु सिद्धानिर्देशशास्त्रेषु श्रुते

तत्राधिकारी—

रागात्मिकैकनिष्ठा ये व्रजवासिजनादयः ॥ ७५ ॥

तेषां भावाप्तये लुब्धो भवेदत्राधिकारवान् ॥

तत्तद्भावादिमाधुर्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते ॥ ७६ ॥

नात्र शास्त्रं न युक्तिं च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणम् ॥

वैधभक्त्यधिकारी तु भावाविर्भावनावधिः ॥ ७७ ॥

अत्र शास्त्रं तथा तर्कमनुकूलमपेक्षते ॥

कृष्णं स्मरन् जनं चास्य प्रेष्टुं निजसमीहितम् ॥ ७८ ॥

तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद्वासं व्रजे सदा ॥

सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि ॥ ७९ ॥

तद्भावलिप्सुना कार्य्या व्रजलोकानुसारतः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

श्रवणद्वारा यत्किञ्चिदनुभूते सति यच्छास्त्रं विधिवाक्यं नापेक्षते
युक्तिं च किं तु प्रवर्त्तत एवेत्यर्थः; तदेव लोभोत्पत्तेर्लक्षणमिति ।

रागानुगाऽधिकारिणो रागात्मिकाऽनुगामित्वाद् निरवधिरेव
तादृशी भक्तिः, वैधभक्त्यधिकारिणस्तु किमवधिर्वैधी भक्तिस्तत्राह-
वैधभक्तीति । भावो रतिः—

तदुक्तं श्रीभगवता—

न मप्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः । इति,

अथ रागानुगायाः परिपाटीमाह—कृष्णमित्यादिना । सामर्थ्ये
सति व्रजे श्रीमन्नन्दव्रजावासस्थाने वृन्दावनादौ शरीरेण वासं-
कुर्यात्तदभावे मनसाऽपीत्यर्थः ।

साधकरूपेण=यथाऽवस्थितदेहेन, सिद्धरूपेण=अन्तश्चिन्तिता-
भीष्टतत्सेवोपयोगिदेहेन, तस्य व्रजस्थस्य निजाभीष्टस्य श्रीकृष्णप्रेष्टस्य

श्रवणोत्कीर्त्तनादीनि वैधभक्त्युदितानि तु ॥ ८० ॥
यान्यङ्गानि च तान्यत्र विज्ञेयानि मनीषिभिः ॥

तत्र कामानुगा—

कामानुगा भवेत्तृष्णा कामरूपानुगामिनी ॥ ८१ ॥
सम्भोगेच्छामयी तत्तद्भावेच्छाऽऽत्मेति सा द्विधा ॥
केलितात्पर्यवत्येव सम्भोगेच्छामयी भवेत् ॥ ८२ ॥
तद्भावेच्छाऽऽत्मिका तासां भावमाधुर्य्यकामिता ॥
श्रीमूर्त्तेर्माधुरीं प्रेक्ष्य तत्तल्लीलां निश्च्य वा ॥ ८३ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

यो भावो रतिविशेषस्तल्लिप्सुना, ब्रजलोकास्त्वत्र कृष्णप्रेष्ठजनास्तद-
नुगताश्च; तदनुसारतः ।

वैधभक्त्युदितानि स्वस्वयोग्यानीति ज्ञेयम् ।

कामरूपाऽनुगामिनी तृष्णा तदात्मिका भक्तिः कामानुगा भवेत्
सम्भोगेच्छामयी कामप्रायानुगा ज्ञेया, तत्तद्भावेच्छाऽऽत्मेति । तस्या-
स्तस्या निजनिजाभीष्टाया ब्रजदेव्या यो भावस्तद्विशेषस्तत्र येछा
सैवात्मा प्रवर्त्तिका यस्याः सेति मुख्यकामानुगा ज्ञेया,

तथा च दर्शितम्—

स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो—

वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः । इति,

सम्भोगोऽत्र सम्प्रयोगः केलिरपि स एव; भावमाधुर्य्यस्य कामि-
ता यस्यां सा ।

श्रीमूर्त्तेः श्रीकृष्णप्रतिमाया माधुरीं तत्प्रेयसीभिरपि प्रतिमारूपा-
भिः सह लीलाऽऽदिमाधुर्य्यविशेषं प्रेक्ष्य; तस्यास्तत्तद्भावादिमाधुर्य्य-
निश्च्येति । श्रुत्वा केवलं श्रवणं यत् पूर्वमुक्तम्; अत्र तु तस्याः प्रेक्षणेऽपि

तद्भावाकाङ्क्षिणो ये स्युस्तेषु साधनताऽनयोः ॥

पुराणे श्रूयते पाद्मे पुंसामपि भवेदियम् ॥ ८४ ॥

पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः ।

दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् छविग्राहम् ॥

ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले ।

हरिं सम्प्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवाद् ॥ इति,

रिरंसां सुष्ठु कुर्वन् यो विधिमार्गेण सेवते ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तस्य श्रवणस्य साहाय्यमवश्यं मृग्यतइत्यभिप्रेतं; यद्विना मूलतत्तद्रूप-
लीलाऽऽद्यस्फूर्त्तैः, तत्तल्लीलाश्रवणन्तु तत्प्रेक्षणं विनाऽपि कार्य्यकरमि-
त्याह-तदिति । अनयोर्द्विविधकामानुगयोः, तेषु साधनता, अत एव
तयोरधिकारिणइत्यर्थः ।

पुरेति । महर्षयोऽत्र श्रीगोकुलस्थश्रीकृष्णप्रेयस्यनुगतवासनाः त-
एव सर्व इत्यर्थः, ते च रामं दृष्ट्वा ततोऽपि सुन्दरविग्रहं हरिं श्रीकृष्ण-
भाव्यवतारमपि तत्प्रतिपादकशास्त्रे विद्वत्प्रसिद्धं गोकुले प्रेयस्यो-
भूत्वोपभोक्तुमैच्छन् मनसा वरं वृण्वते स्म,

ते च सर्वे कल्पवृक्षादिव तस्मादवचनेनैव वरं लब्ध्वा देशा-
न्तरगोपीनां गर्भे स्त्रीत्वमापन्नाः सर्वत्र गोकुलनाम्नाऽतिविख्याते श्री-
मन्नन्दगोकुले कथं चित्ताभ्य एवागताभ्यः सम्यगुत्पन्ना हरिं ततोऽपि
मनोहरं श्रीकृष्णमेव कामेन सङ्कल्पमात्रेण सम्प्राप्य ततस्तदनन्तरमेव
मुक्ता भवार्णवादिति; “अन्तर्गृहगताः काश्चिदि”त्यादिरीत्या ज्ञेयम् ।

य इति पुंलिङ्गत्वेन निर्देशो जनमात्रविवक्षया स्त्री वा पुमान्
वेत्यर्थः, रिरंसां कुर्वन्निति । न तु श्रीव्रजदेवीभावेच्छां कुर्वन्नित्यर्थः,
किं तु; सुष्ठुवति । महिषीवद्भावस्पृष्टतया कुर्वन् न तु सैरन्ध्रीवत्तदस्पृ-
ष्टतयेत्यर्थः, विधिमार्गेणेति । वल्लवीकान्तत्वध्यानमयेन मन्त्रादिनाऽ-

केवलेनैव स तदा महिषीत्वमियात्पुरे ॥ ८५ ॥

तथा च महाकौमं—

अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे ।

भर्तारं च जगद्योनिं वासुदेवमजं विशुम् ॥ इति,

अथ संबन्धानुगा—

सा सम्बन्धानुगा भक्तिः प्रोच्यते सद्भिरात्मनि ॥

या पितृत्वादिसम्बन्धमननारोपणात्मिका ॥ ८६ ॥

लुब्धैर्वासल्यसख्यादौ भक्तिः कार्याऽत्र साधकैः ॥

व्रजेन्द्रसुबलादीनां भावचेष्टितमुद्रया ॥ ८७ ॥

तथा हि श्रूयते शास्त्रे कश्चित्कुरुपुरीस्थितः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

पि किमुत महिषीकान्तत्वध्यानमयेनेत्यर्थः, केवलेनेति । व्रजादिसम्बन्धलिप्साग्रहं विनेत्यर्थः, महिषीत्वं तद्वर्गानुगामित्वमियादिति । श्रीमद्दशाक्षराद्वाव्यावरणपूजायां तन्महिषीष्वेव तस्यात्यादरादिति भावः, तदेति । कदा चिद्विलम्बेनैव न तु रागानुगावच्छेदप्रयेनेत्यर्थः ।

तपसा=विधिमार्गेण, अत्र विधिमार्गोपलक्षणत्वेन वासनाविभेदोऽपि ज्ञेयः ।

पितृत्वादिसम्बन्धस्य यन्मननं विशेषचिन्तनं पुनस्तस्यारोपणं स्वस्मिन्नभिमननं तदात्मिकेत्यर्थः ।

व्रजेन्द्रेति । न तु व्रजेन्द्रादित्वाभिमानेनापीत्यर्थः, पितृत्वाद्यभिमानो हि द्विधा संभवति स्वतन्त्रत्वेन तत्पित्रादिभिरभेदभावनया च, तत्रान्त्यमनुचितं भगवदभेदोपासनावत् तेषु भगवद्वदेव नित्यत्वेन प्रतिपादयिष्यमाणेषु तदनौचित्यात् तथा तत्परिकरेषु तदुचितभावनाविशेषेणापराधापातात्,

अथ पूर्वमेवोचितमिति दर्शयति—तथा हीति । अधिष्ठानं = प्रतिमाम्,

नन्दमूनोरधिष्ठानं तत्र पुत्रतया भजन् ॥ ८८ ॥

नारदस्योपदेशेन सिद्धोऽभूद् वृद्धवार्द्धकिः ॥

अत एव नारायणव्यूहस्तवे—

पतिपुत्रसहृद्भ्रातृपितृवन्मित्रवद्धरिम् ।

ये ध्यायन्ति सद्युक्तास्तेभ्योऽपीह नमो नमः ॥ इति,

कृष्णतद्भक्तकारुण्यमात्रलाभैकहेतुका ॥ ८९ ॥

पुष्टिमार्गतया कैश्चिदियं रागानुगोच्यते ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे साधनभक्तिलहरी ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

सिद्धोऽभूदिति । बालवत्साहरणलीलायां तत्पितृणामिव सिद्धिर्ज्ञेया ।

एवमेव हि स्कान्दे सनत्कुमारप्रोक्तसंहितायां प्रभाकरराजोपा-
ख्यानम्—

अपुत्रोऽपि स वै नैच्छत्पुत्रं कर्मानुचिन्तयन् ।

वासुदेवं जगन्नाथं सर्वात्मानं सनातनम् ॥

अशेषोपनिषद्देयं पुत्रीकृत्य विधानतः ।

अभिषेचयितुं राजा स्वराज्य उपचक्रमे ॥

त पुत्रमप्यर्थितवान् साक्षाद्भूताज्जनार्दनाद् ॥ इति,

इत उक्त्वा भगवद्भरश्च—“अहं ते भविता पुत्र” इत्यादि ।

सुहृन्निरपेक्षहितकारी, मित्रं सह विहारीति द्वयोर्भेदः; तथा च
तृतीये श्रीकपिलदेववाक्यम्—

येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टमिति,
कृष्णेति । मात्रपदस्य विधिमार्गे कुत्र चित्कर्मादिसमर्पणमपि द्वारं
भवतीति तद्विच्छेदार्थं प्रयोग इति भावः ॥ २५-८९ ॥

इति पूर्वविभागे लहरीचतुष्टयात्मके साधनभक्तिलहरी द्वितीया ।



भावलहरी ।

अथ भावः—

शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

अथ तदेतद्विविच्यते—पूर्वं तावद्भक्तिसामान्यलक्षणे चेष्टारूपा भावरूपा चेति भक्तिर्द्विविधा दर्शिता; तत्र चेष्टारूपा द्विविधा-भाव-भक्तेः साधनरूपा कार्यरूपा तु रसावस्थायाअनुभावरूपा च; तयोः पूर्वा दर्शिता; उत्तरा रसप्रसङ्गे दर्शयिष्यते,

अथ भावरूपा च द्विविधा-रसावस्थायां स्थायिनाम्नी सञ्चारिरूपा च, तत्र च पूर्वा द्विविधा-क्रोडीकृतप्रणयादिप्रेमनाम्नी रत्यपरपर्यायप्रे-माङ्कुररूपा भावनाम्नी च, तदेवं सत्युत्तरा सञ्चारिरूपाऽपि रसप्रसङ्गे दर्शयिष्यते,

सम्प्रति तु स्थायिभावसामान्यरूपं प्रेमनाम्ना प्रणयादिकमपि क्रोडीकुर्वन्तं रत्यपरपर्यायस्थायिभावाङ्कुररूपं भावं लक्षयति-शुद्धसत्त्वेति । अत्र शुद्धसत्त्वं नाम स्वप्रकाशिका स्वरूपशक्तेः संविदाख्या वृत्तिः; न तु मायावृत्तिविशेषः, विवृतं त्वेतद् भागवतसन्दर्भस्य द्वितीयसन्दर्भे श्रीवैष्णवतोषण्यां द्वितीयाध्याये च, शुद्धसत्त्वविशेषत्वं चात्र या स्वरूपशक्तिवृत्त्यन्तरलक्षणा—

ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वप्येका सर्वसंस्थितौ ।

ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते—

इति विष्णुपुराणानुसारेण ह्लादिनीनाम्नी महाशक्तिस्तदीयसारवृत्तिसमवेततत्सारांशत्वमेवेत्यवगन्तव्यं, तयोः समवेतयोः सारत्वं च तन्नित्यप्रियजनाधिष्ठानकतदीयानुकूल्येच्छामयपरमवृत्तित्वं, ह्लादिनी सारसमवायित्वं चास्यैव भावस्य परमपरिणारूपमोदनाख्ये महाभावे श्रीमदुज्ज्वलनीलमणिमधिकृत्य व्यक्तीभविष्यति,

रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते ॥ १ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

“राधिकायूथ एवासौ मोदने न तु सर्वतः ।

यः श्रीमान् ह्लादिनीशक्तेः सुविलासः प्रियो वरः” ॥ इति,

असौपदेन चानुकूल्येन कृष्णानुशीलनरूपा सामान्येन लक्षिता भक्तिरेवाकृत्यत इत्यर्थः, सा तु यद्यपि धात्वर्थसामान्यरूपा व्याख्याता तथाऽप्यत्र चेष्टारूपा न गृह्यते किं तु भावरूपैव विधेयस्य भावस्य साक्षान्निर्दिष्टत्वाद्, वक्ष्यते च स्वयमेव भावमात्रस्य लक्षणम्—

“शरीरेन्द्रियवर्गस्य विकाराणां विधायिका ।

भावा विभावजनिताश्चित्तवृत्तय ईरिताः” ॥ इति,

चित्तवृत्तयश्चात्र प्रकारान्तरेण चित्तस्य स्थितयः, विकारो मानसो भाव इत्यमरः, तथाऽपि वक्ष्यमाणानां व्यभिचारिणामत्राप्राप्ति-स्तेषां योजयिष्यमाणानां चित्तमासृण्यकृत्वाभावात् प्रेमाङ्कुरत्वेन विशेष्यत्वाच्च, ततश्चायमर्थः—असौ सामान्यतो लक्षिता या भक्तिः सैव निजांशविशेषे भाव उच्यते; स च किंकिंस्वरूपः? तत्राह—कृष्ण-स्य सर्वशक्तिरूपः शुद्धसत्त्वविशेषो यः स एयात्मा तन्नित्यप्रियजना-धिष्ठानतया नित्यसिद्धं स्वरूपं यस्य सः, किं च रुचिभिः=प्राप्त्य-भिलाषस्वकर्तृकानुकूल्यभिलाषसौहार्दाभिलाषैः; चित्तादृताकृदिति, एष च वक्ष्यमाणप्रेम्णोऽङ्कुररूप एवेत्याह—प्रेमेति । सूर्यस्त्वत्राचिरा-दुदयिष्यमाणावस्थो गृह्यते; ततश्च तदंशुसाम्यभागिति प्रेम्णः प्रथ-मच्छविरूप इत्यर्थः,

भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते—

इति वक्ष्यते, अस्याप्राकृतत्वं तादृशशुद्धसत्त्वविशेषह्लादिनीसा-रूपत्वं च मोक्षसुखस्यापि तिरस्कारकत्वात् श्रीभगवतोऽपि प्रकाशकत्वादानन्दकरत्वाच्च, अत्र प्रमाणस्य विशेषजिज्ञासा चेत्

तथा हि तन्त्रे—

प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते ।

सात्त्विकाः स्वल्पमात्राः स्युरत्राश्रुपुलकादयः ॥

स यथा पद्मपुराणे—

ध्यायं ध्यायं भगवतः पदाम्बुजयुगं तदा ।

इषद्विक्रियमाणात्मा सार्द्रदृष्टिरभूदसौ ॥ इति,

आविर्भूय मनोवृत्तौ ब्रजन्ती तत्स्वरूपताम् ॥

स्वयंप्रकाशरूपाऽपि भासमाना प्रकाश्यवत् ॥ २ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

प्रीतिसन्दर्भो दृश्यः,

तदेवं नित्यतत्प्रियजनानां भावे लक्षिते प्रपञ्चगतभक्तानामपि चित्तवृत्तिः श्रीकृष्णतद्भक्तकृपया तादृशी भवतीति तेनैव लक्षितः स्यादित्यलमतिविस्तरेण ।

तच्छविरूपत्वमेव दर्शयति—तथा हीति ।

पूर्वव्याख्याऽनुसारेण तस्यैव रतिपर्यायस्य भावस्य प्रापञ्चिततत्प्रियजनेषु किञ्चिद्विशेषं दर्शयति—आविर्भूयेति द्वाभ्याम्—असौ शुद्धस्वविशेषरूपा रतिमूलरूपत्वेन मुख्यवृत्त्या तच्छब्दवाच्या सा रतिः श्रीकृष्णादिसर्वप्रकाशकत्वेन स्वयंप्रकाशरूपाऽपि प्रापञ्चिततत्प्रियजनानां मनोवृत्तावाविर्भूय तत्स्वरूपतां तत्तादात्म्यं ब्रजन्ती तद्वृत्त्या प्रकाश्यवद्भासमाना ब्रह्मवत्तस्यां स्फुरन्ती; तथा स्वसात्कृतेन पूर्वोत्तरावस्थायां कारणकार्यरूपेण श्रीभगवदादिमाधुर्यानुभवेन स्वांशेनास्वादरूपाणि यानि कृष्णादिरूपाणि कर्माणि कर्तुरीप्सिततमानि तेषामास्वादहेतुत्वं संविदंशेन साधकतमतामसौ भावैकपर्याया रतिः प्रतिपद्यते प्राप्नोतीति, लहादिन्यंशेन तु स्वयं लहादयन्ती तिष्ठती-

वस्तुतः स्वयमास्वादस्वरूपैव रतिस्त्वसौ ॥

कृष्णादिकर्मकास्वादहेतुत्वं प्रतिपद्यते ॥ ३ ॥

साधनाभिनिवेशेन कृष्णतद्भक्तयोस्तथा ॥

प्रसादेनातिधन्यानां भावो द्वेधाऽभिजायते ॥ ४ ॥

आद्यस्तु प्रायिकस्तत्र द्वितीयो विरलोदयः ॥

तत्र साधनाभिनिवेशजः—

वैधीरागानुगामार्गभेदेन परिकीर्तितः ॥ ५ ॥

द्विविधः खलु भात्यत्र साधनाभिनिवेशजः ॥

साधनाभिनिवेशस्तु तत्र निष्पादयन् रुचिम् ॥ ६ ॥

हरावासक्तिमुत्पाद्य रतिं संजनयत्यसौ ॥

तत्राद्यो यथा प्रथमस्कन्धे—

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायता—

मनुग्रहेणाश्रयणं मनोहराः ।

ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः

प्रियश्रवस्यङ्गममाभवद्रतिः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

त्यर्थः । वस्तुत इति । तदेतदेव वस्तुविचारेण सिद्ध्यतित्यर्थः, तुशब्दोऽपि विशेषप्रतिपत्त्यर्थः, आदिग्रहणात्तत्परिकरलीलाऽऽदयो गृह्यन्ते ।

अथास्याः प्रपञ्चगतभक्तेष्वाविर्भावनिदानमाह—साधनेति । अति-धन्यानां=प्राथमिकमहत्सङ्गजातमहाभाग्यानां, “भवापवर्गे भ्रमतो-यदा भवेद्”इत्यादेः “रहूगणैतत्तपसा न याती”त्यादेश्च, विचार-विशेषस्तु भक्तिसंदर्भे दृश्यः ।

अनुग्रहेण = कृष्णकथेयं भवताऽपि श्रोतव्येति शास्त्रानुसारितदा-

रत्या तु भाव एवात्र न तु प्रेमाऽभिधीयते ॥ ७ ॥

मम भक्तिः प्रवृत्तेति वक्ष्यते स यदग्रतः ॥

यथा तत्रैव—

इत्थं शरत्प्रावृषिकावृत हरेर्विशृण्वतो मेऽनुपदं यशोऽमलम् ।

संकीर्त्यमानं मुनिभिर्भहात्मभिर्भक्तिः प्रवृत्ताऽऽत्मरजस्तमोऽपहा ॥

तृतीये च—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।

तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥ इति,

पुराणे नाट्यशास्त्रे च द्वयोस्तु रतिभावयोः ॥ ८ ॥

समानार्थतया ह्यत्र द्वयमैक्येन लक्षितम् ॥

द्वितीयो यथा पादमे—

इत्थं मनोरथं बाला कुर्वती नृत्यउत्सुका ।

हरिप्रीत्या च सर्वां तां रात्रिमेवात्यवाहयत् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

ज्ञारूपेण, मनोहरा रुच्युत्पादिकाः, श्रद्धा पुनरानुषङ्गिकीति कारिका-
यां न दर्शिता ।

मम भक्तिः प्रवृत्तेति । “भक्तिः प्रवृत्ताऽऽत्मरजस्तमोऽपहा” इत्यु-
क्त्या भक्तिशब्देन सप्रेमैवाग्रे वक्ष्यत इत्यर्थः, रतेः प्रथमावस्थत्वाद्भ-
क्तेस्ततउत्कृष्टत्वाद्, अत एव प्रेमसूर्याशिसाम्यभागित्यत्र भावप्रे-
म्णोस्तारतम्यमुक्तमिति भावः ।

मनोरथपूर्वकनृत्यमत्र रागानुगा, तदानीं तल्लीमूर्त्तिप्रभावेण
तस्यां तादृशतत्परिकराणां रागस्फूर्त्तेः, तथैवोक्तं तथा तत्पूर्वत्र—

बद्धीष्वन्यासु नारीषु मय्येवाधिकप्रीतिमान् ।

नृत्येनासौ मया सार्द्धं कण्ठाश्लेषादिभावकृद् ॥ इति—

अथ कृष्णतद्भक्तप्रसादजः—

साधनेन विना यस्तु सहसैवाभिजायते ॥ ९ ॥

स भावः कृष्णतद्भक्तप्रसादज इतीर्यते ॥

तत्र कृष्णप्रसादजः—

प्रसादा वाचिकालोकदानहार्दादयो हरेः ॥ १० ॥

तत्र वाचिकप्रसादजो यथा श्रीनारदीये—

सर्वमङ्गलमूर्धन्या पूर्णानन्दमयी सदा ।

द्विजेन्द्र ! तव मय्यस्तु भक्तिरव्यभिचारिणी ॥

आलोकदानजो यथा स्कान्दे—

अदृष्टपूर्वमालोक्य कृष्णं जाङ्गलवासिनः ।

विक्लिद्यदन्तरात्मानो दृष्टिं नाक्रण्डुमीशिरे ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

प्रसङ्गोऽयं मूलपाद्मगतश्चेत्तर्हि—

सत्त्वं तत्त्वं परत्वं च तत्त्वत्रयमहं किल ।

त्रितत्त्वरूपिणी साऽपि राधिका मम बल्लभा ॥

प्रकृतेः पर एवाहं साऽपि मच्छक्तिरूपिणी ॥ इति—

बृहद्गौतमीये श्रीकृष्णस्य वचनात्तथा तत्रैव—

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता ।

सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः संमोहिनी परा ॥ इति—

वचनान्तरान्नित्यतन्महाशक्तिरूपतया प्रसिद्धायाः श्रीराधाया-
विभूतिरूपा बालाशब्देन मन्तव्या; किं तु स्वयं श्रीराधिका तु तस्याः
फलावस्थायां तां सर्वां विधाय; तस्याः साधनसिद्धिगतं सर्व-
कृपयाऽऽत्मन एव मेन इत्येवाभेदनिर्देशे कारणं ज्ञेयम् ।

वाचा चरति वाचिकं स्वालोकस्य दानं यत्र सः, तद्द्वाराऽऽविर्भूत-

हार्दः—

प्रसाद आन्तरो यः स्यात् स हार्द इति कथ्यते ॥

यथा शुक्संहितायां—

महाभागवतो जातः पुत्रस्ते बादरायण ! ।

विनोपापैरुयेयाऽभूद्विष्णुभक्तिरिहोदिता ॥

अथ तन्नक्तप्रसादजः—

यथा सप्तमस्कन्धे—

गुणैरलमसंख्येयैर्माहात्म्यं तस्य सूच्यते ।

वासुदेवे भगवति यस्य नैसर्गिकी रतिः ॥ इति,

नारदस्य प्रसादेन प्रल्हादे शुभवासना ।

निसर्गः सैव तेनात्र रतिर्नैसर्गिकी मता ॥

स्कान्दे च—

अहो धन्योऽसि देवर्ष ! कृपया यस्य तत्क्षणात् ।

नीचोऽप्युत्पुलको लेभे लुब्धको रतिमच्युते ॥ इति,

भक्तानां भेदतः सेयं रतिः पञ्चविधा मता ॥ ११ ॥

अग्रे विविच्य वक्तव्या तेन नात्र प्रपञ्च्यते ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

इत्यर्थः, हृदि भवो हार्दः, यत्तु स्मेरां भङ्गीत्यादिना पूर्वमुक्तं तदप्यत्र ज्ञेयम्, एवं वृन्दावनादिकमपि भक्तेष्वन्तर्भाव्यम् ।

महेति ।

उपेया = उपायेनैव लभ्या, विष्णुभक्तिर्विनोपायैरुदिताऽभूद्, अत्र साधनान्तरनिषेधान्महत्प्रसादस्याकथनाच्च भगवत्प्रसाद एव लभ्यते; स च हार्द एव; यतो गर्भस्थस्यैव तस्य यत्तदीया स्मरणमयी भक्तिर्जाता सा दर्शनजा न भवति; न च वाचिकजा ततो हार्दजैवेत्यवसीयते, तच्च ब्रह्मवैवर्ताद् ज्ञेयम् ।

क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता ॥ १२ ॥

आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः ॥

आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले ॥ १३ ॥

इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावाङ्कुरे जने ॥

तत्र क्षान्तिः—

क्षोभहेतावपि प्राप्ते क्षान्तिरक्षुभितात्मता ॥ १४ ॥

यथा प्रथमे—

तं मोपयातं प्रतियन्तु विप्राः ! गङ्गा च देवी धृतचित्तमीशे ।

द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः ॥

अव्यर्थकालत्वं यथा हरिभक्तिछोधे—

वारिभः स्तुवन्तो मनसा स्मरन्तस्तन्वा नमन्तोऽप्यनिशं न वृषाः ।

भक्ता स्रवन्नेत्रजलाः समग्रमायुर्हरेरेव समर्पयन्ति ॥

अथ विरक्तिः—

विरक्तिरिन्द्रियार्थानां स्यादरोचकता स्वयम् ॥

यथा पञ्चमे—

यो दुस्त्यजान् दारुतान् छहद्राज्यं हृदिस्पृशः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

तत्र मुख्यानि लिङ्गान्याह—क्षान्तिरिति ।

तं मेति । प्रतियन्तु = अङ्गीकुर्वन्तु, तत एव हेतोरीशे धृतचित्तं सन्तं मां गङ्गा देवी चाङ्गीकरोतु यस्मादेवं श्रीपरीक्षितो महाप्रेमिन्त्वात् क्षान्तिरपि महती दृश्यते तस्माद्भावरूपे प्रेम्णोऽङ्कुरे जाते तदङ्कुरो जायत इति भावः, एवमन्यत्रापि ।

विरक्तिरिति । अत्र कारणकार्ययोर्विरक्त्यरोचकतयोरभेदोक्तिरन्योन्याव्यभिचारित्वापेक्षया ।

यः = श्रीभरतः ।

जहौ युवैष मलवदुत्तमश्लोकलालसः ॥

अथ मानशून्यता—

उत्कृष्टत्वेऽप्यमानित्वं कथिता मानशून्यता ॥ १५ ॥

यथा पाद्रे—

हरौ रतिं वहन्नेष नरेन्द्राणां शिखामणिः ।

भिक्षामटन्नरिपुरे श्वपाकमपि बन्दते ॥

अथाशाबन्धः—

आशाबन्धो भगवतः प्राप्तिरसम्भावना दृढा ॥

यथा श्रीमत्प्रभुपादानाम्—

न प्रेमा श्रवणादिभक्तिरपि वा योगोऽथ वा वैष्णवो—

ज्ञानं वा शुभकर्म वा कियद्दहो सज्जातिरप्यस्ति वा ।

हीनार्थाधिकसाधके त्वयि तथाऽप्यच्छेद्यमूला सती

हे गोपीजनवल्लभ ! व्यथयते हा हा मदाशैव माम् ॥

अथ समुत्कण्ठा—

समुत्कण्ठा निजाभीष्टलाभाय गुरुलुब्धता ॥ १६ ॥

यथा कर्णामृते—

आनम्रासितश्रुवोरुपचितामक्षीणपक्षमाङ्कुरे—

प्वालोलामनुरागिणोर्नयनयोराद्रां मृदौ जल्पिते ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

एष = भगीरथः ।

योगोऽष्टाङ्गः; तस्य वैष्णवत्वं विष्णुध्यानमयत्वं य एव हि सगर्व-
उच्यते, ज्ञानं ब्रह्मनिष्ठं शुभं कर्म वर्णाश्रमाचारादिरूपं सज्जातिस्त-
द्योग्यताहेतुः, तत्र योगादीनां तत्प्राप्तिहेतुत्वं भक्त्युपयुक्ततया कृत-
त्वेन द्रष्टव्यं, तच्च योगस्य तृतीये कापिलेयानुसारेण, ज्ञानस्य “ब्रह्मभूतः
प्रसन्नात्मे”ति श्रीगीतानुसारेण, शुभकर्मणश्च “स वै पुंसां परो धर्मः”-

आताम्रामधराभृते मदकलामम्लानवंशीस्वने-

प्लाशास्ते मम लोचनं ब्रजशिशोर्मूर्तिं जगन्मोहनीम् ॥

अथ नामगाने सदा रुचिर्यथा-

रोदनविन्दुमरन्दस्यन्दिहगिन्दीवराऽद्य गोविन्द ! ।

तव मधुरस्वरकण्ठी गायति नामावलिं बाला ॥

तद्गुणाख्यान आसक्तिर्यथा कर्णाभृते-

माधुर्यादपि मधुरं मन्मथतातस्य किमपि कैशोरम् ।

चापल्यादपि चपलं चेतो बत हरति हन्त किं कुर्मः ॥

तद्वसतिस्थले प्रीतिर्यथा पद्यावल्याम्-

अत्रासीत्किल नन्दसद्यः शकटस्यात्राभवद्भङ्ग-
बन्धच्छेदकरोऽपि दामभिरभृद्बद्धोऽत्र दामोदरः ।

इत्थं माधुरवृद्धवक्त्रविगलत्पीयूषधारां पिव-

ज्ञानन्दाश्रुधरः कदा मधुपुरीं धन्यश्चरिष्याम्यहम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

इत्यनुसारेण ज्ञेयं, मदाशा=मम स्वसुखमात्रेच्छया त्वां प्राप्तुं प्रवृत्तस्य याऽऽशा; न तु भवत्प्रेम्णा प्रवृत्तस्य याऽऽशा काऽपि तृष्णा सा, यतोऽच्छेद्यं मूलं स्वसुखकामत्वं यस्याः सा तर्हि किङ्करवाणि तत्राह-
हीनेति । भवता साऽपि प्रेममयी कर्तुं शक्यत इति विचार्य सैव क्रियत इति भावः, व्यथयत इत्यत्र स्वस्याचित्तत्वमनना "दणावकर्मका-
च्चित्तवत्कर्तृकादि"त्यनेन प्राप्तस्य परस्मैपदस्याभावः, तदिदं सर्व-
दैन्येनैवोक्तमिति रतावेवोदाहृतम् ।

माधुर्यादपि मधुरमतिशयेन मधुरमित्यर्थः, मन्मथतातस्य मन्मथोत्पादकस्येत्यर्थः, यद्वा तस्य कैशोरमेव मन्मथता मन्मथस्य धर्म इत्यर्थः ।

मधुपुरीं तदुपलक्षितं मथुरामण्डलमित्यर्थः, ब्रजभुवमिति वा पाठः ।

अपि च—

व्यक्तं मसृणतेवान्तर्लक्ष्यते रतिलक्षणम् ॥

मुमुक्षुप्रभृतीनां चेद्भवेदेषा रतिर्न हि ॥ १७ ॥

विमुक्ताखिलतर्पेया मुक्तैरपि विमृश्यते ॥

या कृष्णेनातिगोप्याऽऽशु भजद्भ्योऽपि न दीयते ॥ १८ ॥

सा भुक्तिमुक्तिकामत्वाच्छुद्धां भक्तिमकुर्वताम् ॥

हृदये सम्भवत्येषां कथं भागवती रतिः ॥ १९ ॥

किन्तु बालचमत्कारकारी तच्चिन्हवीक्षया ॥

अभिज्ञेन सुबोधोऽयं रत्याभासः प्रकीर्तितः ॥ २० ॥

प्रतिबिम्बस्तथा छाया रत्याभासो द्विधा मतः ॥

तत्र प्रतिबिम्बः—

अश्रमाभीष्टनिर्वाही रतिलक्षणलक्षितः ॥ २१ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तदेवं तदेकस्पृहत्वमेव रतेर्लक्षणं मुख्यमित्युक्तं, यदि त्वन्यस्पृहा स्यात्तदा तल्लक्षणान्तरसात्त्विकादेः सद्भावेऽपि रतिर्न मन्तव्येत्याहः अपि चेति । त्वर्थे चशब्दः, व्यक्तमिति । याऽन्तर्मसृणता=आर्द्रता सा, अन्यत्र व्यक्तं य इतिलक्षणं तदिव मुमुक्षुप्रभृतीनां यदि लक्ष्यते तथाऽपि तेषु रतिर्न स्याद् न मन्तव्येत्यर्थः, तत्र हेतुः—मुमुक्षुप्रभृतीनामित्येव, न ह्यन्यत्र स्पृहाऽन्यत्र रतिरिति युज्यत इति भावः ।

हेतुमेव विशिष्य दर्शयति—विमुक्तेत्यादिना—भुक्तिमुक्तिकामत्वात् कथं सा रतिः सम्भवेत् तस्मादेव हेतोः साधनगतमपि दोषमाहः शुद्धां भक्तिमकुर्वतामिति । शुद्धां ज्ञानकर्म्मार्थमिश्राम् ।

तस्मान्निरुपाधित्वमेव रतेर्मुख्यस्वरूपं सोपाधित्वमाभासत्वं, तच्च गौण्या वृत्त्या प्रवर्त्तमानत्वमिति प्राप्ते तस्याभासस्य प्रतिबिम्ब-

भोगापवर्गसौख्यांशव्यञ्जकः प्रतिबिम्बकः ॥

दैवात्सद्भक्तसङ्गेन कीर्तनाद्यनुसारिणाम् ॥ २२ ॥

प्रायः प्रसन्नमनसां भोगमोक्षादिरागिणाम् ॥

केषां चिद् धृदि भावेन्दोः प्रतिबिम्ब उदञ्चति ॥ २३ ॥

तद्भक्तहृन्ममस्थस्य तत्संसर्गप्रभावतः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

त्वादिद्वैविध्यमुद्दिश्य प्रतिबिम्बं लक्षयति-अश्रमेति । रतिलक्षणलक्षित इति । वाष्पाद्येकद्वयमात्रदर्शनात् तद्रूपत्वेन प्रतीयमानोऽपि रत्याभासः भोगापवर्गसौख्यांशव्यञ्जकश्चेत्तर्हि प्रतिबिम्बक इत्यन्वयः, भोगापवर्गदातृत्वलक्षणभगवद्गुणद्वयावलम्बनाद् भोगापवर्गलिप्सोपाधित्वं तत्प्रतिबिम्बत्वमित्यर्थः, तथाऽप्यश्रमाभीष्टनिर्वाहीति माहात्म्यकथनम् ।

तत्र प्रक्रियामाह-भोगमोक्षादिरागिणां दैवात् कदा चिदेव न तु मुहुः सद्भक्तसङ्गेन कीर्तनाद्यनुसारिणां तदर्थान्तरलिप्सयैव तदनुकर्तृणां ततः प्रायः प्रसन्नमनसां दोषदर्शित्वाद्यभावेऽपि तत्तदर्थान्तरलिप्साशबलचित्तानां कथं चिद् धृदि तादृक्चित्ते तद्भक्तहृन्ममस्थस्य तद्भक्तहृदेव नमः वस्त्वन्तरास्पृश्यत्वात् प्रेमेन्दुदययोग्यत्वाच्च तत्स्थभावेन्दोः प्रतिबिम्ब उदञ्चति न तु स्वरूपं; तत्तल्लिप्सालक्षणोपाधिं विना तत्प्रतिबिम्बस्याप्यनुदयात् प्रतिबिम्बश्चायं न स्वरूपसदृशः तत्तदेकैकगुणमात्रावलम्बनत्वात् तत्तल्लिप्सायास्तस्यास्वच्छत्वाच्च, शुद्धभावलिप्सा तु शुद्धं पूर्णं च तमाकर्षत्येव विचित्रगुणगणावलम्बनत्वात्तदर्थप्रयत्नत्वाच्चेत्यर्थः, तर्हि कथं तादृशभक्तव्यवधाने सति नापयाति ? तत्राह-तत्संसर्गेति । तत्संसर्गप्रभावाच्चिरमुदञ्चत्येव संस्काररूपेणेति भावः ।

अथ च्छाया—

क्षुद्रकौतूहलमयी चञ्चला दुःखहारिणी ॥ २४ ॥

रतेश्छाया भवेत् किञ्चित्सादृश्यावलम्बिनी ॥

हरिप्रियक्रियाकालदेशपात्रादिसङ्गमात् ॥ २५ ॥

अप्यानुषङ्गिकादेषा क्व चिदज्ञेष्वपीक्ष्यते ॥

किं तु भाग्यं विना नासौ भावच्छायाऽप्युदञ्चति ॥ २६ ॥

यदभ्युदयतः क्षेमं तत्र स्यादुत्तरोत्तरम् ॥

हरिप्रियजनस्यैव प्रसादभरलाभतः ॥ २७ ॥

भावाभासोऽपि सहसा भावतामुपगच्छति ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

अथ च्छायेति । छायाशब्देनात्र कान्तिरुच्यते; “छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः” इत्यमरस्य नानार्थवर्गात्, सा चात्र प्रति-
च्छविरिवोच्यते, तस्याश्च कान्तित्वादाभासशब्दस्य तत्र च प्रसिद्ध-
त्वात्, तदेतदभिप्रेत्य च्छायां लक्षयति-क्षुद्रेति । क्षुद्रकौतूहलत्वं पार-
मार्थिकेऽपि कौतूहले तस्मिंल्लौकिकत्वमननात्; तथाऽपि परमार्थकौ-
तूहलमयरतेस्तत्र यत् किञ्चित्छविराभासत एवेति च्छायात्वमनेति
भावः, रतेश्छाया तु किञ्चिद्यथा स्यात्तथा तस्या रतेः सादृश्यावल-
म्बिनी भवेदिति तु योजना; अतश्छायात्वाच्चञ्चलाऽपि न तु प्रतिबि-
म्बवत् स्थिरा भोगादिरागवल्लौकिककौतुकस्य स्थिरत्वाभावात्
तथाऽपि वस्तुप्रभावाद् दुःखहारिणी संसारतापस्य क्रमाच्छमनीति,

न चात्र विशेषलक्षणे भोगादिसम्बन्धाभावादाभासगतस्य सामा-
न्यलक्षणस्याव्याप्तिः स्यात् कौतूहलानुभवस्य च भोगविशेषत्वाद्, न
चात्र भोगसम्बन्धेन प्रतिबिम्बेऽतिव्याप्तिः स्यात् क्षुद्रेत्यनेनैव ततो-
विच्छिन्नत्वाद् हरिप्रियक्रियाऽऽदीनां सङ्गमाद्युपनिमिलनादित्यर्थः ।

तस्मिन्नेवापराधेन भावाभासोऽप्यनुत्तमः ॥ २८ ॥

क्रमेण क्षयमायाति खस्थः पूर्णशशी यथा ॥

किं च—

भावोऽप्यभावमायाति कृष्णप्रेष्ठापराधतः ॥ २९ ॥

आभासतां च शनकैर्न्यूनजातीयतामपि ॥

गाढासङ्गात्सदा याति मुमुक्षौ सुप्रतिष्ठिते ॥ ३० ॥

आभासतामसौ किं वा भजनीयेशभावताम् ॥

अत एव क चित्तेषु नव्यभक्तेषु दृश्यते ॥ ३१ ॥

क्षणमीश्वरभावोऽयं नृत्यादौ मुक्तिपक्षगः ॥

साधनेक्षां विना यस्मिन्नकस्माद्भाव ईक्ष्यते ॥ ३२ ॥

विघ्नस्थगितमत्रोहं प्राग्भवीयं सुसाधनम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

अभावं द्विविधस्यैवापराधस्याधिक्येन, एवमाभासतां मध्यमत्वे-
न; न्यूनजातीयतामल्पत्वेन, तत्र न्यूनजातीयत्वं वक्ष्यमाणानां शा-
न्त्यादिपञ्चविधानां रत्याद्यष्टविधानां च तारतम्येन ज्ञेयम् ।

भजनीयो य ईशस्तस्य भावोऽभिमानो यस्य तत्तां याति, अहं-
ग्रहोपासनामाविशतीत्यर्थः ।

क्षणमित्युपलक्षणं क्व चिच्चिरमभिव्याप्य, मुक्तिस्त्वत्र सारू-
प्यसार्ष्टिसामीप्यलक्षणा ज्ञेया ।

साधनेक्षामिति । साधनानि पूर्वोक्तसाधनाभिनिवेशकृष्णप्रसाद-
भक्तप्रसादलक्षणानि कारणानि तेषामीक्षां शास्त्रादिद्वारा ज्ञानं विना
यस्मिन् भावो रत्यादिरीक्ष्यते निश्चीयते तस्मिन् वृत्तादिष्विव प्रा-
ग्भवीयं साधनमूह्यम् ।

ननु पूर्वं साधनाभिनिवेशादित्रयेणाधुना च प्राग्भवीयसाधनेन
१५ ह० २०

लोकोत्तरचमत्कारकारकः सर्वशक्तिदः ॥ ३३ ॥

यः प्रथीयान् भवेद्भावः स तु कृष्णप्रसादजः ॥

जने चेज्जातभावेऽपि वैगुण्यमिव दृश्यते ॥ ३४ ॥

कार्या तथाऽपि नाम्ना कृतार्थः सर्वथैव सः ॥

यथा नारसिंहे—

भगवति च हरावनन्यचेता भृशमलिनोऽपि विराजते मनुष्यः ।

न हि शशकलुषच्छविः कदा चित्तिमिरपराभवतामुपैति चन्द्रः ॥

रतिरनिशानिसर्गोष्णप्रबलतरानन्दपूररूपैव ॥

ऊष्माणमपि वमन्ती शुधांशुकोटेरपि स्वाद्री ॥ ३५ ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे भावभक्तिलहरी ॥ ३ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

भावजन्मोक्तं तेषां मध्ये कतमः श्रेष्ठः ? तत्र पूतनाऽऽदिदृष्टान्तमभिप्रेत्याह-लोकेति ।

वैगुण्यं बहिर्दुराचारता तद्, इवेति । तेन लिप्तत्वाभावात्, तथा चोक्तम्—“अपवित्रः पवित्रो वे”त्यादि, कृतार्थत्वं चात्र जातभावत्वादेव ।

भृशं मलिनोऽपि दुराचारत्वेन बहिर्दृश्यमानोऽपि विराजते=अन्यापराभूतयाऽन्तर्गतभक्त्या शोभत एव, तत्रार्थान्तरन्यासो-न हीति ।

“लोके च्छायामयं लक्ष्म तवाङ्गे शशसंज्ञितमि”ति—

हरिवंशोक्ते; शशकलुषच्छवित्वेन बहिर्दृश्यमानोऽपीत्यर्थः ।

उत्तरोत्तराभिलाषवृद्धेरशान्तस्वभावत्वमुष्णत्वमुल्लासात्मकत्वादानन्दनत्वमनिशोऽनादित एव यो निसर्गः स्वभावस्तेन, उष्णा चासौ प्रबलतरानन्दरूपा चेति विग्रहः, ऊष्माणं तद्विधनानासंचारिभावलक्षणम् ॥ ३५½ ॥

इति लहरीचतुष्टयात्मके पूर्वविभागे भावभक्तिलहरी तृतीया ।

प्रेमभक्तिलहरी ।

अथ प्रेमा—

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः ॥

भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ॥ १ ॥

यथा पञ्चरात्रे—

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसंगता ।

भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः ॥

भक्तिः प्रेमोच्यते भीष्ममुखैर्यत्र तु संगता ॥

ममताऽन्यममत्वेन वर्जितेत्यत्र योजना ॥ २ ॥

भावोत्थोऽतिप्रसादोत्थः श्रीहरेरिति स द्विधा ॥

तत्र भावोत्थः—

भाव एवान्तरङ्गाणामङ्गानामनुसेवया ॥ ३ ॥

आरूढः परमोत्कर्षं भावोत्थः परिकीर्तितः ॥

तत्र वैधभावोत्थो यथैकादशे—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।

हसत्यथो रोदिति रौति गायत्यनुमादवन्वत्यति लोकबाह्यः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

अथ भावमप्युक्त्वा प्रेमाणमाह—

सम्यगिति । अत्र सान्द्रात्मकत्वं स्वरूपलक्षणमन्यद्वयन्तटस्थ-
लक्षणम् ।

अत्र स्वमतमुदाहरणमेवंव्रतः स्वेत्यादिवक्ष्यमाणप्रकारमेव ज्ञेयं,
मतान्तरमपि योजनाऽन्तरेण सङ्गमयितुमाह—यथेति । भक्तिरत्र
भावः, वैध्या निर्वृत्तो वैधः स चासौ भावश्च तदुत्थः ।

एवंव्रत इति । वैधीसम्बन्धात्तन्निर्वृत्तत्वं, स्वेति । ममतायुक्तत्वं-

रागानुगाभावोत्थो यथा याज्ञे—

न पतिं कामयेत् कं चिद् ब्रह्मवर्त्यस्थिता सदा ।

तामेव मूर्तिं ध्यायन्ती चन्द्रकान्तिर्वरानना ॥

श्रीकृष्णगाथां गायन्ती रोमाञ्चोद्भेदलक्षणा ।

अस्मिन्मन्वन्तरे स्निग्धा श्रीकृष्णप्रियवार्त्तया ॥

अथ हरेरतिप्रसादोत्थः—

हरेरतिप्रसादोऽयं सङ्गदानादिरात्मनः ॥

यथैकादशे—

ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः ।

अवतातसतपसो सत्सङ्गान्मामुपागताः ॥ इति,

माहात्म्यज्ञानयुक्तश्च केवलश्चेति स द्विधा ॥ ४ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

जातानुराग इति तदतिशयित्वं च ।

तामेव मूर्तिं ध्यायन्तीति तस्यां मूर्त्तौ पूर्वं भावो जात आसीदिति सूचितं कं चिदन्यं पतिं न कामयेन्न कामयेतेति गाढममतया प्रेम दर्शितं; स्निग्धा बभूवेति शेषः ।

सङ्गदानमादिर्यस्य सः ।

त इति । पूर्वोक्तेषु ते के चिद्वलिप्रभृतय इत्यर्थः, ते च मत्प्राप्त्यर्थं नाधीताः श्रुतिगणा यैः, तथाऽध्ययनार्थं नोपासिता महत्तमास्तत्पारगा यैः, मत्सङ्गादिति । तेषां सतां मध्ये प्रधानस्य मम सङ्गात्प्रेमाणं प्राप्य मामुपागता इत्यर्थः, किं तु श्रीभगवतः स्वतन्त्रत्वेऽपि सतां मध्ये स्वयंगणनं विनयस्वभावादेव कृतमिति श्रीभगवत्प्रसादोत्थ एवायं ज्ञेय इति ।

पुनश्च तस्यैव प्रेम्णो भेदद्वयमाह—माहात्म्येति । केवलो माधुर्यमात्रज्ञानयुक्त इत्यर्थः ।

तत्राद्यो यथा पञ्चरात्रे--

माहात्म्यज्ञानयुक्तस्तु छद्दः सर्वतोऽधिकः ।

स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तथा साष्टांगं नान्यथा ॥

केवलो यथा तत्रैव--

मनोगतिरविच्छिन्ना हरौ प्रेमपरिप्लुता ।

अभिसंधिविनिर्मुक्ता भक्तिर्विष्णुवशंकरी ॥ इति,

माहिमज्ञानयुक्तः स्याद्विधिमार्गानुसारिणाम् ॥

रागानुगाश्रितानां तु प्रायशः केवलो भवेत् ॥ ५ ॥

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया ॥

ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः ॥ ६ ॥

अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाऽभ्युदञ्चति ॥

साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः ॥ ७ ॥

धन्यस्यायं नवः प्रेमा यस्योन्मीलति चेतसि ॥

अन्तर्वाणिभिरप्यस्य मुद्रा मुष्टु सुदुर्गमा ॥ ८ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

अत्र पाञ्चरात्रिकपद्यद्वयं माहात्म्यज्ञानसङ्गावांश एव न तु लणणांशे ।

प्रायश इति । वैध्यंशयुक्तत्वेऽपि न केवलः स्यादित्यर्थः ।

तत्र बहुष्वपि क्रमेषु सत्सु प्रायिकमेकं क्रममाह--आदाविति-
द्वयेन, आदौ प्रथमे साधुसङ्गशास्त्रश्रवणद्वारा श्रद्धा तदर्थं विश्वासः
ततः प्रथमानन्तरं द्वितीयः साधुसङ्गो भजनरीतिशिक्षानिवन्धनः
निष्ठा तत्राविक्षेपेण सातत्यरुविरमिलाषः किं तु बुद्धिपूर्विकेयम् आ-
सक्तिस्तु स्वारसिकी ।

अन्तर्वाणिभिः शास्त्रविद्भिः, मुद्रा परिपाटी ।

अत एव नारदपञ्चरात्रे—

भावोन्मत्तो हरेः किञ्चिन्न वेदं सुखमात्मनः ।

दुःखं चेति महेशानि ! परमानन्दमाप्लुतः ॥

प्रेम्ण एव विलासत्वाद्वैरल्यात्साधकेष्वपि ॥

अत्र स्नेहादयो भेदा विविच्य न हि शंसिताः ॥ ९ ॥

श्रीमत्प्रभुपदाम्भोजैः सर्वा भागवतामृते ॥

व्यक्तकृताऽस्ति गूढाऽपि भक्तिसिद्धान्तमाधुरी ॥ १० ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे प्रेमभक्तिलहरी ॥ ४ ॥

गोपालरूपशोभां दधदपि रघुनाथभावविस्तारी ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

सुदुर्गमत्वमेव दर्शयति—अत एवेति । अयं भावः—शास्त्रविद्भिर्हि सुखप्राप्तिदुःखहानी एव पुरुषार्थत्वेन निर्णीते; ते च तादृशभक्तानां-
बहिरेव तैर्ज्ञायेते नान्तः; तेषामन्तस्तु सुखदुःखे भगवत्प्राप्त्यप्रा-
प्तिकृते एव, यथोक्तं “नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादमि”त्यादि,

कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नस्ता—

च्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेतेत्यादि च ।

इति लहरीचतुष्टयात्मके पूर्वविभागे प्रेमभक्तिलहरी चतुर्थी ।

गोपालेति । श्लिष्टमिदं—तत्र कृष्णपक्षे रघुनाथभावस्य रघुनाथा-
दीनामप्यवतारीत्यर्थः, तत्र तदुपासकानामभीष्टपूरणायेति भावः,
अहो कृपामाहात्म्यमिति विवक्षितं, पक्षे स्ववर्गस्य नामचतुष्टयमु-

तुष्यतु सनातनात्मा प्रथमविभागे रसाम्बुनिधेः ॥ ११ ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ रसोपयोगिस्थायिभावोपपा-
दनो नाम पूर्वो विभागः ॥ १ ॥



दुर्गमसङ्गमनी ।

द्विष्टं, तत्र द्वितीयं श्रीमद्ग्रन्थकृच्चरणानां नाम; प्रथमतृतीये तन्मि-
त्रयोः; चतुर्थं च श्रीमत्तदग्रजचरणानां, भावः=कृष्णप्रेमा ॥ ११ ॥

इति दुर्गमसङ्गमनीनाम्त्यां श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुटीकायां-
पूर्वविभागः समाप्तः ॥ १ ॥



दक्षिणविभागे

विभावलहरी ।

प्रबलमनन्याश्रयिणा निषेवितः सहजरूपेण ॥

अघमथनो मथुरायां सदा सनातनतनुर्जयति ॥ १ ॥

रसामृताब्धेर्भागेऽस्मिन् द्वितीये दक्षिणाभिधे ॥

सामान्यभगङ्गक्तिरसस्तावदुदीर्यते ॥ २ ॥

अस्य पञ्च लहर्यः स्युर्विभावाख्याऽग्रिमा मता ॥

द्वितीया त्वनुभावाख्या तृतीया सात्त्विकाभिधा ॥ ३ ॥

व्यभिचार्याभिधा तुर्या स्थायिसंज्ञा तु पञ्चमी ॥

अथास्याः केशवरतेर्लक्षिताया निगद्यते ॥ ४ ॥

सामग्रीपरिपोषेण परमा रसरूपता ॥

विभावै रनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ॥ ५ ॥

स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः ॥

एषा कृष्णरतिः स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत् ॥ ६ ॥

दुर्गमसङ्गमनो ।

एषा कृष्णरतिरेव स्थायी भावः, सैव च भक्तिरसो भवेत् की-
दृशी सती ? तत्राह-विभावैरिति । श्रवणादिभिः कर्तृभिः वि-
भावादिभिः करणैर्भक्तानां हृदि स्वाद्यत्वमानीता सम्यक् प्रापिता
चमत्कारविशेषेण पुष्टेत्यर्थः ।

रतिश्चात्रोपलक्ष्यमेव तेन महाभावपर्यन्तः सर्वोऽपि भावो ग्राह्यः
तस्या एवोत्कर्षरूपत्वाद् यद्यपि रतेरस्तित्वेनाधुनिकी वासनाऽस्त्येव

प्राक्तन्याधुनिकी चास्ति यस्य सद्भक्तिवासना ।
 एष भक्तिरसास्वादस्तस्यैव हृदि जायते ॥ ७ ॥
 भक्तिनिर्धूतदोषाणां प्रसन्नोज्ज्वलचेतसाम् ॥
 श्रीभागवतरक्तानां रसिकासङ्गरङ्गिणाम् ॥ ८ ॥
 जीवनीभूतगोविन्दपादभक्तिमुखश्रियाम् ॥
 प्रेमान्तरङ्गभूतानि कृत्यान्येवानुतिष्ठताम् ॥ ९ ॥
 भक्तानां हृदि राजन्ती संस्कारयुगलोज्ज्वला ॥
 रतिरानन्दरूपैव नीयमाना तु रस्यताम् ॥ १० ॥
 कृष्णादिभिर्विभावाद्यैर्गतैरनुभवाध्वनि ॥
 प्रौढानन्दचमत्कारकाष्ठापद्यते पराम् ॥ ११ ॥
 किं तु प्रेमा विभावाद्यैः स्वल्पैर्नीतोऽप्यणीयसीम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तथाऽपि रसताऽऽपत्तौ प्राक्तनी चावश्यं मृग्यत इत्याह--प्रा-
 क्तनीति । प्राग्जन्मजाता, आधुनिकी जन्मन्यस्मिन्नुद्भूता चेति, मध्ये
 तिरोधानापेक्षयैव वासनाभेदो विवक्षितः, इदमपि प्रायिकं, तात्पर्य-
 तु रत्यतिशय एव ज्ञेयम् ।

पुनस्तस्यां रसोत्पत्तौ साधनं सहायं प्रकारं चाह-भक्तीतिच-
 तुर्भिः, तत्र साधनमनुतिष्ठतामित्यन्तं सहायं संस्कारयुगलं, प्रका-
 रस्तु रतिरित्यादिको ज्ञेयः, निर्धूतदोषत्वादेव प्रसन्नत्वं शुद्ध-
 सत्त्वविशेषस्याविर्भावयोग्यत्वं ततश्चोज्ज्वलत्वं, तदाविर्भावात् सर्व-
 ज्ञानसम्पन्नत्वम्, अनुभवाध्वनि गतैरिति । न तु लौकिकरसवदत्र स-
 त्कविनिबद्धताऽपेक्षेति भावः,

किं त्विति । प्रेष्णो वैशिष्ट्यं विभावनाद्यवस्थां तत्तदास्वा-
 १६ ह० २०

विभावनाद्यवस्थां तु सद्य आस्वाद्यतां व्रजेत् ॥ १२ ॥

अत्र विभावादिसामान्यलक्षणं—

ये कृष्णभक्तमुरलीनादाद्या हेतवो रतेः ॥

कार्यभूताः स्मिताद्याश्च तथाऽष्टौ स्तब्धताऽऽदयः ॥ १३ ॥

निर्वेदाद्याः सहायाश्च ते ज्ञेया रसभावने ॥

विभावा अनुभावाश्च सात्त्विका व्यभिचारिणः ॥ १४ ॥

तत्र विभावाः—

तत्र ज्ञेया विभावास्तु रत्यास्वादनहेतवः ॥

ते द्विधाऽऽलम्बना एके तथैवोद्दीपनाः परे ॥ १५ ॥

तदुक्तमग्निपुराणे—

विभाव्यते हि रत्नपदिर्यत्र येन विभाव्यते ।

विभावो नाम स द्वेधाऽऽलम्बनोद्दीपनात्मकः ॥

तत्रालम्बनाः—

कृष्णश्च कृष्णभक्ताश्च बुधैरालम्बना मताः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

द्विशेषयोग्यताऽवस्थाम्, एवं प्रणयस्नेहादीनामपि ज्ञेयं, रतेरेवो-
त्कर्षरूपा एत इति तदुग्रहणेनैव विभावैरित्यादिलक्षणे प्रवेश इति
भावः, अणीयसीमपीति योज्यम् ।

तत्र विभावाः, लक्ष्यन्त इति शेषः ।

केन ? तदाह—तत्र ज्ञेया इति । हेतुत्वमत्र विषयाश्रयत्वेनोद्बोधक-
त्वेन च ज्ञेयं, तथैवाह—ते द्विधेति ।

कृष्णश्च कृष्णभक्ताश्चेति । अत्रायं विवेकः—यमुद्दिश्य रतिः प्रवर्तते
स विषयः स च श्रीकृष्ण एवात्र, आधारस्तु रतेराश्रयः स चात्र मूलः
रतेः पात्रं गृह्यते तन्निष्यन्देन ह्याधुनिका अपि भक्ताः स्निग्धा

रत्यादेर्विषयत्वेन तथाऽऽधारतयाऽपि च ॥ १६ ॥

तत्र श्रीकृष्णः—

नायकानां शिरोरत्नं कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ॥

यत्र नित्यतया सर्वे विराजन्ते महागुणाः ॥ १७ ॥

सोऽन्यरूपस्वरूपाभ्यामस्मिन्नालम्बनो मतः ॥

तत्रान्यरूपेण यथा—

हन्त मे कथमुदेति सवत्से वत्सपालपटले रतिरत्र ।

इत्यनिश्चितमतिर्वलदेवो विस्मयस्तिमितमूर्त्तिरिवासीत् ॥

अथ स्वरूपं—

आवृतं प्रकटं चेति स्वरूपं कथितं द्विधा ॥ १८ ॥

तत्रावृतं—

अन्यवेषादिनाऽऽच्छन्नं स्वरूपं प्रोक्तमावृतम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

भवन्ति, स पुनः स्थापयिष्यमाणमहारसमूर्त्तिस्तल्लीलापरिकरगण-
एव, अन्यत्राश्रयता तु स्वस्वमत्यनुसारेण, तदेवं द्विविधालम्बन-
शालिता च तल्लीलापरिकरादन्येषां, तस्मिन् लीलापरिकरगणेऽपि
परममुख्यमुख्यादितरेषां, परममुख्यमुख्यस्य तु केवलश्रीकृष्णाल-
म्बनशालिता ज्ञेयेति,

रत्यादेरिति । आदिशब्दाद् गौणा वक्ष्यमाणा हासादयो गृहीताः,
रतिश्चात्र सजातीयैव ज्ञेया न तु विजातीया, अनुभवितुस्तत्सं-
स्काराभावाद् विजातीया त्वविरोधिनी चेदुद्दीपन एव तदाधारो भ-
वति न त्वालम्बनः; कुतस्तरां विरोधी रत्याश्रय इत्यग्रिमग्रन्थानुसा-
रेण ज्ञेयम् ।

हन्तेति । अत्र श्रीकृष्णे या रतिः सा कथं वत्सपालपटलउदेती-
त्यर्थः, स्तिमितत्वं स्तब्धत्वम्, इवेत्यत्र वाक्यालङ्कारे ।

तेन यथा—

मां स्नेहयति किमुच्चैर्महिलेयं द्वारकाऽवरोधेऽत्र ।

आं विदितं कृतकार्यं वनितावेपो हरिश्चरति ॥

प्रकटस्वरूपेण यथा—

अयं कम्बुग्रीवः कमलकमनीयाक्षिपटिमा

तमालश्यामाङ्गद्युतिरतितरां छत्रितशिराः ॥

दरश्रीवत्साङ्गः स्फुरदरिदराद्यङ्कितकरः

करोत्युच्चैर्मोदं मम मधुरमूर्त्तिर्मधुरिषुः ॥

अथ तद्गुणाः—

अयं नेता सुरम्याङ्गः सर्वसल्लक्षणान्वितः ॥ १९ ॥

रुचिरैस्तेजसा युक्तो वलीयान् वयसाऽन्वितः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

मामिति । श्रीमदुद्धववाक्यम्, उच्चैरिति । सर्वतः परमं श्रीहरि-
योग्यं यथा स्यात्तथेत्यर्थः, अत्र प्रमाणं योगमायावैभवदर्शने यथा—

अव्यक्तलिङ्गं प्रकृतिष्वन्तःपुरगृहादिषु ।

क चिच्चरन्तं योगेशं तत्तद्भावबुभुत्सया ॥ इति,

अयमित्यपि तद्वाक्यं, कमलैरपि कमनीयोऽक्षिपटिमा नेत्रयोः सौ-
न्दर्यातिशयो यस्य सः, तमालवत् श्यामा श्यामलतया विरा-
जन्ती अङ्गस्य द्युतिर्यस्य सः, पाठान्तरं त्यक्तं, दर ईषद् यज्ञादेव
निरीक्ष्यः श्रीवत्सरूपोऽङ्गो लक्षणं यत्र, अरि चक्रं दरः शङ्खः तावेतौ
करस्थाङ्गत्वेन ज्ञेयौ. अतितरामिति सर्वत्रान्वितम् ।

अथ तद्गुणा इति । तत्र गुणा द्विधा निरूप्यन्ते—प्राधान्येनोपसर्ज-
नत्वेन च, क चित्सुरम्याङ्गत्वमित्यादिना तथा क चित्सुरम्याङ्गमि-
त्यादिना चेति, यत्र प्रथमेन निरूप्यन्ते तत्र तेषामुद्दीपनत्वं, यत्र
द्वितीयेन तत्रालम्बनत्वं तदेवमत्रालम्बनप्रकरणे द्वितीयेनैवाह—अयं-

विविधाद्भुतभाषावित्तुं सत्यवाक्यः प्रियंवदः ॥ २० ॥
 वावदूकः सुपाण्डित्यो बुद्धिमान् प्रतिभाऽन्वितः ॥
 विदर्भश्चतुरो दक्षः कृतज्ञः सुदृढव्रतः ॥ २१ ॥
 देशकालसुपात्रज्ञः शास्त्रचक्षुः शुचिर्वशी ॥
 स्थिरो दान्तः क्षमाशीलो गभीरो धृतिमान् सर्मः ॥ २२ ॥
 वदान्यो धार्मिकः शूरः करुणो मान्यमानकृत् ॥
 दक्षिणो विनयी द्विमान् शरणागतपालकः ॥ २३ ॥
 सुखो भक्तसुहृत् प्रेमवश्यः सर्वशुभङ्करः ॥
 प्रतापी कीर्तिमान् रक्तलोकः साधुसमाश्रयः ॥ २४ ॥
 नारीगणमनोहारी सर्वारध्यः समृद्धिमान् ॥
 वरीयानीश्वरश्चेति गुणास्तस्यानुकीर्त्तिताः ॥ २५ ॥
 समुद्रा इव पञ्चाशद् दुर्विगाहा हरेरमी ॥
 जीवेष्वेते वसन्तोऽपि बिन्दुबिन्दुतया क्व चित् ॥ २६ ॥
 परिपूर्णतया भान्ति तत्रैव पुरुषोत्तमे ॥
 तथा हि पाद्मे पार्वत्यै शितिकण्ठेन तद्गुणाः ॥ २७ ॥
 कन्दर्पकोटिलावण्या इत्याद्याः परिकीर्त्तिताः ॥
 एत एव गुणाः प्रायो धर्माय वनमालिनः ॥ २८ ॥
 पृथिव्या प्रथमस्कन्धे प्रथयाञ्चक्रिरे स्फुटम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

नेतेति । अयं श्रीकृष्णाख्यो नेता नायकः ।

क्व चिदिति । भगवदनुगृहीतेष्वित्येव मुख्यतयाऽङ्गीकृतम्, अत-
 एव बिन्दुत्वमपि, अन्येषु तु तदाभासत्वमेव ज्ञेयम् ।

यथा—

सत्यं शौवं दया क्षान्तिः त्यागः सन्तोष आर्जवम् ।

शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम् ॥

ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः ।

स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च ॥

प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं मह ओजो बलं भगः ।

गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्त्तिर्मानोऽनहंकृतिः ॥

इमे चान्ये च भगवन् ! नित्या यत्र महागुणाः ।

प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न विन्यन्ति स्म कर्हि चिद् ॥ इति,

अथ पञ्च गुणा ये स्फुरंशेन गिरिशादिषु ॥ २९ ॥

सदास्वरूपसम्प्राप्तिः^{५३} सर्वज्ञो^{५२} नित्यनूतनः^{५३} ॥

सच्चिदानन्दसान्द्राङ्गः^{५४} सर्वसिद्धिनिषेवितः^{५४} ॥ ३० ॥

अथोच्यन्ते गुणाः पञ्च ये लक्ष्मीशादिवर्त्तिनः ॥

अविचिन्त्यमहाशक्तिः^{५६} कोटिब्रह्माण्डविग्रहः^{५६} ॥ ३१ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

धर्माय धर्मरूपं देवं बोधयितुमित्यर्थः, “क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिन” इति स्मरणाच्चतुर्थी ।

अंशेन यथासम्भवं स्वांशेन गिरिशादिषु श्रीशिवादिषु, आदिग्रहणात् क चिद् द्विपरार्द्धादौ साक्षाद्भगवदवतारा ब्रह्मादयो-
गृह्यन्ते ।

सच्चिदानन्देति । श्रीभगवत्पक्षे सच्चिदानन्दरूपं च तत् सान्द्रं वस्त्वन्तराप्रवेश्यं चाङ्गं यस्य स इति विग्रहः, शिवपक्षे सच्चि-
दानन्देन भगवता सान्द्रं तादात्म्यं प्राप्तमङ्गं यस्य सः ।

अथोच्यन्त इति युगलं, लक्ष्मीशोऽत्र परव्योमाधिनाथः श्रीनारा-
यणः, आदिशब्दान्महापुरुषादयोऽपि गृह्यन्ते, तत्राविचिन्त्यमहाश-

अवतारावलीबीजं^{५८} हतारिगतिदायकः^{५९} ॥

आत्मारामगणाकर्षित्यमीं^{६०} कृष्णे किलाद्भुताः ॥ ३२ ॥

सर्व्वाद्भुतचमत्कारलीलाकल्लोलवारिधिः^{६१} ॥

अतुल्यमधुरप्रेममण्डितप्रियमण्डलैः^{६३} ॥ ३३ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

कित्त्वं लक्ष्मीशे ज्ञेयं, महापुरुषाद्यवतारकर्तृत्वात् कोटिब्रह्माण्डव्यापी
विग्रहो यस्येति मध्यमपदलोपी समासः, तन्मात्रव्यापिविग्रहत्वं म-
हापुरुषे मायाद्रष्टुस्तस्यैव तदुपाधित्वाद्,

यथा ब्रह्मसंहितायां—

यस्यैकनिश्चसितकालमथावलम्ब्य;

जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः ।

विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो-

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥ इति,

अवतारावलीबीजत्वं पूर्वयोर्द्वयोर्थथासम्भवमन्यत्र च, गतिः स्व-
र्गादिरूपोऽर्थः, स तु भगवद्द्वेषिणामन्येन केनापि कर्मणा न सम्भवति,

यथोक्तं गीतासु—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।

मामप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

आत्मारामगणाकर्षित्वं श्रीमद्विकुण्ठासुतादावपि तृतीयस्कन्धा-
दिषु प्रसिद्धं, कृष्णे किलाद्भुता इति । नरलीलामयत्वेनैव तत्तदावि-
र्भावनात्, किं चाविचिन्त्येति; अवतारेति स्वयं भगवत्त्वात्, स्वयं-
भगवत्त्वेऽपि जिज्ञासा चेत् कृष्णसंदर्भो दृश्यः, कोटीति । तानि

त्रिजगन्मानसाकर्षी मुरलीकलकूजितैः ॥

असमानोर्ध्वरूपश्रीर्विस्मापितचराचरैः ॥ ३४ ॥

लीलाप्रेम्णा प्रियाधिक्यं माधुर्यं वेणुरूपयोः ॥

इत्यसाधारणं प्रोक्तं गोविन्दस्य चतुष्टयम् ॥ ३५ ॥

एवंगुणाश्चतुर्भेदाश्चतुःषष्टिरुदाहृताः ॥

सोदाहरणमेतेषां लक्षणं क्रियते क्रमात् ॥ ३६ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

व्याप्यापि वैकुण्ठादिव्यापित्वात्, हतेति । मोक्षभक्तिपर्यन्तगति-
दातृत्वादद्भुतत्वं ज्ञेयं, तत्रैव परमव्योमनाथादीनतिक्रम्य श्रीकृष्ण-
स्यैव विस्मयकारित्वे स्थिते भवतु नाम गिरिशादिष्वंशेन तत्तद्गु-
णत्वं किं तु सुतरामेव श्रीकृष्णानुभवविषु न तेषां विस्मयकारित्व-
मिति व्याजितं, यथोक्तं यन्मर्त्यलीलौपयिकमिति, गोप्यस्तपः किमचर-
न् यदमुष्य रूपमिति च, सर्वादद्भुतेत्यादिकं तूदाहरणेषु विवेचनीयम्,
अतुल्येत्यादिपदद्वये षष्ठ्यर्थान्यपदार्थो बहुव्रीहिः ।

तानेव चतुरो गुणान् संक्षिप्य दर्शयति—लीलेति । तत्र लीलेति
प्रथमः, प्रेम्णा प्रियाणामाधिक्यमिति तादृशप्रियजनविराजमानत्व-
मित्यर्थः तच्च द्वितीयः, वेणुमाधुर्यमिति तृतीयः, रूपमाधुर्यमिति
चतुर्थः, तदेवं निरूप्यानुभवविशेषात् प्रौढिवादेनाह—इत्यसाधारणमि-
ति । तदेवमपि सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपीत्यादौ रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूप-
मिति यदुक्तं तत्तूपलक्षणमेव ज्ञेयम् ।

चतुर्भेदा इति । तत्र पञ्चाशत्तमपर्यन्तः प्रथमः, पञ्चपञ्चाशत्तमपर्य-
न्तो द्वितीयः, षष्टितमपर्यन्तस्तृतीयः, चतुषष्टितमपर्यन्तश्चतुर्थः, इति
भेदो वर्गः, सोदाहरणमिति । अत्रोदाहरणानि चतुर्भिः प्रमाणैर्लब्धानि-
शास्त्रेण तत्तात्पर्येण तदनुसारिमहाजनप्रसिद्धा तदनुसारिसम्भ-

तत्र सुरम्याङ्गः१—

इलाध्याङ्गसंनिवेशो यः सुरम्याङ्गः स कथ्यते ॥

यथा—

मुखं चन्द्राकारं करभनिभमुखद्वयमिदं-

भुजौ स्तम्भारम्भौ सरसिजवरेण्यं करयुगम् ॥

कपाटार्धं वक्षःस्थलमविरलं श्रोणिफलकं-

परिक्षामो मध्यः स्फुरति मुरहन्तुर्मधुरिमा ॥

सर्वसल्लक्षणान्वितः२—

तनौ गुणोत्थमङ्कोत्थमिति सल्लक्षणं द्विधा ॥ ३७ ॥

तत्र गुणोत्थम्—

गुणोत्थं स्याद् गुणैर्योगो रक्ततातुङ्गताऽऽदिभिः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

वेन च, पुनर्द्विविधानि भगवत्तया चमत्कारकराणि मनुष्यलीलया चेति, तत्र भगवत्स्वेऽपि मनुष्यलीलया चमत्कारकरत्वं; तथाऽपि मर्त्या-
नुविधस्य वर्ण्यत इति, प्रपञ्चे निष्प्रपञ्चोऽपीत्यादिन्यायेन च, तथैव
वर्णितं श्रीपृथिव्या सत्यं शौचमित्यादिना; यथा चात्रैव दर्शयिष्यते
“पश्य विन्ध्यगिरितोऽपि गरिष्ठमि”त्यादिभिः ।

मुखमिति । यद्यपि पूर्वानुसारेण चन्द्रादयस्तस्य दृष्टान्तताल-
शमपि नार्हन्ति; तथाऽपि साधारणलोकानां तद्द्वारा तन्महिमप्रवेशार्थ-
मेव दृष्टान्तिताः, यत्र तु तदन्तरङ्गपरिकरैरपि तादृशं वर्ण्यते तत्र
साक्षाद्भगवद्विभूतिरूपतल्लीलापरिकरा एव चन्द्रादयो दृष्टान्त्यत इति
ज्ञेयं, तदेतदभिप्रेत्यैव तदप्यनादृत्य केवलानुवादेनैवाह-अविरलमि-
त्यादि, अविरतमिति । अतिस्थूलत्वाद्विभक्तावयवत्वेन विवेक्तुमश-
क्यमित्यर्थः ।

यथा—

रागः सप्तसु हन्त पदस्वपि शिशोरङ्गेष्वलन्तुङ्गता
विस्तारस्त्रिषु खर्वता त्रिषु तथा गम्भीरता च त्रिषु ।
दैर्घ्यं पञ्चसु किञ्च पञ्चसु सखे ! सम्प्रेक्ष्यते सूक्ष्मता
द्वात्रिंशद्वरलक्षणः कथमसौ गोपेषु सम्भाव्यते ॥

अङ्कोत्थम्—

रेखामयं रथाङ्गादि स्यादङ्कोत्थं करादिषु ॥ ३८ ॥

यथा—

करयोः कमलं तथा रथाङ्गं स्फुटरेखामयमात्मजस्य पश्य ।
पदपल्लवयोश्च बल्लवेन्द्र ! ध्वजवज्राङ्कुशमीनपङ्कजानि ॥

दुर्गमसङ्गमनो ।

राग इति । श्रीमद्व्रजेश्वरं प्रति कस्य चित् सवयसो गोपस्य वाक्य-
मिदं, सप्तसु=नेत्रान्तपादकरतलतालवधरोष्ठजिह्वानखे, षट्सु=वक्षः-
स्कन्धनखनासिकाकटिमुखे, त्रिषु=कटिललाटवक्षसि, के चित्कटि-
स्थाने शिरः पठन्ति, पुनस्त्रिषु=ग्रीवाजङ्घामेहने, पुनश्च त्रिषु=नाभि-
स्वरसखे, पञ्चसु=नासाभुजनेत्रहनुजानुनि, पुनः पञ्चसु=त्वक्केशा-
ङ्गुलिदन्ताङ्गुलिपर्वणि, तथैव महापुरुषलक्षणं सामुद्रकप्रसिद्धेः, द्वात्रिं-
शद्वराणि तत्तल्लक्षणेभ्यो गोपेभ्योऽपि श्रेष्ठानि लक्षणानि यस्य सः,
गोपेषु कथमिति भगवदवतारादिष्वप्येतादृशत्वाश्रवणादिति ।

करयोरिति । कस्याश्चिद् बुद्धगोप्या वचनम्, उपलक्षणान्येवैतानि
चिन्हानि, पद्मपुराणादिदृष्ट्याऽन्यान्यप्यसाधारणानि ज्ञेयानि ।

तानि यथा पद्मपुराणे—

ब्रह्मोवाच—

शृणु नारद ! वक्ष्यामि पदयोश्चिन्हलक्षणम् ।

भगवत्कृष्णरूपस्य ह्यानन्दैकघनस्य च ॥

रुचिरः३—

सौन्दर्येण दृगानन्दकारी रुचिर उच्यते ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

अवतारा ह्यसङ्ख्याताः कथिता मे तवाग्रतः ।
 परं सम्यक् प्रवक्ष्यामि कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ॥
 देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमृषीणां च तथैव च ।
 आविर्भूतस्तु भगवान् स्वानां प्रियचिकीर्षया ॥
 यैरेव ज्ञायते देवो भगवान्भक्तवत्सलः ।
 तान्यहं वेद नान्योऽस्ति सत्यमेतन्मयोदितम् ॥
 षोडशैव तु चिन्हानि मया दृष्टानि तत्पदे ।
 दक्षिणे चाष्ट चिन्हानि इतरे सप्त एव च ॥
 ध्वजः पद्मं तथा वज्रमङ्कुशो यव एव च ।
 स्वस्तिकं चोर्ध्वरेखा च अष्टकोणं तथैव च ॥
 सप्तान्यानि प्रवक्ष्यामि साम्प्रतं वैष्णवोत्तम ! ।
 इन्द्रचापं त्रिकोणं च कलसं चार्द्धचन्द्रकम् ॥
 अम्बरं मत्स्यचिह्नं च गोष्पदं सप्तमं स्मृतम् ।
 अङ्गान्येतानि भो वत्स ! दृश्यन्ते तु यदा कदा ॥
 कृष्णाख्यं तु परं ब्रह्म भुवि ज्ञातं न संशयः ।
 द्वयं वाऽथ त्रयं वाऽथ चत्वारः पञ्च चैव च ॥
 दृश्यन्ते वैष्णवश्रेष्ठ ! अवतारे कथञ्चन । इत्यादि
 षोडशं तु तथा चिह्नं शृणु देवर्षिसत्तम ! ॥
 जम्बूफलसमाकारं दृश्यते यत्र कुत्र चिद् ।

इत्यन्तं; शास्त्रान्तरेभ्यः, तापन्यागमवाराहादिभ्यस्तु शङ्खचक्र-
 च्छत्राणि च ज्ञेयानि ।

सौन्दर्येण=कान्त्या ।

यथा तृतीये—

यद्धर्मसूनोर्बत राजसूये निरीक्ष्य दृक्स्वस्त्ययनं त्रिलोकः ।

कात्स्न्येन चाद्येह गतं विधातुर्वाक्सुतौ कौशलमित्यमन्यत ॥

यथा वा—

अष्टानां दनुजभिदङ्गपङ्कजाना—

मेकस्मिन्कथमपि यत्र बल्वीनाम् ।

लोलाक्षिभ्रमरततिः पपात तस्माद्

नोत्थातुं द्युतिमधुपङ्क्तिलाक्षमाऽऽसीत् ॥

तेजसा युक्तः४—

तेजो धाम प्रभावश्चेत्युच्यते द्विविधं बुधैः ॥ ३९ ॥

तत्र धाम—

दीप्तिराशिर्भवेद्धाम

यथा—

अम्बरमणिनिकुरम्बं विडम्बयन्नपि मरीचिकुलैः ।

हरिवक्षसि रुचिनिविडं कौस्तुभमणिरुडुरिव स्फुरति ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

विधातुर्वाक्सुतौ यत्कौशलं तदिह श्रीकृष्णसौन्दर्ये कात्स्न्येन गतं प्रविष्टमित्यमन्यत=अन्वभूत्, तदेकदेशान्तर्भूतमेव तत्सर्वमित्यर्थः, अमंस्तेति पाठस्तु लिखनभ्रमादेव ।

पूर्वत्र सुरम्याङ्गत्वमिश्रं रुचिरत्वं वर्णितमित्यपरितोषाच्छुद्धो-
दाहरणं पुनराह—

यथा वेति । अष्टानां मुखनेत्रयुगकरयुगनाभिचरणयुगरूपाणाम्,
उपलक्षणानि चैतान्यन्येषामङ्गानाम् ।

अम्बरेति । यद्यप्येतदेव तत्त्वं तथाऽपि लौकिकलीलारक्षणार्थं स्वस्य
तस्य च तेजोगोपनमपि करोति श्रीभगवानिति सूर्यादितेजसामपि

प्रभावः—

प्रभावः सर्वजित् स्थितिः ॥

यथा—

दूरतस्तमवलोक्य माधवं कोमलाङ्गमपि रङ्गमण्डले ।

पर्वतोद्भटभुजान्तरोऽप्यसौ वंसमल्लनिवहः स विव्यथे ॥

बलीयान् ५—

प्राणेन महता पूर्णो बलीयानिति कथ्यते ॥ ४० ॥

यथा—

पद्मं विन्ध्यगिरितोऽपि गरिष्ठं दैत्यपुङ्गवमुदग्रमरिष्टम् ।

तूलखण्डमिव पिण्डितमारात् पुण्डरीकनयनो विजुनोद ॥

यथा वा—

वामस्तामरसाक्षस्य भुजदण्डः स पातु वः ।

क्रीडाकन्दुकतां येन नीतो गोवर्द्धनो गिरिः ॥

वयसाऽन्वितः ६—

वयसो विविधत्वेऽपि सर्वभक्तिरसाश्रयः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तत्र भानं ज्ञेयम् ,

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः—

इति श्रीगीतोक्तेः, एवमन्यत्रापीति ज्ञेयम्, मणिराडयमुडुरिवेत्यत्र
कौस्तुभमणिरुडुरिवेति वा पाठः ।

वयोऽत्र कौमारपौगण्डकैशोराख्यत्रयात्मकं क्रमप्राप्तं ज्ञेयम्, तेना-
न्वितः=सदृशतया लब्ध इति वयस्तद्वतोर्द्वयोरपि प्राशस्त्यमुक्तं,
“पश्चात्सादृश्ययोरनुति”त्यमरः, धर्म्माः सर्वे गुणाः सन्त्यस्मिन्निति

१ प्रभावो दुष्प्रधर्षता पाठान्तरमप्येतद् ।

धर्म्मी किशोर एवात्र नित्यनानाविलासवान् ॥ ४१ ॥

यथा—

तदात्वाभिव्यक्तीकृततरुणिमारम्भरभसं-
स्मितश्रीनिर्घृतस्फुरदमलराकापतिमदम् ।
दरोदञ्चत्पञ्चाशुगनवकलामेदुरमिदं-
मुरारेमाधुर्यं मनसि मदिराक्षीर्मदयति ॥

विविधाद्भुतभाषाविद्—

विविधाद्भुतभाषावित् स प्रोक्तो यस्तु कोविदः ॥

नानादेश्यासु भाषासु संस्कृते प्राकृतेषु च ॥ ४२ ॥

यथा—

व्रजयुवतिषु शौरिः शौरिसेनीं सुरेन्द्रे
प्रणतशिरसि सौरीं भारतीभातनोति ॥
अहह पशुषु कीरेष्वप्यपञ्चशरूपां-
कथमजनि विदग्धः सर्वभाषाज्वलीषु ॥

सत्यवाक्यः ८—

स्यान्नानृतं वचो यस्य सत्यवाक्यः स भण्यते ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

धर्म्मी पूर्णाविर्भाव इत्यर्थः, यतः सर्वभक्तिरसाश्रयः; अत एव भक्ति-
सामान्यरसे वर्ण्यत इति शेषः ।

तथाऽपि शृङ्गाराख्यस्य महारसस्य तु परमोद्बोधकं तदित्याशये-
नाह—तदात्वेति । “तत्कालं तु तदात्वं स्यादि”त्यमरः, “ईषदर्थे
दराव्ययमि”ति च ।

चकारः पश्वादिभाषामपि गृह्णाति ।

व्रजयुवतिष्विति । व्रजस्थविदग्धबुद्धावचनम्, अत्र शौरिरिति
“प्रागयं वसुदेवस्ये”ति गर्गवाक्यानुसारेण, तत्र च व्रजयुवतयो मुख्य-

यथा—

पृथे ! तनयपञ्चकं प्रकटमर्पयिष्याति ते
रणोर्वरितमित्यभूत्तव यथाऽर्थमेवेदितम् ।
रविर्भवति शीतलः कुमुदबन्धुरप्युष्णल-
स्तथाऽपि न मुरान्तक ! व्यभि चरिष्णुरुक्तिस्तव ॥

यथा वा—

गूढोऽपि वेपेण महीसुरस्य हरियथाऽर्थं मगधेन्द्रमुचे ।
संस्पृष्टमाभ्यां सह पाण्डवाभ्यां मां विद्धि कृष्णं भवतः सपत्नम् ॥

प्रियंवदः ९—

यथा—

जने कृतापराधेऽपि सान्त्ववादी प्रियंवदः ॥ ४३ ॥

कृतव्यलीकेऽपि न कुण्डलीन्द्र ! त्वया विधेया मयि दोषदृष्टिः ।
प्रवास्यमानोऽसि सूरार्चितानां परं हितायाद्य गवां कुलस्य ॥

वावदूकः १०—

श्रुतिप्रेष्टोक्तिरखिलवाग्गुणान्वितवागपि ॥

इति द्विधा निगदितो वावदूको मनीषिभिः ॥ ४४ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

त्वेनोपलक्षणान्येव व्रजवासिष्विति तु ज्ञेयं, शैरसेनीं तद्देश्यां प्राकृत-
विशेषं च, प्रायस्तयोरैक्यात्, सौरीं दैवीं संस्कृतरूपां, पशुषु
गोमहिष्यादिषु, कीरेषु कश्मीरदेशीयमनुष्येषु शुकेषु च, अपभ्रंश-
रूपां पैशाचिकाख्यप्राकृतविशेषं तद्भाषां च यथासम्भवम् ।

वक्ष्यमाणसत्यप्रतिज्ञत्वेन पौनरुक्त्यमाशङ्क्याह-यथा वेति । संस्-
ष्टं=मिलितम् । “पीडाऽर्थेऽपि व्यलीकं स्यादि”त्यमरः ।

श्रुतीति । शब्दमाधुरी दर्शिता, अखिलेत्यर्थपरिपाटी ।

अद्विलेष्ट्यादिकं व्रजेन्द्रगोष्ठीषु महेन्द्रमखमङ्गार्थं श्रीहरिवचनह-

तत्राद्यो यथा—

अश्लिष्टकोमलपदावलिमञ्जुलेन

प्रत्यक्षरक्षरदमन्दसुधारसेन ।

सख्यः ! समस्तजनकर्णरसायनेन

नाहारि कस्य हृदयं हरिभाषितेन ॥

द्वितीयो यथा—

प्रतिवादिचित्तपरिवृत्तिपटुर्जगदेकसंशयविमर्दकरी ।

प्रमिताक्षराञ्च विविधार्थमयी हरिवागियं मम धिनोति धियः ॥

सुपाण्डित्यः ११—

विद्वान् नीतिज्ञ इत्येष सुपाण्डित्यो द्विधा मतः ॥

विद्वानखिलविद्याविनीतिज्ञस्तु यथाऽहंकृत् ॥ ४५ ॥

तत्राद्यो यथा—

यं सुष्ठु पूर्वं परिचर्य गौरवात्

पितामहाद्यम्बुधरैः प्रवर्तिताः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

तमनस्कायाः कस्याश्चिद्वन्दिजनाङ्गनायाः स्वसखीः प्रति वचनम्,

अत्रादिलष्टेत्युच्चारणमाधुरी, प्रत्यक्षरेति वर्णविशेषविन्यासमाधुरी, समस्तेति स्वरमाधुरी ।

प्रतिवादीत्यादिक्रं श्रीमदुद्धववाक्यम्,

तत्र प्रतिवादीत्युपन्यासपरिपाटी, जगदिति युक्तिपरिपाटी, प्रकर्षेण मितानि=अवयवार्थानि सप्रमाणाति वाऽक्षराणि यस्यामिति याथाश्रयपरिपाटी, विविधनानोहापोहसमाधानविचित्रोऽर्थो यस्यां सेति प्रतिभापरिपाटी च दर्शिता, अखिलविद्याविदिति शास्त्रीयज्ञानमात्रमुक्तं, यथाऽहंकृदिति, तत्रापि कर्त्तव्येषु निश्चयज्ञानं दर्शितम् ।

यं सुष्ठुविति । श्रीनारदवाक्यं, काश्यः माथुरवंशवत् काशीदे-

कृष्णार्णवं काश्यपगुरुक्षमाभृत-

स्तमेव विद्यासरितः प्रपेदिरे ॥

यथा वा—

आम्नायप्रथितान्वया स्मृतिमती बाढं षडङ्गोज्ज्वला

न्यायेनानुगता पुराणसुहृदा मीमांसया मण्डिता ।

त्वां लब्ध्वावसरा चिराद् गुरुकुले प्रेक्ष्य स्वसङ्गार्थिनं-

विद्या नाम वधूश्चतुर्दशगुणा गोविन्द ! शृश्रूपते ॥

द्वितीयो यथा—

मृत्युस्तस्करमण्डले स्रक्तिनां वृन्दे वसन्तानिलः

कन्दर्पो रमणीषु दुर्गतकुले कल्याणकल्पद्रुमः ।

इन्दुर्वन्धुगणे विपक्षपटले कालाग्निरुद्राकृतिः

दुर्गमसङ्गमनी ।

शीयोद्भवः सान्दीपनिः ।

आम्नायेति । सिद्धचारणानां स्तुतिः, विद्यापक्ष आम्नायेन वेदेन प्रथितो विस्तारितोऽन्वयो व्युत्पत्तिर्यस्याः, स्मृतिर्मन्वादिः,

शिक्षा कल्पो व्याकरणं ज्यौतिषं छन्द एव च ।

निरुक्तं च निरुक्तानि षडङ्गानि मनीषिभिः ॥

न्यायस्तर्कशास्त्रं, पुराणं भागवतादि, मीमांसा पूर्वोत्तररूपा, तदेतदनुसारेण चतुर्दशगुणाः—

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।

धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या हेताश्चतुर्दशेति—

प्रमाणप्राप्ताः, वधूपक्ष आम्नायः सत्कुलता, अन्वयो वंशः, स्मृति-
मैत्र्या, षडङ्गानि शिरोमध्यभागौ हस्तौ पादौ चेति, न्यायो नीतिः,
पुराणा वृद्धाः, सुहृदः सहाया यस्यां तथा मीमांसया विचारेण म-
ण्डिताः, गुरुरत्र पित्रादिः, तत्कुले वर्त्तमानमित्यर्थः, चतुर्दश तावद्वि-
द्याऽऽत्मका गुणा यस्याः ।

शास्ति स्वस्तिधुग्न्धरो मधुपुरी नीत्या वृजेन्द्रात्मजः ॥

बुद्धिमान् १२—

मेधावी सूक्ष्मधीश्चेति प्रोच्यते बुद्धिमान् द्विधा ॥

तत्र मेधावी यथा—

अवन्तिपुरवासिनः सदनमेत्य सान्दीपने-

गुरोर्जगति दर्शयन् समयमत्र विद्यार्थिनाम् ।

सकृन्निगदमात्रतः सकलमेव विद्याकुलं-

दधौ हृदयमन्दिरे किमपि चित्रवद् माधवः ॥

सूक्ष्मधीर्यथा—

यदुभिरयमवध्यो म्लेच्छराजस्तदेनं-

तरलतमसि तस्मिन्विद्रवन्नेव नेष्ये ।

सुखमयनिजनिद्राभञ्जनध्वंसिदृष्टि-

र्झसुचि मुचुकुन्दः कन्दरे यत्र शेते ॥

प्रतिभाऽन्वितः १३—

सद्यो नवनवोल्लेखिज्ञानः स्यात्प्रतिभाऽन्वितः ॥ ४६ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

“मधुपुरी नीत्या मधूनां पतिरि”ति पाठ एवात्र योग्यः, महाराजौ-
चित्यवर्णनात्, तत्र मधुपुरीमिति पुरद्वयस्योपलक्षणत्वेन द्वारकाऽपि
मधूनां पुरी भवतीति योगवृत्त्या वा द्वारकाऽपि ज्ञेया ।

समयमाचारं दर्शयन् शिक्षयन् ।

“समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविद” इत्यमरः,

कथंभूते कन्दरे तरलं भासुरं वस्त्वन्तराच्छादकप्रकाशं तमो यत्र
तादृशे; मत्प्रवेशमात्रेण चञ्चलीभूततमसीति वाऽर्थः,

तरलश्चञ्चलं खड्गे हारमध्यमणावपि

भासुरे चेति विश्वः, झरमुचीति निद्रासौख्यसामग्रीणामुपल-

यथा पद्यावल्यां—

वासः संप्रति केशव ! क भवतो मुग्धेक्षणे ! नन्विदं-
वासं ब्रूहि शठ ! प्रकामछभगे ! त्वद्वात्रसंसर्गतः ॥
यामिन्यामुपितः क भूत ! वितनुमुष्णाति किं यामिनी-
त्येवं गोपवधूँ छलैः परिहसन् कृष्णश्चिरं पातु वः ॥

विदग्धः १४—

कलाविलासदिग्धात्मा विदग्ध इति कीर्त्यते ॥

यथा—

गीतं गुम्फति ताण्डवं घटयति ब्रूते प्रहेलाक्रमं-
वेणुं वादयते खजं विरचयत्यालेख्यमभ्यस्यति ।
निर्म्माति स्वयमिन्द्रजालपटलीं द्यूते जयत्युन्मदान्
पश्योद्दामकलाविलासवसतिश्चित्रं हरिः क्रीडति ॥

चतुरः १५—

चतुरो युगपद् भूरिसमाधानकृदुच्यते ॥ ४७ ॥

यथा—

पारावतीविरचनेन गवां कलाप्रं-
गोपाङ्गनागणमपाङ्गतरङ्गितेन ।
मित्राणि चित्रतरसंगरविक्रमेण
धिन्वन्नरिष्टभयदेन हरिर्विरजे ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

क्षणम्, ताश्च तदीययोगप्रभावाद्यथाऽवसरमेव जायन्त इति ज्ञेयम्,
किन्त्वत्र नेत्रस्य सूक्ष्मदर्शित्ववद् बुद्धेरपि सूक्ष्मविचारित्वं ज्ञापितं;
तेन च सहसा न्यायपरामृश्ये वस्तुनि प्रवेशिबुद्धित्वं सूक्ष्मधीत्व-
मुदाहृतम् ।

पारावती=गोपगीतिः, अरिष्टभयदेनेति सर्वत्र योज्यम् ।

दक्षः १६—

दुष्करे क्षिप्रकारी यस्तं दक्षं परिचक्षते ॥

यथा श्रीदशमे—

यानि योधैः प्रयुक्तानि शस्त्रास्त्राणि कुरुद्वह ! ।

हरिस्तान्यच्छिनत्तीक्ष्णैः शरैरैकैकशस्त्रिभिः ॥

यथा वा—

अवहर ! कुरु युग्मीभूय नृत्यं मयैव

त्वमिति निखिलगोपीप्रार्थनापूर्त्तिकामः ।

अतनुत गतिलीलालाघवोर्मिं तथाऽसौ

ददृशुरधिकमेतास्तं यथा स्वस्वपाश्वे ॥

कृतज्ञः १७—

कृतज्ञः स्यादभिज्ञो यः कृतसेवाऽऽदिकर्मणाम् ॥ ४८ ॥

यथा महाभारते—

ऋणमेतत्प्रवृद्धं मे हृदयात्रापसर्पति ।

यद् गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम् ॥

यथा वा—

अनुगतिमतिपूर्वां चिन्तयन्नृक्षमौले-

रकुस्त बहुमानं शौरिरादाय कन्याम् ।

कथमपि कृतमल्पं विस्मरेन्नैव साधुः

किमुत स खलु साधुश्रेणिचूडाग्रतन्म ॥

सुहृदव्रतः १८—

प्रतिज्ञानियमौ यस्य सत्यौ स सुहृदव्रतः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

अधिकमत्यर्थं निःसंशयं यथा स्यात्तथा ददृशुः ।

अनुगतिमित्यत्रातिपूर्वमिति साम्प्रतं महापराधमप्यचिन्तयन्निति

तत्र सत्यप्रतिज्ञो यथा हरिवंशे—

तदेव गन्धर्गणा न राक्षसा न चासुरा नैव च यक्षपन्नगाः ।

मम प्रतिज्ञामपहन्तुमुद्यता मुने ! समर्थाः खलु सत्यमस्तु ते ॥

यथा वा—

सखेलमाखण्डलपाण्डुपुत्रौ विधाय कंसारिरपारिजातौ ।

निजप्रतिज्ञां सफलां दधानः सत्यां च कृष्णां च सुखामकार्षीत् ॥

सत्यनियमो यथा—

गिरेरुद्धरणं कृष्ण ! दुष्करं कर्म कुर्वता ।

मद्भक्तः स्यान्न दुःखीति स्वव्रतं विवृतं त्वया ॥

देशकालसुपात्रज्ञः १९—

देशकालसुपात्रज्ञस्तत्तद्योग्यक्रियाकृती ॥ ४९ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

ध्वन्यर्थः ।

मुने ! हे नारद !, सत्यं शपथतथ्ययोरित्यमरः,

इन्द्रपक्षेऽपारिजातत्वं पारिजातराहित्यं, पाण्डवपक्षेऽपगतशत्रु-
समूहत्वं, सुखामिति । अत्र “त्रिषु द्रव्ये पापं पुण्यं सुखादि चे”त्यमर-
कोशात् सुखमहमस्वाप्तमित्यादौ क्रियायास्तुल्याधिकरणत्वाद्धर्मि-
परत्वेनापि सुखशब्दस्य दृष्टत्वात्, तच्चार्शआदित्वान्मन्तव्यम् ।

सत्यनियम इति । सर्वदातनत्वात् कादाचित्कयाः प्रतिज्ञाया भिद्य-
तेऽसौ, गिरेरुद्धरणमिति महेन्द्रवाक्यम् ।

देशकालसुपात्र इति । देशकालग्रहणं पात्रार्थमेव कृतं; ततः पात्र-
स्यैवात्र प्राधान्यं विवक्षितं यतस्तादृशपात्राभावे देशकालयोरप्य-
किञ्चित्करत्वमित्याभिप्रेतम् अत एव सुशब्दोऽप्यत्रैव कृतः, अतः समु-
दायापेक्षितत्वादेक एव गुण उदाहृतः, अन्यत्र तु देशज्ञत्वादिकाः
पृथग्गुणा अपि भवेयुरिति विवेचनीयम् ।

यथा—

शरज्ज्योत्स्नीतुल्यः कथमपि परो नास्ति समय-
 खिलोक्यामाक्रीडः क्व चिदपि न वृन्दावनसमः ।
 न काऽप्यम्भोजाक्षी व्रजयुवतिकल्पेति विमृशन्
 मनो मे सोत्कण्ठं मुहुरजनि रासोत्सवरसे ॥

शास्त्रचक्षुः२०—

शास्त्रानुसारिकर्मा यः शास्त्रचक्षुः स कथ्यते ॥

यथा—

अभूत् कंसरिपोनेत्रं शास्त्रमेवार्थदृष्टये ।
 नेत्राम्बुजं तु युवतिवृन्दोन्मादाय केवलम् ॥

शुचिः२१—

पावनश्च विशुद्धश्चेत्युच्यते द्विविधः शुचिः ॥ ५० ॥

पावनः पापनाशी स्याद्विशुद्धस्त्यक्तदूषणः ॥

तत्र पावनः—

तं निर्व्याजं भज गुणनिधिं पावनं पावनानां-
 श्रद्धाशुध्यन्मतिरतितरामुत्तमलोकमौलिम् ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

तथैवोदाहृतं-शरदिति । मथुरायामुद्धवं प्रति श्रीभगवतः स्वच-
 रितकथनान्तःपातिवाक्यमिदम् ।

अभूदिति कस्य चित् परिहासोक्तिः, अर्थदृष्टये=शुभाशुभत्व-
 ज्ञानाय ।

तं निर्व्याजमिति प्रायो धृतराष्ट्रं प्रति श्रीविदुरोपदेशः, नाम्नि
 चामासत्वं—

नामैकं यस्य वाचि श्रवणपथगतं श्रोत्रमूलं गतं वा

उद्यन्नन्तःकरणकुहरे हन्त यन्नामभानो-

राभासोऽपि क्षपयति महापातकध्वान्तधाराम् ॥

विशुद्धो यथा—

कपटं च हठश्च नाच्युते वत सत्राजिति नाप्यदीनता ।

कथमद्य वृथा स्यमन्तक ! प्रसभं कौस्तुभसख्यमिच्छसि ॥

वशी २२—

वशी जितेन्द्रियः प्रोक्तः

यथा प्रथमे—

उद्दामभावपिशुनामलवल्गुहास-

व्रीडाऽवलोकनिहतो मदनोऽपि यासाम् ।

संमुख चापमजहात् प्रमदोत्तमास्ता-

यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शक्नुः ॥

स्थिरः २३—

आफलोदयकृत् स्थिरः ॥ ५१ ॥

यथा—

निर्वेदमाप न वनभ्रमणे मुरारि-

नाचिन्तयद् व्यसनमृक्षबिलप्रवेशे ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

शुद्धं वाऽशुद्धवर्णं व्यवहितिरहितं तारयत्येव सत्यमि-

त्यनुसारेण ज्ञेयम्, कपटमिति । सत्राजितमुद्दिश्य श्रीमदुद्धवस्य
सोत्प्रासोक्तिः, “प्रसभस्तु बलात्कारो हठ” इत्यमरपाठाद् हठ इति पुं-
स्येव, प्रसभमित्यर्शआदित्वेन मन्तव्यम् ।

उद्दामेति । मदनः कामोऽप्युद्धटभावसूचकाभ्यां निर्म्मलमनोहरा-
भ्यां हासव्रीडाऽवलोकभ्यां स्मितसलज्जदृष्टिभ्यां निहतः तन्महिम-
दर्शनेनोक्तार्थीकृतस्वास्त्रादिवलोऽभूद् अत एव संमुख चापमजहात्

आहृत्य हन्त मणिमेव पुरं प्रपेदे

स्यादुद्यमः कृतधियां हि फलोदयान्तः ॥

दान्तः२४—

स दान्तो दुःसहमपि योग्यं क्लेशं सहेत यः ॥

यथा—

गुरुमपि गुरुवासक्लेशमव्याजभक्त्या

हरिरजगणदन्तः कोमलाङ्गोऽपि नायम् ।

प्रकृतिरतिदुरुहः हन्त लोकोत्तराणां-

किमपि मनसि चित्रं चिन्त्यमाना तनोति ॥

क्षमाशीलः२५—

क्षमाशीलोऽपराधानां सहनः परिकीर्त्यते ॥ ५२ ॥

यथा माघकाव्ये—

प्रतिवाचमदत्त केशवः शपमानाय न चेदिभूभृते ।

अनुहुंकुस्ते घनध्वनिं न हि गोमायुस्तानि केशरी ॥

यथा वा यामुनाचार्यस्तोत्रे—

रघुवर ! यदभूस्त्वं तादृशो त्रायसस्य

प्रणत इति दयालुर्यच्च चैद्यस्य कृष्ण ! ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

तत्र निजास्त्रप्रयोगं न कुरुत एवेत्यर्थः, तदेवं “भूपल्लवन्धनुरपाङ्गत-
रङ्गितानि बाणा” इत्यादिवन्महिमदर्शनार्थमुत्प्रेक्षामात्रं तथाभूता अपि
प्रमदोत्तमाः प्रमदेन प्रकृष्टप्रेमानन्दविशेषेण परमोत्कृष्टास्ताः स्ववृन्द-
एव याः स्वतोऽप्युत्कृष्टप्रेमवत्यस्तासां साम्येच्छया कुहकैस्तादृश-
प्रेमाभावेन कपटांशप्रयुक्तैः सङ्गैः कटाक्षादिभिर्यस्येन्द्रियं विमथितुं-
तद्विशेषेण मथितुं न शक्नुः किं तु स्वप्रेमानुरूपमेव शेकुरिति भावः ।
रघुवरेति । पुनरुदाहरणमिदं पूर्वस्यावज्ञायामेव पर्यवसानं-

प्रतिभवमपराद्धुर्मुग्ध ! सायुज्यदोऽभू-
र्वद किमपदमागस्तस्य तेऽस्ति क्षमायाः ॥

गम्भीरः २६--

दुर्विबोधाशयो यस्तु स गम्भीर इतीर्यते ॥

यथा--

वृन्दावने वराभिः स्तुतिभिर्नितरामुपास्यमानोऽपि ।
शक्तो न हरिर्विधिना रष्टस्तुष्टोऽथ वा ज्ञातुम् ॥

यथा वा--

उन्मदोऽपि हरिर्नव्यराधाप्रणयसीधुना ।
अभिज्ञेनापि रामेण लक्षितोऽयमविक्रियः ॥

धृतिमान् २७--

पूर्णस्पृहश्च धृतिमान् शान्तश्च क्षोभकारणे ॥ ५३ ॥

तत्राद्यो यथा--

स्वीकुर्वन्नपि नितरां यशःप्रियत्वं-
कंसारिर्मगध्रपतेर्वधप्रसिद्धाम् ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

स्यान्न तु क्षमावत्त्वे घनध्वनावसहनत्वादिति विचार्य "प्रतिभवमप-
राद्धुरि"त्यादिना रघुवरादप्युत्कर्षो दर्शितः ।

वृन्दावन इति । तत्स्तुतिविशेषस्य स्पष्टताऽर्थमुक्तं, रष्टस्तुष्टो-
वेति ज्ञातुमशक्तः शक्यो नाभूत् ।

पूर्णेति । धृतिर्मनःसंयमनं तद्वान्, तत्र पूर्णं सर्वस्पृहणीयलाभात्
कृतार्था स्पृहा यस्य स पूर्णस्पृहः पूर्णस्पृहताकारणधृत्या युक्त-
इत्यर्थः, शान्त इति । पूर्णस्पृहत्वाभावेऽपि धृत्या क्षोभाव्याप्त इत्यर्थः ।

स्वीकुर्वन्निति । पूर्णस्पृहत्वमत्र लोकोत्तरगुणशालित्वेन लभ्यते
तत्र च सति भीमाय यशोदाने निरुपाधितया स्निग्धस्वभावत्वमपि
१९ ह० २०

भीमाय स्वयमतुलामदत्त कीर्त्ति-

किं लोकोत्तरगुणशालिनामपेक्ष्यम् ॥

द्वितीयो यथा--

निन्दितस्य दमघोषसूनुना संभ्रमेण मुनिभिः स्तुतस्य च ।

राजसूयसदसि क्षितीश्वरैः काऽपि नास्य विकृतिर्वितर्किता ॥

समः २८

रागद्वेषविमुक्तो यः समः स कथितो बुधैः ॥

यथा श्रीदशमे—

न्याय्यो हि दण्डः कृतकिल्बिषेऽस्मिन्स्तवावतारः खलनिग्रहाय ।

रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टिर्धत्से दमं फलमेवानुशंसन् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

लक्ष्यते यद्विना सर्वेऽप्यन्ये गुणा जनायारोचमानाः स्वरूपाद् भ्रश्यन्ति ततश्चापसन्नमात्रेषु तस्य निरुपाधितया स्निग्धत्वे लब्धे निरुपाधि-भक्तेषु सुतरामेव तादृशत्वं स्यात् तत्सुखार्थमेव यशःप्रियत्वमुद्भव-ति, ते हि तद्यशसाऽधिकमानन्दं यान्ति, तदेवं स्थिते तेषु निजयशःसंक्रमयति स इत्यतो यशःप्रियत्वेऽपि पूर्णस्पृहत्वमेव सेषिध्यत इति ।

निन्दितस्येति । अत्रेदमेवोदाहरणं, न तु सम्भ्रमेणेत्यपि, परत्र खलु गाम्भीर्यमेव लक्ष्यते, मुनयो ह्यत्र भक्तास्तत्कृतस्तवादन्तर्बहिः सुखप्राप्तिरस्त्येव, गाम्भीर्यधृत्योः खलवावृतत्वासत्त्वाभ्यामेव भेद इति ।

रिपोः सुतानामिति । स्वस्य रिपुरयमिति सुतोऽयमिति वा न विषमदृष्टिस्त्वं किं तु तुल्यदृष्टिरेव यतो न्यायान्यायाभ्यामेव विषमदृष्टिरसि, तत्रान्यायस्वभावस्य रिपोर्यद्दमं धत्से तच्च फलमेवानुशंसन् धत्से, आयत्यान्तस्यापि मोक्षादिसुखप्रापणाद्ऽत एव रिपुसुतयोस्तुल्यदर्शित्वं लब्धं, लोके पित्रादौ तथा दुष्टपुत्रशासनदृष्टेरित्यर्थः, अत्र रिपुर्जरासन्धसुतादिः, कालिकापुराणे बराहावतारगततादृगिति-

यथा वा—

रिपुरपि यदि शुद्धो मण्डनीयस्तवासौ
यदुवर ! यदि दुष्टो दण्डनीयः स्रुतोऽपि ।
न पुनरखिलभर्तुः पक्षपातोऽज्झितस्य
क चिदपि विषमं ते चेष्टितं जाघटीति ॥

वदान्यः २९—

दानवीरो भवेद्यस्तु स वदान्यो निगद्यते ॥ ५४ ॥

यथा—

सर्वार्थिनां बाढमभीष्टपूर्त्या व्यर्थीकृताः कंसनिषूदनेन ।
ह्रियेव चिन्तामणिकामधेनुकल्पद्रुमा द्वारवतीं भजन्ति ॥

यथा वा—

येषां षोडश पूरिता दशशती स्वान्तःपुराणां तथा
चाष्टश्लिष्टशतं विभाति परितस्तत्संख्यपत्नोयुजाम् ।
एकैवं प्रति तेषु तर्णकभृतां भूपाञ्जुषामन्वहं—
गृष्टीनां युगपच्च बद्धमददाद्यस्तस्य वा कः समः ॥

धार्मिकः ३०—

कुर्वन् कारयते धर्मं यः स धार्मिक उच्यते ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

हासात्, सुतो नरकासुरादिः ।

रिपुरपीति । शुद्धः कस्मिंश्चिन्न्यायविशेषे दोषरहितइत्यर्थः, दुष्टः
स्तद्विपरीत इत्यर्थः, पक्षपातोऽत्र स्वातन्त्र्येण कस्य चित् पक्षस्य
ग्रहणम् ।

सर्वार्थिनामिति । वन्दिजनस्तुतिः ।

उक्तामेव दानक्रियामेकदेशदर्शनया पुष्पाति-येषामिति । पूरित-
त्वं=गुणितत्वं, श्लिष्टत्वं=युक्तत्वं, गृष्टीनां प्रथमप्रसूतानां बद्धं चतु-

यथा—

पादैश्चतुर्भिर्भवता वृषस्य गुप्तस्य गोपेन्द्र ! तथाऽभ्यवर्द्धि ।
स्वैरं चरन्नेप यथा त्रिलोक्यामधर्मंशस्यानि हठाज्जवाः ॥

यथा वा—

वितायमानैर्भवता मखोत्करैराकृष्यमाणेषु पतिष्वनारतम् ।
मुकुन्द ! खिन्नः छरछभ्रुवां गणस्तवावतारं नवमं नमस्यति ॥

शूरः ३१—

उत्साही युधि शूरोऽस्त्रप्रयोगे च विचक्षणः ॥ ५५ ॥

तन्नाथो यथा—

पृथु समरसरो विगाह्य कुर्वन् द्विपदरविन्दवने विहारचर्याम् ।
स्फुरसि तरलबाहुदण्डशुण्डस्त्वमवविदारण ! वारणेन्द्रलीलः ॥

द्वितीयो यथा—

क्षणादक्षौहिणीवृन्दे जरासन्धस्य दारुणे ।
दष्टः कोऽत्र न वा दष्टो हरेः प्रहरणाहिभिः ॥

करुणः ३२—

परदुःखासहो यस्तु करुणः स निगद्यते ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

रशीत्यग्रसहस्राणि त्रयोदशेति प्रकारान्तरमेतत्पद्यं त्यक्तम्,

पादैश्चतुर्भिरित्यादिद्वयं श्रीनारदस्य नर्मवचनं, कुर्वन् कारयत-
इत्यनयोर्व्यतिक्रमेणोदाहरणे ज्ञेये, यथा वेत्यत्र तु चार्थे वाशब्दः,
गोपेन्द्रेति शिलष्टं, गां पृथिवीं पातीति गोपः, “गोपो भूप” इत्यमरना-
नाऽर्थवर्गात् ।

उत्साहीति । उदाहरणवैचित्र्यार्थमेकस्यैव शूरस्य द्विधा निरूपणम्,
एवं यथाऽहमुत्तरत्रापि ज्ञेयं, पृथिव्याद्युदाहरणपक्षे तु द्विषदित्यादौ;
“अविरलशैबलगामि”ति पाठान्तरं योग्यम् ।

यथा—

राज्ञामगधगतिभिर्मगधेन्द्रकारा-
दुःखान्धकारपटलैः स्वयमन्धितानाम् ।
अक्षीणि यः सुखमयानि घृणी व्यतानी-
द्वन्द्वे तमघ यदुनन्दनपद्मबन्धुम् ॥

यथा वा--

स्खलन्नयनवारिभिर्विरचिताभिपेक्षिते
त्वरामरतरङ्गतः कबलितात्मविस्फूर्त्तये ।
निज्ञातशरशायिना सुरसरित्सुतेन स्मृतेः
सपद्यवशवर्ष्मणे भगवतः कृपायै नमः ॥

मान्यमानकृत् ३३--

गुरुब्राह्मणवृद्धादिपूजको मान्यमानकृत् ॥ ५६ ॥

यथा--

अभिवाद्य गुरोः पदाम्बुजं-
पितरं पूर्वजमप्यथानतः ।
हरिरञ्जलिना तथा गिरा
यदुवृद्धाननमत् क्रमादयम् ॥

दक्षिणः ३४--

सौशील्यसौम्यचरितो दक्षिणः कीर्यते बुधैः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

राज्ञामिति । निर्य्याणसमये भीष्मवचनं, स्वयमिति कर्मकर्तृत्वयो-
तकं “जुगुप्साकरुणे घृणे” इत्यमरः ।

स्खलन्निति । त्वरामरतरङ्गतो हेतोः कबलिताऽऽत्मनो भगवतो-
विस्फूर्त्तिरयमहमस्मीति ज्ञानं यया तादृश्यै, सुरसरित्सुतेन कर्त्रा
या स्मृतिस्तस्याः स्मृतेर्हेतोर्या कृपा तस्यै ।

सौशील्येन सुस्वभावेन सौम्यं सुकोमलं चरितं यस्य ।

यथा—

भृत्यस्य पश्यति गुरूनपि नापराधान्
 सेवां मनागपि कृतां बहुधाऽभ्युपैति ।
 आविष्करोति पिशुनेष्वपि नाभ्यसूया-
 शीलेन निर्मलमतिः कमलक्षणोऽयम् ॥

विनयी ३५—

औद्धत्यपरिहारी यः कथ्यते विनयीत्यसौ ॥ ५७ ॥

यथा माघकाव्ये—

अवलोक एव नृपतेः छदूरतो-
 रभसाद्रथादवतरीतुमिच्छतः ।
 अवतीर्णवान् प्रथममात्मना हरिः-
 विनयं विशेषयति संभ्रमेण सः ॥

हीमान् ३६—

ज्ञातेऽस्मररहस्येऽन्यैः क्रियमाणे स्तवेऽथ वा ॥

शालीनत्वेन संकोचं भजन् हीमानुदीर्यते ॥ ५८ ॥

यथा ललितमाधवे—

दरोदञ्चद्रोपीस्तनपरिसरप्रेक्षणभवात्-
 करोत्कम्पादीषच्छलति किल गोवर्धनगिरौ ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

भृत्यस्येति । स्यमन्तकं गृहीत्वा काश्या गतमक्रूरं प्रति श्रीमदुद्ध-
 वस्य वर्णदूतः, “पिशुनौ खलसूचकावि”त्यमरः ।

ज्ञात इति । अस्मररहस्ये स्मररहस्याभावेऽप्यन्यैर्ज्ञाते स्वयमेव
 ज्ञातेन तेन सङ्कोचं भजन्; अथ वा स्तवेऽपि क्रियमाणे सङ्कोचं भजन्
 हीमानुदीर्यते, तत्र हेतुः शालीनत्वेन=अधृष्टतास्वभावेनेति, शाली-
 नत्वेन=अनधिगम्यस्वभावेन वेति, तथैवोदाहरति—दरोदञ्चदिति ।

भयात्तैरारब्धस्तुतिरखिलगोपैः स्मितमुखं—

पुरो दृष्ट्वा रामं जयति नमितास्यो मधुरिपुः ॥

शरणागतपालकः ३७—

पालयन् शरणापन्नान् शरणागतपालकः ॥

यथा—

ज्वर ! परिहर वित्रासं त्वमत्र समरे कृतापराधोऽपि ।

सद्यः प्रपद्यमाने यदिन्दवति यादवेन्द्रोऽयम् ॥

सखी ३८—

भोक्ता च दुःखगन्धैरप्यस्पृष्टश्च सुखी भवेत् ॥ ५९ ॥

तत्राद्यो यथा—

रत्नार्लंकारभारस्तव धनदमनोराज्यवृत्त्याऽप्यलभ्यः

दुर्गमसङ्गमना ।

तथा हि तत्कोमलत्वदृष्ट्या भयेनात्तैर्व्यग्रैरखिलगोपैः, प्रमा-
वदृष्ट्या त्वारब्धा स्तुतिः शौर्यवर्द्धनविरुद्यस्य तथाविधः सन्,
तत्र स्वमहिमज्ञतया स्मितमुखं रामं पुरोऽग्रत एव दृष्ट्वा
शालीनत्वेन नमितास्यो मधुरिपुर्जयति परमोत्कर्षेण भक्तद्वये
स्फुरतिवत्यर्थः, तत्र कस्मात् क्व किल सति ? स्मितमुखं रामं दृष्ट्वा
नमितास्य इत्युत्प्रेक्ष्यतामित्यपेक्षायामुक्तम्—दरोदञ्चदिति । दरे-
त्यादिलक्षणात्कम्पाद् गोवर्द्धनगिरावपिञ्चलति सति, किलेत्यु-
त्प्रेक्षितमेव, वस्तुतस्त्वेतेन रामाज्ञाततादृशनिजस्मररहस्यत्वेऽपि
शालीनत्वेनैव सङ्कुचति स्मेति ध्वनितं, यदग्रजरामस्य तत्कृततदीय-
स्तनान्तदर्शनानुसन्धानस्यानौचित्यं गाम्भीर्यगुणेन च पूर्वोक्ततदल-
क्ष्यतादृशतद्भावत्वं, पूर्वार्द्धे च किलेत्युक्त्या तदर्थस्योत्प्रेक्षितमात्र-
त्वमिति व्याख्याऽन्तरं नाङ्गीकृतम् ।

रत्नेति । बन्दिजनस्तुतिः, स्वपक्षे शशिकला नखाङ्गा नखाग्रभागा-

स्वप्ने दम्भोलिपाणेऽपि दुरधिगमं द्वारि तौर्ध्वत्रिकं च ।
 पाश्वे गौरीगरिष्ठाः प्रचुरशशिकलाः कान्तसर्वाङ्गभाजः
 सीमन्तिन्यश्च नित्यं यदुवर ! भुवने कस्त्वदन्योऽस्ति भोगी ॥

द्वितीयो यथा—

न हानिं न ग्लानिं न निजगृहकृत्यव्यवसनितां—
 न घोरं नोद्धूणां न किल कदनं वेत्ति किमपि ।
 वराङ्गीभिः साङ्गीकृतसुहृदनुद्गाभिः भित्तो—
 हरिवृन्दाऽरण्ये परमनिशमुच्चैर्विहरति ॥

भक्तसुहृत् ३९—

सुसेव्यो दासबन्धुश्च द्विधा भक्तसुहृन्मतः ॥

तत्राद्यो यथा विष्णुधर्म—

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च ।

विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

वा, गौर्यां त्वेकैव शशिकला चन्द्रलेखा, स्वपक्षे कान्तसम्बन्धीनि
 मनोहराणि वा सर्वाङ्गानि भजन्ते यास्ताः, गौरी तु स्वकान्त-
 स्यार्द्धाङ्गभागिति श्लेषेण युक्तमेव गौरीगरिष्ठत्वमिति निर्दिष्टम् ।

न हानिमिति । यज्ञपत्नीः प्रति कस्याश्चित् श्रीगोपीकृष्णदूत्याः
 स्नेहवशात्तास्वपि गतागतं कुर्वत्या रहस्योक्तिः, घोरं भयहेतुं, ततो-
 भयं तु सर्वथैव नेति व्यञ्जितम्, उद्धूणां चिन्तां, साङ्गीकृताः पूर्णिताः
 सुहृदः सहचर्य्यो यत्र तादृगनङ्गो यासाम् ।

अत्र तत्तद्ब्रह्माकारे सत्यपि तत्तद्दशानोक्तिर्न सम्भवतीत्यर्थान्तर-
 संक्रमितवाच्यध्वनिना तत्र तत्रावैयग्न्यकारिपरमतेजस्वित्वमेव विव-
 क्षितमिति श्रेयम् ,

तत्राद्यो यथा विष्णुधर्म इत्येव पाठः, विक्रीणीते=मुद्गरपि वशी-
 करोतीत्यर्थः ।

द्वितीयो यथा प्रथमे—

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः ।

धृतरथचरणोऽभ्यगाच्चलद्गुह्ररिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः ॥

प्रेमवद्वयः ४०—

प्रियत्वमात्रवश्यो यः प्रेमवश्यो भवेदसौ ॥ ६० ॥

यथा श्रीदशमे—

सख्युः प्रियस्य विप्रपेरङ्गसङ्गातिनिवृतः ।

प्रीतो व्यमुञ्जदब्धिवन्दून्नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः ॥

यथा वा तत्रैव—

स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्त्रस्तकवरस्रजः ।

दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

स्वनिगममित्यन्तिमसमये श्रीभीष्मवाक्यं, स्वनिगमं शस्त्रसं-
न्यासलक्षणां स्वप्रतिज्ञामपहाय; “तमेतं शस्त्रं ग्राहयिष्यामी”ति मत्प्र-
तिज्ञां सत्यां कर्तुं रथस्थोऽपि धृतचक्रः सन् भुव्यवतीर्णस्ततश्चावेशेन
स्खलितोत्तरीयस्तेनैव चाविष्कृतबलतया चलन्ती गौः पृथिवी येन
तादृशो भूत्वा मां हन्तुमाभिमुख्येन य आगाद् न त्ववधीत्; स मे
मुकुन्दो गतिर्भवत्वित्युत्तरेणान्वयः, कं क इव ? हरिः सिंह इभमिवे-
ति वाक्यार्थः, तदा त्वेतं प्रति; एतस्य परममित्रं चार्जुनं प्रति दुर्दैव-
वशान्महदपराधवत्यपि मयि पुरातनं भक्तिलेशाभासं भक्तिवेनानुस-
न्धाय; य इत्थं बन्धुत्वं स्वमाहात्म्यहानिसहनेनापि मन्माहात्म्यवर्द्धन-
लक्षणं व्यञ्जितवान् सोऽयं शुद्धदासानां सर्वथैव बन्धुत्वं कुर्या-
दिति भावः ।

प्रियत्वमात्रेण वश्यो न तु सेवाऽऽद्यपेक्षयेत्यर्थः ।

तत्र प्रेमातिशयेन वश्यताऽऽधिक्यमपि दर्शयति—यथा वेति ।

सर्वशुभङ्करः ४१—

सर्वेषां हितकारी यः स स्यात्सर्वशुभङ्करः ॥

यथा—

कृताः कृतार्था मुनयो विनोदैः खलक्षयेणाखिलधार्मिकाश्च ।

बभूवर्मदेन खलाश्च युद्धे न कस्य पथ्यं हरिणा व्यधायि ॥

प्रतापी ४२—

प्रतापी पौरुषोद्भूतशत्रुतापिप्रसिद्धिभाक् ॥ ६१ ॥

यथा—

भवतः प्रतापतपने भुवनं कृष्ण ! प्रतापयति ।

घोराछरधूकानां शरणमभूत्कन्दरातिमिरम् ॥

कीर्तिमान् ४३—

साहुण्यैर्निर्मलैः ख्यातः कीर्त्तिमानिति कीर्त्त्यते ॥

यथा—

त्वद्यशःकुमुदवन्धुकौमुदी शुभ्रभावमभितो नयन्त्यपि ।

नन्दनन्दन ! कथं नु निर्म्ममे कृष्णभावकलिलं जगत्त्रयम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

कृता इत्युत्तरावस्थायां श्रीमदुद्धवोक्तिः, मुनय आत्मारामाः, विनोदैस्तद्धारकगुणप्रचारैः, “आत्मारामाश्च” मुनय इत्यादेः ।

प्रतापयति=प्रकाशयति, उपनिषद्विशेषनृसिंहतापन्यादिशब्देषु तथैव तपेरर्थः, प्रकाशयतीत्येव वा पाठः, पूर्वं स्थितिरेव सर्वजेत्री सती भगवतः प्रभाव इति लक्षितं, प्रतापस्तु तत्ख्यातिरिति ततो भिद्यते यथाऽनन्तरमेव “साहुण्यैर्निर्मलैः ख्यातः कीर्त्तिमानि”त्यत्र साहुण्य-ख्यातिरेव कीर्त्तिरिति प्रतिपद्यते न तु साहुण्यमात्रं तद्वत् ।

यथा वा ललितमाधवे—

भीता रुद्रं त्यजति गिरिजा श्याममप्रेक्ष्य कण्ठं-

शुभ्रं दृष्ट्वा क्षिपति वसनं विस्मितो नीलवासाः ।

क्षीरं मत्वा श्रपयति यमीनीरमाभीरिकोत्का

गीते दामोदर ! यशसि ते वीणया नारदेन ॥

रक्तलोकः ४४—

पात्रं लोकानुरागाणां रक्तलोकं विदुर्बुधाः ॥ ६२ ॥

यथा प्रथमे—

यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान् कुरुन् मधून् वाऽथ सद्बहिदक्षया ।

तत्राब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवेद्रविं विनाऽक्षणोरिव नस्तवाच्युत ! ॥

यथा वा—

आशीस्तथ्या जय जय जयेत्याविरास्ते मुनीनां-

देवश्रेणीस्तुतिकलकलो मेदुरः प्रादुरस्ति ।

हर्षोद्घोषः स्फुरति परितो नागरीणां गरीयान्

के वा रङ्गस्थलभुवि हरौ भेजिरे नानुरागम् ॥

साधुसमाश्रयः ४५—

सदेकपक्षपाती यः स स्यात्साधुसमाश्रयः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

भीता रुद्रमित्यादिकं कविसमयानुसारेण नर्म्ममयमेव न तु वस्तुतः, वस्तुतस्तेषां तस्यागादिकं तद्यशःश्रवणावेशादेव, आभीरि-
कोत्केत्यत्राभीररामेति पाठान्तरम् ।

न केवलं क्षण एव तादृशो भवेत् किन्तु रविं विना यथाऽक्ष्णो-
र्मोहो भवेत् तथैव त्वदीयानां नोऽस्माकं भवेदित्यर्थः ।

आशीरिति । रङ्गस्थः कश्चिद्वर्त्तमानप्रयोगं मुहुरभ्यस्य किं बहुने-
त्याह—के वेति । अत्र च सुखमोहानन्तरं परोक्षभूतत्वेन प्रयुक्ते भेजिरे-

यथा—

पुरुषोत्तम ! चेदवातरिष्यद्भुवनेऽस्मिन्न भवान् भुवः शिवाय ।

विकटासुरमण्डलान्न जाने सृजनानां वत का दशाऽभविष्यत् ॥

नारीगणमनोहारी ४६—

नारीगणमनोहारी सुन्दरीवृन्दमोहनः ॥ ६३ ॥

यथा दशमे—

श्रुतमात्रोऽपि यः स्त्रीगाम् प्रसह्यार्कषते मनः ।

उरुगायोरुर्गातो वा पश्यन्तीनां कुतः पुनः ॥

यथा वा—

त्वं चुम्बकोऽसि माधव ! लोहमर्या नूनमङ्गनाजातिः ।

धावति ततस्ततोऽसौ यतो यतः क्रीडया भ्रमसि ॥

सर्वाराध्यः ४७—

सर्वेषामग्रपूज्यो यः सर्वाराध्यः स उच्यते ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

इति, नानुरागं भजन्तीति पाठस्तु सुगमः ।

नारीगणमनोहारीति । यथा शीलार्थे णिनिस्तथैव सुन्दरीत्यादौ ल्युः प्रयुक्तः, ततः स्वभावेनैव तादृशत्वात् सुरभ्याङ्गत्वादिभ्योऽधिक-
एवायं गुणः, यथोक्तं श्रीव्रजदेवीभिः “कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूप-
शीलमि”ति गणवृन्दशब्दाभ्यामत्र तासां समूहविशेष उच्यते; तेन त-
द्भावायोग्यासु नातिव्याप्तिः ।

अत एव स्त्रीणां श्रीविशेषाणां श्रुतमात्रोऽपि यो मनः प्रसह्यार्क-
षति स एव उरुगायैर्भक्तविशेषैरुद्धा गीतः सन् प्रसह्यार्कषतीति
कुतः पुनः किंपुनर्वक्तव्यं स एव च पश्यन्तीनां तासां मनः प्रसह्यार्क-
षतीति कित्तरां वक्तव्यमित्यर्थः ।

तादृशशीलत्वमेव दृष्टान्ततः स्पष्टयन्नाह—यथा वेति । अङ्गनानां-

यथा प्रथमे—

मुनिवरवृषवर्गसंकुलेऽन्तःसदसि युधिष्ठिराजसूय एषाम् ।

अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो मम दृशि गोचर एष आविरात्मा ॥

समृद्धिमान् ४८—

महासंपत्तियुक्तो यो भवेदेष्ट समृद्धिमान् ॥ ६४ ॥

यथा—

षट्पञ्चाशद्यदुकुलभुवां कोटयस्त्वां भजन्ते

वर्षन्त्यष्टौ किमपि निधयश्चार्थजातं तवामो ।

शुद्धान्तश्च स्फुरति नवभिर्लक्षितः सौधलक्षैः

लक्ष्मीं पश्यन् सुरदमन ! ते नात्र चित्रीयते कः ॥

यथा वा विल्वमङ्गले—

चिन्तामणिश्चरणभूषणमङ्गनानां शृङ्गारपुष्पतरवस्तरवः सुराणाम् ।

वृन्दावने व्रजधनं ननु कामधेनुवृन्दानि चेति खलसिन्धुरहो विभूतिः ॥

वरीयान् ४९—

सर्वेषामभिमुख्ये यः स वरीयानितीर्यते ॥

यथा—

ब्रह्मन्नत्र पुरद्विषा सह पुरः पीठे निपीद क्षणं-

तूष्णीं तिष्ठ सुरेन्द्र ! चादुभिरलं वारीश ! दूरीभव ।

एते द्वारि मुहुः कथं सुरगणाः कुर्वन्ति कोलाहलं-

हन्त द्वारवतीपतेरवसरो नाद्यापि निष्पद्यते ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

जातिस्तद्विशेषः ।

षट्पञ्चाशदिति । अत्र कोटय इति बहुत्वं तत्तदवान्तरभेदविवक्षया तदिदं प्रकटलीलोदाहरणम्, उक्तोदाहरणं त्वप्रकटलीलागतमपि “तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वे”त्यादेस्तदिच्छया प्रकटमपि भवेदिति ज्ञेयम् ।

ईश्वरः ५०—

द्विधेश्वरः स्वतन्त्रश्च दुर्लङ्घ्याज्ञश्च कीर्यते ॥ ६५ ॥

तत्र स्वतन्त्रो यथा—

कृष्णः प्रसादमकरोदपराध्यतेऽपि पादाङ्गमेव किल कालियपन्नगाय ।

न ब्रह्मणे दृशमपि स्तुवतेऽप्यपूर्वं स्थाने स्वतन्त्रवरितो निगमैर्नुतोऽयम् ॥

दुर्लङ्घ्याज्ञो यथा तृतीये—

स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः स्वाराज्यलक्ष्म्यासमस्तकामः ।

बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः किरीटकोटोडितपादपीठः ॥

यथा वा—

नव्ये ब्रह्माण्डवृन्दे सृजति विधिगणः सृष्टये यः कृताज्ञो-

रुद्रौघः कालजीर्णे क्षयमवतनुते यः क्षयायानुशिष्टः ।

रक्षां विष्णुस्वरूपा विदधति तरुणे रक्षिणो ये त्वदंशाः

कंसारे ! सन्ति सर्वे दिशि दिशि भवतः शासनेऽजाण्डनाथाः ॥

अथ सदास्वरूपसंप्राप्तः ५१—

सदास्वरूपसंप्राप्तो मायाकार्यावशीकृतः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

कृष्ण इति । तस्मात् स्थाने=युक्तमेवायं स्वतन्त्रचरिततया निगमैर्नुत इत्यर्थः ।

त्रयाणां ब्रह्मादीनां महत्स्रष्ट्रादीनां वाऽधीशः, स्वाराज्यं स्वेनैव राजमानत्वं तेन या लक्ष्मीस्तयेडितत्वं बन्दितत्वम् ।

कृताज्ञ इति । अङ्गीकृताज्ञ इत्यर्थः, तस्मिन्नेव ब्रह्माण्डवृन्दे कालजीर्णे सति तस्मिन्नेव च तरुणे सति; तारुण्यस्य पश्चाद्भिर्देशः सांप्रतं-वृत्तविज्ञापनायामस्यावधानं स्थिरीभवत्वित्यपेक्षया, सन्तीति । सर्गादिसमये पालनाद्यंशस्य सङ्गावान्तरशासने सर्वदा ते सन्त्येव किन्तु नव्येत्यादिविशेषणत्रयं तु प्राचुर्येणैवोक्तमिति भावः ।

यथा प्रथमे—

एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः ।

न युज्यतेऽसदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया ॥

सर्वज्ञः ५२—

परचित्तस्थितं देशकालाद्यन्तरितं तथा ॥ ६६ ॥

यो जानाति समस्तार्थं स सर्वज्ञो निगद्यते ॥

यथा प्रथमे—

यो नो जुगोप वनमेत्य दुरन्तकृच्छ्राद् दुर्वाससोऽरिरचितादयुताग्रभुग्यः ।

शाकान्नशिष्टमुपयुज्य यत्खिलोर्की तृप्तममंस्त सलिले विनिमग्नसङ्घः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

ईशस्य सर्ववशीकारिणः श्रीभगवत एतदीशनं, किं तत् ? तत्राह-
मायातत्कार्य्याभ्यामवशीकृतत्वमित्यर्थः, यदसावन्तर्य्यामितयाऽव-
तीर्णतया वा प्रकृतौ स्थितोऽपि तस्या गुणैः सत्त्वादिभिस्तत्कार्य्यैश्च
न युज्यते न लिप्यते; तत्र हेतुः—असन्तो य आत्मानो जीवास्तेष्वेव
स्थितैराधिकारिभिः, तत्र दृष्टान्तः—यथेति । स एवाश्रयो यस्याः सा
भक्तानां बुद्धिर्यथा न लिप्यते तद्वत्, तस्मात् सदा स्वरूपसंप्राप्तत्वं-
स्वरूपशक्तिविलासलक्षणरूपगुणाद्यव्यभिचारित्वं मायाकार्य्यावशी-
कृतत्वमित्येव यावत्, तदुक्तं श्रुतिभिः—“स यदजया त्वजामि”त्यादि ।

“यो नो जुगोपे”ति श्रीमदजुनवाक्यं यः श्रीकृष्णोऽस्माकं कृच्छ्रं-
सर्वज्ञत्वादेव ज्ञात्वा वनमेत्यास्मान् पाण्डवान् जुगोप कस्माद् दुर्वा-
ससो हेतोर्यद् दुरन्तकृच्छ्रं शापमयं तस्माद्, दुर्वाससः कीदृशाद् अ-
रिरचिताद् दुर्योधनप्रेरितादित्यर्थः, कीदृशो दुर्वासाः योऽयुतसंख्या-
नामग्रभुक् तैः सह श्रीयुधिष्ठिरेण निमन्त्रितस्तेन च कामधुक्स्थाल्य-
न्नसमापकभोजनया द्रौपद्या भुक्तं न ज्ञातमिति ज्ञेयं, ततः कुत्रासौ
गतः ? तत्राह सलिले विनिमग्नः स्वसहितः सङ्घो यस्य सः, तत्रावश्य-

नित्यनूतनः ५३—

सदाऽनुभूयमानोऽपि करोत्यननुभूतवत् ॥ ६७ ॥

विस्मयं माधुरीभिर्यः स प्रोक्तो नित्यनूतनः ॥

यथा प्रथमे—

यद्यप्यसौ पादर्वगतो रहोगतस्तथाऽपि तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम् ।

पदे पदे का विरमेत तत्पदाच्छलाऽपि यं श्रीर्न जहाति कर्हि चित् ॥

यथा वा ललितमाधवे—

कुलवरतनुधर्मग्राववृन्दानि भिन्दन्

समुखि ! निशितदीर्घापाङ्गटङ्कुच्छटाभिः ।

युगपदयमपूर्वः कः परो विश्वकर्मा

मरकतमणिलक्षैर्गोष्ठकक्षां चिनोति ॥

दुर्गमसङ्गमना ।

ककुत्थार्थं चिरं स्थितः, ततः किं कृत्वा जुगोप ? तत्राह—स्थालीलङ्ग-
शाकान्नं शिष्टमुपयुज्येति भवतु तस्य तदुपयोजनं ततः किं ? तत्राह—
यतस्तदुपयोगाद्धेतोस्त्रिलोकीमपि तृप्ताममस्त दुर्वासाः किं पुनः स्वा-
नित्यर्थः ।

चलाऽपीति । पूर्णस्वरूपतदाभासयोरभेदाभिप्रायेणोक्तं; तच्च या
खल्वन्यत्र स्वाभासमात्रेणापि स्थिरा न भवति सैव स्वस्वरूपेण तत्र
परमस्थिरेति तन्माहात्म्यविशेषदर्शनाय ।

मुहुः श्रीकृष्णमनुभूतवत्याः श्रीवृन्दावनेश्वर्याः कुलवरेति वा-
क्यमिदं, ततस्तत्रत्यप्रकरणबलान्नवनवत्वं गम्यते ऽतोऽत्राप्युदाहरणं-
कृतं, छटाऽत्र सूक्ष्माग्रभागः “सटाच्छटाभिन्नघनेने”ति माघकाव्यात्
कक्षा=प्रकोष्ठं, “कक्षा प्रकोष्ठमि”ति नानाऽर्थवर्गाद् मरकतमणिलक्षै-
रिति तत्तुल्यतदंशूनां तत्तया मननात् किं त्वत्रापूर्वत्वं तत्तद्दुष्करक-
र्मणो युगपन्निर्माणेन तथा तादृग्ग्राववृन्दानि भिनास्ति मरकतमणिल-

सच्चिदानन्दसान्द्राङ्गः ५४—

सच्चिदानन्दसान्द्राङ्गश्चिदानन्दघनाकृतिः ॥ ६८ ॥

यथा—

क्लेशे क्रमात्पञ्चविधे क्षयं गते यद् ब्रह्मसौख्यं स्वयमस्फुरत् परम् ।

तद् व्यर्थयन् कः पुरतो नराकृतिः श्यामोऽयमामोदभरः प्रकाशते ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

क्षैस्तु गोष्ठकक्षां चिनोतीत्यप्रयोजनतद्भेदेनेन ज्ञेयम् ।

सदिति । सर्वकालदेशव्यापकत्वाद् “योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धोश्चेष्टामाहुरि” त्याद्युक्तं, “न चान्तर्न बहिर्यस्ये” त्यादि च, चिदिति । स्वप्रकाशत्वेनाजडत्वाद्, यदुक्तं—“पश्यतोऽजस्य तत्क्षणाद्यदृश्यन्ते”ति अत्र ह्यजस्य कर्तृत्वानिर्देशाद्यदृश्यन्तेति कर्मकर्तृप्रयोगः, “न चक्षुषी पश्यति रूपमस्य” “यमेष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वामि”ति श्रुतेः, आनन्देति । निरुपाधिप्रेमास्पदसर्वोपशत्वात्, तदुक्तं—“किमेतदद्भुतमिव वासुदेवेऽखिलात्मनी”त्यादि, “आनन्दं ब्रह्मणो रूपमि”ति श्रुतेः, सान्द्रेति । तदितरास्पष्टरूपत्वात्, तदुक्तं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरमिति ।

चिदानन्दघनाकृतिरिति च, तत्समानार्थसच्छब्दप्रयोगश्चात्र तत्तद्रूपत्वेनोपलक्षितत्वान्न कृतः,

क्लेश इति ।

“अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः”, व्यर्थयन्नावृण्वन्नित्यर्थः ।

यस्य प्रमेति पूर्वं योजितमस्ति ततश्च प्रभावे योजिते विभूति-
त्वमपि योजित स्यात्; तथा च श्रुतिः—“यस्य पृथिवी शरीरं यस्या-

यथा वा—

ब्रह्मसंहितायामादिपुरुषरहस्ये—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-

कोटिष्वशेषवसुधाऽऽदिविभूतिभिन्नम् ।

तद् ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं-

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

अतः श्रीवैष्णवैः सर्वश्रुतिस्मृतिनिदर्शनेः ॥

तद् ब्रह्म श्रीभगवतो विभूतिरिति कीर्त्यते ॥ ६९ ॥

तथा हि यामुनाचार्यस्तवे—

यदण्डमण्डान्तरगोचरं च यद्वशोत्तराण्यावरणानि यानि च ।

गुणाः प्रधानं पुरुषः परं पदं परात्परं ब्रह्म च ते विभूतयः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

त्मा शरीरं यस्याऽव्यक्तं शरीरं यस्याक्षरं शरीरं सर्वभूतान्तरात्मा
दिव्यो देव एको नारायण” इत्याद्या,

“यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तम” इति

श्रीभगवदुपनिषदश्च,

तथा चैकादशे श्रीभगवता विभूतिप्रसङ्ग एवोक्तं—

पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतिरहं महान् ।

विकारः पुरुषोऽव्यक्तं रजः सत्त्वं तमः परम् ॥ इति,

टीका च—परं=ब्रह्म चेत्येषा ।

अत इति । यद्यप्येतैर्ब्रह्मशब्देनापि भगवानेव वाच्यते निर्विशेषं-
ब्रह्म तु पृथग्नाङ्गीक्रियते; तथाऽपि मतान्तरमङ्गीकृत्य तदिदं प्रोक्तमि-
ति ज्ञेयम् ।

यदण्डमिति । अण्डस्यान्तरं मध्यभागो गोचरो विषय यस्य तत्
सर्वमित्यर्थः, दशेति । दशदशगुणान्युत्तराण्युत्तरोत्तरप्रमाणानि ये-

सर्वसिद्धिनिषेवितः ५५—

स्ववशाखिलसिद्धिः स्यात्सर्वसिद्धिनिषेवितः ॥

यथा—

दशभिः सिद्धसखीभिर्वृता महासिद्धयः क्रमादष्टौ ।

अणिमादयो लभन्ते नावसरं द्वारि कृष्णस्य ॥

अथाविचिन्त्यमहाशक्तिः ५६—

दिव्यस्वर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मरुद्रादिमोहनम् ॥ ७० ॥

भक्तप्रारब्धविध्वंस इत्याद्याचिन्त्यशक्तिता ॥

तत्र दिव्यस्वर्गादिकर्तृत्वं यथा—

आसीच्छायाद्वितीयः प्रथममथ विभुर्वत्सडिम्भानशेषान्

स्वांशांशेनाश्रु कृत्वा परमपुरुषतायोग्यरूपानमूँश्च ।

भूयः कलृप्तैः सतत्त्वैः सगणविधिगणैरप्यजाण्डैरखण्डैः

दुर्गमसङ्गमनी ।

षां तानि यानि, पुरुषः समष्टिजीवः, परं पदं वैकुण्ठं, ब्रह्म तु भगवत्-
एव क चिदधिकारिणि निर्विशेषत्वेनाविर्भावविशेषः ।

दशभिरणूर्मिमत्त्वादिभिः क्रमात् स्वस्वक्रमं प्राप्य सेविता इ-
त्यर्थः, सिद्धयश्चैता एकादशस्कन्धे ज्ञेयाः ।

दिव्येत्युत्तरोत्तरन्यूनक्रमः, ब्रह्मरुद्रादीत्यादिग्रहणात् संकर्षणो-
ऽपि ज्ञेयः; उत्तरोत्तरज्ञानप्रकर्षक्रमाद्, यथा तद्वाक्यं—

“प्रायो माया तु मे भर्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी”ति

दिव्यत्वमत्र ब्रह्माण्डान्तर्गमिपर्यन्तत्वं ज्ञेयं,

विध्वंस इति । विध्वंसनमित्यर्थः ।

आसीच्छायाद्वितीय इत्यनेन नरलीलामयत्वात् स्वयं भगवत्स्व-
व्यञ्जकात् तात्कालिकत्वाच्च, पूर्वप्रतिज्ञातमद्भुतत्वमुदाहृतम्, एवमु-
त्तरत्रापि, तदेतच्च—“अद्यैव त्वद्वत्तेऽस्य किं मम न त” इत्याद्यनुसा-

प्रत्येकं सेव्यमानानकृत लघुतरं थः प्रपद्ये तमीशम् ।

ब्रह्मरुद्रादिमोहनं यथा—

मोहितः शिशुहृतौ पितामहो हन्त शम्भुरपि जृम्भितो रणे ।

येन कंसरिपुणाऽद्य तत्पुरः के महेन्द्र ! विबुधा भवद्विधाः ॥

भक्तप्रारब्धविध्वंसो यथा दशमे—

गुरुपुत्रमिहानीतं निजकर्मनिबन्धनम् ।

आनयस्व महाराज ! मच्छासनपुरस्कृतः ॥

आद्यशब्देन दुर्घटघटनाऽपि यथा—

अपि जनिपरिहीनः सूनुराभीरभर्तु-

र्विभुरपि भुजयुग्मोत्सङ्गपर्याप्तमूर्तिः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

रेणाधिगम्यम् ।

मोहित इति । बाणयुद्धानन्तरं, कदाचित् पारिजातप्रत्यानयनाय कृतप्रौढिप्रलापमिन्द्रं प्रति श्रीनारदस्य हास्यवचनम्, अद्येति तस्य पूर्वपराजयोऽपि सूचितः ।

निजं तदीयं कर्मैव तन्निबन्धनं तन्नयने निमित्तं यस्य तं; तर्हि कथं तत्प्रारब्धकर्मातिक्रमितम् ? अत्राह—मच्छासनेति । भक्तत्वमस्य पितृसम्बन्धाज्ज्ञेयम् ।

दुर्घटघटना नाम स्वीयदुरूहावस्थितेः प्रकाशनम्,

अपीति । श्रीशुकदेववाक्यम्—अपि जनीति । अजोऽपि “जातो-जगतः शिवाये”ति श्रीमदुद्धववचनादिभ्यः, सूनुराभीरभर्तुरिति—“प्रागयं वसुदेवस्य कश्चिज्जातस्तवात्मज” इत्यादिगर्गवाक्यात्, स्वप्रसूगर्भजन्मेति तु पाठान्तरं, विभुरपि तथैव मूर्त्या सर्वं व्याप्नुवन्नपि श्रीजनन्यादीनां भुजयुग्मोत्सङ्गेन पर्याप्ता पूर्णत्वेन प्रकाशमाना मूर्तिर्यस्य सः, “न चान्तर्न बहिर्यस्ये”त्यादेः,

प्रकटितबहुरूपोऽप्येकरूपः प्रभुर्मे

धियमयमविचिन्त्यानन्तशक्तिर्धिनोति ॥

कोटिब्रह्माण्डविग्रहः ५७—

अगण्यजगदण्डाद्यः कोटिब्रह्माण्डविग्रहः ॥ ७१ ॥

इति श्रीविग्रहस्यास्य विभुत्वमनुकीर्तितम् ॥

यथा तत्रैव—

क्वाहं तमोमहदहंखचराभिर्वाभू-

संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः ।

क्वेद्विधाविगणिताण्डपराणुचट्यां

वाताध्वरोमविवरूप च ते महित्वम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

प्रकटितेति ।

चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक् ।

गृहेषु द्वाष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहदिति—

श्रीनारदवाक्यात् ।

अगण्यैर्जगदण्डैराढ्यो युक्त इत्यत्र क्वाहं तम इति दर्शयित्वा म-
हापुरुषत्वेऽपि सर्वब्रह्माण्डव्यापिविग्रहत्वमुदाहृत्य श्रीकृष्णत्वे कैमुत्य-
मानीतं, तच्च सर्ववैकुण्ठव्यापित्वाज्ज्ञेयं, तथाऽपि तेभ्यस्तस्य पृथक्त्व-
मत्यद्भुतं, तदुक्तं-गीतासु मया ततमित्यादि, क्वाहमिति तु व्याख्यायते
तमः=प्रकृतिः, महत्=महत्तत्त्वम्, अहम्=अहंत्वं, खम्=आकाशं, च-
रो=वायुः, भूः=पृथ्वी, सेयं ब्रह्माण्डखर्पररूपैवान्यत्र मन्यते, अत्र ततो-
भिन्नत्वेन निर्देशस्तु शिलापुत्रस्य शरीरमिति वज्ज्ञेयः, एताभिः संवे-
ष्टितं यदण्डं तदेव घटः तस्य च समष्टिजीवरूपेणाभिमान्यहं क च-
तुर्मुखशरीराभिमानित्वेन सप्तवितस्तिकारूपश्च सुतरामहं क ? वि-
शेषणयोः कर्मधारयः, ईद्विधेत्यादिरूपस्य ते तव महित्वं क, तत्रा-

यथा वा—

तस्त्रैब्रह्माण्डमाढ्यं सरकुलभुवनैश्चाङ्कितं योजनानां-
पञ्चाशत्कोट्यखर्वक्षितिखचितमिदं यच्च पातालपूर्णम् ।
तादृगब्रह्माण्डलक्षायुतपरिचयभागेककक्षं विधात्रा
दृष्टं यस्यात्र वृन्दावनमपि भवतः कः स्तुतौ तस्य शक्तः ॥

अवतारावलीबीजं ५८—

अवतारावलीबीजमवतारी निगद्यते ॥ ७२ ॥

यथा श्रीगीतगोविन्दे—

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्विभ्रते
दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते
म्लेच्छान्मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥

हतारिगतिदायकः ५९—

मुक्तिदाता हतारीणां हतारिगतिदायकः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

णवः तेषां चर्चया तु परमाणुपक्षे बहिरन्तर्गत्यागतिरूपा; ब्रह्माण्डपक्षे
यथाकालमाविर्भावलयरूपा वाताध्वा गवाक्षः भगवत्पक्षे रोमविवर-
हव सुष्मतमैकदेशः;

यदुक्तं विष्णुपुराणे—

“यस्यायुतायुतांशांशे विश्वशक्तिरियं स्थिते”ति ।

तत्रैवं वृन्दावनदृष्टान्तेन दर्शयति—यथा वेति ।

अवतारीति । भूमार्थे मत्वर्थायः, सर्वभ्योऽवतारिभ्य पूर्णत्वाद्
“एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयमि”त्युक्तेः;

अतिप्रसिद्धप्रमाणस्य परमशालस्य श्रीभागवतवाक्यस्य तस्यैव
महति लोकेऽपि दिग्दर्शनमस्तीत्याह—यथा श्रीगीतगोविन्द इति ।

यथा—

पराभवं केनिलवक्त्रतां च बन्धं च भीतिं च मृतिं च कृत्वा ।

पवर्गदाताऽपि शिखण्डमौले ! त्वं शान्त्रवाणामपवर्गदोऽसि ॥

यथा वा—

चित्रं मुरारे ? छुरवैरिपक्षस्त्वया समन्तादनुबद्धयुद्धः ।

अमित्रवृन्दान्यविभिद्य भेदं मित्रस्य कुर्वन्नमृतं प्रयाति ॥

आत्मारामगणाकर्षी ६०—

आत्मारामगणाकर्षीत्येतद्व्यक्तार्थमेव हि ॥ ७३ ॥

यथा—

मां पूर्णपरमहंसं माधव ! लीलामहौषधिघ्राता ।

कृत्वा बत सारङ्गं व्यधित कथं सारसे तृपितम् ॥

अथासाधारणचतुष्के लीला ६१—

यथा बृहद्वामने—

सन्ति यद्यपि मे प्राज्या लीलास्तास्ता मनोहराः ।

न हि जाने स्मृते रासे मनो मे कीदृशं भवेत् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

मुक्तीत्युपलक्षणं पूतनाऽऽदिषु भक्तिदातृत्वमपि ज्ञेयं, तदेवमप्यु-
क्त “ममी कृष्णे किलाद्भुता” इति ।

अमित्रवृन्दान्यविभिद्येत्येव पाठः, पक्षे मित्रः सूर्यः ।

सारङ्गश्चातको भक्तश्च, “सारङ्गाणां पदाम्बुजमि”त्युक्तेः भक्तपक्षे
सेति पृथक् पदं, पक्षान्तरे सारसं कमलम्, अत्र चातकीकरणं तत्रापि
कमले तृषीतीकरणमिति श्लेषेऽपि द्विगुणीभावाच्चाश्चर्यं गमितम् ।

सन्तीत्युदाहरणद्वयं परमोत्कर्षदर्शनार्थमेव लीलाविशेषमयतया
दर्शितं तदीयलीलासामान्यमपि सर्वोत्कृष्टतया श्रीभागवतादौ प्रसिद्ध-
मिति तच्च न दर्शितं, तथा हि श्रीपरीक्षित्वाक्यं “येन येनावतारेण”-
ति, “यत् शृण्वतोऽपैत्यरतिविंशुष्णे”त्यादि च, प्राज्याः=प्रचुराः ।

यथा वा—

परिस्फुरतु सुन्दरं चरितमत्र लक्ष्मीपते-

स्तथा भुवननन्दिनस्तदवतारवृन्दस्य च ।

हरेरपि चमत्कृतिप्रकरबर्द्धनः किं तु मे

बिभर्त्ति हृदि विस्मयं कमपि रासलीलारसः ॥

प्रेम्णा प्रियाधिक्यं ६२—

यथा दशमे—

अटति यद्भवानन्दि काननं वृष्टिर्युगायते त्वामपश्यताम् ।

कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम् ॥

यथा वा—

ब्रह्मरात्रिततिरप्यघशत्रोः सा क्षणार्धवदगात्तव सङ्गे ।

हा क्षणार्धमपि बल्लविकानां ब्रह्मरात्रिततिवद्विरहेऽभूत् ॥

वेणुमाधुर्यम् ६३—

यथा तत्रैव—

सवनशस्तदुपधार्यं सुरेशः शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः ।

कवय आनतकन्धरचिताः कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

अटतीत्याद्युदाहरणमुत्कण्ठाद्वारा तद्वोधकम् अन्यत्राश्रवणाद्,

विशेषोदाहरणानि चैतानि श्रेयानि—

“अहो भाग्यमहो भाग्यमि”त्यादि, “नेमं विरिञ्च” इत्यादि, “इत्थं-
सतां ब्रह्मसुखानुभूत्ये”त्यादि, “नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादे”-
इत्यादि च, ब्रह्मरात्रीति । केषां चिद् “ब्रह्मरात्र उपावृत्त” इत्यस्य रासा-
न्तपद्यस्य तथा व्याख्यानात् तथैव चानुमतं श्रीस्वामिचरणैः “शशा-
ङ्कश्च सगणो विस्मितोऽभवदि”त्यत्र; किं तु “तास्ताः क्षपा प्रेषृतमेने”-
त्यादौ श्रीभगवद्वाक्यं निर्विवादमेव ।

“सवनशस्तदुपधार्यं” इत्याद्यन्ते “नद्यस्तदा तदुपधार्ये”त्यादी-

यथा वा विदग्धमाधवे—

रुन्धन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपरं कुर्वन्मुहुस्तुम्बुरं-

ध्यानादन्तरयन् सनन्दनमुखान्विस्माययन्नेधसम् ।

औत्सुक्यावलिभिर्बलिं चटुलयन् भोगीन्द्रमाघूर्णयन्

भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमभितो बभ्राम वंशीध्वनिः ॥

रूपमाधुर्यम् ४—

यथा तृतीये—

यन्मर्त्यलीलौपपिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम् ।

विस्मापनं स्वस्य च सौभगद्वैः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम् ॥

श्रीदशमे च—

का स्त्र्यङ्ग ! ते कलपदामृतवेणुगीत-

संमोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत् त्रिलोक्याम् ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

नि, सवनशः=वारं वारं, तद्=वेणुगीतं, कश्मलं=मोहम्, अनिश्रि-
ततत्त्वाः=किमिदमिति निश्चेतुमशक्ताः ।

रुन्धन्निति । अत्र फलरूपत्वेनैव सर्वत्र प्रसरणमण्डकटाहभेदश्च
ज्ञेयं, तच्च तुम्बुरुचमत्कारादिना दर्शितम् अलौकिकस्वभावत्वात्,
तच्चोक्तं “सवनश” इत्यादिना, विस्मरेत्यत्रित्यत्र विस्माययन्निति पाठः
शिष्टः, यद्रूपमिति पूर्वेणान्वयः,

स्वयोगमाया=स्वस्वरूपभूताचिन्त्यशक्तिः, तस्या बलं दर्शयता
एतावदप्यस्तीति तत् प्रकटयता गृहीतम् आकृष्टं जगत्यामानीतं प्र-
कटितमित्यर्थः, तदेवमेवंभूतं भगवन्मर्त्यलीलौपयिकमिति तल्लीलाया-
अपि माहात्म्यं तथाविधमेव दर्शितम्, मर्त्येषु लीला तस्यामौपयिकं-
तत्सदृशलीलायोग्यद्विभुजादित्वादतिमनोहरमित्यर्थः, किं बहुना स-
र्वदेशकालगततत्तद्रूपवेत्तुरपि स्वस्य च विस्मापनं तादृगनुभवाद-
यतः सौभगद्वैः परं पदं=परमा प्रतिष्ठा यत् खलु भूषणस्यापि भूष-

त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं-

यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यविभ्रन् ॥

यथा वा ललितमाधवे—

अपरिकलितपूर्वः कश्चमत्कारकारी स्फुरति मम गरीयानेप माधुर्यपूरः ।

अयमहमपि हन्त प्रेक्ष्य यं लुब्धचेताः सरभसमुपभोक्तुं कामये राधिकेव ॥

समस्तविविधाश्चर्य्यकल्याणगुणवारिधेः ॥

गुणानामिह कृष्णस्य दिङ्मात्रमुपदर्शितम् ॥ ७४ ॥

यथा च श्रीदशमे—

गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं-

हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य ।

कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै-

र्भूपांशवः खे मिहिका द्युभासः ॥

नित्यगुणो वनमाली यदपि शिखामणिरशेषनेतृणाम् ॥

भक्तापेक्षिकमस्य त्रिविधत्वं लिख्यते तदपि ॥ ७५ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

णमङ्गं यत्र तादृशम् ।

अपरिकलितेति । मणिभिस्तौ स्वप्रतिबिम्बं लब्धातिशयं स्वव
पुश्चित्रं दृष्ट्वा श्रीभगवन्मनोरथः प्रतिक्षणं नवनवायमानतन्माधुर्य्य-
त्वात् ।

गुणा आत्मानः स्वभावा यस्य तस्य प्रकटितप्राकृतातीतस्वा-
भाविकानन्तगुणस्य तवास्तां तावत्तत्तद्गुणानां समस्तानां तथा प्र-
त्येकमप्यवान्तरवृत्तिकोटीनां गणनवार्त्ता; अस्य जगतो हितावतीर्ण-
स्य जगद्गतानन्तजीवहिताय तद्गुणैकदेशमप्यवतीर्य्य प्रकटयतस्त-
व ये ते गुणांशास्तत्र तत्र प्रकटितास्तानपि गणयितुं क ईशिरे न के-
पीत्यर्थः, तत्र संभावनानिरासार्थमाह—यैर्वेति ।

हरिः पूर्णतमः पूर्णतरः पूर्ण इति त्रिधा ॥
 श्रेष्ठमध्यादिभिः शब्दैर्नाट्ये यः परिपद्यते ॥ ७६ ॥
 प्रकाशिताखिलगुणः स्मृतः पूर्णतमो बुधैः ॥
 असर्वव्यञ्जकः पूर्णतरः पूर्णोऽल्पदर्शकः ॥ ७७ ॥
 कृष्णस्य पूर्णतमता व्यक्ताऽभूद् गोकुलान्तरे ॥
 पूर्णपूर्णतरता द्वारकामथुराऽऽदिषु ॥ ७८ ॥
 स पुनश्चतुर्विधः स्याद् धीरोदात्तश्च धीरललितश्च ॥
 धीरप्रशान्तनामा तथैव धीरोद्धतः कथितः ॥ ७९ ॥
 बहुविधगुणक्रियाणामास्पदभूतस्य पद्मनाभस्य ॥
 तत्तल्लीलाभेदाद्विरुध्यते न हि चतुर्विधता ॥ ८० ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

प्रकाशितेति । अत्राखिलत्वमन्यद्वयापेक्षया ज्ञेयं, भक्तभक्त्यनुरूपा-
 धिकाधिकप्रकाशाद्, असर्वत्वं पूर्वापेक्षया, अल्पत्वं च स्वपूर्वापेक्ष-
 या तथाऽपि पूर्णतरत्वादिकमन्यतरापेक्षया ।

कृष्णस्येति । अत्र पूर्णतमता चैश्वर्य्यगता,
 तावत् सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात् ।
 व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः ॥

इत्यादिषु,

माधुर्य्यगता—

नन्दः किमकरोद् ब्रह्मन् ! श्रेय एवं महोदयमि-

त्यादिषु,

रूपागता च—अहो वकीयं स्तनकालकूटमित्यादिषु, द्वारका-
 मथुराऽऽदिष्विति न यथासंख्यतया प्रयोगः समसंख्यत्वेनाप्रयो-
 गात् किं तु यथासम्भवतथैव कुत्रचित् कस्यापि विशेषदर्शनात् ।

तत्र धीरोदात्तः—

गम्भीरो विनयी क्षन्ता करुणः सुदृढव्रतः ॥

अकथनो गूढगर्वो धीरोदात्तः सुसत्त्वभृत् ॥ ८१ ॥

यथा—

वीरम्मन्यमदप्रहारिहसितं धौरेयमात्तोद्धृतौ

निर्व्यूढव्रतमुन्नतक्षितिधरोद्धारेण धीराकृतिम् ।

मथ्युन्चैःकृतकिलिबपेऽपि मधुरं स्तुत्या मुहुर्यन्त्रितं-

प्रेक्ष्य त्वां मम दुर्वितर्कहृदयं धीर्गांश्च न स्पन्दते ॥

गम्भीरत्वादिसामान्यगुणा यदिह कीर्तिताः ॥

तदेतेषु तदाधिक्यप्रतिपादनहेतवे ॥ ८२ ॥

इदं हि धीरोदात्तत्वं पूर्वैः प्रोक्तं रघूद्गहे ॥

तत्तद्भक्तानुसारेण तथा कृष्णे विलोक्यते ॥ ८३ ॥

अथ धीरललितः—

विदग्धो नवतारुण्यः परिहासविशारदः ॥

निश्चिन्तो धीरललितः स्यात्प्रायः प्रेयसीवशः ॥ ८४ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

वीरमिति । महेन्द्रवाक्यं तत्र वीरम्मन्येति गूढगर्वत्वं, धौरेयमिति करुणत्वं, निर्व्यूढेति सुदृढव्रतत्वम्, उन्नतेति सुसत्त्वभृत्त्वं, मथीति क्षन्तृत्वं, स्तुत्येति विनायित्वमकथनत्वं च, दुर्वितर्कहृदयमिति गम्भीरत्वं दर्शितं, मम धीरित्यादिरन्वयः ।

गम्भीरत्वादीति । एतेषु=धीरोदात्तादिषु त्रिषु, तेषां=गाम्भीर्यादीनाम्, आधिक्यप्रतिपादनहेतवे=तदन्यान् सर्वान् गुणानुपमर्द्य समुदयेनाविर्भूतानां तेषां स्पष्टत्वज्ञापनार्थमित्यर्थः,

प्रेयसीवशः=प्रेयसीनां प्रेमविशेषतारतम्येन वशीभूतः,

यथा—

वाचा सूचितशर्वरीरतिकलाप्रागल्भ्यया राधिकां-
ब्रीडाकुञ्चितलोचनां विरचयन्नये सखीनामसौ ।
तद्वक्षोरुहचित्रकेलिमकरीपाण्डित्यपारं गतः
कैशोरं सफलीकरोति कलयन् कुञ्जे विहारं हरिः ॥

गोविन्दे प्रकटं धीरललितत्वं प्रदृश्यते ॥

उदाहरन्ति नाट्यज्ञाः प्रायोऽत्र मकरध्वजम् ॥ ८५ ॥

अथ धीरशान्तः—

शमप्रकृतिकः क्लेशसहनश्च विवेचकः ॥

विनयादिगुणोपेतो धीरशान्त उदीर्यते ॥ ८६ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

यथोक्तं—

या माऽभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
सम्बृश्य तद्वः प्रतियातु साधुनेति,
“अनया राधितो नूनमि”त्यादि च ।

वाचेति ।

यज्ञपत्नीसदृशीः प्रति तत्तल्लीलाऽन्तरङ्गद्वया वाक्यम् ।

विनयमधुरमूर्तिरित्यत्र विनयेन तत्क्लेशसहनत्वमपि लक्ष्यते,
यथोक्तस्तत्रैव तथा तद्व्यवहारः—

सारथ्यपारिषदसेवनसख्यदौत्य-
वीरासनानुगमनस्तवनप्रणामम् ।
स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत्प्रणतिं च विष्णो-
र्भक्तिङ्करोति नृपतिश्चरणारविन्दे, इति ।

अत्र शृण्वन्निति पूर्वैणान्वयः, वीरासनं खड्गहस्ततया स्थितस्य
रात्रौ जागरणं, नृपतिः=परीक्षित्,

यथा—

विनयमधुरमूर्त्तिर्मन्थरस्निग्धतारो-
वचनपटिमभङ्गीसूचिताशेषनीतिः ।
अभिदधदिह धर्मं धर्मपुत्रोपकण्ठे
द्विजपतिरिव साक्षात्प्रेक्ष्यते कंसवैरी ॥

युधिष्ठिरादिको धीरैर्धीरशान्तः प्रकीर्तितः ॥

अथ धीरोद्धतः—

मात्स्यर्यवानहङ्कारी मायावी रोषणश्चलः ॥ ८७ ॥

विकत्थनश्च विद्वद्भिर्धीरोद्धत उदाहृतः ॥

यथा—

आः पापिन् ! यवनेन्द्र ! दुर्दुर ! पुनर्व्याघुट्य सद्यस्त्वया
वासः कुत्र चिदन्यकूपकुहरक्रोडेऽद्य निर्मयीयताम् ।
हेलोत्तानितदृष्टिमात्रभसितव्रह्माण्डभाण्डः पुरो-
जागर्म्मि त्वदुपग्रहणाय भुजगः कृष्णोऽत्र कृष्णाभिधः ॥

धीरोद्धतस्तु विद्वद्भिर्भीमसेनादिरुच्यते ॥ ८८ ॥

मात्स्यर्याद्याः प्रतीयन्ते दोषत्वेन यदप्यमी ॥

लीलाविशेषशालित्वान्निर्दोषेऽत्र गुणाः स्मृताः ॥ ८९ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

उदाहरणे धर्मपुत्रोपकण्ठम् इत्येव पाठः ।

आः पापिन्निति । पत्रिकेयं, व्याघुट्य = विनिवृत्य, हेलेत्यादिना-
ऽत्र मायावित्त्वं चायातं वस्तुतस्तथात्वाभावात् ।

लीलाविशेषोऽत्र भक्तरक्षणाय दुष्टदमनरूपः, तच्छालित्वात्तदुप-
योगित्वादित्यर्थः ।

आः पापिन्नित्यत्र भक्तिरसत्वाव्यक्तिमाशङ्क्योदाहरणान्तरं मा-

यथा वा—

अम्भोभारभरप्रणम्रजलदभ्रान्ति वितन्वन्नसौ
घोराडम्बरडम्बरः छविकटामुत्क्षिप्य हस्तार्गलाम् ।
दुर्वारः परवारणः स्वयमर्हं लब्धोऽस्मि कृष्णः पुरो-
रे श्रीदामकुरङ्ग ! सङ्गरभुवो भङ्गं त्वमङ्गीकुरु ॥

मिथोविरोधिनोऽप्येते के चिन्निगदिता गुणाः ॥

हरौ निरङ्कुशैश्वर्यात्कोऽपि न स्यादसम्भवः ॥ ९० ॥

तथा च कौभ्म—

अस्थूलश्चानणुश्चैव स्थूलोऽणुश्चैव सर्वतः ।
अवर्णः सर्वतः प्रोक्तः श्यामो रक्तान्तलोचनः ॥
ऐश्वर्य्ययोगाद्गवान्विरुद्धार्थोऽभिधीयते ।
तथाऽपि दोषाः परमे नैवाहाय्याः कथं चन ॥
गुणा विरुद्धा अपि तु समाहाय्याः समन्ततः ।

महावाराहे—

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः ।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ॥
परमानन्दसंदोहा ज्ञानमालाश्च सर्वतः ।
सर्वे सर्वगुणैः पूर्णा सर्वदोषविवर्जिताः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

त्सर्याभासमयतद्रसत्वेन दर्शयति—यथा वेति । अम्भोभारभरप्रणमे-
त्येव पाठः, अम्भोभारनमन्नवीनजलदेतिपाठान्तरे शत्रन्तेन सह तत्-
पुरुषो न स्याद्,

आडम्बरः समारम्भे गजगर्जिततूर्य्ययोरिति विश्वः,
ततश्च घोरो भयानक आडम्बरस्य डम्बर आटोयो यस्य सः ।

पुनर्मात्सर्याद्या इत्यादिकं स्थापयन् गुणवैचित्र्यं दर्शयति—मि-
थ इति । निरङ्कुशैश्वर्यात् सर्वाश्रयत्वादित्यर्थः, शाश्वता जगति पुनः

वैष्णवतन्त्रेऽपि—

अष्टादशमहादोषै रहिता भगवत्तनुः ।

सर्वैश्वर्यमयी सत्यविज्ञानानन्दरूपिणी ॥

अष्टादश महादोषा विष्णुयामले—

मोह १ स्तन्द्रा २ भ्रमो ३ रूक्षरसता ४ काम उल्वणः ५ ।

लोलता ६ मद ७ मात्सर्यं ८ हिंसा ९ खेद १० परिश्रमौ ११

दुर्गमसङ्गमनी ।

पुनराविर्भाविनः, सर्वगुणैरित्यत्र स्वस्वापेक्षितैरिति ज्ञेयम्, “एते चांशकलाः पुंस” इत्युक्तेः ।

मोहस्तन्द्रेति । भक्तप्रेमसम्बन्धेन त्वेते च गुणत्वाय कल्पन्ते ।

यथा—

“ततो वत्सानदष्टैत्य पुलिनेऽपि च वत्सपानि”त्यादौ मोहः,

“क चित् पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्षितः ।

वृक्षमूलाश्रयः शेते गोपोत्सङ्गोपबर्हणः” ॥

इत्यादौ तन्द्राखेदश्रमाः,

“तावद्भ्रियुग्ममनुकृष्ये”त्यारभ्य; “अनुसृत्य लोकं मुग्धप्रभीतव-
दुपेयतुरन्ति मात्रोरि”त्यादौ भ्रमः,

रूक्षरसतानाम प्रेमसम्बन्धं विना रागः, स तु नास्त्येव,
उल्वणो=दुःखदः कामो लौकिकः, तस्य प्रेमरूपकामत्वात् स च
नास्त्येव,

लोलता चाञ्चल्यं सा च गुणो-यथा “वत्सान्मुञ्चन् क चिदसम-
य”इत्यादौ,

मदोऽपि यथा “मदविघूर्णितलोचन ईषदि”त्यादौ,
तथा मात्सर्यं—

“लोकेशमानिनं मौढ्याद्धरिष्ये श्रीमदं तम” इत्यादौ,

हिंसा तु स्फुटैव बहुत्र,

असत्यं १२ क्रोध १३ आकाङ्क्षा १४ आशङ्का १५ विश्वविभ्रमः १६ ॥

विषमत्वं १७ परापेक्षा १८ दोषा अष्टादशोदिता इति,

इत्थं सर्वावतारेभ्यस्ततोऽप्यत्रावतारिणः ॥

ब्रजेन्द्रनन्दने सुष्ठु माधुर्य्यभर ईरितः ॥ ९१ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

असत्यं—

“नाहं भक्षितवानम्बे”त्यादौ; जरासन्धच्छलनादौ च,

क्रोधोऽपि तत्र तत्र प्रसिद्ध एव,

आकाङ्क्षा—“तां स्तन्यकाम आसाद्ये”त्यादौ,

आशङ्का—“काऽप्यदृष्ट्वाऽन्तर्विपिन”इत्यादौ,

विश्वविभ्रमो=जगदावेशः, स च ब्रह्मादिभक्तसम्बन्धेन जगत्पालनेच्छामयः,

वैषम्यं—

“समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहमि”त्यादौ,

परापेक्षा च—“अहं भक्तपराधीन” इत्यादाविति,

तस्मात्

“क शोकमोहौ स्नेहौ वा भयं वा येऽज्ञसम्भवा”-

इत्यत्र त्वज्ञसम्भवा ये त एव न सन्ति न तु विज्ञसम्भवा ये तेषां श्रीशुकदेवादिषु तत्स्मारितानां-
“तद्गताखिलेन्द्रिय” इत्याद्युक्तैर्भगवत्प्रेममोहादौ दृष्टमिति ।

पूर्वोक्तपूर्णतमत्वं व्यञ्जन्नुपसंहरति-इत्थमिति । पूर्वप्रकरणोक्त-
प्रकारेणेत्यर्थः, ततस्तस्मात्प्रसिद्धादवतारिणो नानाऽवतारकर्तुर्म-
हाविष्णुतोऽपि, अत्र सुष्ठुति माधुर्य्यस्य प्राचुर्य्यादेवोक्तिरैश्वर्य्यमपि
ज्ञेयमित्यर्थः,

तथा च ब्रह्मसंहितायामादिपुरुषरहस्ये—

यस्यैकनिश्चसितकालमथावलम्ब्य

जीवन्ति रोमविलजा जगदण्डनाथाः ।

विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो-

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

अथाष्टावनुकीर्त्यन्ते सद्गुणत्वेन विश्रुताः ॥

मङ्गलालंक्रियारूपाः सत्त्वभेदास्तु पौरुषाः ॥ ९२ ॥

शोभा विलासो माधुर्यं मङ्गल्यं स्थैर्यतेजसी ॥

ललितौदार्यमित्येते सत्त्वभेदास्तु पौरुषाः ॥ ९३ ॥

तत्र शोभा—

नीचे दयाऽधिके स्पृद्धा शौर्योत्साहौ च दक्षता ॥

सत्यं च व्यक्तिमायाति यत्र शोभेति तां विदुः ॥ ९४ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तदेवाह-तथा चेति । “यस्यैकनिश्चसितकालमि”त्यत्र गोविन्द-
शब्देन च तत्र श्रीव्रजेन्द्रनन्दन एवोच्यते “सुरभीरभिपालयन्तमि”-
त्यादिना वेणुं कणन्तमित्यादिना च पूर्वं तस्यैव वर्णनात् ततस्तन्महा-
माधुर्यमपि सूचितं, न चायं श्रीनन्दनन्दनादन्य एव मन्तव्यः, गौतमीये
दशार्णाष्टादशार्णयोर्व्याख्यायाम्-

“अनेकजन्मसिद्धानां गोपीनां पतिरेव वा ।

नन्दनन्दन इत्युक्तस्त्रैलोक्यानन्दवर्द्धन” इति

बहुष्वर्थेष्वप्यस्यैवार्थस्य पर्यवसायित्वात्, ‘सकललोकमङ्गलो-
नन्दगोपतनयो देवते”ति कृष्यादिस्मरणाच्च,

मङ्गलेति । मङ्गलस्वरूपशोभाभूता इत्यर्थः,

सत्त्वभेदाः=अन्तःकरणवृत्तिविशेषाः,

अत्राधिक इत्यधिकम्मन्य इत्यर्थः, यत्र=मङ्गलालंक्रियायाम् ।

यथा—

स्वर्गध्वंसं विधित्सुब्रंजभुवि कदनं छट्ट वीक्ष्यातिवृष्टया
नीचानालोच्य पश्चान्नमुचिरिपुमुखानूदकारुण्यवीचिः ।
अप्रेक्ष्य स्वेन तुल्यं कमपि निजरूपामत्र पर्यासिपात्रं-
बन्धूनानन्दयिष्यन्नुदहरत हरिः सत्यसंधो महाऽद्रिम् ॥

अथ विलासः—

वृषभस्येव गम्भीरा गतिधीरं च वीक्षणम् ॥
सस्मितं च वचो यत्र स विलास इतीर्यते ॥ ९५ ॥

यथा—

मलश्रेण्यामविनयवतीं मन्थरां न्यस्य दृष्टि-
व्याधुन्वानो द्विप इव भुवं विक्रमाडम्बरेण ।
वागारम्भे स्मितपरिमलैः क्षालयन्मञ्चकक्षां-
तुङ्गे रङ्गस्थलपरिसरे सारसाक्षः ससार ॥

माधुर्यम्—

तन्माधुर्यं भवेद्यत्र चेष्टाऽऽदेः स्पृहणीयता ॥

यथा—

वरामध्यासीनस्तटभुवमवष्टम्भरुचिभिः
कदम्बैः प्रालम्बं प्रवलितविलम्बं विरचयन् ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

तथाऽपि दुर्जनमुख्यमेकं मारयत्वित्याशङ्कयाह—अप्रेक्ष्येति ।

वृषभस्येति गतौ वीक्षणे च योज्यम् ।

यतो मन्थरा नम्रतावैयग्यादिशून्या तत एवाविनयवतीति ज्ञेयं,
द्विप इवेत्यत्र वृष इवेति पाठान्तरम्, अवष्टम्भः सुवर्णं, प्रालम्बम्
ऋजुलम्बि मालयम्, प्रवलितो विलम्बो यत्र तद्यथा स्यात् तद्व्याजेनैव
तत्र स्थितिः स्यादित्यभिप्रायादिति भावः, पाठान्तरं तु नात्युपयुक्तम् ।

प्रपन्नायामग्रे मिहिरदुहितुस्तीर्थपदवी-

कुरङ्गीनेत्रायां मधुरिपुरपाङ्गं विकिरति ॥

मङ्गल्यं—

मङ्गल्यं जगतामेव विश्वासास्पदता मता ॥ ९६ ॥

यथा—

अन्याथ्यं न हराविति व्यपगतद्वारार्गला दानवा-

रक्षी कृष्ण इति प्रमत्तमभितः क्रीडाछ रक्ताः स्रवाः ।

साक्षी वेत्ति स भक्तिमित्यवनतवाताश्च चिन्तोज्झिताः

के विश्वंभर ! न त्वदङ्घ्रियुगले विस्रम्भितां भेजिरे ॥

स्थैर्यं—

व्यवसायादचलनं स्थैर्यं विघ्नाकुलादपि ॥

यथा—

प्रतिकूलेऽपि सशूले शिवे शिवायां निरंशुकायां च ।

व्यलुनादेव मुकुन्दो विन्ध्यावलिनन्दनस्य भुजान् ॥

तेजः—

सर्वचित्तावगाहित्वं तेजः सद्भिरुदीर्यते ॥ ९७ ॥

यथा दशमे—

मल्लानामशनिर्दृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्

गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

कृष्ण इत्यत्र सोऽयमिति वा पाठः, प्रमत्तमनवहितं यथा स्यात्तथा,
रक्ता इति प्रमादरूपः कर्तृधर्मः क्रियायामारोप्यते क्रियाकर्त्रोरासत्या
तादात्म्यबोधनाय, अन्यायमित्यत्र भक्तिर्यथा कथं चिदाश्रयमात्रं,
साक्षी वेत्ति ममाप्यसावगतितामित्याश्रितां स्वस्थिता-
इति वा तृतीयश्चरणः ।

मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां-
बृष्णीनां पग्देवतेति विदितो रङ्गं गतः सायजः ॥

यद्वा—

तेजो बुधैरवज्ञाऽऽदेरसहिष्णुत्वमुच्यते ॥

यथा—

आकुप्टे प्रकटं दिदण्डयिषणा चण्डेन रङ्गस्थले
नन्दे चानकदुन्दुभौ च पुरतः कंसेन विश्वद्रुहा ।
दृष्टिं तत्र सरारिमृत्युकुलटासंपर्कदूर्ती क्षिपन्
मञ्चस्योपरि संचुकूर्हिपुरसौ पश्याच्युतः प्राञ्चति ॥

ललितं—

शृङ्गारप्रचुरा चेष्टा यत्र तं ललितं विदुः ॥ ९८ ॥

यथा—

विधत्ते राधायाः कुचमुकुलयोः केलिमकरीं-
क्रेण व्यग्रात्मा सरभसमसव्येन रसिकः ।
अरिष्टे साटोपं कटु खति सव्येन विहस-
न्नुदञ्चद्रोमाञ्चं रचयति च कृष्णः परिकरम् ॥

औदार्यं—

आत्माद्यर्पणकारित्वमौदार्यमिति कीर्त्यते ॥

यथा—

वदान्यः को भवेदत्र वदान्यः पुरुषोत्तमाद् ॥ ९९ ॥

अकिञ्चनाय येनात्मा निर्गुणायापि दीयते ॥

सामान्या नायकगुणाः स्थिरताऽऽद्या यदप्यमी ॥ १०० ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तत्र=कंसे, सुरारीणां या मृत्युरूपा कुलटा तस्याः संपर्काय दूती-
रूपां दृष्टिं क्षिपन् प्रेरयन्नित्यनुसारेणैव पाठस्तेषामभीष्टः, दानवव-

तथाऽपि पूर्वतः किञ्चिद्विशेषात्पुनरीरिताः ॥

अथास्य सहायाः—

अस्य गर्गादयो धर्मे युयुधानादयो युधि ॥ १०१ ॥

उद्धवाद्यास्तथा मन्त्रे सहायाः परिकीर्त्तिताः ॥

अथ कृष्णभक्ताः—

तद्भावभावितस्यान्ताः कृष्णभक्ता इतीरिताः ॥ १०२ ॥

ये सत्यवाक्य इत्याद्या ह्रीमानित्यन्तिमा गुणाः ॥

प्रोक्ताः कृष्णेऽस्य भक्तेषु ते विज्ञेया मनीषिभिः ॥ १०३ ॥

ते साधकाश्च सिद्धाश्च द्विविधाः परिकीर्त्तिताः ॥

तत्र साधकाः—

उत्पन्नरतयः सम्यङ् नैर्विघ्न्यमनुपागताः ॥ १०४ ॥

कृष्णसाक्षात्कृतौ योग्याः साधका इति कीर्त्तिताः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

य्यादिशब्दास्तु कंसस्य नापकर्षव्यञ्जकाः ।

पूर्वतः—“आफलोदयकृत् स्थित” इत्यादितः, किञ्चिद्विशेषात्= परस्परपोषणात् कुत्रापि स्वतः पोषणाच्च, पुनः सत्त्वभेदेऽवीरिताः ।

तद्भावेति । तेन सर्वोत्कृष्टेन निजामीष्टेन च भावेन रत्यादिविशेषेण भावितं वासितं स्वान्तं येषां ते तथा सजातीयतदीयमहाभक्त- विशेषा आलम्बना इत्यर्थः, अन्ये तूद्दीपना इति भावः, तथैवोद्दीपनेऽपि भक्ता गणयिष्यन्ते ।

विज्ञेया विशेषेण ज्ञेया इत्यन्येऽपि यथासंभवं ज्ञेया इत्यर्थः ।

तद्वैशिष्ट्यज्ञापनार्थं भक्तभेदान् दर्शयति—ते साधका इति ।

पूर्वस्य विघ्नकारणभावमाशङ्क्यान्यदुहाहरणमाह—यथा वेति ।

पथैकादशे—

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विपत्त च ।

प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥

यथा वा—

सिक्ताऽप्यश्रुजलोत्करेण भगवद्वात्तानदीजन्मना

तिष्ठत्येव भवामिहेतिरिति ते धीमन्नलं चिन्तया ।

हृद्व्योमन्यमृतरुपृहाहरकृपावृष्टेः स्फुटं लक्ष्यते

नेदिष्ठः पृथुरोमताण्डवभरात्कृष्णाम्बुदस्योद्गमः ॥

विल्वमङ्गलतुल्या ये साधकास्ते प्रकीर्त्तिताः ॥ १०५ ॥

अथ सिद्धाः—

अविज्ञाताखिलक्लेशाः सदा कृष्णाश्रितक्रियाः ॥

सिद्धाः स्युः सततप्रेमसौख्यास्वादपरायणाः ॥ १०६ ॥

संप्राप्तसिद्धयः सिद्धा नित्यसिद्धाश्च ते द्विधा ॥

तत्र संप्राप्तसिद्धयः—

साधनैः कृपया चास्य द्विधा संप्राप्तसिद्धयः ॥ १०७ ॥

तत्र साधनसिद्धाः

यच्च व्रजन्त्यनिमिषामृषभानुवृत्त्या

दूरेयमा ह्युपरि नः स्पृहणीयशीलाः ।

भर्तुर्मिथः सुयशसः कथनानुराग-

वैक्लव्यबाष्पकलया पुलकीकृताङ्गाः ॥

यथा वा—

ये भक्तिप्रभविष्णुताकबलितक्लेशोर्मयः कुर्वते

दुर्गमसङ्गमनी ।

हेतिर्ज्वाला, पक्षे पृथुरोमाणो मत्स्याः ।

अथ महाभक्तान् दर्शयति—अथ सिद्धा इति ।

हृक्पातेऽपि घृणां कृतप्रणतिषु प्रायेण मोक्षादिषु ।

तान् प्रेमप्रसरोत्सवस्तवकितस्वान्तान् प्रमोदाश्चभि-

निर्धौतास्यतटान्मुहुः पुलकिनो धन्यान्नमस्कुर्महे ॥

मार्कण्डेयादयः प्रोक्ताः साधनैः प्राप्तसिद्धयः ॥ १०८ ॥

अथ कृपासिद्धाः—

यथा श्रीदशमे—

नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि ।

न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः ॥

अथापि ह्युत्तमश्लोके कृष्णे योगेश्वरेद्वरे ।

भक्तिर्दृढा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि ॥

यथा वा—

न का चिदभवद् गुरोर्भजनयन्त्रणेऽभिज्ञता

न साधनविधौ च ते श्रमलवस्य गन्धोऽप्यभूत् ।

गतोऽसि चरितार्थतां परमहंसमृग्यश्रिया

मुकुन्दपदपद्मयोः प्रणयसीधुनो धारया ॥

कृपासिद्धा यज्ञपत्नीवैरोचनिशुकादयः ॥

अथ नित्यसिद्धाः—

दुर्गमसङ्गमनी ।

प्रायेणेति । “कथं चिद्यदि वाञ्छती”तिवत्, तासु यज्ञ-
पत्नीषु भगवद्गुणकथनसत्सङ्गकारणत्वमनुस्मृत्य संस्कारादीनां-
प्रेमसाधनत्वं च सांदिह्याह—यथा वेति । न का चिदिति । श्रीशुक-
देवमुद्दिश्य श्रीनारदवाक्यम् ।

कृपासिद्धा यज्ञपत्नीति यदुक्तं तत्त्वापातप्रतीत्यपेक्षयेति ज्ञेयम् ।

मुकुन्दवद्ये नित्यानन्दगुणास्ते नित्यसिद्धा इत्यन्वयः, नित्याश्चा-
नन्दरूपाश्च गुणास्तदुपलक्षितदेहाश्च येषां त इति, तेषां मुख्यलक्ष-

आत्मकोटिगुणं कृष्णे प्रेमाणं परमं गताः ॥

नित्यानन्दगुणाः सर्वे नित्यसिद्धा मुकुन्दवत् ॥ १०९ ॥

यथा पाद्ये—

श्रीभगवत्सत्यभामादेवीसंवादे—

अथ ब्रह्मादिदेवानां तथा प्रार्थनया भुवः ।

आगतोऽहं गणाः सर्वे जातास्तेऽपि मया सह ॥

एते हि यादवाः सर्वे मद्रणा एव भामिनि !

सर्वदा मत्प्रिया देवि ! मत्तुल्यगुणशालिनः ॥

श्रीदशमे—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

गमाह—आत्मेति । आत्मप्रेमतोऽपि कोटिगुणमित्यर्थः, मध्यपद-
लोपात् ।

मत्प्रिया इति । अहमेव प्रियो येषां न तथाऽऽत्मादय इत्यर्थः,
अहो भाग्यमहो भाग्यमिति विस्मयाधिक्ये वीप्सा, तेन द्वयोरेव
पदयोर्न पौनरुक्त्यम्, अथ वा नन्दगोपव्रजौकसां भाग्यमहः
प्रकाशकं यावद्भाग्यद्योतकमित्यर्थः, अहो इति विस्मये, यद् यस्माद्
येषां वा ब्रह्म त्वं मित्रं कीदृशं ब्रह्म पूर्णं मूर्त्तपूर्णानन्दत्वाद्
अमूर्त्तानन्दस्तु तथा पूर्णो न भवति तदपेक्षया श्रीविग्रहस्यैव
प्रचुरानन्दत्वात् तथा च “संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वो-
रि”ति ब्रह्मज्ञाननिपुणानामपि चित्ततनुसंक्षोभसूचनात् पुनः की-
दृशत्वं ब्रह्म परमानन्दं परम आनन्दो यस्माद् अमूर्त्तानन्दाद् मूर्त्ता-
नन्दस्य परमत्वं श्रेष्ठत्वमुक्तप्रकारसनकाद्युक्तेः, अतोऽत्र पूर्णत्वं परमा-
नन्दत्वं च द्वयमेव मूर्त्तानन्दत्वबोधकम् अन्यथा ब्रह्मेत्यनेनैव तदुभय-
मुपलभ्येत किमपरं तथा निर्देशेन, एवं ब्रह्मणो विशेषणमुक्त्वा मि-

यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥

तत्रैव—

दुस्त्यजश्चानुरागोऽस्मिन् सर्वेषां नो ब्रजौकसाम् ।

नन्द ! ते तनयेऽस्माद्य तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम् ॥

सनातनं मित्रमिति तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम् ॥

स्नेहोऽस्मास्विति चैतेषां नित्यप्रेष्टृत्वमागतम् ॥ ११० ॥

इत्यतः कथिताः नित्यप्रिया यादववल्लवाः ॥

एषां लौकिकवच्चेष्टा लीला मुररिपोरिव ॥ १११ ॥

तथा हि—

पाद्मोत्तरखण्डे—

यथा सौमित्रिभरतौ यथा संकर्षणादयः ।

तथा तेनैव जायन्ते निजलोकाद्यदृच्छया ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

ब्रविशेषणमाह—सनातनमिति । कीदृशं मित्रं सनातनं नित्यं त्रैकालिकमिति यावद्, यथा त्वं त्रिकालसिद्धस्तथा ब्रजलोकोपीति भावः, येन हि तेषां सनातनं मित्रं त्वमस्यत एषां भाग्यं किं वक्तव्यमिति भावः ।

सनातनं मित्रमिति त्रयेतादृशयोजनयेत्यर्थः, अन्यथा सनातनपदवैपर्य्यं स्यात् पूर्णत्वेनैव तत्सिद्धेः, यदि च ब्रह्मणो विशेषणं तत् सनातनं स्यात् तथाऽपि मित्रतावैशिष्ट्यार्थमेव तद्विशिष्यते समानमेव मनोरमं सुवर्णमिदं कुण्डलं जातमित्यत्र यथा कुण्डलस्यैव मनोरमत्वं साध्यं तद्वत्, तस्यापीति स्वभावसम्बन्धसूचनाभित्यत्वमाक्षिप्यते तदेवमत्र तस्मान्मच्छरणं गोष्ठमित्याद्यपि ज्ञेयम्, अत्र विशेषजिज्ञासाचेष्टीकृष्णसंदर्भो दृश्यः, तेनैव भगवता सह जायन्ते; यादवादय इति शेषः ।

पुनस्तेनैव गच्छन्ति तत्पदं शाश्वतं परम् ।

न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानां च विद्यत इति ॥

ये प्रोक्ताः पञ्चपञ्चाशत् क्रमात्कंसरिपोगुणाः ॥

ते चान्ये चापि सिद्धेषु सिद्धित्वादयो मताः ॥ ११२ ॥

भक्तास्तु कीर्तिताः शान्तास्तथा दाससुतादयः ॥

सखायो गुरुवर्गाश्च प्रेयस्यश्चेति पञ्चधा ॥ ११३ ॥

अथोद्दीपनाः—

उद्दीपनास्तु ते प्रोक्ता भावमुद्दीपयन्ति ये ॥

ते तु श्रीकृष्णचन्द्रस्य गुणाश्चेष्टाः प्रसाधनम् ॥ ११४ ॥

स्मिताङ्गसौरभे वंशशृङ्गनूपुरकम्बवः ॥

पदाङ्कः क्षेत्रतुलसीभक्ततद्दासरादयः ॥ ११५ ॥

तत्र गुणाः—

गुणास्तु त्रिविधा प्रोक्ताः कायवाङ्मानसाश्रयाः ॥

तत्र कायिकाः—

वयःसौन्दर्यरूपाणि कायिका मृदुताऽऽदयः ॥ ११६ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

यदृच्छया=स्वैरितया, यदृच्छा स्वैरितेत्यमरः ।

अथ भावभेदेन तेषामैव भेदान्तराण्याह—

भक्तास्त्विति । अत्र दासादयो द्विधाः—भावमयाः साक्षात्प्राप्तदा-
स्यादयश्च, तत्रोत्तरेषामेव सम्यगालम्बनत्वमभिप्रेतम् ।

वयःसौन्दर्यरूपाणि कायिका गुणाः, मृदुताऽऽदयश्च कायिका-
गुणा इत्यर्थः ।

गुणाः स्वरूपमेवास्य कायिकाद्या यदप्यमी ॥

भेदं स्वीकृत्य वर्ण्यन्ते तथाऽप्युदीपना इति ॥ ११७ ॥

अतस्तस्य स्वरूपस्य स्यादालम्बनतैव हि ॥

उद्दीपनत्वमेव स्याद् भूषणादेस्तु केवलम् ॥ ११८ ॥

एषामालम्बनत्वं च तथोद्दीपनताऽपि च ॥

तत्र वयः—

वयः कौमारपौगण्डकैशोरमिति तत् त्रिधा ॥ ११९ ॥

कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि ॥

आषोडशाच्च कैशोरं यौवनं स्यात्ततः परम् ॥ १२० ॥

औचित्यात्तत्र कौमारं वक्तव्यं वत्सले रसे ॥

पौगण्डं प्रेयसि तथा तत्तत्खेलाऽऽदियोगतः ॥ १२१ ॥

दुर्गमसङ्गमनी !

गुणाः स्वरूपमेवेति । स्वरूपधर्मत्वात्स्वरूपान्तःप्रविष्टा इत्यर्थः, भेदं स्वरूपादत्यन्तपृथक्त्वं स्वीकृत्योपचर्ष्येत्यर्थः, यदा कृष्णः सुरम्याङ्ग इति भाव्यते तदाऽऽलम्बनकोटौ प्रवेशः, यदा तु कृष्णस्य सुरम्याङ्गत्वमिति भाव्यते तदोद्दीपनकोटौ प्रवेश इति भावः,

अत इति । स्वरूपस्य श्रीविग्रहरूपस्येत्यर्थः ।

एषां गुणानां विशिष्टस्यालम्बनत्वाद्विशेषणरूपेषु गुणेष्वप्यंशे-
नालम्बनत्वं प्रवर्त्तत इति भावः ।

कौमारमित्यादिकं दृष्टान्तमात्रं श्रीकृष्णे तु विशेषो ज्ञेयः,

यथा—

कालेनाल्पेन राजर्षे ! रामः कृष्णश्च गोकुले ।

अघृष्टजानुभिः पद्भिर्विचक्रमतुरोजसे-

त्यादिकम् ।

श्रेष्ठ्यमुज्ज्वल एवास्य कैशोरस्य तथाऽप्यदः ॥

प्रायः सर्वरसौचित्यादत्रोदाह्रियते क्रमात् ॥ १२२ ॥

आद्यं मध्यं तथा शेषं कैशोरं त्रिविधं भवेत् ॥

तत्राद्यं कैशोरं—

वर्णस्योज्ज्वलता काऽपि नेत्रान्ते चारुणच्छविः ॥ १२३ ॥

रोमावलिप्रकटता कैशोरे प्रथमे सति ॥

यथा—

हरति शितिमा कोऽप्यङ्गानां महेन्द्रमणिश्रियं-

प्रविशति दृशोरन्ते कान्तिर्मनागिव लोहिनी ।

सखि ! तनुरुहं राजिः सूक्ष्मा दराऽस्य विरोहते

स्फुरति सपमा नव्येदानां तनौ वनमालिनः ॥

वैजयन्तीशिखण्डादिनटप्रवरवेषता ॥ १२४ ॥

वंशीमधुरिमा वस्त्रशोभा चात्र परिच्छदः ॥

यथा श्रीदशमे—

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं-

दुर्गमसङ्गमनी ।

तत्र तत्तत्खेलाऽऽदियोगतो यदौचित्यं योग्यताऽऽतिशयस्तस्मा-
दिति त्रिष्वपि योजनीयं,

प्रायो=बाहुल्येन ।

शिष्यते नित्यमेकरूपतया तिष्ठतीति शेषं परमपूर्णावस्थमित्यर्थः,
तदेवं निरुक्तिबलाद्वक्ष्यमाणेन चरमशब्देनापि तादृगवस्थं वाचनीयं,
चरति स्वाविर्भावोत्तरं सर्वकालं संचरति न तु कौमारादिवद् व्य-
भिचरति मा लक्ष्मीर्यस्मिन्निति ।

शितिमा श्यामताऽतिशयः तालव्यादिरयं "शिति धवलमेवका-

विभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।

रन्ध्रान् वेणोरधरस्रग्धया पूरयन् गोपवृन्दै-

वृन्दाऽरण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्दीप्तकीर्तिः ॥

खरताऽत्र नखाग्राणां धनुरान्दोलिता भ्रुवोः ॥ १२५ ॥

रदानां रञ्जनं रागचूर्णैरित्यादि चेष्टितम् ॥

यथा—

नवं धनुरिवातनोर्नटद्वयोर्भ्रूयुगं-

शरालिरिव शाणिता नखराजिरग्रे खरा ।

विराजति शरीरिणी रुचिरदन्तलेखाऽरुणा

न का सखि ! समीक्षणाद्युवतिरस्य वित्रस्यति ॥

अस्य मोहनता यथा—

कर्तुं मुरधाः स्वयमचटुला न क्षमन्तेऽभियोगं-

न व्यादातुं क्व चिदपि जने वक्तुमप्युत्सहन्ते ।

दृष्ट्वा तास्ते नवमधुरिमस्मेरतां माधवार्ताः

स्वप्राणेभ्यस्त्रयमुदसृजन्नद्य तोयाञ्जलीनाम् ॥

अथ मध्यमं—

ऊरुद्वयस्य बाहोश्च काऽपि श्रीरुरसस्तथा ॥ १२६ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

वि"त्यमरः, लोहिनी रक्तवर्णा, तदिदं तस्याग्रजभ्रातृजायाया वचनम्।

नखाग्राणां खरता रदानां रञ्जनमिति तच्छोभाविशेषज्ञापनाय लो-
करीतिकथनमात्रं, तत्र तु स्वभावत एव तादृशनखलौष्ठवं शिखरम-
णिलावण्यतिरस्कारि दन्तलावण्यं चाविर्भवतीति ज्ञेयम्, अत एवैते
परिच्छदमध्ये न पठिते, धनुर्बा इवान्दोलिन्यौ धनुरान्दोलिन्यौ
तयोर्भावः धनुरान्दोलिता ।

कर्तुमिति वृन्दाया वचनं, तत्र प्रथमं तस्य संदेहं विरचय्योत्क-

मूर्त्तैर्मधुरिमाद्यं च कैशोरे सति मध्यमे ॥

यथा—

स्पृहयति करिण्डादण्डनायोस्त्युगमं-

गरुडमणिकपाटीसख्यमिच्छत्युरश्च ।

भुजयुगमपि धित्सत्यर्गलस्यातिनिन्दा-

मभिनवतरुणिम्नः प्रक्रमे केशवस्य ॥

मुखं स्मितविकासाढ्यं विभ्रमोत्तरले दृशौ ॥ १२७ ॥

त्रिजगन्मोहनं गीतमित्यादिरिह माधुरी ॥

यथा—

अनङ्गनयचातुरीपरिचयोत्तरङ्गे दृशौ

मुखाम्बुजमुदञ्चितस्मरविलासरम्याधरम् ।

अचञ्चलकुलाङ्गनाव्रतविडम्बिसङ्गीतकं-

हरेस्तरुणिमाङ्कुरे स्फुरति माधुरी काऽप्यभूत् ॥

वैदग्धीसारविस्तारः कुञ्जकेलिमहोत्सवः ॥ १२८ ॥

आरम्भो रासलीलादेरिह चेष्टाऽऽदिसौष्ठवम् ॥

यथा—

व्यक्तालक्तपदैः क्व चित्परिलुठत्पिच्छावतंसैः क्व चित्

तत्त्वैर्विच्युतकाञ्चिभिः क्व चिदसौ व्याकीर्णकुञ्जोत्करा ।

प्रोद्यन्मण्डलबन्धताण्डवघटालक्ष्मोलसत्सैकता

गोविन्दस्य विलासवृन्दमधिकं वृन्दाऽटवी शंसति ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

ण्डां वर्धयन्ती कारणं विनैव कार्यमाह पूर्वार्धेन, ततश्च कुत इति तत्प्र-
श्नानन्तरं तमेव कारणत्वेन विन्यस्य; सम्यगार्द्रयन्त्याह तृतीयेन चर-
णेन, पुनश्च तर्हि किं कुर्वन्तीति सगद्गदं तत्प्रश्नानन्तरं तमतिव्याकुल-
यन्त्याह चतुर्थेनेति योजनीयम्, अभियोगं=भावाभिव्यक्तिम् ।

तन्मोहनता यथा—

विदूरान्मारान्नि हृदयरविकान्ते प्रकटय-
न्नुदस्यन् धम्मैन्दुं विदधदभितो रागपटलम् ।
कथं हा नस्त्राणं सखि ! मुकुलयन् बोधकुमुदं-
तरस्वी कृष्णाञ्च मधुरिमभरार्कोऽभ्युदयते ॥

अथ शेषं कैशोरं—

पूर्वतोऽप्यधिकोत्कर्षं वाढमङ्गानि विभ्रति ॥ १२९ ॥
त्रिवलिव्यक्तिरित्याद्यं कैशोरे चरमे सति ॥

यथा—

मरकतगिरेर्गण्डप्रावप्रभाहरवक्षसं-
शतमखमणिस्तम्भारम्भप्रमाथिभुजद्वयम् ।
तनुतरणिजावीचीछायाविडम्बिवलित्रयं-
मदनकदलीसाधिष्ठोऽहं स्मराम्यसुरान्तकम् ॥

तन्माधुर्यं यथा—

दशार्धशरमाधुरीदमनदक्षयाऽङ्गश्रिया
विधूनितवधूद्यतिं वरकलापिलास्यास्पदम् ।
दृगञ्चलचमत्कृतिक्षपितखञ्जरीटद्युतिं-
स्फुरत्तरुणिमोदमं तरुणि ! पश्य पीताम्बरम् ॥

इदमेव हरेः प्राज्ञैर्नवयौवनमुच्यते ॥ १३० ॥

अत्र गोकुलदेवीनां भावसर्वस्वशालिता ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

विदूरादिति । अत्र नभः, रागोऽत्र माराग्निकृततृष्णाऽतिशयः, सा-
धिष्ठत्वं परमातिशयित्वम् ।

भावस्य यत्सर्वस्वं सर्वोऽप्यर्थस्तेन प्रशंसावत्ता, अत्र कैशोरभेदा-
श्चतुर्धा वर्ण्यन्ते—लक्षणेन परिच्छदेन चेष्टितेन मोहनतावैशिष्ट्येन च,

अभूतपूर्वकन्दर्पतन्त्रलीलोत्सवादयः ॥ १.३१ ॥

यथा—

कान्ताभिः कलहायते क्व चिदयं कन्दर्पलेखान् क्व चित्

कीरैरर्पयति क्व चिद्वितनुते क्रीडाऽभिसारोद्यमम् ।

सख्या भेदयति क्व चित्स्मरकलापाङ्गुण्यवानोहते

दुर्गमसङ्गमनी ।

तत्र यद्यपि परिच्छदादीन्यपि लक्षणान्येव तथाऽपि विशेषतस्तद्वर्ण-
यितुमेव पृथग्निर्देशः, तदेवमाद्ये केशोरे तानि स्पष्टान्येव, मध्यशेषयो-
स्तु परिच्छदस्य प्रायः सर्वत्र समानत्वात्पृथगनुक्तिः, माधुरी च मोह-
नताया एव कारणावस्था पृथग्दर्शिता, सा चाद्येऽपि व्याञ्जिताऽस्ति
“नवमधुरिमस्मेरतामि”त्यनेन “नवं धनुरिवातनोर्नटदधद्विषोम्रयुग-
मि”त्यनेन “रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन्नि”त्यनेन च मध्ये चेष्टा-
ऽऽदिसौष्टवमिति चेष्टाया आदिः श्रेष्ठं सौष्टवमित्यर्थः, चरमेऽपि
चात्र गोकुलेऽतिमोहनता, तस्मात्सौष्टवमाधुर्यमोहनतानां भेदेऽप्य-
भेदनिर्देशः परस्परमव्यतिरोक्तयाम्बगन्तव्यः, अत्र सौष्टवं तद्वह्यो-
यौग्याङ्गशोभाविशेषः, माधुर्यं तेन रोचकता, मोहनता तु तयाऽऽनुभ-
वान्तरमाच्छिद्यार्कषितेति ज्ञेयम् ।

तदेवं प्रकरणार्थो व्याख्यातः, अभूतपूर्वेति चेष्टितमुद्दिष्टं, तत्र च
सति यथा कान्ताभिरित्यादिना चेष्टितमुदाहरति—षाङ्गुण्येति । क
चित् शृङ्गारराज्योत्तमानुशासन इत्येव लभ्यते, अत्र नीतिशास्त्रानु-
सारो ज्ञेयः,

यथोक्तम्—

“सन्धिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः ।

षाङ्गुणा” इति,

अत्र कान्ताभिरिति विग्रहः, कन्दर्पलेखानिति द्वैधं, क्रीडेति यानं,

सन्धिं काप्यनुशास्ति कुञ्जनृपतिः शृङ्गारराज्योत्तमम् ॥

तन्मोहनता यथा—

कर्णाकर्णि सखीजनेन विजने दूतीस्तुतिप्रक्रिया

पत्युर्वञ्जनचातुरी गुणनिका कुञ्जप्रयाणे निशि ।

बाधिर्यं गुरुवाचि वेणुविस्तारुत्कर्णतेति व्रतान्

कैशोरेण तवाद्य कृष्ण ! गुरुणा गौरीगणः पाठ्यते ॥

नेतुः स्वरूपमेवोक्तं कैशोरमिह यद्यपि ॥

नानाऽऽकृतिप्रकटनात्तथाऽप्युद्दीपनं मतम् ॥ १३२ ॥

बाल्येऽपि नवतारुण्यप्राकट्यं श्रूयते क्वचित् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

सख्येत्याश्रयः, सन्धिमिति सन्धिः, कुञ्जनृपतिरित्यासनमिति षट्कं व्यञ्जितम् ।

अथ मोहनतामुदाहरति—तन्मोहनता यथेति । तदेवं त्रिष्वपि कैशोरेषु साम्येनैव वर्णनं ज्ञेयं, कर्णाकर्णीति ।

प्रणयेन विसंवादप्रायत्वात्परस्परं कर्णेन कर्णेन युद्धमिव प्रवृत्तमित्यर्थः ।

पूर्वं गुणाः स्वरूपमित्यादिना यं भेदमङ्गीकृत्य गुणानामुद्दीपनत्वं दर्शितं तमेव कैशोरमुपलक्ष्य स्थापयंस्तेषां स्वत उद्दीपनत्वमेवेति द्रढयति—नेतुरिति । स्वरूपधर्मत्वाद्यपि नेतुर्नायकस्य स्वरूपमेव कैशोरं तथाऽपि नानाऽऽकृतीनां कौमारपौगण्डकैशोराणां यथाऽवसरमेव प्रकटनात् प्राकट्यात्कृष्णाख्यधर्मिमणस्तु तत्र तत्रानुगतत्वात् कैशोरमप्युद्दीपनमेवेत्यर्थः, खलु सर्वदाऽनुगत एव; उद्दीपनास्तु कादाचित्का इति ।

श्रूयत इति ।

बाल्येऽपि भगवान् कृष्णस्तरुणं रूपमाश्रितः ।

तत्रातिरसबाहित्वान्न रसज्ञैरुदाहृतम् ॥ १३३ ॥

अथ सौन्दर्यं—

भवेत्सौन्दर्यमङ्गानां सन्निवेशो यथोचितम् ॥

यथा—

मुखं ते दीर्घाक्षं मरकततटीपीवरसुरो-

भुजद्वन्द्वं स्तम्भद्युतिं सुवलितं पार्श्वयुगलम् ।

परिक्षीणो मध्यः प्रथिमलहरीहारि जघन-

न कस्याः कंसारे ! हरति हृदयं पङ्कजदशः ॥

अथ रूपं—

विभूषणं विभूष्यं स्याच्चेन तद्रूपमुच्यते ॥ १३४ ॥

यथा—

कृष्णस्य मण्डनततिर्मणिकुण्डलाद्या

नीताऽङ्गसंगतिमलंकृतये वराङ्गि ! ।

शक्ता बभूव न मनागपि तद्विधाने

दुर्गमसङ्गमनी ।

रेमे विहारैर्विविधैः प्रियया सह राधयेत्यादि-

व्रतरत्नाकरधृतभविष्यपुराणवचनाद्दौ, तत्रातिरसबाहित्वादि-
ति । क्रमयोगेनैव रसाः सम्पद्यते नेतरथेति भावः,

अत्र सौन्दर्यं सुरम्याङ्गत्वपर्यायम्,

मुखमिति । लहरीत्रोत्तरोत्तरमाधुर्याविर्भावः, जघनशब्दः पुं-
स्कथ्यग्रभागेऽपि प्रयुज्यते “महीतलं तज्जवनमि”ति द्वितीयस्कन्धे
विराट्पूर्वनात्, प्रथिमललितं श्रोणिफलकमिति तु पाठान्तरम्,

येनेति । तत्तत्पोषयोग्येन तादृशसौन्दर्यकान्त्योः समवायविशे-
षेणेत्यर्थः,

कृष्णस्येति । पश्चात् त्वलङ्कृता सती शक्ता बभूवेति भावः, व

सा प्रत्युत स्वयमनल्पमलंकृताऽऽसीत् ॥

अथ मृदुता—

मृदुता कोमलस्यापि संस्पर्शासहतोच्यते ॥

यथा—

अहह नवाम्बुदकान्तेरमुष्य छकुमारता कुमारस्य ।

अपि नवपल्लवसङ्गादङ्गान्यपरज्य शीर्यन्ति ॥

ये नायकप्रकरणे वाचिका मानसास्तथा ॥ १३५ ॥

गुणाः प्रोक्तास्त एवात्र ज्ञेया उद्दीपना बुधैः ॥

अथ चेष्टा—

चेष्टा रासादिलीलाः स्युस्तथा दुष्टवधादयः ॥ १३६ ॥

तत्र रासो यथा—

नृत्यद्गोपनितम्बिनीकृतपरीरम्भस्य रम्भाऽऽदिभि-

र्गावाणीभिरनङ्गरङ्गविवशं संदृश्यमानश्रियः ।

क्रीडाताण्डवपण्डितस्य परितः श्रीपुण्डरीकाक्ष ! ते

रासारम्भरसार्थिनो मधुरिमा चेतांसि नः कर्पति ॥

दुष्टवधो यथा ललितमाधवे—

शम्भुवृषं नयति मन्दरकन्दरान्त-

म्लानः सलीलमपि यत्र शिरो धुनाने ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

क्षयते हि “अङ्गैरेवाभरणपटली भूषिता दोग्धि भूषामि”ति,
अपरज्य निर्विद्य दुःखितीभूयेति यावद् विवर्णीभूयेति वा,
किं बहुनेत्याह—ये नायकेति ।

नृत्यद्गोपनितम्बिनीति । श्रीमज्जदेवीभिर्मथुरायां प्रेषिता पत्नीयम्,
शम्भुरिति । आ इति कोपे, कोपश्चायमन्यचित्तं श्रोतारं प्रत्येव,

आः कौतुकं कलय केलिलवादरिष्ट-

तन्दुष्टपुङ्गवमसौ हरिरुन्ममाथ ॥

अथ प्रसाधनम्—

कथितं वसनाकल्पमण्डनाद्यं प्रसाधनम् ॥

तत्र वसनम्—

नवार्करश्मिकाश्मीरहरितालादिसन्निभम् ॥ १३७ ॥

युगं चतुष्कं भूयिष्ठं वसनं त्रिविधं हरेः ॥

तत्र युगं—

परिधानं ससंव्यानं युगरूपमुदीरितम् ॥ १३८ ॥

यथा स्तवावल्यां मुकुन्दाष्टके—

कनकनिवहशोभानिन्दि पीतं नितम्बे

तदुपरि नवरक्तं वस्त्रमित्थं दधानः ।

प्रियसखि ! किल वर्णं रागयुक्तं प्रियायाः

प्रणयतु मम नेत्राभीष्टपूर्तिं मुकुन्दः ॥

चतुष्कम्—

चतुष्कं कञ्चुकोष्णीषतुन्दवन्धोत्तरीयकम् ॥

यथा—

स्मेरास्यः परिहितपाटलाम्बरश्री-

श्छन्नाङ्गः पुरटरुचोत्कञ्चुकेन ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

“आस्तु स्यात् कोपपीडयोरि”ति कोषकाराः ।

चतुष्कमित्यत्रोत्तरीयमपि कदा चिज्ज्ञेयं,

वसनस्य युगत्वादिभेदाः समयविशेषोचितत्वात् ।

“इत्थं वस्त्रं दधानः” इति यदुक्तं तत्कथं ? तत्राह—कनकनिवहेति ।

कनकनिवहशोभानिन्दि वस्त्रं नितम्बे

उष्णीषं दधदरुणं धर्ती च चित्रां-

कंसारिर्वहति महोत्सवे मुदं नः ॥

भूयिष्ठम्—

खण्डिताखण्डितं भूरि नटवेषक्रियोचितम् ॥ १३९ ॥

अनेकवर्णवसनं भूयिष्ठं कथितं बुधैः ॥

यथा—

अखण्डितविखण्डितैः सितपिशङ्गनीलारुणैः

पटैः कृतयथोचितप्रकृतसन्निवेशोज्ज्वलैः ।

अयं कलभराट्प्रभः प्रचुररङ्गशृङ्गारितः

करोति करभोरु ! मे घनरुचिर्मुदं माधवः ॥

अथाकल्पः—

केशवन्धनमालेपो मालाचित्रविशेषकः ॥ १४० ॥

ताम्बूलकेलिपद्मादिराकल्पः परिकीर्तितः ॥

स्याज्जूटः कवरी चूडा वेणी च कचवन्धनम् ॥ १४१ ॥

पाण्डुरः कर्बुरः पीत इत्यालेपस्त्रिधा मतः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

परिदधदुपरिष्ठान्नव्यबाल्हीकवल्गु ।

तनुरुचिमनुरागेणान्वितां वा प्रियाया-

इति तु पाठान्तरं,

सन्निवेशो रचना, कलभराट्प्रभ इति । कलभराज इव प्रमा
यस्य सः,

अखण्डितविखण्डितैरिति । वल्लभयतत्तदलङ्कारभेदाद् यथा
मथुरायां वायकेन दत्तमासीदिति ज्ञेयं, शृङ्गारशब्दोऽत्र कलभ-
सादृश्येन तत्रापि वेषतया लक्ष्यते ।

जूटो घाटोपरि धम्मिल्लः, कवरी पुष्पादिना केशवेशः, चूडा

माला त्रिधा वैजयन्ती रत्नमाला वनस्रजः ॥ १४२ ॥

अस्या वैकक्षकापीडप्रालम्बाद्या भिदा मताः ॥

मकरीपत्रभङ्गाद्यं चित्रं पीतसितारुणम् ॥ १४३ ॥

तथा विशेषकोऽपि स्यादन्यदूहं स्वयं बुधैः ॥

यथा—

ताम्बूलस्फुरदाननेन्दुरमलं धम्मिल्लमुल्लासयन्

भक्तिच्छेदलसत्सुष्ठुसृणालेपश्रिया पेशलः ॥

तुङ्गोरःस्थलपिङ्गलस्त्रगलिकभ्राजिष्णुपत्राङ्गुलिः

श्यामाङ्गुतिरद्य मे सखि ! दशोर्दुग्धे मुदं माधवः ॥

अथ मण्डनम्—

किरीटं कुण्डले हारचतुष्कीवलयोर्मयः ॥ १४४ ॥

केयूरनूपुराद्यं च रत्नमण्डनमुच्यते ॥

यथा—

काञ्ची चित्रा मुकुटमतुलं कुण्डले हारिहीरे

हारस्तारो वलयममलं चन्द्रचारुश्चतुष्की ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

ऊर्ध्वबद्धाः कचाः, वेणी पृष्ठभागे दीर्घतया केशगुम्फनं, वैजयन्ती पञ्चवर्णमयी जानुपर्यन्तलम्बिता च, वनमाला पत्रपुष्पमयी पादपर्यन्तलम्बिता च,

पुनर्मालाभेदानाह—अस्या इति । वैकक्षकं तु तद् यत्तिर्यक् क्षिप्तमुरसि माल्यं, चूडावेष्टनमाल्यमापीडं, कण्ठादञ्जुलम्बि माल्यं प्रालम्बम् ।

तथेति । पीतासितारुण इत्यर्थः, विशेषकस्ति लकम्, अलिकं=ललाटं, पत्राङ्गुलिः=पत्रभङ्गः, अद्य तागबूलेत्यादिवर्णितरूपः सन् दशोराधारभूतयोर्मुदं दुग्धे प्रपूरयति, तारा शुद्धमुक्तामयः, ऊर्मिरङ्गुलीयकं

रम्या चोर्मिमधुरिमपुरे नूपुरे चेत्यघारे-

रङ्गैरेषाऽऽभरणपटली भूषिता दोग्धि भूषाम् ॥

कुसुमादिकृतं चेदं वन्यमण्डनमीरितम् ॥ १४५ ॥

धातुकृतं च तिलकं पत्रभङ्गलताऽऽदिकम् ॥

अथ स्मितं—

यथा कर्णामृते—

अखण्डनिर्वाणरसप्रवाहैर्विखण्डिताशेषरसान्तराणि ।

अयन्त्रितोद्धान्तस्रग्धाऽर्णवानि जयन्ति शीतानि तव स्मितानि ॥

अङ्गसौरभं—

यथा—

परिमलसरिदेपा यद्वहन्ती समन्तात्

पुलकयति वपुर्नः काऽप्यपूर्वा मुनीनाम् ।

मधुरिपुरुपरागे तद्विनोदाय मन्ये

कुरुभुवनवद्यामोदसिन्धुर्विवेश ॥

अथ वंशः—

ध्यानं बलात्परमहंसकुलस्य भिन्दन्

निन्दन् स्रग्धामधुरिमाणमधीरधर्मा ।

कन्दर्पशासनधुरां मुहुरेष शंसन्

वंशध्वनिर्जयति कंसनिपूदनस्य ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

“नूपुरे चेत्यघारेरि”त्यत्र नूपुरे चेति शौरेरिति वा पाठः, बलयमित्यत्रोर्मिरित्यत्र च बहुत्वेऽप्येकवचनं जातिविवक्षया, सम्पन्नो यव इतिवत्तथा बहुत्वं बोधयत्येव जात्या व्यक्तीनां व्यङ्ग्यत्वाद् अत एव “जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्यामि”ति पाणिनिसूत्रम् ।

निर्वाणं परमानन्दः, शीतानि सर्वतापहारीणि ।

कुरुभुवङ्गुलक्षेत्रं, विनशान्यमिति तु पाठो नेष्टः ।

एष त्रिधा भवेद्वेणुर्मुहुरली वंशिकेत्यपि ॥ २४६ ॥

तत्र वेणुः—

पाविकाख्यो भवेद्वेणुर्द्रादशङ्खलदैर्घ्यभाक् ॥

स्थौल्येऽङ्गुष्ठमितः षड्भिरेष रन्ध्रैः समन्वितः ॥ १४७ ॥

सुरली—

हस्तद्वयमितायामा सुखरन्ध्रसमन्विता ॥

चतुःस्वरच्छिद्रयुक्ता मुरली चारुनादिनी ॥ १४८ ॥

वंशी—

अर्द्धाङ्गुलान्तरोन्मानं तारादिविवराष्टकम् ॥

ततः सार्द्धाङ्गुलाद्यत्र मुखरन्ध्रं तथाऽङ्गुलम् ॥ १४९ ॥

शिरो वेदाङ्गुलं पुच्छं त्र्यङ्गुलं सा तु वंशिका ॥

नवरन्ध्रा स्मृता सप्तदशाङ्गुलमिता बुधैः ॥ १५० ॥

दश।ङ्गुलान्तरा स्याच्चेत् सा तारमुखरन्ध्रयोः ॥

महानन्देति विख्याता तथा संमोहनीति च ॥ १५१ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

अर्द्धाङ्गुलमन्तरं छिद्रयोर्मध्यभागस्तथोन्मानं छिद्रस्य विस्तारो-
यत्र तत् ततोऽङ्गुल्यन्तर इत्यत्र ततः सार्द्धाङ्गुलादित्येव पाठः, अन्यथा
सप्तदशाङ्गुलत्वानुपपत्तेः योग्यत्वाच्च ततोऽङ्गुल्यन्तर इति पाठे प्रन्थि-
तो बहिरर्द्धाङ्गुलं ज्ञेयं, तथाऽङ्गुलमित्यत्र “प्रमाणे लुगि”ति मात्रचो-
लुग्, अर्द्धाङ्गुलादिशब्दास्तु “संख्याव्ययाभ्यामङ्गुले”रिति समाप्त-
विधानात् ।

दशकुलेत्यादावकुलीनां वृद्धिर्मुखरन्ध्रतदव्यवाहितरन्ध्रयोरन्त-
राल एव ज्ञेया । SRI JAGADGURU VISHNUPADHYA

२६६० २०

**SRI JAGADGURU VISHNUPADHYA
JNANA SIMHASAN JNANANANDH**

LIBRARY

Jangamwad Math, Wamhavi

Acc. No.

006

भवेत्सूर्यान्तरा सा चेत्तत आकर्षणी मता ॥

आनन्दनी तदा वंशी भवेदिन्द्रान्तरा यदि ॥ १५२ ॥

गोपानां वल्लभा सेयं वंशुलीति च विश्रुता ॥

क्रमान्मणिमयी हैमी बैणवीति त्रिधा च सा ॥ १५३ ॥

अथ शृङ्गम्—

शृङ्गं तु गवलं हेमनिवद्धाग्रिमपश्चिमम् ॥

रत्नजालस्फुरन्मध्यं मन्द्रघोषाभिधं स्मृतम् ॥ १५४ ॥

यथा—

तारावली वेषभुजङ्गमेन

तारावलीलागरलेन दृष्टा ।

विषाणिकानादपयो निपीय

विषाणि कामं द्विगुणीचकार ॥

नूपुरं यथा—

अघमर्दनस्य सखि । नूपुरध्वनि-

निशम्य संभृतगंभीरसंभ्रमा ।

अहमीक्षणोत्तरलिताऽपि नाभवं-

बहिर्य हन्त गुरवः पुरः स्थिता ॥

कम्बुस्तु दक्षिणावर्त्तः पाश्चजन्यतयोच्यते ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

गवलमत्र वनमाहिषशृङ्गम्, उपलक्षणं चेदं कृष्णसारादिशृङ्गाणा-
म्, अग्रिमः=अग्रभागः, एवं पश्चिमः ।

तारावलीनाम्नी, तारस्योच्चध्वनेर्वाऽवलीला=अल्पप्रयत्नः सैव
गरलं यस्य तेन तस्य साहाय्याद्, विषाणीति । विषतुल्यभा-
वानीत्यर्थः ।

कम्बुस्तु दक्षिणावर्त्त इत्येव पाठः,

यथा—

अमररिपुत्रधृष्टीभ्रूणहत्याविलासी
त्रिदिनपुरपुरन्ध्रीवृन्दनान्दीकरोऽयम् ।
भ्रमति भुवनमध्ये माधवाध्मातधाम्नः
कृतपुलककदम्बः कम्बुराजस्य नादः ॥

पादाङ्गो यथा दशमे—

तद्दर्शनालहादविबृद्धसंभ्रमः प्रेम्णोर्ध्वरोमाऽश्रुकुलाकुलेक्षणः ।
रथादवस्कन्द्य स तेऽवचेष्टत प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति ॥

यथा वा—

कलयत हरिध्वना सखायः !
स्फुटममुना यमुनातटीमयासीत् ।
हरति पदततिर्यदक्षिणी मे
ध्वजकुलिशाङ्कुशपङ्कजाङ्घ्रितेयम् ॥

क्षेत्रं यथा—

हरिकेलिभुवां विलोकनं वत दूरेऽस्तु सुदुर्लभश्रियाम् ।
मथुरेत्यपि कर्णपद्धतिं प्रविशन्नाम मनो धिनोति नः ॥

तुलसी यथा विलबमङ्गले—

अयि पङ्कजनेत्रमौलिमाले ! तुलसीमञ्जरि ! किञ्चिदर्थयामि ।
अवबोधय पार्थसारथेस्त्वं चरणाब्जे शरणाभिलाषिणं माम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

भ्रूणहत्येति । कौतुकेन निन्दावत्प्रयुक्तं, नान्दीकरो मङ्गलपाठकरः,
माधवेनाध्मातः शब्दायमानो देहो यस्य ।

तदिति तच्छब्देन पदाङ्क एवाकृत्यते ।

अवबोधयेत्यत्र पार्थसारथिमेवेत्यर्थाद्, अर्थयामि=अर्थये, परस्मै-
पदमत्र पारायणमते चुरादिमात्रस्योभयपदित्वाद् ।

भक्तो यथा चतुर्थे—

विज्ञाय तावुत्तमगायकिङ्करावभ्युद्यतः साध्वसविस्मृतक्रमः ।

ननाम नामानि गृणन् मधुद्विषः पार्षदप्रधानाविति संहताञ्जली ॥

यथा वा—

सुबल ! भुजभुजङ्गं न्यस्य तुङ्गे तवांसे

स्मितविलसदपाङ्गः प्राङ्गणे भ्राजमानः ।

नयनयुगमसिञ्चयः सुधावीचिभिर्नः

कथय स दयितस्ते कायमास्ते वयस्यः ॥

तद्वासरो यथा—

अदभुता बहवः सन्तु भगवत्पर्ववासराः ।

आमोदयति मां धन्या कृष्णा भाद्रपदाष्टमी ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिणविभागे भक्तिरससामान्य-
निरूपणे विभावलहरी प्रथमा ॥ १ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

उत्तमगायः श्रीमधुद्विट् तस्य किङ्करौ तौ विज्ञाय तत्रापि मधु-
द्विषः पार्षदप्रधानाविति विज्ञाय; अभ्युद्यतस्तदामिमुख्येनोद्यत उ-
त्थितः सन्नित्यादि योज्यं, ध्रुव इति प्रकरणलब्धम् ॥ १-१५४ ॥

इति दक्षिणविभागे विभावलहरी प्रथमा ।

अथानुभावाः—

अनुभावास्तु चित्तस्थभावानामवबोधकाः ॥

ते वह्निर्विक्रियाप्रायाः प्रोक्ता उद्भासुराख्यया ॥ १ ॥

नृत्यं विलुठितं गीतं क्रोशनं तनुमोटनम् ॥

हुङ्कारो जृम्भणं श्वासभूमा लोकानपेक्षिता ॥ २ ॥

लालास्रवोऽदहासश्च घूर्णा हिकाऽऽदयोऽपि च ॥

ते शीताः क्षेपणाश्चेति यथाऽर्थाख्या द्विधोदिताः ॥ ३ ॥

शीताः स्युर्गीतजृम्भाऽऽद्या नृत्याद्याः क्षेपणाभिधाः ॥

तत्र नृत्यं यथा—

मुखोल्लुखलीछधाकिरं हरिवक्त्रेन्दुमवेक्ष्य कम्पितः ।

गगने सगणे सडिण्डिमध्वनिभिस्ताण्डवमाश्रितो हरः ॥

विलुठितं यथा तृतीये—

कच्चिद्वधः स्वस्त्यनमीव आस्ते श्वफल्कपुत्रो भगवत्प्रपन्नः ।

यः कृष्णपादाङ्कितमार्गपांशुष्वचेष्टत प्रेमविभिन्नधैर्यः ॥

यथा वा—

नवानुरागेण तवावशाङ्गी वनस्रगामोदमवाप्य मत्ता ।

व्रजाङ्गने सा कठिने लुठन्ती गात्रं घृग्रात्रा व्रणयाञ्चकार ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

एतेष्वनुभावेषु कार्यभूताः स्मिताद्याश्चेत्यनेन स्मितमुक्तमेव,
अत्र त्वाद्यग्रहणगृहीतान् गणयति-नृत्यमिति । गीतजृम्भाऽऽद्या इति ।
गीतञ्जृम्भाऽऽद्याश्चेत्यर्थः, आद्यग्रहणाच्छ्वासभूमा लोकानपेक्षिता
लालास्रवा ज्ञेयाः, पूर्वोक्तत्वात् स्मितमपि ।

मुखलीपदेन तन्नादो लक्ष्यते, मुखली तस्या अभ्यासः “मुखली
योग्ये”ति त्रिकाण्डशेषात् ।

व्रणयाञ्चकार व्रणवच्चकार “विन्मतोल्लुक् चे”ति लुग्विधानात् ।

गीतं यथा—

रागडम्बरकरम्बितचेताः कुर्वन्ती तव नवं गुणगानम् ।

गोकुलेन्द्र ! कुस्ते जलतां सा राधिकाऽद्य दृषदां सुहृदां च ॥

क्रोशनं यथा—

हरिकीर्त्तनजातविक्रियः स विचुक्रोश तथाऽद्य नारदः ।

अचिरान्नरसिंहशङ्कया दनुजा येन धुता विलिल्यिरे ॥

यथा वा—

उररीकृतकाकुराकुला कुररीव व्रजराजनन्दन ! ।

मुरलीतरलीकृतान्तरा मुहुराक्रोशदिहाद्य सुन्दरी ॥

तनुमोटनं यथा—

कृष्णनामनि सुदोषवीणिते प्रीणिते मनसि वैणिको मुनिः ।

उद्भटं किमपि मोटयन् वपुर्मोदयत्यखिलयज्ञसूत्रकम् ॥

हुङ्कारो यथा—

वैणवध्वनिभिरुद्गमद्वियः शंकरस्य दिवि हुङ्कृतिस्त्वनः ।

ध्वंसयन्नपि मुहुः स दानवं साधुवृन्दमकरोत्सदा नवम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

रागोऽनुरागः श्रीरागादिश्च, सुहृदां सहचरीणां, जडतां स्तम्भः
दृषदां जलतां जलत्वं डलयोर्विनिमयात् ।

तरलीकृतान्तरेति च्चिप्रत्ययान्त एव पाठः ।

मुदा हर्षेणोपवीणिते वीणयोपगीते सति, अर्थात्स्वयमेवोद्भटं-
यथा स्यात्तथा वपुर्मोदयन् किमप्यनिर्वचनीयं यथा स्यात्तथाऽखिल-
यज्ञसूत्रं त्रोटयति ।

यथाऽर्थत्वे सहुङ्कृतिस्त्वन इति योज्यं, मुहुरपीति च, सदा प्रतिक्ष-
णमेव परमानन्ददानेन नवमिवाकरोदिति च विरोधालङ्काराय तु
ध्वंसयन्नपीति दानवंसहितमिति च व्याख्येयम् ।

जृम्भणं यथा—

विस्तृतकुमुदवनेऽस्मिन्नुदयति पूर्णं कलानिधौ पुरतः ।

तव पद्मिनि ! मुखपद्मं भजते जृम्भामहो चित्रम् ॥

श्वासभूमा यथा—

उपस्थिते चित्रपटाम्बुदागमे विवृद्धतृष्णा ललिताऽऽख्यचातकी ।

निश्वासक्षब्जजामस्ताऽपवाहितं कृष्णाम्बुदाकारमवेक्ष्य सुक्षुभे ॥

लोकानपेक्षिता यथा श्रीदशमे—

अहो पश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ ।

दुरन्तभावं योऽविध्यन्मृत्युपाशान् गृहामिधान् ॥

यथा वा पद्यावल्यां—

परिवदतु जनो यथा तथाऽयं ननु मुखरो न कथं विचारयामः ।

हरिसमदिरामदातिमत्ता भुवि विलुगाम नटाम निर्विशाम ॥

दुर्गमसङ्गमनी :

विस्तृतेति । कृष्णपक्षे विस्तृतं कोः पृथिव्या मुदाऽवनं पालनं-
येन तथा तस्मिन्; पक्षे जृम्भामालस्यव्यञ्जिकां भजत इति चित्रमेव ।

अम्बुदागमः प्रावृद् ,

वातूलो वातगुल्मः स्याच्चारवायुर्निदाघजः ।

झञ्जानिलः प्रावृषिको वासन्तो मलयानिलः ॥

इति त्रिकाण्डशेषदृष्ट्या श्वास एव झञ्जामरुत् प्रावृद्वायुः हग-
म्बुमिश्रत्वात्प्रबलत्वाच्च तेनापवाहितं नेत्रपथाद् दूरे क्षिप्तं पटस्य
परिवर्तित्वात् ।

अहो इति । याज्ञिकानामुक्तिः ।

निर्विशाम भोगं करवाम, पर्य्यटामेति तु पाठः सङ्गतः, त्रिष्वपि
लोडुत्तमवचनं तु परमसङ्गतं, वयमित्युक्तत्वान्मता इति च प-
ठनीयम् ।

लालास्रवो यथा—

शङ्के प्रेमभुजङ्गेन दष्टः कष्टं गतो मुनिः ।

निश्चलस्य यदेतस्य लाला स्रवति वक्त्रतः ॥

अट्टहासः—

हासाद्भिन्नोऽट्टहासोऽयं चित्तविक्षेपसम्भवः ॥ ४ ॥

यथा—

शङ्के चिरं केशवकिङ्करस्य चेतस्तटे भक्तिलता प्रफुल्ला ।

येनाधितुण्डस्थलमट्टहासप्रसूनपुष्पाश्चटुलं स्खलन्ति ॥

घूर्णं यथा—

ध्रुवमघरिपुरादधाति वात्यां ननु मुरलि ! त्वयि फूट्कृतिच्छलेन ।

किमयमितरथा ध्वनिर्विघूर्णन् सखि ! तत्र घूर्णयति ब्रजाम्बुजाक्षीः ॥

हिक्का यथा—

न पुत्रि ! रचयौषधं विसृज रोदमत्युद्धतं—

मुधा प्रियसखीं प्रति त्वमशिवं किमाशङ्कसे ।

दुर्गमसङ्गमनो ।

शङ्के प्रेमेति । मुनित्वेन प्रेमानुमानं निश्चलत्वकारणादिना तत्र भुजङ्गरूपकम् ।

अट्टहासस्य लक्षणं चेदम्—

उत्फुल्लनासिकारन्ध्रमालोडितमुखेक्षणम् ।

उद्धतं विकृताकारं नाट्येऽट्टहासितं विदुरिति ॥

विपक्षं प्रत्याक्षेपमयतया यद्यप्यट्टहासः सर्वत्राप्युग्र एव वर्ण्यते; तथाऽपि स एव सपक्षं प्रति रोचमानस्तेन केन चित्कोमलतयाऽपि वर्णयितुं शक्यते; तत्र सति भक्तिनिन्दकानामवज्ञाज्ञापकं कस्य चिद्भक्तस्याट्टहासं कश्चित्सपक्षो वर्णयति—शङ्क इति ।

न पुत्रीति । पौर्णमास्या वचनं ललितां प्रति, सा च तादृशभावे-

हरिप्रणयविक्रियाऽऽकुलतया वृवाणा मुहु-

वैराक्षि ! हरिरित्यसौ वितनुतेऽथ हिकाभरम् ॥

वपुरुत्फुल्लतारक्तोद्गमाद्याः स्युः परेऽपि ये ॥

अतीव विरलत्वात्ते नैवात्र परिकीर्त्तिताः ॥ ५ ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिणविभागे भक्तिरस-

सामान्यनिरूपणेऽनुभावलहरी ॥ २ ॥

अथ सात्त्विकाः—

कृष्णसम्बन्धिभिः साक्षात्किञ्चिद्वा व्यवधानतः ॥

भावैश्चित्तमिहाक्रान्तं सत्त्वमित्युच्यते बुधैः ॥ १ ॥

सत्त्वादस्मात् समुत्पन्ना ये भावास्ते तु सात्त्विकाः ॥

स्निग्धा दिग्धास्तथा रूक्षा इत्यमी त्रिविधा मताः ॥ २ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

त्युज्ज्वलनीलमणावेव व्यज्या, ततश्चाहमेवोपायं करिष्यामीति ध्वनि-
तम्, अत्र रोदमत्युद्धतमित्येव पाठः सभ्यः ।

वपुर्गति । वस्तुतस्तु वपुरुत्फुल्लता पुलकस्यैवातिशयो ज्ञेयः,
रक्तोद्गमः स्वेदस्य ॥ १-५ ॥

इति दक्षिणविभागेऽनुभावलहरी द्वितीया ॥ २ ॥

सत्त्वादिति । केवलादेवेति भावः, ततश्च नृत्यादीनां सत्यपि स-
त्त्वात्पन्नत्वे बुद्धिपूर्विका प्रवृत्तिः, स्तम्भादीनां तु स्वत एव प्रवृत्ति-
रित्यस्य नृत्यादिषु नातिव्याप्तिः ।

तत्र स्निग्धाः—

स्निग्धास्तु सात्त्विका मुख्या गौणाश्चेति द्विधा मताः ॥

तत्र मुख्याः—

आक्रमान्मुख्यया रत्या मुख्याः स्युः सात्त्विका अमी ॥ ३ ॥

विज्ञेयः कृष्णसम्बन्धः साक्षादेवात्र सूरिभिः ॥

यथा—

कुन्दैर्मुकुन्दाय मुदा सृजन्ती स्रजं वरां कुन्दविडम्बिदन्ती ।

बभूव गान्धर्वरसेन वेणोर्गान्धर्विका स्पन्दनशून्यगात्री ॥

मुख्यः स्तम्भोऽयमित्थं ते ज्ञेयाः स्वेदादयोऽपि च ॥ ४ ॥

अथ गौणाः—

रत्याऽऽक्रमणतः प्रोक्ता गौणास्ते गौणभूतया ॥

अत्र कृष्णस्य सम्बन्धः स्यात् किञ्चिद्व्यवधानतः ॥ ५ ॥

यथा—

स्वविलोचनचातकाम्बुदे पुरि नीते पुरुषोत्तमे पुरा ।

अतिताम्रमुखी सगद्गदं नृपमाक्रोशति गोकुलेश्वरी ॥

इमौ गौणौ वैवर्ण्यस्वरभेदौ ।

अथ दिग्धाः—

रतिद्वयविनाभूतैर्भावैर्मनस आक्रमात् ॥

जने जातरतौ दिग्धास्ते चेद्रत्यनुगामिनः ॥ ६ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तत्र स्निग्धा इति । एषां लक्षणं धक्ष्यमाणानुसारेण मुख्यगौणरत्याक्रान्तचित्तभवतया ज्ञेयं, तदेवं सामान्यतः स्निग्धानां लक्षणमप्यायातम्—उभयैकतररत्याक्रान्तचित्तभवतया स्निग्धा इति ।

इमाविति । गौणभूतया क्रोधरत्याऽऽक्रमणादिति भावः ।

यथा—

पूतनामिह निशाम्य निशायां सा निशान्तलुठदुद्भवगात्री ।

कम्पिताङ्गलतिका वजराज्ञी पुत्रमाकुलमतिर्विचिनोति ॥

कम्पो रत्यनुगामित्वादसौ दिग्ध इतीर्यते ॥

अथ रूक्षाः—

मधुराश्चर्यतद्वात्तोत्पन्नैर्मुद्रिस्मयादिभिः ॥ ७ ॥

जाता भक्तोपमे रूक्षा रतिशून्ये जने क चित् ॥

यथा—

भोगैकसाधनजुपा रतिगन्धशून्यं स्वं चेष्टया हृदयमत्र विवृण्वतोऽपि ।

उल्लासिनः सपदि माधवकेलिगीतैस्तस्याङ्गमुत्पुलकितं मधुरैस्तदाऽऽसीत् ॥

रूक्ष एष रोमाञ्चः,

चित्तं सत्त्वीभवत् प्राणे न्यस्यत्यात्मानमुद्भटम् ॥ ८ ॥

प्राणस्तु विक्रियां गच्छन् देहं विक्षोभयत्यलम् ॥

तदा स्तम्भादयो भावा भक्तदेहे भवन्त्यमी ॥ ९ ॥

ते स्तम्भस्वेदरोमाञ्चाः स्वरभेदोऽथ वेपथुः ॥

वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥ १० ॥

चत्वारि क्षमाऽऽदिभूतानि प्राणो जात्ववलम्बते ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

पूतनामिति । स्वाप्लिकचरितं लक्ष्यते निशान्ते तस्या लोठना-
श्रुतेः, अत एव निद्रामोहेन पुत्रस्य प्रथमं तत्रास्तित्वास्फूर्त्तैः स्ववि-
षयमेव भयं जातम् ।

कम्प इति । पूर्वं तु केवलभयानकदर्शनाज्जातोऽयं न तु स्वविलो-
चनेत्यादौ वैवर्ण्यादिरिव रतिमूल इति भावः ।

जाता इति । भक्तोऽत्र जातरतिः प्रकरणात् ।

कदा चित्त्वप्रधानः सन् देहे चरति सर्वतः ॥ ११ ॥

स्तम्भं भूमिस्थितः प्राणस्तनोत्यश्रु जलाश्रयः ॥

तेजस्थः स्वेदवैवर्ण्ये प्रलयं वियदाश्रितः ॥ १२ ॥

स्वस्थ एव क्रमान्मन्दमध्यतीव्रत्वभेदभाक् ॥

रोमाश्चकम्पवैश्वर्याण्यत्र त्रीणि तनोत्यसौ ॥ १३ ॥

वहिरन्तश्च विक्षोभविधायित्वादतः स्फुटम् ॥

प्रोक्ताऽनुभावताऽमीषां भावता च मनीषिभिः ॥ १४ ॥

तत्र स्तम्भः—

स्तम्भो हर्षभयाश्चर्यविषादामर्षसम्भवः ॥

तत्र वागादिराहित्यं नैश्वल्यं शून्यताऽऽदयः ॥ १५ ॥

तत्र हर्षाद्यथा तृतीये—

यस्यानुरागप्लुतहासरासलीलाऽवलोकप्रतिलब्धमानाः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

स्तम्भमिति । तत्तद्भावस्य स्वभावभेद एवात्र कारणं ज्ञेयम्,
अतः पूर्वोक्ताद्धेतोर्वहिरन्तश्च स्फुटमुच्चैर्विक्षोभविधायित्वादि-
त्युद्भास्वरेषु तु न तादृशत्वमित्यभिप्रायः, भावतापक्षे त्वमीषां व्यभि-
चारित्वमेव ज्ञेयम् ।

स्तम्भ इति । स्तम्भो मनसोऽवस्थाविशेषः, वागादिराहि-
त्यमित्यादिकास्तु देहस्य, स च स्तम्भ एव सात्त्विकानां तत्तदेक-
नामतयाऽन्तर्वहिर्व्याप्य स्थितत्वात्; किन्तु पूर्वः सूक्ष्मावस्थः उत्तर-
स्तु स्थूलावस्थः पूर्वस्य बोधक इति यथाक्रमं द्वयोर्भावानुभावत्वं, त-
देवं हर्षादिसम्भवो भावविशेषः स्तम्भ उच्यते, तत्र वागादिराहित्या-
दयो भवन्तीति योज्यम्, एवमुत्तरत्रापि ।

अत्र तु वागादीनां राहित्यं यत्र तादृशं नैश्वल्यं कर्म्मोन्द्रियाणां,

व्रजस्त्रियो दृग्भिरनुप्रवृत्तधियोऽव्रतस्थुः किल कृत्यशेषाः ॥

भयाद्यथा—

गिरिसन्निभमल्लचक्ररुद्धं पुरतः प्राणपराद्धतः परार्च्यम् ।

तनयं जननी समीक्ष्य शुष्पन्नयना हन्त बभूव निश्चलाङ्गी ॥

आश्चर्याद् यथा दशमे—

ततोऽतिकुतकोद्वृत्तस्तिमितैकादशेन्द्रियः ।

तद्धाम्नाऽभूदजस्तूर्णो पूद्व्यन्तीव पुत्रिका ॥

यथा वा—

शिशोः श्यामस्य पश्यन्ती शैलमञ्जलिहं करे ।

तत्र चित्रार्पितेवासीद्गोष्ठी गोष्ठनिवासिनाम् ॥

विपादाद्यथा—

वकसोदरदानवोदरे पुरतः प्रेक्ष्य विशन्तमच्युतम् ।

दिविपन्निकरो विपण्णधीः प्रकटं चित्रपटायते दिवि ॥

अमर्षाद्यथा—

कर्तुमिच्छति मुरद्विषे पुरः पत्रिमोक्षमकृपे कृपीछते ।

सत्त्वरोऽपि रिपुनिष्क्रये रूपा निष्क्रियः क्षणमभूत्कपिध्वजः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

शून्यत्वं तु ज्ञानेन्द्रियव्यापारान्तराणां, मनसस्तु व्यापारोऽस्ति प्रलये
पुनस्तदेकलीनत्वान्मनसोऽपि नास्तीति भेदः ।

प्राणपराद्धतोऽपि परार्द्धमनन्तमूर्त्यं परमाधिकमित्यर्थः ।

ततोऽतिकुतुकेति । अतिकुतकेनोद्वृत्तमुत्सन्नचेष्टं पुनः स्ति-
मितं प्रेम्णाऽऽर्दीभूतं चैकादशमिन्द्रियं मनो यस्य सः ।

चित्रार्पितेति । चित्रजातावर्पिता=अचित्तवत्त्वं प्रापितेत्यर्थः, चित्रा-
यमाणेति वा पाठः ।

चित्रपटायत इति । चित्रस्थानां यानां दिविषदां निकरः पटस्था-
नीयतया दृश्यत इत्यर्थः, चित्रततीयत इति वा पाठः ।

अथ स्वेदः—

स्वेदो हर्षभयक्रोधादिजः स्वेदकरस्तनौ ॥

तत्र हर्षाद्यथा—

किमत्र सूर्यातपमाक्षिपन्ती सुरधाक्षि ! चातुर्यमुरीकरोषि ।

ज्ञातं पुरः प्रेक्ष्य सरोरुहाक्षं स्विन्नाऽसि भिन्ना कुसुमायुधेन ॥

भयाद्यथा—

कुतुकादभिमन्युवेपिणं हरिमाक्रुदय गिरा प्रगल्भया ।

विदिताकृतिराकुलः क्षणादजनि स्विन्नतनुः स रक्तकः ॥

क्रोधाद्यथा—

यज्ञस्य भङ्गादतिवृष्टिकारिणं समीक्ष्य शक्रं सरूपो गरुत्मतः ।

घनोपरिष्ठादपि तिष्ठतस्तदा निपेतुरङ्गाद् घननीरविन्दवः ॥

अथ रोमाञ्चः—

रोमाञ्चोऽयं किलाश्चर्यहर्षोत्साहभयादिजः ॥ १६ ॥

रोम्णामभ्युद्गमस्तत्र गात्रसंस्पर्शनादयः ॥

तत्राश्चर्याद्यथा—

डिम्भस्य जृम्भां भजतस्त्रिलोकीं विलोक्य वैलक्ष्यवती मुखान्तः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

किं ज्ञातं ? तत्राह—कुसुमायुधेन भिन्नाऽसीति, ज्ञाने हेतुः—पुरः
सरोरुहाक्षं प्रेक्ष्य स्विभेति ।

अभिमन्युः=श्रीराधायाः पतिमन्यः कश्चिद् गोपः, “नाख्यन्न खलु
कृष्णायै”त्युक्तदिशा मायानिर्मिततत्प्रतिकृतेरेव पतिर्ह्यसौ, रक्तकस्त-
न्नामा श्रीकृष्णस्य सवयस्को दासविशेषः ।

घनोपरिष्ठादपि तिष्ठत इत्यस्य सहजायै दूरास्थितस्यापि न तु
तल्लीलां प्रविष्टस्येति, अपिस्तु योज्यः, विरोधालंकारे तु योज्य एव,
वैलक्ष्यं विस्मयः “विलक्षो विस्मयान्वित” इत्यमरः,

बभूव गोष्ठेन्द्रकुटुम्बिनीयं तनुरहैः कुड्मलिताङ्गयष्टिः ॥

हर्षाद्यथा श्रीदशमे—

किं ते कृतं क्षिति ! तपो बत केशवाङ्घ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरहैर्विभासि ।

अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद्वा आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन ॥

उत्साहाद्यथा—

शृङ्गं केलिरणारम्भे रणयत्यघमर्हने ।

श्रीदाम्नो योद्धुकामस्य रेजे रोमाञ्चितं वपुः ॥

भयाद्यथा—

विश्वरूपधरमद्भुताकृतिं प्रेक्ष्य तत्र पुरुषोत्तमं पुरः ।

अर्जुनः सपदि शुष्यदाननः शिश्रिये विकटकण्टकां तनुम् ॥

अथ स्वरभेदः—

विषादविस्मयामर्षहर्षभीत्यादिसम्भवम् ॥ १७ ॥

वैश्वर्यं स्वरभेदः स्यादेष गद्गदिकाऽऽदिकृत् ॥

तत्र विषादाद्यथा—

व्रजराज्ञि ! रथात्पुरो हरिं स्वयमित्यर्द्धविशीर्णजल्पया ।

हियमेणहृदा गुरावपि श्लथयन्त्या किल रोदिता सखी ॥

विस्मयाद्यथा दशमे—

शनैरथोत्थाय विमृज्य लोचने मुकुन्दमुद्गीक्ष्य विनम्रकन्धरः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

किं ते कृतमिति । केशवोऽत्र श्रीकृष्णः, अपीति किमर्थः, उरुक्रम-
स्य त्रिविक्रमस्य विक्रमान्चरणविन्यासाद्योऽङ्घ्रिसंभवः स्पर्शोत्सवः
सोऽपि किमीदृशः; अहो किं वा वराहवपुषः परिरम्भणेन यः स्पर्शो-
त्सवः सोऽपि किमीदृशः ? न हि न हीत्यर्थः ।

वैश्वर्यमिति । स्वरभेदस्य पर्यायान्तरम्, एवमन्यत्रापि, स्वय-
मित्येतस्य निवर्तयेति वाक्यशेषः ।

कृताञ्जलिः प्रश्रयवान् समाहितः सवेपथुर्गद्गदयैलतेलया ॥

अमर्षाद्यथा तत्रैव—

प्रेष्टं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं कृष्णं तदर्थं विनिवर्त्तितसर्वकामाः ।

नेत्रे विमृज्य रुदितोपहृते स्म किञ्चित्संरम्भगद्गदगिरोऽद्भुवतानुरक्ताः ॥

हर्षाद्यथा तत्रैव—

दृष्यत्तनूरुहो भावपरिक्लिन्नात्मलोचनः ।

गिरा गद्गदयाऽस्तौपीत् सत्त्वमालम्ब्य सात्त्वतः ॥

भीतेर्यथा—

त्वय्यर्पितं वितर वेणुमिति प्रमादी श्रुत्वा मदीरितमुदाणं विवर्णभावः ।

तूर्णं बभूव गुरुगद्गदरुद्धकण्ठः पत्नी सुकुन्द ! तदनेन स हारितोऽस्ति ॥

अथ वेपथुः—

वित्रासामर्षहर्षाद्यैर्वेपथुर्गात्रलौल्यकृत् ॥ १८ ॥

तत्र वित्रासेन यथा—

शङ्खचूडमधिरूढविक्रमं प्रेक्ष्य विस्तृतभुजं जिघृक्षया ।

हा ब्रजेन्द्रतनयेति वादिनी कम्पसम्पदमधत्त राधिका ॥

अमर्षेण यथा—

कृष्णाधिक्षेपजातेन व्याकुलो नकुलानुजः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

इलया=वाण्या, पेलत=स्तुतवानित्यर्थः ।

सारत्वतोऽत्राक्रूरः ।

उदीर्णैति । निष्ठायां क्रैयादिकद्रुगतावित्यस्य दीर्घस्य रूपं, पत्नी-पूर्ववत्तन्नामा श्रीकृष्णसेवकाविशेषः, हारितः स्वानवधानेन नाशितोऽस्तीत्यर्थः,

शङ्खचूडमित्यत्र पद्ये विस्तृतभुजमित्येव पाठः ।

कृष्णेत्यत्र पद्ये भूकम्पेनेव भूधर इति वा पाठः ।

चकम्पे द्रागमर्पेण भूकम्पे गिरिराड्वि ॥

हर्पेण यथा—

विहससि कथं हताशे ! पश्य भयेनाद्य कम्पमानाऽस्मि ।

चञ्चलमुपसीदन्तं निवारय व्रजपतेस्तनयम् ॥

अथ वैवर्ण्यम्—

विषादरोषभीत्यादेर्वैवर्ण्यं वर्णविक्रिया ॥

भावज्ञैरत्र मालिन्यकाश्याद्याः परिकीर्त्तिताः ॥ १९ ॥

तत्र विषादाद्यथा—

श्वेतीकृताखिलजनं विरेहेण तवाधुना ।

गोकुलं कृष्ण ! देवपेः श्वेतद्वीपभ्रमं दधे ॥

रोषाद्यथा—

कंसशत्रुमभियुञ्जतः पुरो वीक्ष्य कंससहजानुदायुधान् ।

श्रीबलस्य सखि ! तस्य रूप्यतः प्रोद्यदिन्दुनिभमाननं बभौ ॥

भीतेर्यथा—

दुर्गमसङ्गमनी ।

श्वेतीकृतेति । मोक्षधर्मस्य नारायणीये श्वेतद्वीपस्य जनवर्णने

“श्वेताः पुमांसो गतसर्वदुःखा-

श्चक्षुर्मुषः पापकृतां नराणामि”ति,

यदि च—

“श्वेतद्वीपपतौ चित्तं शुद्धे धर्ममये मयि ।

धारयन् श्वेततां याती”-

त्येकादशस्य टीकायां श्वेततां शुद्धरूपतामित्यनुसारेण श्वेत-
शब्दस्य शुद्धत्वमेव व्याख्येयं; तदा तु श्लेषकाव्यमेवेदं ज्ञेयम् ।

अभियुञ्जतः=युद्धार्थमाभिमुख्येन मिलतः, कंससहजान्=कङ्कन्य-
ग्रोधादीन्, तस्येत्यत्र पश्येति पाठस्त्यक्तः ।

रक्षिते ब्रजकुले बकारिणा पवंतं वरमुदस्य लीलया ।

कालिमा बलरिपोर्मुखे भवन्नुचिवान्मनसि भीतिमुत्थिताम् ॥

विषादे श्वेतिमा प्रोक्तो धौसदृश्यं कालिमा क्व चित् ॥

रोषे तु रक्तिमा भीत्यां कालिमा कापि शुक्लिमा ॥ २० ॥

रक्तिमा लक्ष्यते व्यक्तो हर्षोद्रेकेऽपि कुत्र चित् ॥

अत्रासार्वत्रिकत्वेन नैवास्योदाहृतिः कृता ॥ २१ ॥

अथाश्रु—

हर्षरोषविषादाद्यैरश्रु नेत्रे जलोद्गमः ॥

हर्षजेऽश्रुणि शीतत्वमौष्ण्यं रोषादिसम्भवे ॥ २२ ॥

सर्वत्र नयनक्षोभरागसंमार्जनादयः ॥

तत्र हर्षेण यथा—

गोविन्दप्रेक्षणाक्षेपिबाष्पपूराभिवर्षिणम् ।

उच्चरनिन्ददानन्दमरविन्दविलोचना ॥

रोषेण यथा हरिवंशे—

तस्याः सुस्त्राव नेत्राभ्यां वारि प्रणयकोपजम् ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

कालिमा कर्त्ता बलरिपोरिन्द्रस्य मुखे भवन्तुद्भवन्मनस्युत्थितां-
भीतिमूचिवान्=सूचिवान् ।

अस्य=रक्तिमः,

नेत्रे जलोद्गम इत्यत्र; यत्रेति शेषः, सात्त्विकानामन्तर्बहिर्विकार-
रूपत्वाद्, एवमन्यत्रापि ज्ञेयं, नासिकास्त्रयोऽप्यस्यैवाङ्गविशेषो ज्ञेयः ।

आनन्दस्य बाष्पपूराभिवर्षित्वमेव निन्द्यत्वेन विवक्षितं न तु
स्वरूपं; “सविशेषणे विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतः सति विशेष्ये
बाध” इति न्यायात् ।

तस्याः=श्रीसत्यभामायाः, अत्र शोभांश एव दृष्टान्तो न तु शैत्यांशे ।

कुशेशयपलाशाभ्यामवश्यायजलं यथा ॥

यथा वा—

भीमस्य चेदीशवधं विधित्सो रेजेऽसुविस्त्रावि रूपोपरक्तम् ।

उद्यन्मुखं वाधिकणावकीर्णं सान्ध्यत्विषा ग्रस्तमिवेन्दुबिम्बम् ॥

विपादेन यथा श्रीदशमे—

पदा सुजातेन नखारुणश्रिया भुवं लिखन्त्यश्रुभिरञ्जनासितैः ।

आसिञ्चती कुङ्कुमरूपितौ स्तनौ तस्यावधोमुख्यतिदुःखरुद्धवाक् ॥

अथ प्रलयः—

प्रलयः सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः ॥ २३ ॥

तत्रानुभावाः कथिता महीनिपतनादयः ॥

तत्र सुखेन यथा—

मिलितं हरिमालोक्य लतापुञ्जादतर्कितम् ।

ज्ञप्तिशून्यमना रेजे निश्चलाङ्गी व्रजाङ्गना ॥

दुःखेन यथा श्रीदशमे—

अन्याश्च तदनुष्ठाननिवृत्ताशेषवृत्तयः ।

नाभ्यजानन्निमं लोकमात्मलोकं गता इव ॥

सर्वे हि सत्त्वमूलत्वाद्भावा यद्यपि सार्विकाः ॥ २४ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

भीमस्य सुखं रेजे, उद्यादिन्दुबिम्बमिवेति बिम्बपदेन पूर्णत्वं बोध्यते,
पाठान्तराणि नेष्टानि ।

पदा सुजातेनेत्यस्य रुक्मिणीति शेषः ।

ज्ञाननिराकृतिरत्रालम्बनैकलीनमनस्त्वम् ।

अन्याः श्रीहरेर्मथुराप्रस्थाने शोचन्त्यः श्रीगोप्यः “तदनुष्ठाने”ति
“नाभ्यजानन्नि”ति द्वयेन नानाभावना निषिद्धाः, आत्मलोकमात्मस्व-
रूपं स्वस्मिन् समाधिमित्यर्थः ।

सर्वे हीति । भावा अत्रानुभावाः सत्त्वैकमूलत्वात् “सत्त्वादस्मा-

तथाऽप्यमीषां सत्त्वैकमूलत्वात्सात्त्विकप्रथा ॥
 सत्त्वस्य तारतम्यात्प्राणतनुक्षोभतारतम्यं स्यात् ॥ २५ ॥
 तत एव तारतम्यं सर्वेषां सात्त्विकानां स्यात् ॥
 धूमायितास्ते ज्वलिता दीप्ता उद्दीप्तसंज्ञिताः ॥ २६ ॥
 वृद्धिं यथोत्तरं यान्तः सात्त्विकाः स्युश्चतुर्विधाः ॥
 सा भूरिकालव्यापित्वं बह्वङ्गव्यापिताऽपि च ॥ २७ ॥
 स्वरूपेण तथोत्कर्ष इति वृद्धिस्त्रिधा भवेत् ॥
 तत्र नेत्राम्बुवैस्वर्यवर्जानामेव युज्यते ॥ २८ ॥
 बह्वङ्गव्यापिताऽमीषां तयोः काऽपि विशिष्टता ॥
 तत्राश्रूणां दृगौच्छून्यकारित्वमवदातता ॥ २९ ॥
 तथा ताराऽतिवैचित्रीवैलक्षण्यविधायिता ॥
 वैस्वर्यस्य तु भिन्नत्वे कौण्ड्यव्याकुलताऽऽद्यः ॥ ३० ॥
 भिन्नत्वं स्थानविभ्रंशः कौण्ड्यं स्यात्सन्नकण्ठता ॥
 व्याकुलत्वं तु नानोच्चनीचगुप्ताविलुप्तता ॥ ३१ ॥
 प्रायो धूमायिता एव रूक्षास्तिष्ठन्ति सात्त्विकाः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

दि'त्यत्र व्याख्यातमस्ति, अमीषां स्तम्भादीनां सात्त्विकनाम्ना प्रथा सात्त्विकप्रथा ।

तत्रेत्यत्रामीषां स्तम्भादीनां, तयोः नेत्राम्बुवैस्वर्ययोः ।

अतिवैचिड्या अपि वैलक्षण्यमतिशयः ।

स्थानविभ्रंश इति । यतो घर्घरादिशब्दाः स्युरिति भावः ।

सन्नकण्ठतेति । यतः शब्दो नोदयत इति भावः, नानोच्चेति । प्र

तिलवं तत्तन्नानाप्रकारतेति भावः ।

सर्वानन्दचमत्कारहेतुर्भावो वरो रतिः ॥ ३२ ॥

एते हि तद्विनाभावान्न चमत्कारिताऽऽश्रयाः ॥

तत्र धूमायिताः—

अद्वितीया अमी भावा अथ वा सद्वितीयकाः ॥ ३३ ॥

ईषद्व्यक्ता अपन्होतुं शक्या धूमायिता मताः ॥

यथा—

आकर्णयन्नघहरामघवैरिक्तीति

पक्षमाग्रमिश्राविरलाश्वरभूत्पुरोधाः ।

यथा दरोच्छवसितलोमकपोलमोपत्

प्रस्विन्ननासिकमुवाह मुखारविन्दम् ॥

अथ ज्वलिताः—

ते द्वौ त्रयो वा युगपद्यान्तः सुप्रकटां दशाम् ॥ ३४ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

यस्मात्सर्वानन्दचमत्कारहेतुस्तस्माद्रतिरेव वरो भाव इत्यर्थः,
पद्यान्ते “न चमत्कारिताऽऽश्रया” इत्येव पाठः ।

अमी इति । बहुवचनमत्र प्रतिव्यक्ति प्राधान्यस्य विवक्षया; तच्चेत-
रेतरयोगद्वन्द्वस्यैकशेषात्, तेन ह्यसौ स्तम्भोऽद्वितीयः सद्वितीयो वा,
असौ स्वेदोऽद्वितीयः सद्वितीयो वा, असौ रोमाञ्चोऽद्वितीयः सद्वि-
तीयो वेति गम्यते; अमी आनीयन्तामिति वत्, ततश्चामीषु भावेषु
यः कश्चिदद्वितीयो भवतु सद्वितीयो वा भवत्वित्यर्थः, अपन्होतुमित्य-
पकृष्टेन रत्याद्युदासीनेन भावेन निहोतुं गोपयितुं शक्या इत्यर्थः,

रत्यन्तरङ्गभावेन तु समुद्भूतरतीनामपि दृश्यते—

“न्यरुन्धन्नुद्गलद्वापमौत्कण्ठ्याद्देवकीसुते ।

निर्यात्यगारात्रो भद्रमिति स्याद्वान्धवस्त्रिय” इत्यत्र ।

ते=सात्त्विका, द्वौ वा त्रयो वा भूत्वा ।

शक्याः कृच्छ्रेण निन्दोतुं ज्वलिता इति कीर्तिताः ॥

यथा—

न गुञ्जामादातुं प्रभवति करः कम्पतरलो-
दृशौ सास्त्रे पिच्छं न परिचिनुतः सत्वरकृति ।
क्षमाबूरु स्तब्धौ पदमपि न गन्तुं तव सखे !
वनाद्वंशीध्वाने परिसरमवासे श्रवणयोः ॥

यथा वा—

निरुद्धं बाष्पाम्भः कथमपि मया गद्गदगिरो-
द्विया सद्यो गूढाः सखि ! विघटितो वेपथुरपि ।
गिरिद्रोण्यां वेणौ ध्वनति निपुणैरिङ्गितमये
तथाऽप्यृहांचक्रे मम मनसि रागः परिजनैः ॥

अथ दीप्ताः—

प्रौढां त्रिचतुरा व्यक्तिं पञ्च वा युगपद्गताः ॥ ३५ ॥
संवरीतुमशक्यास्ते दीप्ता धीरैरुदाहृताः ॥

यथा—

न शक्तिमुपवीणने चिरमधत्त कम्पाकुलो-
न गद्गदनिरुद्धवाक् प्रभुरभूदुपश्लोकेन ।
क्षमोऽजनि न वीक्षणे विगलदश्रुपूरः पुरो-
सुरद्विपि परिस्फुरत्यवशमूर्तिरासीन्मुनिः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

सत्वरकृति यथा स्यात्तथा, न गुञ्जामादातुं प्रभवतीत्यादिना वि-
लम्बेन प्रभवतीति प्राप्ते कम्पादेः कृच्छ्रेण निन्दोतुं शक्यत्वमायातम्,
प्रार्थितमपीति पाठस्त्यक्तः ।

यथा वा—

किमुन्मीलत्यस्त्रे कुष्ठमजरजो गञ्जसि मुधा
सरोमाञ्चे कम्पे हिममनिशमाक्रोशसि कुतः ।
किमूरुस्तम्भे वा वनविहरणं द्वेक्षि सखि ! ते
निराबाधा राधे ! वदति मदनाधिं स्वरभिदा ॥

अथोद्दीप्ताः—

एकदा व्यक्तिमापन्नाः पञ्चपाः सर्वे एव वा ॥ ३६ ॥
आरूढाः परमोत्कर्षमुद्दीप्ता इति शब्दिताः ॥

यथा—

अद्य स्विद्यति वेपते पुलकिभिर्निःस्पन्दतामङ्गकैः
धत्ते काकुभिराकुलं विलपति म्लायत्यनलपोष्मभिः ।
तिम्यत्यम्बुभिरम्बकस्तवकितैः पीताम्बरोड्डामरं-
सद्यस्त्वद्विरहेण मुह्यति मुहुर्गोष्ठाधिवासी जनः ॥

उद्दीप्ता एव सूद्दीप्ता महाभावे भवन्त्यमी ॥ ३७ ॥
सर्वे एव परां कोटिं सात्त्विका यत्र विभ्रति ॥

किञ्च—

अथात्र सात्त्विकाभासा विलिख्यन्ते चतुर्विधाः ॥ ३८ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

किमिति=कथमित्यर्थः “किं विश्राम्यसि कृष्णभोगिभव-
ने भाण्डीरभूमी”त्यादिषु दर्शनाद्, राधे इति संबोध्य तन्ना-
मैव तस्याः कृष्णभावत्वप्रसिद्धिव्यञ्जनया तद्धेतुकमदनाधित्वं स्फुटी-
कृतं, निराबाधा=छलेनान्यथा कर्तुमशक्या ।

अम्बकस्तवकितैर्नैत्रेषु स्थिरत्वात् स्तवकवदाचराद्भिः, तिम्यति=
तदंशेन पतताऽऽर्द्धीभवति, उड्डामरम्=उद्भटं यथा स्यात् ।

सात्त्विकाभासा इति । सात्त्विकवदाभासन्ते प्रतीयन्ते न तु वस्तुत-

रत्याभासभवास्ते तु सत्त्वाभासभवास्तथा ॥

निःसत्त्वाश्च प्रतीपाश्च यथापूर्वममी वराः ॥ ३९ ॥

तत्राद्याः—

मुमुक्षुप्रमुखेष्वाद्या रत्याभासात्पुरोदितात् ॥

यथा—

वाराणसीनिवासी कश्चिदयं व्याहरन् हरेश्चरितम् ।

यतिगोष्ठ्यामुत्पुलकः सिञ्चति गण्डद्वयीमलैः ॥

अथ सत्त्वाभासभवाः—

मुद्दिस्मयादेराभासः प्रोद्यन् जात्या इत्ये हृदि ॥ ४० ॥

सत्त्वाभास इति प्रोक्तः सत्त्वाभासभवास्ततः ॥

यथा—

जरन्मीमांसकस्यापि शृण्वतः कृष्णविभ्रमम् ॥ ४१ ॥

हृष्टायमानमनसो बभूवोत्पुलकं वपुः ॥

यथा वा—

दुर्गमसङ्गमनी ।

स्तथा भवन्तीति शब्देनैव लक्षणमायातमितीत्थं तद्भेदानेव गणयति-
चतुर्विधा इति । रतेः प्रतिबिम्बत्वे छायात्वे च सति रत्याभासभवत्वम्,
मुद्दिस्मयाद्याभासमात्राक्रान्तचित्तत्वे सत्त्वाभासभवत्वं, मुद्दिस्मायाद्या-
भासस्याप्यन्तरस्पर्शे बहिरप्यस्पर्शे निःसत्त्वत्वं, प्रतीपास्तु विरोधि-
भावभवत्वाद्द्वया एवेति भावः ।

वाराणसीति । अत्र तन्निवासादिना मुमुक्षुत्वं गम्यते ।

भावाक्रान्तचित्तस्यैव सत्त्वतया संकोतितत्वाद् मुद्दिस्मयादेरा-
भासो यस्मिंस्तच्चित्तमिति वक्तव्ये मुदाद्याभास एव सत्त्वाभास-
इत्युक्तिस्तत्कारणताज्ञातशयविवक्षया, आयुर्धृतमितिवत् ।

मुकुन्दचरितामृतप्रसरवर्षिणस्ते मया

कथं कथनचातुरीमधुरिमा गुरुर्गर्ण्यताम् ।

मुहूर्त्तमतदर्शिनो विपयिणोऽपि यस्यानना-

न्निशम्य विजयं प्रभोर्दधति वाष्पभाराममी ॥

अथ निःसत्त्वाः—

निसर्गपिच्छिलस्वान्ते तदभ्यासपरेऽपि च ॥ ४२ ॥

सत्त्वाभासं विनाऽपि स्युः काप्यश्रुपुलकादयः ॥

यथा—

निशमयतो हरिचरितं न हि सुखदुःखादयोऽस्य हृदि भावाः ।

अनभिनिवेशाज्जाताः कथमस्रवदस्रमश्रान्तम् ॥

प्रकृत्या शिथिलं येषां मनः पिच्छिलमेव वा ॥ ४३ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

मुकुन्देति । अमी इति सद्य एवागतत्वं व्यञ्जयति ।

उपरि इलथमन्तः कठिनं पिच्छिलं तद्रूपत्वान्न कुत्रापि स्थिरं, श्ल-
थत्वं त्वन्तर्बहिरप्यकठिनं तद्रूपत्वाद्यत्र कुत्रापि संसज्जमानमिति भे-
दः, तत्र सति; निसर्गेति व्याख्यायते—यः कोऽपि निसर्गपिच्छिलस्वा-
न्तो भवति=सार्विकोदयार्थं धारणाविशेषेणाभ्यासपरो भवति; त-
स्मिन् सत्त्वाभासं विनाऽप्यश्रुपुलकादयो भवन्ति, बहिरन्तःकठिनेषु
तु तदभ्यासेनापि न भवन्तीत्येवार्थः, सत्त्वाभासं विनाऽपीत्यस्य नि-
सर्गेत्यनेनान्वये धारणाविशेषस्यापेक्ष्यस्य विशेषणत्वापातान्न पृथग्
घटक इति, अत एवास्योदाहरणमेकमेव करिष्यते निःसत्त्वानामेषां-
सार्विकाभासे गणना त्वज्ञेषु सार्विकवदाभासन्त इत्यपेक्षया ।

निशमयत इति । अनभिनिवेशात् पिच्छिलत्वान्न हि भावा जाताः,
अनभिनिवेशस्तु मयाऽस्य मुहुरेवानुभूतोऽस्तीति भावः, तथाऽपि
“कथमस्रमश्रान्तमस्रवदि”ति यदुक्तं तत्स्वल्भ्यासपरत्वादेवेति व्य-
ञ्जितम् ।

तेष्वेव सात्त्विकाभासः प्रायः संसदि जायते ॥

हितादन्यत्र कृष्णस्य प्रतीपाः कुङ्कुमादिभिः ॥ ४४ ॥

तत्र कृष्णायथा हरिवंशे—

तस्य प्रस्फुरितौष्ठस्य रक्ताधरतटस्य च ।

वक्त्रं कंसस्य रोपेण रक्तसूर्यायते तदा ॥

भयेन यथा—

म्लानाननः कृष्णमवेक्ष्य रङ्गे सिध्वेद मल्लस्त्वधिभालश्रुक्ति ।

मुक्तिश्रियां छण्डु पुरो मिलन्त्यामत्यादरादधर्मिवोज्जहार ॥

यथा वा—

प्रवाच्यमाने पुरतः पुराणे निशम्य कंसस्य मदातिरेकम् ।

परिप्लवान्तःकरणः समन्तात् कश्चित्परिम्लानमुखस्तदाऽऽसीत् ॥

नास्त्यर्थः सात्त्विकाभासकथने कोऽपि यद्यपि ॥

सात्त्विकानां विवेकाय दिक् तथाऽपि प्रदर्शिता ॥ ४५ ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिणविभागे भक्तिरससामान्य-

निरूपणे सात्त्विकलहरी तृतीया ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

संसद्येवेत्यन्वयः, प्राय इति । शिथिलस्यान्यत्रापि संभवात् शिथिलं श्लथं संसदि महोत्सवकीर्तनसभायाम् ।

कृष्णस्य हितादन्यत्र वैरिप्रभृतिषु कुदृभयादिभिर्हेतुभिः सात्त्विकाभासाः प्रतीपाः स्युरित्यर्थः ।

मुक्तिश्रियामित्यादिना तस्माद्गीतस्तमेव शरणमाश्रितवानिति ध्वनितं, म्लानास्यगोबिन्दमित्यादिप्रकारान्तरं पद्यं त्यक्तम् ॥ १-४५ ॥

इति पञ्चलहर्ष्यात्मके दक्षिणविभागे सात्त्विकलहरी तृतीया ।

अथ व्यभिचारिणः—

अथोच्यन्ते त्रयस्त्रिंशद्भावा ये व्यभिचारिणः ॥
 विशेषेणाभिमुख्येन चरन्ति स्थायिनं प्रति ॥ १ ॥
 वागङ्गसत्त्वसूच्या ये ज्ञेयास्ते व्यभिचारिणः ॥
 संचारयन्ति भावस्य गतिं संचारिणोऽपि ते ॥ २ ॥
 उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति स्थायिन्यमृतवारिधौ ॥
 ऊर्मिवद्धर्द्यन्त्येनं यान्ति तद्रूपतां च ते ॥ ३ ॥
 निर्वेदोऽथ विपादो दैन्यं ग्लानिश्रमौ च मदगर्वौ ॥
 शङ्कात्रासावेगा उन्मादापस्मृती तथा व्याधिः ॥ ४ ॥
 मोहो मृतिरालस्यं जाड्यं ब्रीडाऽवहित्था च ॥
 स्मृतिरथ वितर्कचिन्तामातिधृतयो हर्ष उत्सुकत्वं च ॥ ५ ॥
 औगन्धामर्षासूयाश्चापल्यं चैव निद्रा च ॥
 सुप्तिर्वोध इतीमे भावा व्यभिचारिणः समाख्याताः ॥ ६ ॥

तत्र निर्वेदः—

महाऽऽर्त्तिविप्रयोगेर्ष्यासद्विवेकादिकल्पितम् ॥
 स्वावमाननमेवात्र निर्वेद इति कथ्यते ॥ ७ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

वाचाऽङ्गेन=भूनेत्रादिना सत्त्वेन च सत्त्वोत्पन्नेनानुभावेन सू-
 च्या ज्ञाप्याः ।

कुत्र किंवद् ? अमृतवारिधावूर्मिवदिति पञ्चादेव योजनीयम् ।

सद्विवेकोऽत्राकर्तव्यस्य कृतत्वे कर्तव्यस्य चाकृतत्वे शोचनम-
 यो ज्ञेयः ।

SRI JAGADGURU VISHWAKSANA
 JNANA SIMHASANA JNANAMANDIR
 LIBRARY.
 Jangamwadi Math, VARANASI.
 Acc. No. 600 600 600 600 600

अत्र चिन्ताऽश्रुवैवर्ण्यदैर्न्यनिश्वासितादयः ॥

तत्र महाऽऽत्त्यां यथा—

हन्त देहहतकैः किममीभिः पालितैर्विफलपुण्यफलैर्नः ।

एहि कालियहृदे विषवन्हौ स्वं कुटुम्बिनि ? हठाज्जुह्वाम ॥

विप्रयोगेण यथा—

असंगमान्माधवमाधुरीणामपुष्पिते नीरसतां प्रयाते ।

वृन्दावने शीर्य्यति हा कुतोऽसौ प्राणित्यपुण्यः सुबलो द्विरेफः ॥

यथा वा दानकेलिकौमुद्यां—

भवतु माधवजल्पमश्रुवतोः श्रवणयोरलमश्रवणिर्मम ।

तमविलोकयतोरविलोचनिः सखि ! विलोचनयोश्च किलानयोः ॥

ईर्ष्याया यथा हरिवंशे सत्यादेवीवाक्यं—

स्तोतव्या यदि तावत् सा नारदेन तवाग्रतः ।

दुर्भगोऽयं जनस्तत्र किमर्थमनुशब्दितः ॥

सद्विवेकेन यथा श्रीदशमे—

ममैष कालोऽजित ! निष्फलो गतो राज्यश्रियोन्नद्धमदस्य भूपतेः ।

मर्त्यात्मबुद्धेः छतदारकोषभूष्वासज्जमानस्य दुरन्तचिन्तया ॥

अमङ्गलमपि प्रोच्य निर्वेदं प्रथमं मुनिः ॥ ८ ॥

मेनेऽमुं स्थायिनं शान्त इति जल्पन्ति के चन ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

न इति । द्वित्वेऽपि बहुवचनम् “अस्मदो द्वयोश्चे”तिपाणिनि-
स्मरणाद्, देहहतकैरित्यत्र तु बहुवचनं बहुजन्मताऽपेक्षया ।

अश्रवणिरित्यादिरूपम् “आक्रोशे नञ्यनिः” ।

सा=रुक्मिणी, अयं=मल्लक्षणः ।

के चनेति । स्वमते तु शान्तरसे शान्त्याख्याया रतेरेव स्थायिभा-

अथ विपादः—

इष्टानवाप्तिप्रारब्धकार्यासिद्धिविपत्तितः ॥ ९ ॥

अपराधादितोऽपि स्यादनुतापो विषण्णता ॥

अत्रोपायसहायानुसंधिश्चिन्ता च रोदनम् ॥ १० ॥

विलापश्वासवैवर्ण्यमुखशोषादयोऽपि च ॥

तत्रेष्टानवासितो यथा—

जरां याता मूर्तिर्मम विवशतां वागपि गता

मनोवृत्तिश्चेयं स्मृतिविधुरतापद्धतिमगात् ।

अघर्ष्वसिन् ! दूरे वसतु भवदालोकनशशी

मया हन्त प्राप्नो न भजनरुचेरप्यवसरः ॥

प्रारब्धकार्यासिद्धेर्यथा—

स्वप्ने मयाऽद्य कुसुमानि किलाहृतानि

यत्नेन तैर्विरचिता वनमालिका च ।

यावन्मुकुन्दहृदि हन्त निधीयते सा

हा तावदेव तरसा विरराम निद्रा ॥

विपत्तेर्यथा—

कथमनायि पुरे मयका छतः कथमसौ न निगृह्य गृहे धृतः ।

असुमहो बत दन्तिविधुन्तुदो विधुरितं विधुमत्र विधित्सति ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

वत्वाद्, अत्र तु निर्वेदस्य प्रथमोक्तिस्तु मुनिवचनानुवादरूपत्वादिति भावः,

विधुरता=रहितत्वं, कथमनायीति । श्रीव्रजेन्द्रवचनं; तच्च मञ्जनामत्युच्चत्वेन दूरेऽपि दर्शनसंभवाद्,

विधुरितं=दुःखितं, विधित्सति=कर्तुमिच्छति, हरिमित्यादि पाठान्तरं त्यक्तम् ।

अपराधाद् यथा श्रीदशमे—

पश्येश ! मेऽनार्य्यमनन्त आद्ये परात्मनि त्वय्यपि मायिमायिनि ।

मायां वितत्येक्षितुमात्मवैभवं ह्यहं कियानैच्छमिवाचिरिभौ ॥

यथा वा—

स्यमन्तकमहं हृत्वा गतो घोरास्यमन्तकम् ।

करवै तरणीं कां वा क्षितो वैतरणीमनु ॥

अथ दैन्यं—

दुःखत्रासापराधाद्यैरनौर्जित्यं तु दीनता ॥ ११ ॥

चाटुकृन्मान्द्यमालिन्यचिन्ताऽङ्गजडिमादिकृत् ॥

तत्र दुःखेन यथा श्रीदशमे—

चिरमिह वृजिनात्तस्तप्यमानोऽनुतापै-

रवितृपपडमित्रो लब्धशान्तिः कथं चित् ।

शरणद ! समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्म-

न्नभयसृतमशोकं पाहि मापन्नमीश ! ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

अर्थः=सुजनस्तस्य भाव आर्य्यम् अतस्तद्विपरीतं दौर्जन्यमनार्य्यं, किं तद् ? आत्मनस्तव वैभवं माहात्म्यमीक्षितुमैच्छं यद्, द्रष्टुं मञ्जु महित्वमित्युक्तेः ।

नन्वेवं चेत्तर्हि को दोषस्तत्राह-त्वन्माहात्म्यं द्रष्टुं तत्रापि मायां वितत्य द्रष्टुं कियान् को वराकोऽहमित्यर्थः, कियत्वे दृष्टान्तः-अत्रावचिरिवेति,

स्यमन्तकमहमिति-अकूरचिन्ता कां वेत्यत्र किं वेति तु पाठः सम्यः,

अनौर्जित्यमात्मन्यतिनिकृष्टतामननं, चाटुस्तन्मयी याश्चा, हृदयस्य मान्द्यमपाटवं, मालिन्यमस्वास्थ्यं, चिन्ता=नानाभावेना,

त्रासेन यथा प्रथमे—

अभिद्रवति मामीश ! शरस्तसायसः प्रभो । ।

कामं दहतु मां नाथ ! मा मे गर्भो निपात्यताम् ॥

अपराधेन यथा श्रीदशमे—

अतः क्षमस्वाच्युत ! मे रजोभुवो-

ह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिनः ।

अजाऽवलेवान्धतमोऽन्धचक्षुष-

एषोऽनुकम्प्यो मपि नाथवानिति ॥

आद्यशब्देन लज्जयाऽपि यथा तत्रैव—

माऽनर्थं भोः ! कृथास्त्वां तु नन्दगोपपुत्रं प्रियम् ।

जानीमोऽङ्ग ! व्रजश्लाघ्यं देहि वासांसि वेपिताः ॥

अथाग्लानिः—

ओजः सोमात्मकं देहे बलपुष्टिकृदस्य तु ॥ १२ ॥

क्षयाच्छ्रमाधिरत्याद्यैर्ग्लानिर्निष्प्राणता मता ॥

कम्पाङ्गजाड्यवैवर्ण्यकार्श्यदृग्भ्रमणादिकृत् ॥ १३ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

श्रीपरिक्षिन्माता गर्भस्थितं श्रीकृष्णसेवायामर्हिष्यन्तं मत्वा स्वं-
तु तत्रायोग्यं मत्वा न तद्रक्षाऽर्थं निवेदयति-अभिद्रवतीति । तप्तम-
ग्निमुद्गिरिद् आयसं लोहशब्दं यस्य सः ।

अजो जगत्कर्त्ताऽहमिति मदेन गाढतमोरूपेणान्धीभूतनेत्रस्या-
तस्त्वत्पृथगीशमानिनः, अन्यत्र प्रभुमन्यत्वेन वर्त्तमानोऽपि; एषो-
ऽहमनुकम्प्यः, कथं ? नाथवानिति दास इत्येवम्, ननु परमे-
ष्ठिनस्तव दास्यं किमर्थं ? तत्राह मयि भगवति निमित्तं मदेक-
प्राप्त्यर्थमित्यर्थः,

ओजः शुकादप्युत्कृष्टो धातुविशेषः,

तत्र श्रमेण यथा—

आघूर्णन्मणिवलयोज्ज्वलप्रकोष्ठा गोष्ठान्तर्मधुरिपुकीर्त्तिनर्त्तितौष्टी ।

लोलाक्षी दधिकलसं विलोलयन्ती कृष्णाय क्लमभरनिःसहा बभूव ॥

यथा वा—

गुम्फितुं निरुपमां वनस्रजं चारुपुष्पपटलं विचिन्वती ।

दुर्गमे क्लमभरार्तिदुर्बला कानने क्षणमभून्मृगेक्षणा ।

आधिना यथा—

सा रसव्यतिकरेण विहीना क्षीणजीवनतयोच्चलहंसा ।

माधवाद्य विरहेण तवाम्बा शुष्यति स्म सरसी शुचिनेव ॥

रत्या यथा रसस्रधाकरे—

अतिप्रयत्नेन रतान्ततान्तां कृष्णेन तल्पादवरोपिता सा ।

आलम्ब्य तस्यैव करं कोण ज्योत्स्नाकृतानन्दमलिन्दमाप ॥

अथ श्रमः—

अध्वनृत्यरताद्युत्थः खेदः श्रम इतीर्यते ॥

निद्रास्वेदाङ्गसंमर्दजृम्भाश्वासादिभागसौ ॥ १४ ॥

तत्राध्वनो यथा—

कृतागसं पुत्रमनुव्रजन्ती व्रजाजिरान्तर्ब्रजराजराज्ञी ।

परिस्खलत्कुन्तलबन्धनेयं बभूव घर्म्माम्बुकरम्बिताङ्गी ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

लोलाक्षीति । मधुरिपुकीर्त्तिगाने श्वभ्रूप्रभृतित आशङ्कया निःसहा विवशाङ्गी ।

सा तवाम्बेत्यन्वयः, रसः सुखव्यतिकर आसङ्गः पक्षे सारसानि पक्षिविशेषाः पद्मानि चेत्येकशेषात् ।

शुचिस्त्वंयमाषाढ इत्यमरः,

अलिन्दं गृहाग्रकुट्टिमम् ।

व्रजे राजते या राज्ञी सेत्यर्थः, एवमन्यत्रापि, व्रजराजपत्नीति वा पाठः ।

नृत्याद्यथा—

विस्तीर्योत्तरलितहारमङ्गहारं संगीतोन्मुखमुखैर्वृतः छद्मभिः ।

अस्विद्यद्विरचितनन्दसूनुपवां कुर्वाणस्तटभुवि ताण्डवानि रामः ॥

रताद्यथा श्रीदशमे—

तासां रतिविहारेण श्रान्तानां वदनानि सः ।

प्रामृजत्करुणः प्रेम्णा शान्तमेनाङ्ग ! पाणिना ॥

अथ मदः—

विवेकहर उल्लासो मदः स द्विविधो मतः ॥

मधुपानभवोऽनङ्गविक्रियाभरजोऽपि च ॥ १५ ॥

गत्यङ्गवाणीस्खलनदृग्घूर्णारक्तिमादिकृत् ॥

तत्र मधुपानभवो यथा ललितमाधवे—

विले क नु विलिख्यरे नृपपिपीलिकाः पीडिताः

पिनष्मि जगदण्डकं ननु हरिः क्रुधं धास्यति ।

शचीगृहवुरङ्ग रे ! हससि किं त्वमित्युन्नद-

न्नुदेति मदडम्बरस्खलितचूडमग्रे हली ॥

अथ वा प्राचां—

भभभ्रमति मेदिनी लललम्बते चन्द्रमाः

कृकृष्ण ! ववद द्रुतं हहहसन्ति किं वृष्णयः ।

शिशीधु मुमुमुच्च मे पपपपानपात्रस्थितं-

मदस्खलितमालपन् हलधरः श्रियं वः क्रियात् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

भभभ्रमतीति पद्यं तस्य गृह एव स्थितस्य तत्तत्कल्पनया वचन-
ज्ञेयं, वास्तवत्वे श्रीकृष्णादीनां संकोचापत्तेः, मदस्खलितमित्यतः
प्रागितित्यध्याहार्यम्, प्रकरणं चेदं नात्याहतं करिष्यते मदोऽपि
त्रिविध इत्यादिना ।

उत्तमस्तु मदाच्छेते मध्यो हसति गायति ॥ १६ ॥

कनिष्ठः क्रोशति स्वैरं परुषं वक्ति रोदिति ॥

मदोऽपि त्रिविधः प्रोक्तस्तरुणादिप्रभेदतः ॥ १७ ॥

अत्र नात्युपयोगित्वाद्विस्तार्य न हि वर्णितः ॥

अनङ्गविक्रियाभरजो यथा—

व्रजपतिष्ठतमग्रे प्रेक्ष्य भुम्भीभवद्भू-

भ्रमति हसति रोदित्यास्यमन्तर्दधाति ।

प्रलपति मुहुरालीं बन्दते पद्म वृन्दे !

नवमदनमदान्धा हन्त गान्धर्विकेयम् ॥

अथ गर्वः—

सौभाग्यरूपतारूप्यगुणसर्वोत्तमाश्रयैः ॥ १८ ॥

इष्टलाभादिना चान्यहेलनं गर्व ईर्यते ॥

तत्र सोल्लुण्ठवचनं लीलाऽनुत्तरदायिता ॥ १९ ॥

स्वाङ्गेक्षा निन्हवोऽन्यस्य वचनाश्रवणादयः ॥

तत्र सौभाग्येन यथा बिल्वमङ्गले—

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण ! किमद्भुतम् ।

हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते ॥

रूपयौवनाभ्यां यथा—

यस्याः स्वभावमधुरां परिषेव्य मूर्त्ति-

धन्या बभूव नितरामपि यौवनश्रीः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

निन्हवः=स्वाभिप्रायादेर्गोपनम् ।

हस्तमुत्क्षिप्येति न स्वार्थप्रधानं तादृक्प्रेम्णस्तस्यात्र दुःखस्यै-
व योग्यत्वाद् गर्वस्यानुपपत्तेः; सुतरां तु तन्मयेदृशपरिहासस्येति;

सेयं त्वयि व्रजवधूशतभुक्तमुक्ते

दृक्पातमाचरतु कृष्ण ! कथं सखी मे ॥

गुणेन यथा—

गुम्फन्तु गोपाः कुसुमैः सुगन्धिभि

दामानि कामं धृतरामणीयकैः ।

निधास्यते किन्तु सत्पुण्यमग्रतः

कृष्णो मदीयां हृदि विस्मितः स्रजम् ॥

सर्वोत्तमाश्रयेण यथा श्रीदशमे—

तथा न ते माधव ! तावकाः क्व चिद्

अश्रयन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः ।

त्वयाऽभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया-

विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ! ॥

इष्टलाभेन यथा—

वृन्दावनेन्द्र ! भवतः परमं प्रसाद-

मासाद्य नन्दितमतिर्मुहुर्बुद्धतोऽस्मि ।

आशंसते मुनिमनोरथवृत्तिमृग्यां-

वैकुण्ठनाथकरुणामपि नाद्य चेतः ॥

अथ शङ्का—

स्वीयचौर्यापराधादेः परक्रौर्यादितस्तथा ॥ २० ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

किन्तु व्यङ्ग्यप्रधानमेवार्थान्तरसंक्रमितत्वात्, तच्च यदि मथ्युदासी-
नतां गतोऽसि तथाऽप्यहं न त्वां त्यजामीति ।

तथेति पूर्वार्थविरोधे यथा त्वं मूर्खस्तथाऽहं नेतिवद्, यद्वा किञ्चे-
त्यर्थः, मार्गादपि किं पुनर्मृग्यात्, त्वदाश्रयेण विघ्नान्न गणयन्तीति
तात्पर्यार्थः ।

वृन्दावनेन्द्रेति । मथुरावायकस्यैषोक्तिः ।

स्वानिष्टोत्प्रेक्षणं यत्तु सा शङ्केत्यभिधीयते ॥

अत्रास्यशोषवैवर्ण्यदिक्प्रेक्षालीनताऽऽद्यः ॥ २१ ॥

तत्र चौर्याद्यथा—

सतर्णकं डिम्भकटम्बकं हरन्

सदम्भमम्भोरुहसम्भवस्तदा ।

तिरोभविष्यन् हरितश्चलेक्षणै-

रष्टाभिरष्टौ हरितः समीक्षते ॥

यथा वा—

स्ममन्तकं हन्त वमन्तमर्थं निन्दुत्य दूरं यदहं प्रयातः ।

अवद्यमद्यापि तदेव कर्म शम्माणि चित्ते मम निर्भिनत्ति ॥

अपराधाद्यथा—

तद्वधि मलिनोऽसि नन्दगोष्ठे

यद्वधि वृष्टिमचीकरः शचीश ! ।

शृणु हितमभितः प्रपद्य कृष्णं—

श्रियमविशङ्कमलंकुरु त्वमैन्द्रीम् ॥

परकौट्येण यथा पद्यावल्यां—

प्रथयति न तथा ममार्त्तिमुच्चैः

सहचरि ! बल्लवचन्द्रविप्रयोगः ।

कटुभिरसुरमण्डलैः परीते

दनुजपतेर्नगरे यथाऽस्य वासः ॥

शङ्का तु प्रवरस्त्रीणां मीरुत्वाद्भयकृद्भवेत् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

हरितः=हरेः सकाशात्, पुनर्हरितो=दिशः ।

कटुभिरिति । तदानीमसम्भवमपि स्नेहमात्रेण शङ्कते-अनिष्टाश-

ङ्कानि बन्धुहृदयानि भवन्तीति न्यायेन ।

अथ त्रासः—

त्रासः क्षोभो हृदि ताडिद्घोरसत्त्वोग्रनिस्वनैः ॥ २२ ॥

पार्श्वस्थालम्बरोमाञ्चकम्पस्तम्भभ्रमादिकृत् ॥

तत्र तडिता यथा—

वाढं निविडया सद्यस्तडिता ताडितेक्षणः ।

रक्ष कृष्णेति चुक्रोश कोऽपि गोपीस्तनन्धयः ॥

घोरसत्त्वेन यथा—

अदूरमासेदुपि वल्लवाङ्गना

स्वं पुङ्गवीकृत्य छरारिपुङ्गवे ।

कृष्णभ्रमेणाशु तरङ्गदङ्गिका

तमालमालिङ्ग्य बभूव निश्चला ॥

उग्रनिस्वनेन यथा—

आकर्ण्य कर्णपदवीविपदं यशोदा

विस्फूर्जितं दिशि दिशि प्रकटं वृकाणाम् ।

यामात्रिकामचतुरा चतुरः स्वपुत्रं-

सा नेत्रचत्वरचरं चिरमाचचार ॥

गात्रोत्कम्पी मनःकम्पः सहसा त्रास उच्यते ॥ २३ ॥

पूर्वापरविचारोत्थं भयं त्रासात्पृथग्भवेत् ॥

अथावेगः—

चित्तस्य संभ्रमो यः स्यादावेगोऽयं स चाष्टधा ॥ २४ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

आकर्ण्येति श्रीहरिवंशानुसारिवचनम् ।

पूर्वोक्तं त्रासं भयात्पृथक्कर्तुमाह—गात्रेति । मनकम्पोऽत्र पूर्वोक्तो-
द्दत्क्षोभ एवोच्यते, सहसेति च पूर्वापरविचारविनाभूतमुच्यते, “अत-
र्किते तु सहसे”त्यमरः, ततश्च स खलु मनःकम्पः सहसा गात्रोत्कम्पी

प्रियाप्रियानलमरुद्वर्षोत्पातगजारितः ॥

प्रियोत्थे पुलकः सान्त्वं चापलाभ्युद्गमादयः ॥ २५ ॥

अप्रियोत्थे तु भूपातविक्रोशभ्रमणादयः ॥

व्यत्यस्तगतिकम्पाक्षिमीलनास्त्रादयोऽग्निजे ॥ २६ ॥

वातजेऽङ्गावृत्तिक्षिप्रगतिदृज्जार्जनादयः ॥

वृष्टिजो धावनच्छत्रगात्रसंकोचनादिकृत् ॥ २७ ॥

उत्पाते मुखवैवर्ण्यविस्मयोत्कम्पिताऽऽदयः ॥

गाजे पलायनोत्कम्पत्रासपृष्ठेक्षणादयः ॥ २८ ॥

अरिजो वर्म्मशस्त्रादिग्रहापसरणादिकृत् ॥

प्रियदर्शनजो यथा—

प्रेक्ष्य वृन्दावनात्पुत्रमायान्तं प्रस्तुतस्तनी ।

संकुला पुलकैरासीदाकुला गोकुलेश्वरी ॥

प्रियश्रवणजो यथा श्रीदशमे—

श्रुत्वाऽच्युतमुपायान्तं नित्यं तद्दर्शनोत्सुकाः ।

तत्कथाऽऽक्षिसमनसो बभूवुर्जातसंभ्रमाः ॥

अप्रियदर्शनजो यथा—

किमिदं किमिदं किमेतदुच्चै-

रितिघोरध्वनिघूर्णिता लपन्ती ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

चेत् त्रास उच्यते, भयं तु पूर्वापरविचारोत्थं भवति, विचारोत्थ इति वा पाठः मनःकम्प एव विचारोत्थश्चेद्भयमुच्यते, अत एव त्रासात्पृथग् भवेदित्यर्थः ।

सान्त्वं=प्रियभाषणम्, अभ्युद्गमोऽभ्युत्थानम् ।

किमिदमित्यादाविति लपन्तीत्यन्वयः,

निशि वक्षसि वीक्ष्य पूतनाया-

स्तनयं भ्राम्यति संभ्रमाद्यशोदा ॥

अप्रियश्रवणजो यथा—

निशम्य पुत्रं ब्रुतोस्तटान्ते

महीजयोर्मध्यगमूर्ध्वनेत्रा ।

आभीरराज्ञी हृदि संभ्रमेण

विद्धा विधेयं न विदांचकार ॥

अग्निजो यथा—

धीर्व्यग्राऽजनि नः समस्त हृदां त्वां प्राणरक्षामणि-

गव्या गौरवतः समीक्ष्य निविष्टे तिष्ठन्तमन्तर्वणे ।

वन्हिः पश्य शिखण्डशेखरखरं मुञ्चन्नखण्डध्वनि-

दीर्घाभिः सुरदीर्घिकाऽम्बुलहरीमर्चिर्भिराचामति ॥

वातजो यथा—

पांशुप्रारब्धकेतौ बृहददविकुटोन्माथिशौटीर्य्यपुञ्जे

भाण्डीरोद्वण्डशाखाभुजततिपु गते ताण्डवाचार्य्यचर्य्याम् ।

वातव्राते करीपङ्कपतरशिखरे शार्करे झात्करिणौ

क्षोण्यामप्रेक्ष्य पुत्रं व्रजपतिगृहिणी पश्य संवम्भ्रमीति ॥

वर्षजो यथा श्रीदशमे—

अत्यासारातिवातेन पशवो जातवेपनाः ।

गोपा गोप्यश्च शीतार्ता गोविन्दं शरणं ययुः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

निशम्येत्यस्य घटना रौद्रे रस उत्तिष्ठ मूढ इत्यत्र कार्या ।

गव्या=गोसमूहः ।

पांश्वत्यादिः खेचराणामुक्तिः, शार्कर इति “सिकताशर्कराभ्यां-
चे”ति मत्वर्थीयाणप्रत्ययाच्छर्करावतीत्यर्थः ।

यथा वा—

सममुस्करकार्भिर्दन्तिशुण्डासपिण्डाः
प्रतिदिशमिह गोष्ठे वृष्टिधाराः पतन्ति ।
अजनिषत् युवानोऽप्याकुलास्त्वं तु बालः
स्फुटमसि तदगारान्मा स्म भूर्निर्विधासुः ॥

उत्पातजो यथा—

क्षितिरतिविपुला टलत्यक्स्मादुपरि घुरन्ति च हन्त धोरमुल्काः ।
मम शिशुरहिदूषितार्कषुत्रीतटमटतीत्यधुना किमत्र कुर्याम् ॥

गाजो यथा—

अपसरापसर त्वरया गुरु-
मुंदिरसुन्दर हे ! पुरतः करी ।
अदिमवीक्षणतस्तव नश्रलं-
हृदयमाविजते पुरयोषिताम् ॥

गजेन दुष्टसत्त्वोऽन्योऽप्यश्वादिरुपलक्ष्यते ॥ २९ ॥

चण्डांशोस्तुरगान् सटाऽग्रनटनैराहत्य विद्रावयन्
द्रागन्धङ्करणः सुरेन्द्रसुहृशां गोष्ठोद्धुतैः पांशुभिः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

अगारादिति । तत्रैव वृष्टिप्राप्तौ गोबर्द्धनपर्यन्तगमनं तु पुनर्भा-
ण्डीरमापिता इतिवत् ।

अटति=अधुनैवाटितवानित्यर्थः, टल दलवैकल्य इति धातुगणः,
उल्का इत्यनेनाकालेऽपि सूर्यग्रहणं ध्वनितं; येनान्धकारे दिनेऽपि ता-
दृश्यन्ते धुर भीमार्त्तशब्दयोरिति धातुः ।

“सत्त्वमस्त्री तु जन्तुष्वि”त्यमरनानाऽर्थाद् दुष्टसत्त्व इत्युक्तम् ।

चण्डांशोरित्यर्द्धं मातृषवनानुवादः, गर्वान्धमिति क्रियाया विशेष-
णं, कर्तृधर्मस्यापि तस्य तस्यामुपचारात्, स च तत्प्रत्यासदनस्य

प्रत्यासीदतु मत्पुरः सुररिपुर्गर्वान्धमर्वाकृति-

द्राघिष्ठे सुहुरत्र जाग्रति भुजे व्यग्राऽसि मातः ! कथम् ॥

अरिजो यथा ललितमाधवे—

स्थूलस्तालभुजोन्नतिर्गिरितटीवक्षाः क यक्षाधमः

कार्यं बालतमालकन्दलमृदुः कन्दर्पकान्तः शिशुः ।

नास्त्यन्यः सहकारितापटुरिह प्राणी न जानीमहे

हा गोष्ठेश्वरि ! कीदृगद्य तपसां पाकस्तवोन्मीलति ॥

यथा वा तत्रैव—

ससिः ससी रथ इह रथः कुञ्जरः कुञ्जरो मे

तूणस्तूणो धनुरुत धनुर्भो ! कृपाणी कृपाणी ।

का भीः का भीरयमयमहं हा त्वरध्वं त्वरध्वं-

राजः पुत्री वत हतहता कामिना बल्लवेन ॥

आवेगाभास एवायं पराश्रयतयाऽपि चेत् ॥

नायकोत्कर्षबोधाय तथाऽप्यत्र निदर्शितः ॥ ३० ॥

अथोन्मादः—

उन्मादो हृद्भ्रमः प्रौढानन्दापाद्विरहाधिजः ॥

अत्रादृहासो नटनं संगीतं व्यर्थचेष्टितम् ॥ ३१ ॥

प्रलापधावनाक्रोशविपरीतक्रियाऽऽदयः ॥

दुर्गमसङ्गमनो ।

मग्नेनातिवैकल्यविवक्षया, द्राघिष्ठे=ततोऽपि दीर्घतमे, सुहूर्जाग्रति=त-

द्विधासुरदमनाय सावधाने सतीत्यर्थः, सर्वास्तिहरेऽत्रेति वा पाठः ।

रथ इह रथ इति धनुरुत धनुरिति च; न द्विरुक्तिः, किन्त्वन्य-
स्यान्यस्य वचनम् ।

आवेगेत्युत्तरत्र वाक्यं नायकोत्कर्षं बोधयति; तथाविधाः कृत्वा
नायकपक्षीयैर्जिता इति श्रवणाद्, भक्तानां हर्षेण रतिरुद्गीता स्यादि-

तत्र प्रौढानन्दाद्यथा बिल्बमङ्गले—

राधा पुनातु जगदच्युतदत्तचित्ता
मन्थानकं निदधती दधिरिक्तपात्रे ।
यस्याः स्तनस्तवकचञ्चललोचनालि-
देवोऽपि रुद्धहृदयो धवलं दुदोह ॥

आपदो यथा—

पशूनपि कृताञ्जलिर्नमति मान्त्रिका इत्यलं-
तरूनपि चिकित्सका इति विषौषधं पृच्छति ।
हृदं भुजगभैरवं हरिहरि प्रविष्टे हरौ
व्रजेन्द्रगृहिणी मुहुर्भ्रममयीमवस्थां गता ॥

विरहाद्यथा श्रीदशमे—

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता-
विचिक्युर्नमत्तकचद्वनाद्वनम् ।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहि-
र्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

त्येतदर्थमित्यर्थः ।

पशूनपीति । अत्र पूर्वेषु प्रश्नस्तद्वलपराभवाय; उत्तरेषु प्रश्नस्त-
द्विषनाशनायेति ज्ञेयम् ।

गायन्त्य उच्चैरित्यत्र त्वेवमेवोन्मादो योजनीयः, पुरुषं स्वनायकं-
पप्रच्छुः, तं च भूतेषु स्थावरजङ्गमेष्वकाशवदन्तरं बहिश्च सन्तं-
साक्षादिव सत्तया स्फुरन्तं पप्रच्छुः, तादृशस्फूर्तिश्च तासां प्रेमवि-
लासविशेषादेव “वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य” इतिवत्
तत्र बहिः स्फुरणं दूरतः, अन्तस्तु निकट्यात्, तत्र सत्युन्मादवृत्त्या
निरिन्द्रियेष्वपि प्रश्नो योग्य इति ।

उन्मादः पृथगुक्तोऽयं व्याधिष्वन्तर्भवन्नपि ॥ ३२ ॥

यत्तत्र विप्रलम्भादौ वैचित्रीं कुरुते पराम् ॥

अधिरूढे महाभावे मोहनत्वमुपागते ॥ ३३ ॥

अवस्थाऽन्तरमाप्नोऽसौ दिव्योन्माद इतीर्यते ॥

अथापस्मारः—

दुःखोत्थो वातवैषम्याद्युद्भूताश्चित्तविप्लवः ॥ ३४ ॥

अपस्मारोऽत्र पतनं धावनास्फोटनभ्रमाः ॥

कम्पः फेनश्रुतिर्बाहुक्षेपोऽथ क्रोशनादयः ॥ ३५ ॥

यथा—

फेनायते प्रतिपदं क्षिपते भुजोर्मि-

माघूर्णते लुठति कूजति लीयते च ।

अम्बा तवाद्य विरेहे चिरमम्बुराज-

वेलेव वृष्णितिलक ! व्रजराजराज्ञी ॥

यथा वा—

श्रुत्वा हन्त हतं त्वया यदुकुलोत्तंसात्र कंसासुरं-

दैत्यस्तस्य स्रष्टुत्तमः परिणतिं घोरं गतः कामपि ।

लालाफेनकडम्बचुम्बितमुखप्रान्तस्तरङ्गदुभुजो-

घूर्णन्नर्णवसीमिन् मण्डलतया आम्यज्ञ विश्राम्यति ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तत्र=तेषु व्याधिषु, तेषां मध्य इत्यर्थः।

आस्फोटनं=सम्यगङ्गव्यथा ।

फेनायते इति । श्रीराधायाः संदेशः, “वेला स्यात्तीरनीरयोरि”त्य-
मरः, व्रजराजराज्ञीति पूर्ववत् ।

उन्मादवदिह व्याधिविशेषोऽप्येष वर्णितः ॥

परां भयानकाभासे यत्करोति चमत्कृतिम् ॥ ३६ ॥

अथ व्याधिः—

दोषोद्रेकवियोगाद्यैर्व्याधयो ये ज्वरादयः ॥

इह तत्प्रभवो भावो व्याधिरित्यभिधीयते ॥ ३७ ॥

अत्र स्तम्भश्च तथाङ्गत्वश्चासौत्तापकलमादयः ॥

यथा—

तत्र चिरविरहेण प्राप्य पीडामिदानीं-
दधदुरुजडिमानि धमापितान्यङ्गकानि ।
श्वसितपवनधाटीघट्टितघ्राणवाटं-
लुठति धरणिपृष्ठे गोष्ठवाटीकुटुम्बम् ॥

अथ मोहः—

मोहो हन्मूढता हर्षाद्विश्लेषाद्भयतस्तथा ॥ ३८ ॥

विषादादेश्च तत्र स्यादेहस्य पतनं भुवि ॥

शून्येन्द्रियत्वं भ्रमणं तथा निश्चेष्टतामयः ॥ ३९ ॥

तत्र हर्षाद्यथा श्रीदशमे—

इति स्म पृष्ठः स च बादरायाण-
स्तत्स्मारितानन्तहृताखिलेन्द्रियः ।
कृच्छ्रात्पुनर्लब्धबहिर्दृशिः शनैः
प्रत्याह तं भागवतोत्तमोत्तमम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

बलादाक्रमणं धाटीति क्षीरस्वामी, अत्र तु लक्षणया क्रमणमेवो-
च्यते, वाटः=पन्थाः, अत्र तु घ्राणवाटेन नासिकोच्यते, गोष्ठवाटीति ।
वाटो=वास्तुभूमिः, वाटीति स्वल्पत्वविवक्षया,

यथा वा—

निरुच्छ्वसितरीतयो विघटिताक्षिपक्षमक्रिया-
निरीहनिखिलेन्द्रियाः प्रतिनिवृत्तचिद्वृत्तयः ।
अवेक्ष्य कुरुमण्डले रहसि पुण्डरीकेक्षणं-
ब्रजाम्बुजदृशोऽभजन् कनकशालभञ्जीश्रियम् ॥

विश्लेषाद्यथा हंसदूते—

कदा चित्त्वेदामि विघटयितुमेतर्गतमसौ
सहालीभिलंभे तरलितमना यामुनतटीम् ।
चिरादस्याश्रितं परिचितकुटीरावकलना-
दवस्थास्तस्तार स्फुटमथ सुषुप्तेः प्रियसखी ॥

भयाद्यथा—

सुकुन्दमाविष्कृतविश्वरूपं-
निरूपयन्वानरवर्च्यकेतुः ।
करारबिन्दात्पुरतः स्वललन्तं-
न गाण्डिवं खण्डितधीर्विवेद ॥

विषादाद्यथा श्रीदशमे—

कृष्णं महाबकप्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः ।
बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राणं विचेतसः ॥

अस्यान्यत्रात्मपर्यन्ते स्यात्सर्वत्रैव मूढता ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

निरुच्छ्वसितेति । निर्गता उच्छ्वसितानां रीतयः प्रचारा याभ्यः,
शालभञ्जी=प्रतिमा ।

अत्र कुटीरो लतागृहं तदवकलनात् सुषुप्तेस्तुल्यत्वात् प्रियस-
खीव याऽवस्था मोहरूपा सा चित्तं तस्तार=आच्छादितवती ।

अस्य प्रासमोहस्य भगवद्भक्तस्य, कृष्णस्फूर्तिविशेषस्त्विति । इवा-

कृष्णस्फूर्तिविशेषस्तु न कदाऽप्यत्र लीयते ॥ ४० ॥

अथ मृतिः—

विषादव्याधिसंत्राससंप्रहारक्लमादिभिः ॥

प्राणत्यागो मृतिस्तस्यामव्यक्ताक्षरभाषणम् ॥ ४१ ॥

विवर्णगात्रताश्वासमान्द्यहिकाऽऽदयः क्रियाः ॥

यथा—

अनुल्लासश्वासा मुहुरसरलोत्तानितदृशो-

विवृण्वन्तः काये किमपि नववैवर्ण्यमभितः ।

हरेर्नामाव्यक्तीकृतमलघुहिकालहरिभिः

प्रजल्पन्तः प्राणान् जहति मथुरायां सकृत्तिनः ॥

यथा वा—

विरमदलघुकण्ठोद्घोषघुत्कारचक्रा

क्षणविघटितताम्यदृष्टिखद्योतदीप्तिः ।

हरिभिर्हिरनिपीतप्राणगाढान्धकारा

क्षयमगमदकस्मात्पूतना कालरात्रिः ॥

प्रायोऽत्र मरणात्पूर्वा चित्तवृत्तिर्मृतिर्मता ॥ ४२ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

भयं तं विना भावानामनवस्थितेः, तथा-चोक्तं “तत्स्मारितानन्तद्वृत्ता-
खिलेन्द्रिय” इति, किन्तु बहिर्वृत्तिलोपप्राधान्येन प्रलयो, मोहस्त्वन्त-
वृत्तिलोपप्राधान्येन ज्ञेयः, अत एव मोहो हन्मुढतेत्यत्र हन्लब्धो-
दत्तः मुह वैचित्य इति धातुबलादेव तदर्थतासिद्धेः ।

घुत्कारो=घूकशब्दः ।

प्राय इति प्रथममर्द्धं, मृतिरत्रेति द्वितीयं, किंत्विति तृतीयमित्येव
क्रमः, तत्र प्राणत्यागस्य भावत्वाभावादपरितुष्यन्नाह-प्राय इति । मृतिः

मृतिरत्रानुभावः स्यादिति केन चिदुच्यते ॥

किन्तु नायकवीर्यार्थं शत्रौ मरणमुच्यते ॥ ४३ ॥

अथालस्य—

सामर्थ्यस्यापि सद्भावे क्रियाऽनुमुखता हि या ॥

तृप्तिश्रमादिसंभूता तदालम्ब्यमुदीर्यते ॥ ४४ ॥

अत्राङ्गभङ्गो जृम्भा च क्रियाद्वेषोऽक्षिमर्दनम् ॥

शय्याऽऽसनैकप्रियता तन्द्रानिद्राऽऽदयोऽपि च ॥ ४५ ॥

तत्र तृप्त्यर्था—

विप्राणां नस्तथा तृप्तिरासीद्वोबर्द्धनोत्सवे ।

नाशीर्वादेऽपि गोपेन्द्र ! यथा स्यात्प्रभविष्णुता ॥

श्रमाद्यथा—

सुष्ठु निःसहतनुः सुबलोऽभूत्प्रीतये मम विधाय नियुद्धम् ।

मोटयन्तमभितो निजमङ्गं नाहवाय सहसाऽऽह्वयतामुम् ॥

अथ जाड्यम्—

जाड्यमप्रतिपत्तिः स्यादिष्टानिष्टश्रुतीक्षणैः ॥

विरहाद्यैश्च तन्मोहात्पूर्वावस्था पराऽपि च ॥ ४६ ॥

अत्रानिमिषता तूष्णींभावविस्मरणादयः ॥

दुर्गमसङ्गमनो ।

प्राणत्यागस्त्वत्रानुभावः स्यात्, केन चिदिति । स्वयमेवेत्यर्थः, तत्र च पूतनावर्णने विशेषादपरितुष्यन्नाह—किंत्विति सद्भावे=आग्रहेण समुद्भावयितुं शक्यत्वे ।

निःसहत्वं=किञ्चिदपि कर्तुमक्षमत्वम्, सहसाऽऽह्वयतामुमित्येव पाठः !

अप्रतिपत्तिर्विचारशून्यता, तत्=जाड्यं, मोहात्पूर्वावस्था पराऽ-

तत्रेष्टश्रुत्या यथा श्रीदशमे—

गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत-

पीयूषमुन्नमितकर्णपुटैः पिबन्त्यः ।

साम्बाः स्नुतस्तनपयःकवलाः स्म तस्थु-

गोबिन्दमात्मनि दृशाऽश्रुकलाः स्पृशन्त्यः ॥

अनिष्टश्रुत्या यथा—

आकलय्य परिवर्त्तितगोत्रां केशवस्य गिरमर्पितशल्याम् ।

विद्धधीरधिकनिर्निमिषाक्षी लक्ष्मणा क्षणमवर्त्तत तूष्णीम् ॥

दृष्टेक्षणेन यथा तत्रैव—

गोबिन्दं गृहमानीय देवदेवेशमादृतः ।

पूजायां नाविदत् कृत्यं प्रमोदोपहतो नृपः ॥

अनिष्टेक्षणेन यथा तत्रैव—

यावदालक्ष्यते केतुर्यावद्रेणू रथस्य च ।

अनुप्रस्थापितात्मानो लेख्यानीवोपलक्षिताः ॥

विरहेण यथा—

मुकुन्द ! विरहेण ते विधुरिताः सखायश्चिरा-

दलंकृतिभिरुञ्जिता भुवि निविश्य तत्र स्थिताः ।

स्वलन्मलिनवाससः शबलरुक्षगात्रश्रियः

स्फुरन्ति खलदेवलद्विजगृहे सराक्षां हव ॥

अथ ब्रीडा—

नवीनसंगमाकार्यस्तवावज्ञादिना कृता ॥ ४७ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

प्यवस्था यथा तादृशीत्यर्थः, तस्य स्वतन्त्रत्वात् ।

गोत्रं=नाम ।

शबलं मलङ्कृतं, देवांजीवी तु देवलः ।

अधृष्टता भवेद् ब्रीडा तत्र मौनं विचिन्तनम् ॥

अवगुण्ठनभूलेखौ तथाऽधोमुखताऽऽद्यः ॥ ४८ ॥

तत्र नवीनसंगमेन यथा पद्यावल्यां—

गोविन्दे स्वयमकरोः सरोजनेत्रे
प्रेमान्धा वरवपुर्पर्यं सखि ! त्वम् ।
कार्पण्यं न कुरु दरावलोकदाने
विक्रीते करिणि किमङ्कुशे विवादः ॥

अकाशयेण यथा—

त्वमवागिह मा शिरः कृथा वदनं च त्रपया शचीपते ! ।
नय कल्पतरुं न चेच्छर्वो कथमग्रे मुखमीक्षयिष्यसि ॥

स्तत्रेन यथा—

भूरिसाद्गुण्यभारेण स्तूयमानस्य शौरिणा ।
उद्धवस्य व्यरोचिष्ट नम्रीभूतं तदा शिरः ॥

अवज्ञया यथा—

हरिवंशे सत्यादेवीवाक्यं—

वसन्तकुसुमैश्चित्रं सदा रैवतकं गिरिम् ।
प्रिया भूत्वाऽप्रिया भूता कथं द्रक्ष्यामि तं पुनः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

अधृष्टताऽत्र धृष्टताविरोधी भावः ।

विक्रीत इति । यथा तस्मिन् विक्रीतेऽप्यङ्कुशदाने विवादः क्रियते तथाऽत्र किं क्रियते नैवेत्यर्थः ।

त्वमवागिति—श्रीकृष्णस्य-वाक्यं-शिरोऽवाक्=नम्रीभूतं, वदनं-चावाक्=वचनरहितम् ।

अथावहित्था—

अवहित्थाऽऽकारगुप्तिर्भवेद्भावेन केन चित् ॥

अत्राङ्गादेः पराभ्यूहस्थानस्य परिगृहनम् ॥ ४९ ॥

अन्यत्रेक्षा वृथाचेष्टा वाग्भङ्गीत्यादयः क्रियाः ॥

तथा चोक्तम्—

अनुभावपिधानार्थोऽवहित्थं भाव उच्यते ॥ ५० ॥

तत्र जैह्वेन यथा श्रीदशमे—

सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं-

सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रवा ।

संस्पर्शनेनाङ्कृताङ्घ्रिहस्तयोः

संस्तुत्य ईपत्कुपितां बभाषिरे ॥

दाक्षिण्येन यथा—

सात्राजितीसदनसीमनि पारिजाते

नीते प्रणीतमहसा मधुसूदनेन ।

द्राघीयसीमपि विदर्भभुवस्तदेष्वां-

सौशील्यतः किल न कोऽपि विदाम्बभूव ॥

द्विधा यथा प्रथमे—

तमात्मजैर्दृष्टिभिरन्तरात्मना दुरन्तभावाः परिरेभिरे पतिम् ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

केन चिद्भावेन भावपारवश्येन हेतुनाऽऽकारस्य गोप्यभावानु-
भावस्य गुप्तिः=कृत्रिमभावान्तरव्यञ्जनया करणरूपया संवरणं यं
स्मिन् स तद्गुप्तीच्छारूपो भावोऽवहित्थेत्यर्थः ।

अनुभावेति । अनुभावपिधानार्थो भावोऽवहित्थमुच्यत इत्यन्वयः ।

जैह्वेन=मतिकौटिल्येन हेतुना ।

निरुद्धमप्यस्तवदम्बुनेत्रयोर्विलज्जतीनां भृगुवर्ग्य ! वैकलवात् ।

जैहयहीभ्यां यथा—

का वृषस्यति तं गोष्ठभुजङ्गं कुलपालिका ।

दूति ! यत्र स्मृते मूर्तिर्भात्या रोमाञ्चिता मम ॥

सौजन्येन यथा—

गूढा गाम्भीर्यसम्पद्भिर्मनोगह्वरगर्भगा ।

प्रौढाऽप्यस्या रतिः कृष्णे दुर्वितर्का परैरभूत् ॥

गौरवेण यथा—

गोविन्दे स्रवलमुखेः समं सहजिः

स्मेरास्यैः स्फुटमिह नम्रं निर्मिममाणे ।

आनम्रोक्तवदनः प्रमोदमुग्धो-

यत्नेन स्मितमथ संववार पत्री ॥

हेतुः कश्चिद्भवेत् कश्चिद्गोप्यः कश्चन गोपनः ॥

इति भावत्रयस्यात्र विनियोगः समीक्ष्यते ॥ ५१ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

वृषस्यति=कामयते, लक्ष्मणं सा वृषस्यन्तीतिवत्, कुलस्त्री, कुलपालिका ।

सौजन्येनेति । दाक्षिण्यमतेः कारणं सारल्यं, सौजन्यं तु धैर्य-लज्जाऽऽदियुक्तत्वमित्यनयोर्भेदः ।

मनोगह्वरगर्भगा=अत्यन्तगुप्ता या रतिः सा प्रौढाऽपि गाम्भीर्यसम्पद्भिर्गूढा सती दुर्वितर्काऽभूत् ।

हेतुरिति । यथा सभाजयित्वेत्यादौ हेतुजैहयं, तच्च स्वागिरैवाभिव्यक्तं दोषः स्यादिति मतिकौटिल्यं, तच्च तादृशभ्रूविलासेनैव व्यक्तं, गोप्योऽसूयामयामर्षः स चेष्टकुपितेत्यनेन व्यक्तः, गोपयन्त्यनेति गोपनः स चात्र संस्तवसंस्पर्शाभ्यां प्रत्यायितं हर्षवैकल्यम्,

हेतुत्वं गोपनत्वं च गोप्यत्वं चात्र सम्भवेत् ॥

प्रायेण सर्वभावानामेकशोऽनेकशोऽपि च ॥ ५२ ॥

अथ स्मृतिः—

या स्यात् पूर्वानुभूतार्थप्रतीतिः सदृशेक्षया ॥

दृढाभ्यासादिना वाऽपि सा स्मृतिः परिकीर्त्तिता ॥ ५३ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

सहासादित्वं च जैह्म्यमयमपि तदिव प्रत्याययति, सर्वत्र गोपना-
नुभावः कृत्रिम एव, गोपनभावस्तु मृगतृष्णाजलवत्प्रतीतिमात्रशरीरः
तस्मादस्य गोपनत्वमपि प्रातीतिकमेव किन्त्वनुभावस्यैव वास्त-
वत्वमिति ज्ञेयम्,

सात्राजितीत्यादौ मतिमयं दाक्षिण्यं हेतुः, तदत्र तस्याः प्रसि-
द्धमिति नोक्तम्, ईर्ष्या गोप्या, इयं च शब्दलब्धा, सौशील्यं तु कृत्रि-
मसुष्ठुव्यवहारः तत्प्रत्यायितो हर्षाभासो गोपनः,

तमात्मजैरित्यादौ विलज्जा हेतुः, दुरन्तभावोऽत्र सम्भोगाख्यो-
रसो गोप्यः, गोपनस्त्वश्रुनिरोधेन प्रत्यायितो धृत्याभासः; तथाऽप्य-
श्रुस्त्रवो गोपन आत्मजद्वारापरिरम्भणेन सम्भोगरसावरकः पत्युचित-
मैत्रीमात्रात्मकः, तत्र पाठव्युत्क्रमेणार्थक्रमश्चायं—प्रथमं दृष्टिभिस्ततो-
ऽन्तरात्मना तत आत्मजैः परिरम्भिर इति,

का वृषस्यतीत्यादौ जैह्म्यमपि तस्याः स्वाभाविकमिति हेतुरेव
गोप्यो हर्षः वचनमात्राभाषिता भीतिर्गोपनी,

गूढेत्यादौ सौजन्यं हेतुर्गम्यः, गोविन्द इत्यादौ गौरवं हेतुः,
यत्नमात्राभाषिता धृतिर्गोपनी, चापलं गोप्यमिति ।

प्रतीतिरत्रानुसंधानं प्रमादतस्तद्धेतोरुपद्रवतः, उपद्रवादिति
वा पाठः ।

भवेदत्र शिरःकम्पो भ्रूविक्षेपादयोऽपि च ॥

तत्र सदृशेक्षया यथा—

विलोक्य इयाममम्भोदमम्भोरुहविलोचना ।

स्मारं स्मारं मुकुन्द ! त्वां स्मारं विक्रममन्वभूत् ॥

हृदाभ्यासेन यथा—

प्रणिधानविधिमिदानीमकुर्वतोऽपि प्रमादतो हृदि मे ।

हरिपदपङ्कजयुगलं क्व चित् कदा चित् परिस्फुरति ॥

अथ वितर्कः—

विमर्शात् संशयादेश्च वितर्कस्तूह उच्यते ॥ ५४ ॥

एष भ्रूक्षेपणशिरोऽङ्गुलिमञ्जालनादिकृत् ॥

तत्र विमर्शाद्यथा विदग्धमाश्रये—

न जानीषे मूर्धनश्च्युतमपि शिखण्डं यद्दखिलं-

न के वेपन्मालयं कलयसि पुरस्तात्कृतमपि ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

विमर्शः=हेतुपरामर्शः—यथा पर्वतोऽयं बन्धिमान् धूमादिति, संशयः=कोटिद्वयं स्पृशन्निर्णेतुमशक्तं ज्ञानं यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति, आदिग्रहणादतस्मिन्स्तद्वुद्धिरूपो विपर्यासो यथा शुक्तौ रजतमिदमिति, तस्मात्तस्माच्चेति तत्तदनन्तरं य ऊहो वस्तुनस्तत्स्वनिर्णयाय विचारः स वितर्क उच्यत इत्यर्थः, तत्र हेतुपरामर्शानन्तरं विचारो-व्याप्तिग्रहणं, यथा धूमपरामर्शानन्तरं यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र बन्धिर्यथा महानसमिति, तस्माद्बन्धिमानित्येतल्लक्षणो निर्णयोऽत्र ज्ञेयः, संशयानन्तरं तु विचारो हेतुपरामर्शः, तथा विपर्यासानन्तरं च सकंचिद् दृश्यत इति ।

न जानीष इति । अत्र व्याप्तिग्रहणं पूर्वपूर्वानुभवेन ज्ञेयम्, उन्नीतमिति ज्ञाततया निर्देशस्तस्यावहित्थाखण्डनार्थमेव कृतो न तु वस्तुतः, तत्र

तदुन्नीतं वृन्दावनकुहरलीलाकलभ हे !

स्फुटं राधानेत्रभ्रमरवरवीर्यान्नतिरियम् ॥

संशयाद्यथा—

असौ किं तापिञ्छो न हि यदमलश्रीरिह गतिः

पयोदः किं वाऽयं न यदिह निरञ्छो हिमकरः ।

जगन्मोहारम्भोद्भुरमधुरवंशीध्वनिरितो-

भुवं मूर्द्धन्यद्रेर्विधुमुखि ! मुकुन्दो विहरति ॥

विनिर्णयान्त एवायं तर्क इत्यूचिरे परे ॥ ५५ ॥

अथ चिन्ता—

ध्यानं चिन्ता भवेदिष्टानाप्त्यनिष्टाप्तिनिर्मितम् ॥

श्वासाधोमुखभूलेखवैवर्ण्योन्निद्रता इह ॥ ५६ ॥

विलापोत्तापकृशताबाष्पदैर्न्यादयोऽपि च ॥

तत्रेष्टानाप्त्या यथा श्रीदशमे—

कृत्वा मुखान्यवशुचः श्वसनेन शुष्य-

द्विम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

च सति तदिदमस्येङ्किताग्निर्गेष्यत इति वितर्क एव पर्यवस्यति, एव-
मुत्तरत्रापि ध्रुवमित्यत्र च स एव, अत्र तुराधेति निर्णयः प्रकरणबलात् ।

असावित्यादिविचारेण पूर्वं संशय एवासीदिति गम्यते सोऽयं ता-
पिञ्छो वा पयोदो वा मुकुन्दो वेति लक्षणो गम्यः, तापिञ्छस्य वात्या-
दिना दोलायमानतारूपा यत्किञ्चिद्गतिः प्रतीयतां नाम, इह त्वम-
लश्रीः स्पष्टैव गतिः, तथा पयोदे स्वतस्तदावृतत्वाच्च कलङ्की हिम-
करः संभवतु, इह तूभयथाऽपि निष्कलङ्कः स प्रतीयत इति न स च
स चेत्यर्थः ।

ध्यानमत्र विचारः, तच्च निजेष्टानाप्त्येत्यादिलक्षणं चेच्चिन्ता क-

अत्रैरुपात्तमसिभिः कुचकुङ्कुमानि
तस्म्युर्ध्वजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम् ॥

अथ वा—

अरतिभिरतिक्रम्य क्षामा प्रदोषमदोषधीः
कथमपि चिरादध्यासीना प्रघाणमघान्तक ! ।
विधुरितमुखी घृणत्यन्तः प्रसूस्तव चिन्तया
किमहह गृहं क्रीडालुब्ध ! त्वयाऽद्य विसस्मरे ॥

अनिष्टाप्त्या यथा—

गृहिणि ! गहनयाऽन्तश्चिन्तयोन्निद्रनेत्रा
स्नपय न मुखपद्मं तप्तबाष्पप्लवेन ।
नृपपुरमनुबिन्दन् गान्दिनेयेन सार्द्धं-
तव छतमहमेव द्राक् परावर्त्तयामि ॥

अथ मतिः—

शास्त्रादीनां विचारोत्थमर्थनिर्धारणं मतिः ॥ ५७ ॥
अत्र कर्त्तव्यकरणं संशयभ्रमयोश्छिदा ॥
उपदेशश्च शिष्याणामुहापोहादयोऽपि च ॥ ५८ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

थ्यते, तदेवाह-ध्यानमित्यादिना, अदोषधीः तद्रूपत्वात् सर्वत्रापि
स्निग्धस्वभावा किमुत त्वयीत्यर्थः, अलिप्तं गृहद्वाराग्रे लग्नं वेदिका-
रूपम्, अत्र च नकारस्य मूर्द्धन्यत्वमेव बहूनां मतम् ।

स्न गयेत्यादौ “गलयय न मुखपद्मं तप्तबाष्पप्लवेन”त्येव पाठः, द्राक्
परावर्त्तयामीत्यत्रानिष्टशङ्का तु सर्वथा न कर्त्तव्या गर्गादिवाक्या-
दिति भावः, तस्मादनिष्टमत्र कंसवधानन्तरं तत्रावस्थानमेव ।

यथा पादो वैशाखमाहात्म्ये—

व्यामोहाय चराचरस्य जगतस्ते ते पुराणागमा-
स्तां तामेव हि देवतां परमिकां जल्पन्तु कल्पावधि ।
सिद्धान्ते पुनरेक एव भगवान्विष्णुः समस्तागम-
व्यापारेषु विवेचनव्यतिकरं नीतेषु निश्चीयते ॥

यथा वा श्रीदशमे—

त्वं न्यस्तदण्डमुनिभिर्गदितानुभाव-
आत्माऽऽत्मदश्च जगतामिति मे वृतोऽसि ॥
हित्वा भवद्वभ्रुव उदीरितकालवेग-
ध्वस्ताशिषोऽब्जभवनाकपतीन्कुतोऽन्ये ॥

अथ धृतिः—

धृतिः स्यात्पूर्णज्ञानदुःखाभावोत्तमाप्तिभिः ॥

अप्राप्तातीतनष्टार्थानभिसंशोचनादिकृत् ॥ ५९ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

व्यामोहायेति । सर्वपुराणागमरूपमहावाक्यस्य सम्यग्विचारा-
योग्यपुरुषान् प्रति खण्डशो धदन्तिवत्यर्थः, यतः सिद्धान्त इत्यादि,
व्यापाराः=रूढ्यादिवृत्तयः, व्यतिकरः=आसङ्गस्तं नीतेषु तद्व्यापारेषु
यः सिद्धान्तस्तस्मिन्नेक एव भगवान्विश्चीयते, चराचरा जङ्गमास्ते
चात्र मनुष्या एव मनुष्याधिकारित्वात् शास्त्रस्य ।

त्वं न्यस्तेति । क्षीरोदमथनाचरितनिजचरितमनुसंधाय श्रीरुक्मि-
ण्याह पूर्वपूर्वमेवेदं मया निश्चितमित्युपलक्षयितुं तत्र न्यस्तदण्डत्व-
सर्वसङ्गसर्वाभिलाषरहितत्वं गमयति ,

सङ्गात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायत इत्यादेः ।

ज्ञानेन=भगवदनुभवेन, तथा भगवत्सम्बन्धेन यो दुःखाभावस्तेन
तथोत्तमस्य भगवत्सम्बन्धितया परमपुरुषार्थस्य प्रेम्णः प्राप्या च

तत्र ज्ञानेन यथा भर्तृहरेः—

अश्रीमहि वयं मिक्षामाशावासो वसीमहि ।

शयीमहि महीपृष्ठे कुर्वीमहि किमीश्वरैः ॥

दुःखाभावेन यथा—

गोष्ठे रमाकेलिगृहं चकास्ति गावश्च धावन्ति परःपराद्धाः ।

पुत्रस्तथा दीव्यति दिव्यकर्म्मा तृप्तिर्ममाभूद् गृहमेधिसौख्ये ॥

उत्तमाप्त्या यथा—

हरिलीलासुधासिन्धोस्तदमप्यधितिष्ठतः ।

मनो मम चतुर्वर्गं तृणायापि न मन्यते ॥

अथ हर्षः—

अभीष्टेक्षणलाभादिजाता चेतःप्रसन्नता ॥

हर्षः स्यादिह रोमाञ्चः स्वेदोऽश्रु मुखफुल्लता ॥ ६० ॥

आवेगोन्मादजडतास्तथा मोहादयोऽपि च ॥

तत्राभीष्टेक्षणेन, यथा विष्णुपुराणे—

तौ दृष्ट्वा विकसद्रक्षसरोजः स महामतिः ।

पुलकाञ्चितसर्वाङ्गस्तदाऽक्रूरोऽभवन्मुने ! ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

या पूर्णता मनसोऽचाञ्चल्यं सा धृतिरित्यर्थः ।

अश्रीमहीत्यत्र भगवत्सम्बन्धिज्ञानमाहात्म्यम्, ईश्वरैः=राजादिभिः।

गोष्ठमिति । श्रीगोष्ठमहेन्द्रवाक्यं, परःपरार्थाः=परार्द्धतोऽपि पर-
सङ्ख्या इत्यर्थः, कथं तत्तज्ज्ञातं? तत्राह—पुत्रस्तथेति । येन प्रकारेण
तत्तज्ज्ञायते तेनैव प्रकारेण दिव्यकर्म्मा पुत्रो दीव्यतीत्यर्थः, तृप्ति-
र्ममाभूदित्यत्रातृप्तिमयदुःखध्वंसो व्यञ्जितः ।

प्रसन्नता=प्रकाशः, प्रफुल्लतेति यावत् ।

अभीष्टलाभेन यथा श्रीदशमे—

तत्रैकांसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम् ।

चन्दनालिसमाग्राय दृष्टरोमा चुचुम्ब ह ॥

अथौत्सुक्यम्—

कालाक्षमत्वमौत्सुक्यमिष्टेक्षाऽऽप्तिस्पृहाऽऽदिभिः ॥ ६१ ॥

मुखशोषत्वरचिन्तानिश्वासास्थिरताऽऽदिकृत् ॥

तत्रेष्टेक्षास्पृहया यथा श्रीदशमे—

प्राप्तं निशम्य नरलोचनपानपात्र—

मौत्सुक्यविश्लथितकेशदुकूलबन्धाः ।

सद्यो विसृज्य गृहकर्म पतींश्च तल्पे

द्रष्टुं यपुर्युवतयः स्म नरेन्द्रमार्गम् ॥

यथा वा—

प्रकटितनिजवासं स्निग्धवेणुप्रणादै—

हुंतगति हरिमारात्प्राप्य कुञ्जे स्मिताक्षी ।

श्रवणकुहरकण्ठं तन्वती नम्रवक्त्रा

स्नपयति निजदास्ये राधिका मां कदा नु ॥

इष्टासिस्पृहया यथा—

नर्मकामर्मणतया सखीगणे

द्राघयत्यघहराग्रतः कथाम् ।

गुच्छकग्रहणकैतवादसौ

गह्वरं द्रुतपदक्रमा ययौ ॥

अथौद्यम्—

अपराधदुरुक्त्यादिजातं चण्डत्वमुग्रता ॥ ६२ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

कालाक्षमत्वं=कालयापनायामसमर्थत्वम् ,

वधवन्धशिरःकम्पभर्त्सनोत्ताडनादिकृत् ॥

तत्रापराधाद्यथा—

स्फुरति मयि भुजङ्गीगर्भविघ्नसिकीर्त्तौ
विरचयति मदीशे किलिबपं कालियोऽपि ।
हुतभुजि बत कृत्र्यां जाठरे बौपदेन—
सपदि दनुजहन्तुः किं तु रोपाद्विभेमि ॥

दुरुक्तितो यथा सहदेवोक्तिः—

प्रभवति विबुधानामग्रिमस्याग्रपूजां—
न हि दनुजरिपोर्यः प्रौढकीर्त्तर्विसोढुम् ।
कटुतरयमदण्डोदण्डरोचिर्मन्याऽसौ
शिरसि पृथुनि तस्व न्यस्यते सव्यपादः ॥

यथा वा श्रीबलदेवस्पोक्तिः—

रताः किल वृषासने क्षितिपलक्षमुक्तोज्झिते
खलाः कुरुकुलाधमाः प्रभुमजाऽण्डकोटिष्वमी ।
हहा बत विडम्बना शिवशिवाद्य नः शृण्वतां—
हठादिह कटाक्षयन्त्यखिलबन्धमप्यच्युतम् ॥

अथामर्षः—

अधिक्षेपापमानादेः स्यादमर्षोऽसहिष्णुता ॥ ६३ ॥

तत्र स्वेदः शिरःकम्पो विवर्णत्वं विचिन्तनम् ।

उपायान्वेषणाक्रोशवैमुख्योत्ताडनादयः ॥ ६४ ॥

तत्राधिक्षेपाद्यथा विदग्धमाधवे—

निर्धौतानामखिलघरणीमाधुरीणां धुरीणा

दुर्गमसङ्गमनी ।

रता इति । कटाक्षयन्ति=कुटिलदृष्टिविषयीकुर्वन्ति, अवजान-
न्तीत्यर्थः ।

कल्याणी मे निवसति वधूः पश्य पाश्वे नवोढा ।
 अन्तर्गोष्ठे चटुल ! नटयन्नत्र नेत्रत्रिभागं—
 निःशङ्कस्त्वं भ्रमसि भविता नाकुलत्वं कुतो मे ॥

अपमानाद्यथा पद्मोक्तिः—

कदम्बवनतस्कर ! द्रुतमपेहि किं चादुभि—
 र्जने भवति मद्भिधे परिभवो हि नातः परः ।
 त्वया व्रजमृगीदृशां सदसि हन्त चन्द्रावली
 वराऽपि यदयोग्यया स्फुटमदूषि ताराऽऽख्यया ॥

आदिशब्दाद्वञ्चनादपि यथा श्रीदशमे—

पतिस्तान्वयभ्रातृबान्धवा—
 नतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः ।
 गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः
 कितव ! योषितः कस्त्यजेन्निशि ॥

अथासूया—

द्वेषः परोदयेऽसूया स्यात्सौभाग्यगुणादिभिः ॥
 तत्रेर्ष्याऽनादराक्षेपा दोषारोपो गुणेष्वपि ॥ ६५ ॥
 अपवृत्तिस्तिरोवीक्षा भ्रुवो भङ्गुरताऽऽदयः ॥

तत्रान्यसौभाग्येन यथा पद्यावल्यां—

मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
 कृष्णस्वहस्तलिखिता नवमञ्जरीति ।
 अन्याऽपि किं न सखि ! भाजनमीदृशीनां—
 वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

ताराऽऽख्ययेति श्रीराधां सूचयति ।

यथा वा श्रीदशमे—

तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत् ।

यैकापहत्य गोपीनां रहो भुङ्क्तेऽच्युताधरम् ॥

गुणेन यथा—

स्वयं पराजयं प्राप्तान् कृष्णपक्षान् विजित्य नः ।

बलिष्ठा बलपक्षाश्चेद् दुर्बलाः के ? ततः क्षितौ ॥

अथ चापलं—

रागद्वेषादिभिश्चित्तलाघवं चापलं भवेत् ॥ ६६ ॥

तत्राविचारपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः ॥

तत्र रागेण यथा श्रीदशमे—

इवो भाविनि त्वमजितोद्वहने विदर्भान्

गुप्तः समेत्य घृतनापतिभिः परीतः ।

निर्मथ्य चैद्यमगधेशबलं प्रसह्य

मां राक्षसेन विधिनोद्वह बीर्यशुल्काम् ॥

द्वेषेण यथा—

दंशी पुरेण कालिन्ध्याः सिन्धुं बिन्दतु वाहिता ।

गुरोरपि पुरो नीर्वी या अंशयति सञ्चवाम् ॥

अथ निद्रा—

चिन्तालस्यनिसर्गकलमादिभिश्चित्तमलिनं निद्रा ॥ ६७ ॥

तत्राङ्गभङ्गजृम्भाजाड्यश्वासाक्षिमीलनानि स्युः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

चित्तस्य मीलनं=बाहिवृत्त्यभावः ।

ननु पूर्वं चित्तमीलनं निद्रेत्युक्तं, सा च तमोगुणेन चित्तवृत्ति-
रूपैव प्रसिद्धा, सा च परमभक्तानां न सम्भवति गुणातीतचित्तत्वात्
तर्हि केन तदावृत्तिरियं निद्रा ? तत्राह—युकेति । अस्य=श्रीकृष्णस्य,

लोहितायति मार्त्तण्डे वेणुध्वनिमश्रुत्वती ।

चिन्तयाऽऽक्रान्तहृदया निद्रा नन्दगेहिनी ॥

आलस्येन यथा—

दामोदरस्य बन्धन—

कर्मभिरतिनिःसहाङ्गलतिकेयम् ।

दरघूर्णितोत्तमाङ्गा

कृताङ्गभङ्गा ब्रजेश्वरी स्फुरति ॥

निसर्गं यथा—

अघहर ! तव वीर्यप्रोषिताशेषचिन्ताः

परिहृतगृह्वास्तुद्वारबन्धानुबन्धाः ।

निजनिजमिह रात्रौ प्राङ्गणं शोभयन्तः

सुखमविचलदङ्गाः शेरते पद्म गोपाः ॥

क्लमेन यथा—

संक्रान्तधातुचित्रा स्मृतान्ते सा नितान्ततान्ताऽद्य ।

वक्षसि निक्षिप्ताङ्गी हरेर्विशाखा ययौ निद्राम् ॥

युक्ताऽस्य स्फूर्तिमात्रेण निर्विशेषेण केन चित् ॥ ६८ ॥

हन्मीलनात्पुरोऽवस्था निद्रा भक्तेषु कथ्यते ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

उत्तमभक्तानां भगवत्समाधिरूपैव निद्रा न तु प्राकृती युज्यत इति भावः,

यथोक्तं गारुडे—

“जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु योगस्थस्य च योगिनः ।

या का चिन्मनसो वृत्तिः सा भवेदच्युताश्रया” ॥

अत एव श्रीकृष्णस्य स्फूर्तिमयत्वाद् हन्मीलनात् पुरोऽवस्थैव निद्रेष्यते न तु हन्मीलनमात्रं, यत्तु पूर्वं चित्तमीलनं निद्रेत्युक्तं तत्त्व-

अथ सुप्तिः—

सुप्तिर्निद्राविभावा स्यान्नानाऽर्थानुभवात्मिका ॥ ६९ ॥

इन्द्रियोपरतिश्वासनेत्रसमीलनादिकृत् ॥

यथा—

कामं तामरसाक्ष ! केलिविततिः प्रादुष्कृता शैशवी

दर्पः सर्पपतेस्तदस्य तरसा निर्धूयतामुद्वहुरः ।

इत्युत्स्वप्रगिरा चिराद्यदुसभां विस्मापयन् स्मेरयन्

निश्वासेन दरोत्तरङ्गदुदरं निद्राङ्गतो लाङ्गली ।

अथ बोधः—

अविद्यामोहनिद्रादिध्वंसाद् बोधः प्रबुद्धता ॥ ७० ॥

तत्राविद्याध्वंसतो यथा—

अविद्याध्वंसतो बोधो विद्योदयपुरःसरः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

त्वापातत एव बोधयतीति भावः ।

निद्राया एवावस्थाविशेषे संज्ञाऽन्तरमाह—सुप्तिरिति । विविधो-
भावो भावना यस्यां सा विभावा न केवलन्तादृशी ; अपि तु नाना-
ऽर्थेत्यादिविशिष्टता च, ततस्तद्विधा निद्रैव सुप्तिः स्वप्न उच्यत—
इत्यर्थः ।

केलिविततिः=क्रीडाविस्तारः, केलिरभित इति पाठश्च सङ्गतः,
केलिशब्दस्य स्त्रीत्वमपि दृश्यते, तथा ह्युमापतिधरः—रत्नच्छाया-
च्छुरितजलधावित्यादौ “राधाकेलीपरिमलभरध्यानमूर्च्छा मुरारे-
रि”ति, यदुसभां तदन्तःसमागामिनं कियन्तमपि यदुगणं विस्माययन्
स्मेरयन् ।

प्रबुद्धता=ज्ञानाविर्भावः ।

अविद्याध्वंसत इत्यत्र बोधस्त्वंपदार्थलक्षितस्य तत्पदार्थल-

अशेषक्लेशविश्रान्तिस्वरूपावगमादिकृत् ॥ ७१ ॥

यथा—

बिन्दन् विद्यादीपिकां स्वस्वरूपं बुद्ध्वा सद्यः सत्यविज्ञानरूपम् ।

निष्प्रत्यूहस्तत्परं ब्रह्म मूर्त्तं सान्द्रानन्दाकारमन्वेषयामि ॥

मोहध्वंसतः—

बोधो मोहक्षयाच्छब्दगन्धस्पर्शरसैर्हरेः ॥

दृगुन्मीलनरोमाञ्चाधरोत्थानादिकृद्भवेत् ॥ ७२ ॥

तत्र शब्देन यथा—

प्रथमदर्शनरूढसुखावली—

कवलितेन्द्रियवृत्तिरभूदियम् ।

अघभिदः किल नाम्न्युदिते श्रुतौ

ललितयोदमिमिलदिहाक्षिणी ॥

गन्धेन यथा—

अचिरमघहरेण त्यागतः क्षस्तगात्री

दुर्गमसङ्गमनी ।

क्षितस्य च ज्ञानं स्वरूपावगमस्तयोरभेदज्ञानं विद्या, तेषु निदिध्यासनरूपं साधनं, प्रथमं निदिध्यासनं तस्मादविद्याध्वंसः ततः क्रमात्पदार्थद्वयज्ञानं ततस्तयोरभेदज्ञानमिति क्रमो ज्ञेयः, अविद्याध्वंसतो यो बोधः स विद्योदयपुरःसरो भवति, स चाशेषक्लेशविश्रान्तिर्यत्र तादृशस्वरूपावगमादिकृद्भवतीत्यन्वयः, आदिग्रहणाद्भक्त्यवबोधकृद्भवतीति ज्ञेयम्,

एवंभूतो बोधः खलु केषां चिद्भक्तिसहायो भवतीति सञ्चारीत्यर्थः, “ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मे”ति श्रीगीताभ्यः,

इयं=श्रीराधा, अघभिद इति पूर्वत्र पद्ये चान्वितम् ।

अचिरमिति । कदा चित्परिहासपूर्वकश्रीकृष्णान्तर्धाने चरितम् ।

वनभुवि शबलाङ्गी शान्तनिष्वासवृत्तिः ।

प्रसरति वनमालासौरभे पश्य राधा

पुलकिततनुरेवा पांशुपुञ्जादुदस्थात् ॥

स्पर्शेन यथा—

असौ पाणिस्पर्शो मधुरमसृणः कस्य विजयी

विशीर्यन्त्याः सौरीपुलिनवनमालोक्य मम यः ।

दुरन्तामुद्रधूय प्रसभमभितो वैशसमर्थी-

द्रुतं मूर्च्छामन्तः सखि ! सुखमर्थी पल्लवयति ॥

रसेन यथा—

अन्तर्हिते त्वयि बलानुज ! रासकेलौ

स्वस्ताङ्गयष्टिरजनिष्ट सखी विसंज्ञा ।

ताम्बूलचर्वितमवाप्य तवाम्बुजाक्षी

न्यस्तं मया मुखपुटे पुलकोज्ज्वलाऽऽसीत् ॥

निद्राध्वंसतः—

बोधो निद्राक्षयात्स्वप्ननिद्रापूर्त्तिस्वनादिभिः ॥

तत्राक्षिमर्दनं शय्यामोक्षोऽङ्गवलनादयः ॥ ७३ ॥

तत्र स्वप्नेन यथा—

इयं ते हासश्रीर्विरमतु विमुञ्चाञ्चलमिदं-

न यावद् वृद्धायै स्फुटमभिदधे त्वच्चटुलताम् ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

मधुरः=स्वभावादेवानन्ददायकः, मसृणः=त्वचो गुणतः कोमलः, पल्ल-

वयतीति । वर्त्तमानसामाप्ये वर्त्तमानवत्त्वम्,

ताम्बूलेषु यच्चर्वितं तदवाप्य, तवेति सम्बन्धविवक्षया षष्ठी,

त्वच्चर्वितं मुखमनुप्रतिपद्य गौरी

ताम्बूलमर्पितमुदस्ततया चिचेतेति पाठान्तरम् ।

३४ ह० २०

इति स्वप्ने जल्पन्त्यचिरमवबुद्धा गुरुमसौ
पुरो दृष्ट्वा गौरी नमितमुखविम्बा मुहुरभूत् ॥

निद्रापूत्यां यथा—

दूती चागात्तदागारं जजागार च राधिका ।
तूर्णं पुण्यवतीनां हि तनोति फलमुद्यमः ॥

स्वनेन यथा—

दूराद्विद्रावयन्निद्रा मरालीर्गोपस्रज्वाम् ।
सारङ्गरङ्गदं रेजे वेणुवारिदगर्जितम् ॥

इति भावास्त्रयस्त्रिंशत्काथिता व्यभिचारिणः ॥
श्रेष्ठमध्यकनिष्ठेषु वर्णनीया यथोचितम् ॥ ७४ ॥
मात्सर्योद्वेगदम्भेर्ष्या विवेको निर्णयस्तथा ॥
क्लैब्यं क्षमा च कुतुकमुत्कण्ठा विनयोऽपि च ॥ ७५ ॥
संशयो धार्ढ्यमत्याद्या भावा ये स्युः परेऽपि च ॥
उक्तेष्वन्तर्भवन्तीति न पृथक्त्वेन दर्शिताः ॥ ७६ ॥

तथा हि—

असूयायां तु मात्सर्यं त्रासेऽप्युद्वेग एव तु ॥
दम्भस्तथाऽवहित्यायामीर्ष्याऽमर्षे मतावुभौ ॥ ७७ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

असूयायामित्यादिषु परोदये द्वेषो मात्सर्यं, स एव गुणेष्वपि
दोषारोपणायामव्यभिचारित्वादसुयेति,

तडिदादिभिः सहसा भयं त्रासः, तत्रासहिण्णुत्वमुद्वेग इति,
आकारगुप्तिः=अवहित्या, दम्भस्त्वसतः स्वीयोत्तमत्वस्य व्यञ्जनं,
तस्मादुभयमपि कपटमयमिति,

परापराधासहनममर्षः, परोत्कर्षासहनमीर्ष्या, तदेतदुभयम-

विवेको निर्णयश्चेमौ दैन्ये क्लैब्यं क्षमा धृतौ ॥
 औत्सुक्ये कुतुकोत्कण्ठे लज्जायां विनयस्तथा ॥ ७८ ॥
 संशयोऽन्तर्भवेत्तर्के तथा धाष्ट्र्यं च चापले ॥
 एषां संचारिभावानां मध्ये कश्चन कस्य चित् ॥ ७९ ॥
 विभावश्चानुभावश्च भवेदेव परस्परम् ॥
 निर्वेदे तु यथेर्ष्याया भवेदत्र विभावता ॥ ८० ॥
 असूयायां पुनस्तस्या व्यक्तमुक्ताऽनुभावता ॥
 औत्सुक्यं प्रति चिन्तायाः कथिताऽत्रानुभावता ॥ ८१ ॥
 निद्रां प्रति विभावत्वमेवं ज्ञेयाः परेऽप्यमी ॥
 एषां च सात्त्विकानां च तथा नानाक्रियाततेः ॥ ८२ ॥
 कार्यकारणभावस्तु ज्ञेयः प्रायेण लोकतः ॥
 निन्दायास्तु विभावत्वं वैवर्ण्यामिर्षयोर्मतम् ॥ ८३ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

प्यसहनात्मकमिति,

अर्थनिर्धारणं मतिः, तदेव निर्णयः, तस्य कारणं विचारस्तु वि-
 वेकः, सोऽयं कारणत्वान्मतावनुस्यूत इति,

आत्मन्यतितिरुष्टतामननं दैन्यम्, अनुत्साहः क्लैब्यं; तच्च
 तदङ्गमेवेति, मनसोऽचाञ्चल्यं धृतिः, क्षमा तु सहिष्णुत्वं तदङ्गमेवेति,
 कालयापनायामसमर्थत्वमौत्सुक्यम्, आश्चर्यदर्शनेच्छा कुतुकं-
 तश्च क चित्तत्कारणत्वात्तत्रानुस्यूतं स्यादुत्कण्ठा च तस्यैव सू-
 क्ष्मावस्थेति,

लज्जायामपि विनय आवश्यक इति, विमर्षस्तर्कः संशयानन्तर-
 भावीति, चापलं च धाष्ट्र्यानन्तरभावीति ।

असूयायां पुनस्तस्याः कथितैवानुभावता ॥
 प्रहारस्य विभावत्वं संमोहप्रलयौ प्रति ॥ ८४ ॥
 औग्यं प्रत्यनुभावत्वमेवं ज्ञेयाः परेऽपि च ॥
 त्रासानिद्राश्रमालस्यमदभिद्वबोधवार्जिनाम् ॥ ८५ ॥
 संचारिणामिह कापि भवेद्रत्यनुभावता ॥ ८६ ॥
 साक्षाद्रतेर्न सम्बन्धः षड्भिस्त्रासादिभिः सह ॥
 स्यात्परम्परया किन्तु लीलाऽनुगुणताकृते ॥ ८७ ॥
 वितर्कमतिनिर्वेदधृतीनां स्मृतिहर्षयोः ॥
 बोधभिदैक्यसुप्तीनां क चिद्रतिविभावता ॥ ८८ ॥
 परतन्त्राः स्वतन्त्राश्चेत्युक्ताः संचारिणो द्विधा ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

प्रथमे प्रथमे परपरेषां प्रवेशो भाव्यते,
 मदभिद्व=मधुपानजो मदभेदः, रत्यनुभावता=रतिकार्यत्वम् ।
 त एते त्रासादयो न कदा चिद्रतिमतां श्रीकृष्णाज्जायन्ते तस्य
 तच्छमकस्वभावत्वेनैवानुभूयमानत्वात् किं तु विरोध्यादिभ्य एव
 ते जायन्ते तेभ्य एव तेषामनुभूयमानत्वात् ततश्च साक्षा-
 दिति, यथा हर्षादयो भावाः केवलं श्रीकृष्णं विभावीकृत्य जायन्ते
 तथा त्रासादयो न किन्तु विरोध्यादिसंवलितमिति केवलाया रतेर्न
 सम्बन्धः; किन्तु विरोध्यादिगततत्तद्भावस्यापीति परम्परया तत्तत्-
 संवलनया रतेः सम्बन्धः स्यादित्यर्थः, किन्तु त्रासादयो भयादी-
 नामप्युपलक्षणानि स्वापराधादिसंवलनया तेऽपि स्फुरन्ति, बो-
 धभिद्व=अविद्याक्षयजो बोधः, वितर्कादानां रतेर्विभावतेति परम्प-
 रया ज्ञेयम्, श्रीकृष्णानुभवस्यैव साक्षात् कारणत्वात् ।

तत्र परतन्त्राः—

वरावरतया प्रोक्ताः परतन्त्रा अपि द्विधा ॥ ८९ ॥

तत्र वरः—

साक्षाद् व्यवहितश्चेति वरोऽप्येष द्विधोदितः ॥

तत्र साक्षात्—

मुख्यामेव रतिं पुष्णन् साक्षादित्यभिधीयते ॥ ९० ॥

यथा—

तनूरुहाली च तनुश्च नृत्यं तनोति मे नाम निश्चय्य यस्य ।

अपश्यतो माथुरमण्डलं तद् व्यथेन किं हन्त दृशोर्द्वयेन ॥

साक्षादेव निर्वेदः,

अथ व्यवहितः—

पुष्णाति यो रतिं गौणीं स तु व्यवहितो मतः ॥

यथा—

धिगस्तु मे भुजद्वन्द्वं भीमस्य परिधोपमम् ।

माधवाक्षेपिणं दुष्टं यत् पिनष्टि न चेदिपम् ॥

निर्वेदः क्रोधवश्यत्वादयं व्यवहितो रतेः ॥ ९१ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

परतन्त्रा मुख्यगौणरतिवशाः स्वतन्त्रास्तद्विपरीता इति ज्ञेयम् ।

तत्र वर इति जात्यैकत्वं, तस्य लक्षणं—

रसद्वयस्य योऽङ्गत्वं प्राप्नोति स वरो मतः;

इति ज्ञेयं, वक्ष्यमाणावरलक्षणानुसारेण ।

तनूरुहाली चेति । माथुरमण्डलदिदक्षा चेत्यं भगवद्रतिमय्येव

तस्मात् साक्षाद्रतिमेव पुष्णातीति भावः ।

निर्वेद इति । क्रोधोऽत्र क्रोधरतिः सा च रौद्ररसस्य गौणस्य

अथावरः—

रसद्वयस्याप्यङ्गत्वमगच्छन्नवरो मतः ॥

यथा—

लेलिह्यमानं वदनैर्ज्वलद्भिर्जगन्ति दंष्ट्रास्फुटदुत्तमाङ्गैः ।

अवेक्ष्य कृष्णं धृतविश्वरूपं न स्वं विशुष्यन् स्मरति स्म जिष्णुः ॥

घोरक्रियाऽऽद्यनुभवादाच्छाद्य सहजां रतिम् ॥ ९२ ॥

दुर्वाराऽऽविरभृद्भीतिमोहोऽयं भीवशस्ततः ॥

अथ स्वतन्त्राः—

सदैव पारतन्त्र्येऽपि क चिदेषां स्वतन्त्रता ॥ ९३ ॥

भूपालसेवकस्येव प्रवृत्तस्य करग्रहे ॥

भावज्ञै रतिशून्यश्च रत्यनुस्पर्शनस्तथा ॥ ९४ ॥

रतिगन्धिश्च ते त्रेधा स्वतन्त्राः परिकीर्त्तिताः ॥

तत्र रतिशून्यः—

जनेषु रतिशून्येषु रतिशून्यो भवेदसौ ॥ ९५ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

स्थायीति गौणम्, जिष्णुरन्त्रार्जुनः ।

घोरेति । ततः स्वापरिचिततदीयघोररूपात्सर्वभयक्षणाशङ्कामयं-
भयमेव केवलं न तु भयरतिः, “रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रमि”त्यार-
भ्य; “दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यस्थितास्तथाऽहमि”ति तद्वाक्याद्गतेरत्यस्ता-
स्फूर्त्तेः,

“स्थाने हृषीकेश तव प्रकृत्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते चे”—

त्यादिकं त्ववस्थाभेदाद्, अतो गौणरतेरपि नाङ्गत्वम् ।

अथ स्वतन्त्रा इति । एषु स्वतन्त्रेषु प्रथमस्य रतिशून्यस्य स्वा-
तन्त्र्यं व्यक्तमेव, अन्यद्वयस्यापि तद्योजयति—सदैवेति, एषां मध्ये; क

यथा श्रीदशमे—

धिरजन्म नस्त्रिवृत्तद् धिग् व्रतं धिग् बहुज्ञताम् ।

धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोऽक्षजे ॥

अत्र स्वतन्त्रो निवेदो रत्यनुस्पर्शनः,

यः स्वतो रतिगन्धेन विहीनोऽपि प्रसङ्गतः ॥

पश्चाद्रतिं स्पृशेदेष रत्यनुस्पर्शनो मतः ॥ ९६ ॥

यथा—

गरिष्ठारिष्टङ्कुरैर्विधुरा बधिरा यिता ।

हा कृष्ण ! पाहि पाहीति चुक्रोशाभीरबालिका ॥

अत्र त्रासः,

अथ रतिगन्धिः—

यः स्वान्तर्ग्येऽपि तद्गन्धं रतिगन्धिर्व्यनक्ति सः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

चित् कयोश्चिदिति, रत्यनुस्पर्शनरतिगन्धयोः सदैव पारतन्त्र्येऽपीत्यर्थः,
करग्रहे राज्ञोऽशग्रहणे विवाहे वा जन्ययान्निकतां प्राप्ताद्रात्रोऽपि त-
स्मिन् जामातर्य्याधिक्यं दृश्यत इति,

सदैव पारतन्त्र्येऽपीति पूर्वमुक्तम् उत्तरतस्तु यः स्वतो रति-
गन्धेनेति,

तदेवं परस्परविरोधपरिहारमुदाहरणेन दर्शयति-गरिष्ठेति । तद्-
ब्रजाभीरबालिकात्वात्तस्याः सर्वदैव तद्रतिपरतन्त्रभावत्वं वर्तत-
एव, संप्रत्यकस्मान्नयानकदर्शने स्वतन्त्र एव त्रासो जात इति भावः,

याञ्चिकेषु रतिच्छायैव न तु रतिरिति रतिशून्यत्वं हेयम्,

यः स्वातन्त्र्येऽपि रतिगन्धं तल्लेशं व्यनक्ति स रतिगन्धिरित्यन्वयः,
उदाहरणे चाय्यायास्तस्या महारागणैव श्रीकृष्णविषयकनग्रीसमर्प-

यथा—

पीतांशुकं परिचिनोमि घृतं त्वयाऽङ्गे
सङ्गोपनाय न हि नष्टि ! विधेहि यत्नम् ।
इत्यार्य्या निगदिता नमितोत्तमाङ्गा
राधाऽवगुण्ठितमुखी तरसा तदाऽसीत ॥

अत्र लज्जा ।

आभासः पुनरेतेषामस्थाने वृत्तितो भवेत् ॥ ९७ ॥

प्रातिकूल्यमनौचित्यमस्थानत्वं द्विधोदितम् ॥

तत्र प्रातिकूल्यं—

विपक्षे वृत्तिरेतेषां प्रातिकूल्यमितीर्य्यते ॥ ९८ ॥

यथा—

गोपोऽप्यशिक्षितरणोऽपि तमश्चदैत्यं-
हन्ति स्म हन्त मम जीवितनिर्विशेषम् ।
क्रीडाविनिर्जितसुराधिपतेरलं मे
दुर्जीवितेन हतकंसनराधिपस्य ॥

अत्र निर्वन्दस्याभासः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

णलालसायास्तादृशत्वेन नष्ट्याऽपि तर्कितायाः स्वरहस्ये ज्ञातेऽपि
लज्जाच्छन्नतया नष्ट्या रतिगन्धव्यञ्जनेति ज्ञेयं, यथा धर्मादेर्लङ्घने
तस्या महाराग एव कारणं तथाऽऽर्याया अपीति ।

आभास इति । तदेवमुक्तस्य तेषामाभासस्य द्विधात्वं दर्शयितु-
मस्थानस्य द्विधात्वं दर्शयति-प्रातीत्यर्थेन ।

अथास्थानसम्बन्धात्तेषां द्विधात्वं दर्शयति-तत्रेत्यादिना; अत्र ग-
र्वस्येत्यन्तेन; विपक्षे=प्रतिकूले ।

यथा वा—

डुण्डुभो जलचरः स कालियो-
गोष्ठभृदपि लोष्टसोदरः ।
तत्र कर्म किमिवाद्भुतं जने
येन मूर्ख ! जगदीशतेर्यते ॥

अत्रास्यायाः,

अथानौचित्यं—

असत्यत्वमयोग्यत्वमनौचित्यं द्विधा भवेत् ॥

अप्राणिनि भवेदाद्यं तिर्यगादियु चान्तिमम् ॥ ९९ ॥

तत्राप्राणिनि यथा—

छाया न यस्य सकृदप्युपसेविताऽभूत्
कृष्णेन हन्त मम तस्य धिगस्तु जन्म ।
मा त्वं कदम्ब ! विधुरो भव कालियाहिं-
मृद्गन् करिष्यति हरिश्चरितार्थतां ते ॥

अत्र निर्वेदस्य,

तिरश्चि यथा—

अधिरोहतु कः पक्षी कक्षामपरो ममाद्य मेध्यस्य ।
हित्वाऽपि ताक्ष्यपक्षं भजते पक्षं हरियस्य ॥

अत्र गर्वस्य,

दुर्गमसङ्गमनी ।

डुण्डुभ इत्यकूरं प्रति कंसस्य वाक्यम् ।

अनौचित्यनायोग्यत्वस्य तावत्समार्थत्वमेव, वर्णनायामनौचि-
त्येऽसत्यत्वमपि तत्र प्रवेशयितुं तदेतद्भेदद्वयं कृतमिति विवेच-
नीयं, तत्र तिर्यगादिष्वपि गर्वादीनामसत्यत्वमेव तथाऽपि प्राणित्वा-
त्तेषु कस्यापि ते सम्भाविता इव तदुत्कर्षव्यञ्जनाय स्युः, हर्षविषा-

हरि० ३४

वहमानेष्वपि सदा ज्ञानविज्ञानमाधुरीम् ॥

कदम्बादिषु सामान्यदृष्ट्याऽऽभासत्वमुच्यते ॥ १०० ॥

भावानां क चिदुत्पत्तिसन्धिशाबल्यशान्तयः ॥

दशाश्वतस एतासामुत्पत्तिस्त्वह सम्भवः ॥ १०१ ॥

यथा—

मण्डले किमपि चण्डमरीचेर्लोहितायति निशम्य यशोदा ।

वैणवीं ध्वनिधुरामविदूरे प्रस्रवस्तिमितकञ्जुलिकाऽऽसीत् ॥

अत्र हर्षोत्पत्तिः,

यथा वा—

त्वयि रहसि मिलन्त्यां सम्भ्रमन्यासभुग्नाऽ-

प्युपसि सखि ! तवाली मेखला पश्य भाति ।

इति विवृतरहस्ये माधवे कुञ्चितभू-

र्हशमनृजु किरन्ती राधिका वः पुनातु ॥

अत्रासूयोत्पत्तिः,

दुर्गमसङ्गमनी ।

दादयस्तु भवन्त्येवेत्यत एव भेदः क्रियत इत्यपि ज्ञेयम् ।

वहमानेष्विति । ज्ञानमत्र तत्तज्जात्युचितं, विज्ञानमपि ततः
किञ्चिदेव विशिष्टं मनुष्यवज्ज्ञाने सति तेभ्योऽपि रहस्यक्रीडाऽऽदीनां
गोपने तदुच्छिष्टिः स्यात् ।

“केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगा”-

इत्येकादशादिभ्यस्तेष्वपि भावः श्रूयते, स च सामान्याकार-
एवं न तु स विवेक इति मन्तव्यं, तदेतदाह-सामान्यदृष्ट्येति । निर्वि-
वेकज्ञानेन हेतुनेत्यर्थः ।

भावानामित्यस्य चतुर्थचरणे “उत्पत्तिस्त्वह सम्भव” इत्येव पाठः,
अत्रासूयोत्पत्तिरिति परिहासेन निजोत्कर्षं व्यञ्जयति श्रीकृष्णे

अथ सन्धिः—

सरूपयोर्भिन्नयोर्वा सन्धिः स्याद्भावयोर्युतिः ॥

तत्र सरूपयोः सन्धिः—

सन्धिः सरूपयोस्तत्राभिन्नहेतूत्थयोर्मतः ॥ १०२ ॥

यथा—

राक्षसीं निशि निशाम्य निशान्ते गोकुलेशगृहिणी पतिताङ्गीम् ।

तत्कुचोपरि स्रुतं च हसन्तं हन्त निश्चलतनुः क्षणमासीत् ॥

अत्रानिष्टेष्टसंवीक्षाकृतयोर्जाड्ययोर्युतिः,

अथ भिन्नयोः—

भिन्नयोर्हेतुनैकेन भिन्नेनाप्युपजातयोः ॥

तत्रैकहेतुजयोर्यथा—

दुर्वारचापलोऽयं धावन्नन्तर्बहिश्च गोष्ठस्य ।

शिथुरकुतश्चिद्भीतिर्धिनोति हृदयं दुनोति च मे ॥

अत्र हर्षशङ्कयोः,

भिन्नहेतुजयोर्यथा—

विलसन्तमवेक्ष्य देवकी स्रुतमुत्फुल्लविलोचनं पुरः ।

प्रबलामपि मल्लमण्डलीं हिममुष्णं च जलं दृशोर्दधे ॥

अत्र हर्षविषादयोः सन्धिः,

एकेन जायमानानामनेकेन च हेतुना ॥ १०३ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

सप्रणयद्वेषात् ।

राक्षसीमिति । पूर्ववत्स्वाप्तिकं चरितं हरिवंशानुसृतं वा, सुतमुत्फुल्लेत्यादौ “गजदन्तस्फुरदंसमङ्गजामि”ति वा पाठः, हर्षः खल्वनेन लब्धबलो भवतीति, प्रथमपाठे तु तस्या पेश्ववर्गज्ञानस्य ह्युपोद्बलक-

बहूनामपि भावानां सन्धिः स्फुटमवेक्ष्यते ॥

तत्रैकहेतुजानां यथा—

निरुद्धा कालिन्दीतटभुवि मुकुन्देन बलिना

हठादन्तःस्मेरां तरलतरतारोज्ज्वलकलाम् ।

अभिव्यक्तावज्ञामरुणकुटिलापाङ्गसुषमां—

दृशं न्यस्यन्त्यस्मिन् जयति वृषभानोः कुलमणिः ॥

अत्र हर्षोत्सुक्यगर्वामर्षासूयानां सन्धिः,

अनेकहेतुजानां यथा—

हृदि धृतहरिहारा वीक्ष्य राश्या सवित्रीं—

निकटभुवि तथाऽग्रे तर्कभाक् स्मेरपद्माम् ।

हरिमपि दशदूरे स्वामिनं तत्र चासीन्

महसि विनतवक्रप्रस्फुरन्म्लानवक्त्रा ॥

अत्र लज्जामर्षहर्षविषादानां सन्धिः,

अथ शाबल्यं—

शबलत्वं तु भावानां सम्मर्दः स्यात्परस्परम् ॥ १०४ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

मुत्फुल्लविलोचनत्वं हर्षाय स्यादिति समाधेयम् ।

तरलेत्यादिनौत्सुक्यस्य व्यक्तिः, कुटिलेत्यनेनासूयायाः,

परिहितहरिहारेत्यादि च चरितं कदा चित् श्रीब्रजेश्वरगृहे महोत्सवं सम्भाव्य; यद्यपि हारस्तदानीं तस्या वस्त्रैः सुसंवृत एव तथाऽपि तस्याः स्वत एव सङ्कोचात्तथा भावितमिति लभ्यते,

परिहितो धृतो हरिहारो यया सा, द्वितीयाऽन्तपाठस्तु त्यक्तः;

हृदि धृतेत्यादौ परिहितेत्यादि पाठाऽन्तरं त्यक्तम्,

लज्जाऽमर्षेत्यादौ लज्जाऽसूयेत्यादिकं च ।

पूर्वपूर्वभावस्य किञ्चिद्वशेषाच्छबलत्वम् ।

यथा—

ज्ञक्तः किं नाम कर्तुं स शिशुरहह मे मित्रपक्षानघाक्षी-

दातिष्ठेयं तमेव द्रुतमथ शरणं कुर्युरेतन्न वीराः ।

आं दिव्या मल्लगोष्ठी विहरति स करेणोद्धारोद्भिद्यत्यं-

कुर्यामद्यैव गत्वा व्रजभुवि कदनं हा ततः कम्पते धीः ॥

अत्र गर्वविषाददैन्यमतिस्मृतिशङ्कामर्षत्रासानां शाबल्यम्,

यथा वा—

धिग्दीर्घं नयने ममास्तु मथुरा याभ्यां न सा प्रेक्ष्यते

विद्येयं मम किंकरीकृतनृपा कालस्तु सर्वङ्कपः ।

लक्ष्मीकेलिगृहं गृहं मम हहा नित्यं तनुः क्षीयते

सद्यन्येव हरिं भजेय हृदयं वृन्दाटवी कर्पति ॥

अत्र निर्वेदगर्वशङ्काधृतिविषादमत्यौत्सुक्यानां शाबल्यम्,

अथ शान्तिः—

अत्यारूढस्य भावस्य विलयः शान्तिरुच्यते ॥

यथा—

विधुरितवदना विदूनभास-

स्तमघहरं गहने गवेपयन्तः ।

मृदुकलमुरलीं निशम्य शैले

व्रजशिशवः पुलकोज्ज्वला बभूवुः ॥

अत्र विषादशान्तिः,

शब्दार्थरसवैवित्री वाचि का च न नास्ति मे ॥ १०५ ॥

यथा कथं चिदेवोक्तं भावोदाहरणं परम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

गवेपयन्तो=मार्गयन्तः, "मृदुकलेत्यादि"रेष पाठ इष्टः ।

त्रयस्त्रिंशदिमेऽष्टौ च वक्ष्यन्ते स्थायिनश्च ये ॥ १०६ ॥
 मुख्यभावाभिधास्त्वेकचत्वारिंशदमी स्मृताः ॥
 शरीरेन्द्रियवर्गस्य विकाराणां विधायकाः ॥ १०७ ॥
 भावा विभावजनिताश्चित्तवृत्तय ईरिताः ॥
 क चित्स्वाभाविको भावः कश्चिदागन्तुकः क चित् ॥ १०८ ॥
 यस्तु स्वाभाविको भावः स व्याप्यान्तर्बहिः स्थितः ॥
 मञ्जिष्ठाऽऽद्ये यथा द्रव्ये रागस्तन्मय ईक्ष्यते ॥ १०९ ॥
 अत्र स्यान्नाममात्रेण विभावस्य विभावता ॥
 एतेन सहजेनैव भावेनानुगता रतिः ॥ ११० ॥
 एकरूपाऽपि या भक्ते विविधा प्रतिभात्यसौ ॥
 आगन्तुकस्तु यो भावः पटादौ रक्तिमेव सः ॥ १११ ॥
 तैस्तैर्विभावैरेवायं धीयते दीप्यतेऽपि च ॥
 विभावनादिवैशिष्ट्याद्भक्तानां भेदतस्तथा ॥ ११२ ॥
 प्रायेण सर्वभावानां वैशिष्ट्यमुपजायते ॥
 विविधानां तु भक्तानां वैशिष्ट्याद्विविधं मनः ॥ ११३ ॥

दुर्गमसङ्गमनो ।

अष्टौ=हासादयः सप्त सामान्यभक्तिरूपस्त्वेक इति,

मुख्यपदेन सात्त्विका व्यावर्त्तिताः ।

तन्मय इति । अवयवार्थे मयट्,

नाममात्रेणेति । यथा कथं चित्सम्बन्धमात्रेणेत्यर्थः ।

धीयते=न्यस्यते ।

विविधानां शान्तादीनां समस्तानामेव भक्तानां मनो विवि-

मनोऽनुसाराद्भावानां तारतम्यं किलोदये ॥
 चित्ते गरिष्ठे गम्भीरे महिष्ठे कर्कशादिके ॥ ११४ ॥
 सम्यगुन्मीलिताश्चामी न लक्ष्यन्ते स्फुटं जनैः ॥
 चित्ते लघिष्ठे चोत्ताने क्षोदिष्ठे कोमलादिके ॥ ११५ ॥
 मनागुन्मीलिताश्चामी लक्ष्यन्ते बहिरुल्लवणाः ॥
 गरिष्ठं स्वर्णपिण्डाभं लघिष्ठं तूलपिण्डवत् ॥ ११६ ॥
 चित्तयुग्मेऽत्र विज्ञेया भावस्य पवनोपमा ॥
 गम्भीरं सिन्धुवच्चित्तमुत्तानं पल्लवादिवत् ॥ ११७ ॥
 चित्तद्वयेऽत्र भावस्य महाद्रिशिखरोपमा ॥
 पत्तनाभं महिष्ठं स्यात् क्षोदिष्ठं तु कुटीरवत् ॥ ११८ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

धं भवति; तत्र हेतुः—वैशिष्ट्याद्=गरिष्ठत्वादिवैविध्यात् ।

तदेवाह—चित्ते गरिष्ठ इत्यादिना,

अमी=भावाः,

भावस्य पवनोपमेति पवनेऽधिकरणे सादृश्यमित्यर्थः; किं तु दीपेनेमेनोपमेति वक्ष्यमाणरीत्या तृतीयाऽन्तेनैव पवनेन समासो-
 न सप्तम्यन्तेनेति ग्रन्थकृतामभिप्रायो लक्ष्यते,

तृतीया च न सहार्थयोगे मन्तव्या; पुत्रेणागत इतिवत् समासो
 न स्यात्, “तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्यामि”त्यत्र तु
 सदृशवचनाभ्यामपि तुलोपमाशब्दाभ्यां प्रत्युदाहृतं भाष्यवृत्तौ-
 उपमा स्त्रीमुखस्थेन्दुश्चन्द्रस्य स्त्रीमुखं तुलेति, तुल्यार्थैरित्युक्तेः
 सादृश्यवचनाभ्यां तुलोपमाभ्यां तृतीया न प्राप्नोत्येव; तस्मात्
 कांस्यपात्राया भुङ्क्ते इतिवदधिकरण एव करणमत्र विवक्षितं, ततः

चित्तयुग्मेऽत्र भावस्य दीपेनेभेन वोपमा ॥

कर्कशं त्रिविधं प्रोक्तं वज्रं स्वर्णं तथा जतु ॥ ११९ ॥

चित्तत्रयेऽत्र भावस्य ज्ञेया वैश्वानरोपमा ॥

अत्यन्तकठिनं वज्रमकुतश्चनमार्द्धवम् ॥ १२० ॥

ईदृशं तापसादीनां चित्तं तावदवेक्ष्यते ॥

स्वर्णं द्रवति भावाग्नेस्तापेनातिगरीयसा ॥ १२१ ॥

जतु द्रवत्वमायाति तापलेशेन सर्वतः ॥

कोमलं च त्रिधैवोक्तं मदनं नवनीतकम् ॥ १२२ ॥

अमृतं चेति भावोऽत्र प्रायः सूर्यातपायते ॥

द्रवेदत्रायुगलमातपेन यथायथम् ॥ १२३ ॥

द्रवीभूतं स्वभावेन सर्वदैवामृतं भवेत् ॥

गोविन्दप्रेष्ठवर्याणां चित्तं स्यादमृतं किल ॥ १२४ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

“कर्तृकरणे कृता बहुलमि”ति समासश्च सम्मत इति परत्रापि ज्ञेयम् ।

तापसादीनां=कनिष्ठशान्तभक्तादीनामित्यर्थः ।

मदनं=मधूच्छिष्टं, तत्र गरिष्ठत्वादित्रिकेण सह लघिष्ठत्वादित्रिकं व्यभिचारिमात्रेणाविक्षेपविक्षेपयोर्हेतुत्वाय निरूपितं, कर्कशत्वकोमलत्वे तु मुख्यस्थायिभावेनाद्रवद्रवयोर्हेतुत्वाय, तत्र च गरिष्ठत्वम् अल्पार्थस्पर्शित्वेऽपि तस्मिन्निबिडतया यत्किञ्चिदर्थेनाचाल्यस्वभावत्वं, लघिष्ठत्वं किञ्चिद्बृहत्स्पर्शित्वेऽपि तस्मिन्निबिडतया यत्किञ्चिदर्थेन चाल्यस्वभावत्वम्, अत्र गरिष्ठकर्कशयोर्भावस्य संस्यगुन्मीलनं नाम तस्मिन् योग्यतैव ज्ञेया, गरिष्ठत्वादिभ्यां निरुद्धं बहिःप्रकाशत्वाद्,

कृष्णभक्तविशेषस्य गरिष्ठत्वादिभिर्गुणैः ॥

समवेतं सदाऽमीभिर्द्वित्रैरपि मनो भवेत् ॥ १२५ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

अत एव वक्ष्यते “किन्तु सुष्ठु महिष्ठत्वमि”त्यादि, गम्भीरत्वम् अति-
बहूर्थस्पर्शितया तत्राप्यामूलस्पर्शितया महताऽप्यर्थेनादृश्यक्षोभस्वभा-
वत्वं, तद्विपरीतत्वमुत्तानत्वं, महिष्ठत्वं बहूर्थस्पर्शित्वेऽपि सूलार्थास्पर्शि-
तया किञ्चिद्योग्येनार्थेनैकदेश एव प्रकाश्यत्वं विक्षेप्यत्वं वा, मनःपक्षे
त्वेकदेशत्वं नाम=एकद्विमात्रेन्द्रियात्मकत्वं, क्षोदिष्ठत्वमल्पार्थस्पर्शित-
या तत्तन्मात्रेण सम्यक्तत्तत्स्वभावत्वं, पल्लवकुटीरयोः किञ्चिद्गाम्भी-
र्यतदभावाभ्यां भेदः, अत्र वज्रादयस्त्रयो भेदा द्रावकभावस्य के-
वलप्रतिकूल-समप्रतिकूलानुकूल-किञ्चित्प्रतिकूलभावैर्ज्ञेयाः, मदना-
दयस्तु द्रावकभावानुकूलभावस्य कनिष्ठत्वमध्यमत्वश्रेष्ठत्वैर्ज्ञेयाः, त-
देवं गरिष्ठत्वादियुग्मत्रिकेऽप्येवं भेदाः सम्भवन्तीत्यभिप्रेतम् ।

द्रवीभूतमिति । अत्र तु व्यभिचारिण एव वैचित्र्यकारका-
इति भावः ।

कृष्णभक्तेति । अत्र गरिष्ठत्वादिकं श्रीकृष्णसम्बन्धिन एवार्थान्त-
रस्यावेशेन ज्ञेयम्, एतद्वैपरीत्यादिना लघिष्ठत्वादिकमपि, कर्कशत्वं तु
ब्रह्मत्वैश्वर्यज्ञानादिना, माधुर्य्यज्ञानमेव हि स्नेहमुत्पादयति, तद्वद्वयं-
पुनश्चमत्कारमात्रकरमिति दशमटिप्पण्या “मित्थं सतां ब्रह्मसुखानु-
भूत्ये”त्यादौ व्याख्यातम्, एतदुक्तं भवति—मनः खलु स्वतः सत्त्वगु-
णजातत्वेन सर्वेषामविशिष्टमेव तत्र भावान्तदैरेव विशेष आरोप्यते,
ते च भावा द्विविधाः—प्राकृता भागवताश्चेति, तत्र कनिष्ठाधिकारिणां-
प्राकृता एव गरिष्ठत्वादौ हेतवः, श्रेष्ठाधिकारिणां तु भागवता एव,
ते चामृतत्वहेतुभावापेक्षया सर्वेऽपि न्यूनन्यूनाः, स्थायिभावतारतम्या-
त् सर्वत्र द्रवतातारतम्यं, द्रवता च स्वर्णादीनां यथोत्तरमुत्तमा यौ

किन्तु सुष्ठु महिष्ठत्वं भावो बाढमुपागतः ॥

सर्वप्रकारमेवेदं चित्तं विक्षोभयत्यलम् ॥ १२६ ॥

यथा—

दानकेलिकौमुद्यां—

गभीरोऽप्यश्रान्तं दुरधिगमपारोऽपि नितरां-

महाद्यौ मय्यादां दधदपि हरेरारूपदमपि ।

सतां स्तोमः प्रेमण्युदयति समप्रे स्थगयितुं—

विकारं न स्फारं जलनिधिरिवेन्दौ प्रभवति ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिणविभागे भक्तिरससामान्यनि-
रूपणे व्यभिचारिलहरी ॥ ४ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

च व्यभिचारिभावाद्विक्षेपविक्षेपौ; तयोश्च यथास्थायिभावमेव प्र-
शंसा किन्तु तत्र गरिष्ठत्वादौ हेतुरेक एको भावः स्वाभाविकः वि-
क्षेपहेतुः परः परस्त्वागन्तुको ज्ञेयः ।

ननु गरिष्ठादौ विक्षेपो मा भूनाम वज्रे तु द्रवता कदा चिन्नास्त्ये-
व सा च स्थायिमात्रकृतेत्युक्तं तर्हि तत् कथं भक्तचित्तत्वेन गण्यते ?
तत्राह—किन्त्विति । भावोऽत्र मुख्यतया स्थायी विवक्षितः प्रसङ्गादन्य-
श्च, सर्वप्रकारमेवेति । हीरकस्याप्यौषधिविशेषयोगेण द्रवीभावाय
योग्यत्वात् ।

तत्र दिग्दर्शनं—यथेति । सत्स्तोमपक्षे गम्भीरत्वं तावत्स्वत एव
प्रेमगोपनहेतुः स्यात् समर्थ्यादत्वं धाष्ट्यपरिहाराय कृत्रिमतया, अथ
दुरधिगमपारत्वं नामानन्तगुणत्वं तच्च तद्धेतुः स्याद् यदा यदा यो-
गुणो दृश्यते तदा तस्यैवालौकिकतया लोकचित्तावरणात् तथा

अथ स्थायी—

अविरुद्धान् विरुद्धांश्च भावान् यो वशतां नयन् ॥

सुराजेव विराजेत स स्थायी भाव उच्यते ॥ १ ॥

स्थायी भावोऽत्र सम्प्रोक्तः श्रीकृष्णविषया रतिः ॥

मुख्या गौणी च सा द्वेधा रसज्ञैः परिकीर्त्तिता ॥ २ ॥

तत्र मुख्या—

शुद्धसत्त्वविशेषात्मा रतिर्मुख्येति कीर्त्तिता ॥

मुख्याऽपि द्विविधा स्वार्था परार्था चेति कीर्त्यते ॥ ३ ॥

तत्र स्वार्था—

अविरुद्धैः स्फुटं भावैः पुष्पात्यात्मानमेव या ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

हरेरास्पदत्वमपि तद्गोपनाय कल्पेत तत्स्फूर्त्तैः स्वभावापन्नत्वाद्वि-
र्विकाराय नातिसम्पद्यत इति, सिन्धुपक्षे हरेरास्पदत्वेऽपि तस्येन्दु-
दर्शनाद्विकारो हरेः शयनलीलोपयोगितया स्वपुत्रस्य तस्य किरणग-
णव्याप्तेरिति ज्ञेयम् ।

इति श्रीपञ्चलहर्ष्यात्मके दक्षिणविभागे व्यभिचारिलहरी चतुर्थी ।

अविरुद्धान्=हासादीन्, विरुद्धान्=क्रोधादीन्, स भावः स्थाय्यु-
च्यते ।

स्थायिभावमेव पूर्वतोऽप्यधिकत्वेन बोधयितुमाह—स्थायीति।या
कृष्णविषया रतिः स एव स्थायी भावः पूर्वं प्रोक्तः, सम्प्रति तु किं-
चिदधिकत्वेनापि वक्ष्यत इत्यर्थः, तथैवाह—मुख्येत्यादिना—सा गौणी-
रतिरुच्यत इत्यन्तेन ग्रन्थेन ।

शुद्धसत्त्वविशेषात्मेति । शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमेत्यर्थः ।

विरुद्धैर्दुःशकग्लानिः सा स्वार्था कथिता रतिः ॥ ४ ॥

अथ परार्था—

अविरुद्धं विरुद्धं च सङ्कुचन्ती स्वयं रतिः ॥

या भावमनुगृह्णाति सा परार्था निगद्यते ॥ ५ ॥

शुद्धा प्रीतिस्तथा सख्यं वात्सल्यं प्रियतेत्यसौ ॥

स्वपरार्थैव सा मुख्या पुनः पञ्चविधा भवेत् ॥ ६ ॥

वैशिष्ट्यं पात्रवैशिष्ट्याद्रतिरेषोपगच्छति ॥

यथाऽर्कः प्रतिबिम्बात्मा स्फटिकादिषु वस्तुषु ॥ ७ ॥

तत्र शुद्धा—

सामान्याऽसौ तथा स्वच्छा शान्तिश्चेत्यादिमा त्रिधा ॥

एषाऽङ्गकम्पतानेत्रमीलनोन्मीलनादिकृत् ॥ ८ ॥

तत्र सामान्या—

कश्चिद्विशेषमप्राप्ता साधारणजनस्य या ॥

बालिकादेश्च कृष्णे स्यात् सामान्या सा रतिर्मता ॥ ९ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

वैशिष्ट्यमिति । अत्र पात्रत्वं प्रतिबिम्बत्वमप्यविवक्षितं वैशिष्ट्य-
एव तु तात्पर्यं शुद्धादितत्तद्विशेषणभेदादेव स्थितिभेदो नामभेद-
श्चेत्यर्थः ।

शुद्धा=केवला, एतदुत्तरं वक्ष्यमाणैः प्रीत्याद्यास्वादविशेषैरसम-
चेतेत्यर्थः,

साऽसावादिमा शुद्धा त्रिधेति तिस्रोऽत्र तन्नाम्न्य इत्यर्थः ।

तत्र सा प्रीत्यादितः पृथक् पठितत्वेन तं तं विशेषमप्राप्ता कृष्ण-
विषयाऽशुद्धा रतिः कं चिदप्यपि स्वच्छारूपं शान्तिरूपमपि विशेष-

यथा—

अस्मिन् मथुरावीश्यामुदयति मधुरे विरोचने पुरतः ।

कथय सखे ! अदिमानं मानससदनं किमेति मम ॥

यथा वा—

त्रिवर्षा बालिका सेयं वर्षीयसि ! समीक्ष्यताम् ।

या पुरः कृष्णमालोक्य हुङ्कुर्वत्यभिधावति ॥

स्वच्छा—

तत्तत्साधनतो नानाविधभक्तप्रसङ्गतः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

षमप्राप्ता सती सामान्यानाम्नी मता तत्तद्वैशिष्ट्येन तु स्वच्छेति शान्तिरिति च नाम स्यात् सामान्या तु साधारणजनादौ पृथक् स्यात् सर्वत्र चानुगता स्यादित्यर्थः ।

मानससदनं यन्मदिमानमेति तत् किमस्मिन् मधुरे विरोचन- उदयति सतीति तस्मादेव हेतोर्वितर्क्यत इत्यर्थः, हेत्वन्तरं तु न पश्याम इति भावः “यस्य च भावेन भावलक्षणमि”ति ह्यत्र सप्तमी ।

त्रिवर्षा बालिका सेयमित्यत्र त्रिवर्षेति “तमधीष्टो भूतो भूतो भा- वी”त्यधिकृत्य; भूतार्थे “वर्षाल्लुक्, च”ति कृतस्य खस्य; ठञो वा “चित्- वति नित्यमि”त्यनेन लुक्, त्रीन् वर्षान् भूता स्वसत्तया व्याप्तवतीत्य- र्थः, त्रिवर्षिकी बालिकेयमिति वा पाठः “कालाट्टञि”ति शौषिकवि- धानाद् “वर्षस्याभविष्यती”त्युत्तरपदवृद्धेश्च त्रिषु वर्षेषु भवा विद्य- मानेत्यर्थः तत्र भव इत्यस्य हि तथैवार्थः, त्रिवर्षीयेति पाठस्तु त्यक्तः, वर्षीयसि=हे वृद्धे,

अथ स्वच्छामाह—तत्तदिति द्वाभ्यां, “भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेदि”त्यादिषु भक्तप्रसङ्गस्यैव रतिबीजत्वाद् बीजरूपात्रानाविधभा- क्तप्रसङ्गतस्तत्र च जलसेकादिरूपात्तत्तत्साधनतः साधकानां वैविध्यं-

साधकानां तु वैविध्यं यान्ती स्वच्छा रतिर्मता ॥ १० ॥

यदा यादृशि भक्ते स्यादासक्तिस्तादृशं तदा ॥

रूपं स्फटिकवद्धत्ते स्वच्छाऽसौ तेन कीर्तिता ॥ ११ ॥

यथा—

क चित्प्रभुरिति स्तुवन् क चन मित्रमित्युद्धसन्

क चित्तनय इत्यवन् क चन कान्त इत्युल्लसन् ।

क्व चिन्मनसि भावयन् परम एष आत्मेत्यसा—

वभूद्विविधसेवया विविधवृत्तिराद्यर्थो द्विजः ॥

अनाचान्तधियां तत्तद्भावनिष्ठा सुखार्णवे ॥

आर्याणामतिशुद्धानां प्रायः स्वच्छा रतिर्भवेत् ॥ १२ ॥

अथ शान्तिः—

मानसे निर्विकल्पत्वं शम इत्यभिधीयते ॥

तथा चोक्तं—

विहाय विषयौन्मुख्यं निजानन्दस्थितिर्यतः ॥ १३ ॥

आत्मनः कथ्यते सोऽत्र स्वभावः शम इत्यसौ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

यान्तीति तु पूर्वोक्ता शुद्धाऽऽख्या रतिः स्वच्छा मता,

वैविध्ये कारणमाह—यदेति । रूपं स्फटिकवद्धत्त इति

नानाभावधारणांश्च एव दृष्टान्तो न तु प्रतिबिम्बत्वेऽपि यथावद्भवेरेव

प्रकरणप्राप्तत्वात् शुद्धान्तःपातश्चास्यास्तत्तद्भावानामागमापायित्वा

अत एवा“प्रतो वक्ष्यमाणैस्तु स्वादैः प्रीत्यादिसंश्रयै”रिति वक्ष्यमाणं

चात्र सङ्गच्छते तेषां सम्यक् सम्पर्को नास्तीति ।

अनाचान्तधियाम्—आस्वादविशेषाभावेनानिष्ठितचित्तानां, यत-

आर्याणां तत्तच्छास्त्रमात्रदृष्ट्या प्रवर्त्तमानानां, “का रुद्रङ्ग ! त” इत्या

प्रायः शमप्रधानानां ममतागन्धवर्जिता ॥ १४ ॥

परमात्मतया कृष्णे जाता शान्ती रतिर्मता ॥

यथा—

देवर्षिणीया गीते हरिलीलामहोत्सवे ।

सनकस्य तनौ कम्पो ब्रह्मानुभविनोऽप्यभूत् ॥

यथा वा—

हरिवल्लभसेवया समन्तादपवर्गानुभवं किलावधीर्यम् ।

घनसुन्दरमात्मनोऽप्यभीष्टं परमं ब्रह्म दिदृक्षते मनो मे ॥

अग्रतो वक्ष्यमाणैस्तु स्वादैः प्रीत्यादिसंश्रयैः ॥ १५ ॥

रतेरस्या असम्पर्कादियं शुद्धेति भण्यते ॥

अथ भेदत्रयी हृद्या रतेः प्रीत्यादिरीर्यते ॥ १६ ॥

गाढानुकूलतोत्पन्ना ममत्वेन सदाश्रिता ॥

कृष्णभक्तेष्वनुग्राह्यसखिपूज्येष्वनुक्रमात् ॥ १७ ॥

त्रिविधेषु त्रयी प्रीतिः सख्यं वत्सलतेत्यसौ ॥

अत्र नेत्रादिफुल्लत्वजृम्भणोद्घूर्णनादयः ॥ १८ ॥

केवला सङ्कुला चेति द्विविधेयं रतित्रयी ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

दौ ह्यार्यचरितशब्दस्य शास्त्रीयमार्गत्वमेव विवक्षितम् ।

अथ शान्त्याख्यां रतिं लक्षयन् शमं लक्षयित्वा तदुपलक्षितां तां लक्षयति—प्राय इति । ‘मुक्तानामपि सिद्धानामि’ति न्यायेन प्रायः पव शमप्रधानानां परमात्मतया “ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहमि”त्याद्युक्तरीत्या सर्वाश्रयस्वरूपतया जाता शुद्धा रतिः शान्तिर्मता ।

आत्मनोऽपीति । आत्मानं ब्रह्मरूपमप्यतिक्रम्येत्यर्थः ।

तत्र केवला—

रत्यन्तरस्य गन्धेन वर्जिता केवला भवेत् ॥ १९ ॥

ब्रजानुगे रसालादौ श्रीदामादौ वयस्यके ॥

गुरौ च ब्रजनाथादौ क्रमेणैव स्फुरत्यसौ ॥ २० ॥

अथ सङ्कुला—

एषां द्वयोस्त्रयाणां वा सन्निपातस्तु सङ्कुला ॥ २१ ॥

उद्धवादौ च भीमादौ मुखराऽऽदौ क्रमेण सा ॥

यस्याधिक्यं भवेद्यत्र स तेन व्यपदिश्यते ॥ २२ ॥

तत्र प्रीतिः—

स्वस्माद्भवन्ति ये न्यूनास्तेऽनुग्राह्या हरेर्भक्ताः ॥

आराध्यत्वात्मिका तेषां रतिः प्रीतिरितीरिता ॥ २३ ॥

तत्रासक्तिकृदन्यत्र प्रीतिसंहारिणी ह्यसौ ॥

यथा मुकुन्दमालायां—

दिवि वा भुवि वा समास्तु वासो नरके वा नरकान्तक ! प्रकामम् ।

अवधीरितशारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

अथ सङ्कुलेति । एषां भेदानां मध्येऽत्र संस्कारस्थितिः स्वच्छा यां तु तदभाव इति भेदः, मुखरानाम्नी का चिद्वद्धा श्रीव्रजेद्वयार्था-
ध्यात्रीति महाजनप्रसिद्धिः,

सन्निपात इति । धर्मधर्मिणोरभेदोपचारात् तेन भावेन व्यपदिश्यते यथा सख्यभावभागप्युद्धवो दासत्वेन ।

स्वस्मात्=श्रीहरेः, न्यूनाः=न्यूनताभिमानमयरतियुक्ता इत्यर्थः, आ-
राध्यत्वम् आराध्योऽयमिति ज्ञानमात्मा स्वरूपं यस्याः, अत्र प्रीतिश-

अथ सख्यं—

ये स्युस्तुल्या मुकुन्दस्य ते सखायः सतां यताः ॥ २४ ॥

साम्याद्विश्रम्भरूपैषां रतिः सख्यमिहोच्यते ॥

परीहासप्रहासादिकारिणीयमयन्त्रणा ॥ २५ ॥

यथा—

मां पुष्पितारण्यदिदृक्षया गतं—

निमेषविद्वलेषविदीर्णमानसाः ।

ते संस्पृशन्तः पुलकाञ्चितश्रियो—

दूरादहंपूर्विकयाऽद्य रेभिरे ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

वदप्रयोगः पूर्वतः प्रीतित्वस्य वैशिष्ट्यात्पारिभाषिकः, अन्यत्र तु भक्तिप्रीती विपर्ययेण प्रयुज्येते, अनुग्राह्या इत्यपि पूर्वतो वैशिष्ट्या-
पेक्षया भण्यते, तत्रेत्यद्धमपि तथा व्याख्येयं, प्रीतित्वमेव विशेषेण द-
र्शयति-हि=यस्मात्, तत्र=श्रीकृष्णे, असौ=आराध्यत्वात्मिका प्रीतिना
स्त्री रतिः, ततोऽन्यत्र प्रीतेस्तद्रूपरतेः संहारिणी, तत्र तस्यां जातायाम्
अन्यत्र सा नश्यतीत्यर्थः, ततोऽन्यत्र यदि स्यात् तदा तत्सम्बन्धेनैव
मन्तव्येति भावः, उदाहरणेऽपि कुत्र चिदन्यत्र गमनेऽपि मम त्वय्येव
प्रीतिर्भवेन्नान्यत्र पुंसीति विवक्षितं, सख्यादिषु त्वन्यदपि वैशिष्ट्य-
मस्तीति भेदो ज्ञेयः ।

तुल्याः=तुल्यत्वाभिमानमयरतियुक्ता इत्यर्थः, ततः साम्यात्=श्री-
कृष्णेन सह परस्परं समभावत्वाद् हेतोर्विश्रम्भमयन्त्रणं रूपयति प्रका-
शयति या रतिः सा सख्यमुच्यते, विश्रम्भरूपत्वमेव विवृणोति-परी-
हासेति ।

मामिति । ब्रह्मणा हृतानां बालकानामनुशोचनमयी निशि श्रीकृ-
ष्णस्य भावना, मथुरायामुद्धवं प्रति तेन कथनं वा, त इति । वत्ससं-

यथा वा—

श्रीदामदोर्विलसितेन कृतोऽसि कामं—
 दामोदर ! त्वमिह दर्पधुरादरिद्रः ।
 सद्यस्त्वया तदपि कथनमेव कृत्वा
 देव्यै हिये त्रयमदायि जलाञ्जलीनाम् ॥

अथ वात्सल्यं—

गुरवो ये हरेरस्य ते पूज्या इति विश्रुताः ॥
 अनुग्रहमयी तेषां रतिर्वात्सल्यमुच्यते ॥ २६ ॥
 इदं लालनभव्याशीश्विबुकस्पर्शनादिकृत ॥

यथा—

अग्रसि यन्निरभिसन्धिविरोधभाजः
 कंसस्य किंकरगणैर्गिरितोऽप्युदग्रैः ।
 गास्तत्र रक्षितुमसौ गहने मृदुमै
 बालः प्रयात्यविरतं बत किं करोमि ॥

यथा वा—

सुतमङ्गुलिभिः स्नुतस्तनी
 विबुकाग्रे दधती दयाऽऽर्द्रधीः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

भालनार्थं ये सर्वेऽपि मया प्रेषिता इति भावः ।

श्रीदामेति । देव्यै=राजायमानस्य तव महामहिषीरूपायै, सख्या-
 यिति वा पाठः ।

गुरवो=गुरुत्वाभिमानमयरतियुक्ताः, बत्सं वक्षो लान्ति निजला-
 ल्येषु ददतीति बत्सलाः पित्रादयः, तेषां भावो वात्सल्यं, यथोक्तं—
 तृतीये देवदूतिमधिकृत्य—

“वनं प्रव्रजिते पत्यावपत्यविरहातुरा ।

समलालयदालयात्पुरः

स्थितिभाजं व्रजराजगेहिनी ॥

अथ प्रियता—

मिथो हरेर्मृगाक्ष्याश्च सम्भोगस्यादिकारणम् ॥ २७ ॥

मधुरापरपर्याया प्रियताऽऽख्येद्वेदिता रतिः ॥

अस्यां कटाक्षभ्रूक्षेपप्रियव्राणीस्मितादयः ॥ २८ ॥

यथा गोविन्दत्रिलासे—

चिरमुत्कण्ठितमनसो राधामुरवैरिणोः कोऽपि ।

निभृतनिरीक्षणजन्मा प्रत्याशापल्लवो जयति ॥

यथोत्तरमसौ स्वादविशेषोल्लासमयपि ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

ज्ञाततत्त्वाऽप्यभून्नष्टे वत्से गौरिव वत्सले"ति ।

हरेर्मृगाक्ष्याश्च मिथः सम्भोगः स्मरणदर्शनाद्यष्टविधः, तस्याः कारणं या मृगाक्ष्या रतिः सा प्रियताऽऽख्या कथितेति योज्यं, भक्ताश्रयायाः श्रीकृष्णविषयाया एव रते रस्यमानतया निर्देयत्वाद्, भक्तविषयकश्रीकृष्णरतेस्तु तत्रोद्दीपनत्वात्, प्रियाया भावः प्रियतेति निरुक्तेः "त्वतलोगुणवचनस्ये"ति पुंस्त्वं, तदुक्तं-कातन्त्रविस्तरे-गुणग्रहणेनात्र जातिसंज्ञयोर्निवृत्तेः क्रियते; तेन पाचिकायाः पाचकत्वमित्यादि, सा च मधुरापरपर्यायेति मधुरानाम्प्रोत्यर्थः, चिरमित्यादि वक्ष्यमाणोदाहरणं त्वेकांशेन ज्ञेयम् ।

तदेवं पञ्चविधां रतिं निरूप्याशङ्कते-नन्वासां रतीनां तारतम्यं-साम्यं वा मतं? तत्राद्ये सर्वेषामेकत्रैव प्रवृत्तिः स्याद्, द्वितीये च कस्यचित् कचित् प्रवृत्तौ किं कारणं?

तत्राह—यथोत्तरमिति यथोत्तरम्=उत्तरक्रमेण, स्वाद्वी=अभिरुचिता,

रतिर्वासनया स्वाद्वी भासते काऽपि कस्य चित् ॥ २९ ॥

इति मुख्या ।

अथ गौणी—

विभावोत्कर्षजो भावविशेषो योऽनुगृह्यते ॥

संकुचन्त्या स्वयं रत्या स गौणी रतिरुच्यते ॥ ३० ॥

हासो विस्मय उत्साहः शोकः क्रोधो भयं तथा ॥

जुगुप्सा चेत्यसौ भावविशेषः सप्तधोदितः ॥ ३१ ॥

अपि कृष्णविभावत्वमाद्यषट्कस्य सम्भवेत् ॥

स्यादेहादिविभावत्वं सप्तम्यास्तु रतेर्वशात् ॥ ३२ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

नन्वत्र विवेका कतमः स्याद् निर्वासन एकवासनो बहुवासनो वा ? तत्राद्ययोरन्यतरस्वादाभावाद्विवेकतृत्वं न घटत एव, अन्त्यस्य च रसाभासितापेक्ष्यवसानान्नास्तीति ? सत्यं—तथाऽप्येकवासनस्यैतद् घटते रसान्तरस्याप्रत्यक्षत्वेऽपि सदृशरसस्योपमानेन प्रमाणेन विसदृशरसस्य तु सामग्रीपरिपोषापरिपोषदर्शनादनुमानेन चेति ।

तदेवं मुख्यापरिकरं समाप्य गौणीमाह—अथेति—विभावत्वमत्रालम्बनत्वं, भावविशेषस्यैव तत्र तत्र प्रकटमुपलभ्यमानत्वात् संकुचन्येवेति । सा रतिरिति भावः, अनुगृह्यते=प्रकटीक्रियते, सा गौणी रतिरुच्यत इति, सोऽपि भावविशेषो रतिरुच्यते किन्तु सा मञ्चाः क्रोशन्तीतिवद् गौणी=औपचारिकीत्यर्थः ।

अपीति । विभावत्वमत्रालम्बनत्वं, रतेर्मुख्याया वशादाद्यषट्कस्य हासादिभयपर्यन्तस्य कृष्णविभावत्वमपि सम्भवेत् तस्य तस्यापि योग्यत्वाद्, अथ रतेर्वशादेव सप्तम्या जुगुप्सायास्तु देहादिविभावत्वमैव संभवेद् न तु कृष्णविभावत्वं तदयोग्यत्वात् ।

हासादावत्र भिन्नोऽपि शुद्धसत्त्वविशेषतः ॥
 परार्थाया रतेर्योगाद्रतिशब्दः प्रयुज्यते ॥ ३३ ॥
 हासोत्तरा रतिर्या स्यात्सा हासरतिरुच्यते ॥
 एवं विस्मयरत्याद्या विज्ञेया रतयश्च षट् ॥ ३४ ॥
 कं चित्कालं क चिद्भक्ते हासाद्याः स्थायिताममी ॥
 रत्या चारुकृता यान्ति तल्लीलाऽऽद्यनुसारतः ॥ ३५ ॥
 तस्मादनियताधाराः सप्त सामयिका इमे ॥
 सहजा अपि लीयन्ते बलिष्ठेन तिरस्कृताः ॥ ३६ ॥
 काऽप्यव्यभिचरन्ती सा स्वाधारान् स्वस्वरूपतः ॥
 रतिरात्यन्तिकस्थायी भावो भक्तजनेऽस्त्रिले ॥ ३७ ॥
 स्युरेतस्या विनाभावान्नावाः सर्वे निरर्थकाः ॥
 विपक्षादिषु यान्तोऽपि क्रोधाद्या स्थायितां सदा ॥ ३८ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

शुद्धसत्त्वविशेषतः स्वार्थाया रतेः, परार्थायास्तस्या एव परार्थ-
 त्वं प्राप्तायाः ।

तदेवं गौणीनां रतीनां हासादय एव संज्ञाः; परार्थायास्तु हासर-
 त्यादय इत्याह-हासोत्तरेति ।

सहजा अपीति । यदि सहजाः स्युस्तथाऽपीत्यर्थः, बलिष्ठेन=रत्यु-
 त्थतद्विरोधिभावेनेति शेषः,

रतिरेव स्वस्वरूपेण स्वाधारान् अव्यभिचरन्ती=अनतिक्रामन्ती;
 आत्यन्तिकस्थाय्याख्यो भावः स्यात्, स्वाधारादिति पञ्चम्यन्तो-
 वा पाठः ।

लभन्ते रतिशून्यत्वान्न भक्तिरसयोग्यताम् ॥
 अविरुद्धैरपि स्पृष्टा भावैः संचारिणोऽखिलाः ॥ ३९ ॥
 निर्वेदाद्या विलीयन्ते नार्हन्ति स्थायितां ततः ॥
 इत्यतो मतिगर्वादिभावानां घटते न हि ॥ ४० ॥
 स्थायिता कौश्चिदिष्टाऽपि प्रमाणं तत्र तद्विदः ॥
 सप्त हासादयस्त्वेते तैस्तैर्नीताः सुपुष्टताम् ॥ ४१ ॥
 भक्तेषु स्थायितां यान्तो रुचिमेभ्यो वितन्वते ॥

तथा चोक्तं—

अष्टानामेव भावानां संस्काराधायिता मता ॥ ४२ ॥
 तत्तिरस्कृतसंस्काराः परे न स्थायितोचिताः ॥

तत्र हासरतिः—

चेतोविकासो हासः स्याद्वाग्वेषेहादिवैकृतात् ॥ ४३ ॥
 स दृग्विकासनासौष्ठकपोलस्पन्दनादिकृत् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

रतिशून्यत्वाद्=रतिरिक्तत्वाद्, रत्याभासस्यापि संभावना ना-
 स्तीति तद्विरोधित्वादित्यर्थः ।

येन स्पृष्टा लीयन्ते तस्य विरुद्धत्वापत्तेरविरुद्धैरपि स्पृष्टा इति
 नञ् भिन्नक्रमे; असुर्यम्पश्या राजदारा इतिवद् विरुद्धैरप्यस्पृष्टाः
 कालव्यवधानेन स्वतोऽपि लीयन्त इत्यर्थः;

नन्विदमस्माकमनुभवविरुद्धं? तत्राह—“प्रमाणं तत्र तद्विदः” इति ।
 तद्विदो=भरताद्याः ।

पूर्वं हासोत्तरेत्यादिना हासाद्यावृताया रतेर्हासरत्यादीति-
 संज्ञत्वमुक्तं; संप्रति तु रत्यारोपितत्वेन स्वीयधर्मेणानुगृह्यमाणत्वा-

कृष्णसम्बन्धिचेष्टोत्थः स्वयंसङ्कुचदात्मना ॥ ४४ ॥

रत्याऽनुगृह्यमाणोऽयं हासो हासरतिर्भवेत् ॥

यथा—

मया हगपि नार्पिता हसुखि ! दधि तुभ्यं शपे

सखी तव निर्गला तदपि मे सुखं जिघ्रति ।

प्रणाधि तदिमां मुधा छलितसाधुमित्यच्युते

वदत्यजनि दूतिका हसितरोधने न क्षमा ॥

लोकोत्तरार्थवीक्षाऽऽदेर्विस्मयश्चित्तविस्तृतिः ॥ ४५ ॥

अत्र स्युर्नेत्रविस्तारसाधूक्तिपुलकादयः ॥

पूर्वोक्तरीत्या निष्पन्नः स विस्मयरतिर्भवेत् ॥ ४६ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

हासादयोऽपि रत्यादित्वेन व्यवहियन्त इत्याह—कृष्णेति । हासो रतिरिव हासरतिः पुरुषव्याघ्र इतिवत्समासः, पूर्वा हासरतिस्तु शाकपार्थिवादिवत्, संकुचदात्मना रत्याऽनुगृह्यमाण इत्यत्र हेतुमाह—कृष्णसम्बन्धिचेष्टोत्थ इति तच्चेष्टाजातसुखविशेषेण व्याप्तयेति भावः, यत्र तु कृष्णविरोधिचेष्टावैरूपोत्थः स्यात्तत्रापि भावितन्नाशककृष्णचेष्टाभावनैव हेतुः स्यादिति, एवमन्यत्रापि योज्यम् ।

मया हगपीति । वनमध्ये देवपूजाव्याजेन दध्यादीन्यवतार्य पुष्पाद्यवचयनार्थमितस्ततः क्रीडन्तीषु तासु दधिसमीपे रहसि दधिरक्षाऽर्थं रक्षितदूतीप्रापितया कया चिल्लीलायमानस्य श्रीकृष्णस्याकस्मादागतां वामां सखीं प्रति छलोक्तिः, जरतीति वधूरेति च पाठो-नेष्टः; किन्तु सुमुखीत्येव सखीत्येव पाठो भयानकेन हास्याच्छादनात् ।

चित्तस्य विस्तृतिः=किमिदमिति नानागतिः, चेतोविकासो हास इत्यत्र विकाशस्तु प्रकाशः ।

यथा—

गवां गोपालानामपि शिशुगणः पीतवसनो-
 लसच्छ्रीवत्साङ्गः पृथुभुजचतुष्कैर्धृतवचिः ।
 कृतस्तोत्रारम्भः सविधिभिरजाण्डालिभिरलं—
 परश्रद्धोल्लासान्वहति किमिदं हन्त किमिदम् ॥

अथोत्साहरतिः—

स्थेयसी साधुभिः श्लाघ्यफले युद्धादिकर्मणि ॥
 सत्वरा मानसासक्तिरुत्साह इति कीर्त्यते ॥ ४७ ॥
 कालानवेक्षणं तत्र धैर्यत्यागोद्यमादयः ॥
 सिद्धः पूर्वोक्तविधिनाऽसावुत्साहरतिर्भवेत् ॥ ४८ ॥

यथा—

कालिन्दीतटभुवि पत्रशृङ्गवंशी-
 निक्राणैरिह मुखरीकृताम्बरायाम् ।
 विस्फूर्ज्जन्नघदमनेन योबुकासः
 श्रीदामा परिकरमुद्भटं बबन्ध ॥

अथ शोकरतिः—

शोकस्त्वष्ट्रवियोगाद्यैश्चित्तक्लेशभरः स्मृतः ॥
 विलापपातनिश्वासमुखशोषभ्रमादिकृत् ॥ ४९ ॥
 पूर्वोक्तविधिनैवायं सिद्धः शोकरतिर्भवेत् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

युद्धादिकर्मणीति । युद्धदानदयाधर्मा एव गृह्यन्ते, स्वाभीष्ट-
 कर्मणीति वा पाठः,

चित्तक्लेशभर इति । प्रियस्य नाशभावनामयत्वात्परमातिशायि-
 चित्तक्लेश इत्यर्थः ।

यथा श्रीदशमे—

रुदितमनुनिशम्य तत्र गोप्यो—

भृशमनुरक्तधियोऽश्रुपूर्णमुख्यः ।

रुदुरनुपलभ्य नन्दसूनुं—

पवन उपारतपांशुवर्षवेगे ॥

यथा वा—

अवलोक्य फणीन्द्रयन्त्रितं—

तनयं प्राणसहस्रबलभम् ।

हृदयं न विदीर्यति द्विधा

धिगिमां मर्त्यतनोः कठोरताम् ॥

अथ क्रोधरतिः—

प्रातिकूल्यादिभिश्चित्तज्वलनं क्रोध ईर्यते ॥ ५० ॥

पारुष्यभ्रुकुटीनेत्रलौहित्यादिविकारकृत् ॥

एतं पूर्वोक्तवत्सिद्धं विदुः क्रोधरतिं बुधाः ॥ ५१ ॥

द्विधाऽसौ कृष्णतद्वैरिविभावत्वेन कीर्त्तिता ॥

तत्र कृष्णविभावा यथा—

कण्ठसीमनि हरेर्द्युतिभाजं राधिकामणिसरं परिचित्य ।

तं चिरेण जटिला विकटभ्रूमङ्गभीमतरदृष्टि ददर्श ।

तद्वैरिविभावा यथा—

अथ कंससहोदरोग्रदावे हरिमभ्युद्यति तीव्रहेतिभाजि ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

अवलोक्येति । श्रीव्रजेश्वरः स्वयमेव स्वं निन्दति ।

कण्ठेति । अत्र इवश्रुम्मन्याया जटिलायाः क्रोधः श्रीकृष्णरतिमु-
लकत्वेनापि सम्भवति श्रीकृष्णस्यापि मङ्गलकामनया स्ववधूसम्ब-
न्धनिवर्त्तनाद्, एवं सर्वत्र ज्ञेयम् ।

हरि० ३८

रभसादलिकाम्बरे प्रलम्बद्विपतोऽभूद् अकुटीपयोदलेखा ॥

अथ भयरतिः—

भयं चित्तातिचाञ्चल्यं मन्तुघोरेक्षणादिभिः ॥ ५२ ॥

आत्मगोपनहृच्छोषविद्रवभ्रमणादिकृत् ॥

निष्पन्नं पूर्ववदिदं बुधा भयरतिं विदुः ॥ ५३ ॥

एषाऽपि क्रोधरतिवद् द्विविधा कथिता बुधैः ॥

तत्र कृष्णविभावा यथा—

याचितः पटिमभिः स्यमन्तकं—

शौरिणा सदसि गान्धिनीसुतः ।

वस्त्रगूढमणिरेप मूढधी—

स्तत्र शुष्यदधरः क्लमं ययौ ॥

दुष्टविभावा यथा—

भैरवं स्वति हन्त गोकुलद्वारि वारिदिनिभे वृषासुरे ।

पुत्रगुप्तिधृतयत्नवैभवा कम्प्रमूर्तिरभवद् व्रजेश्वरी ।

अथ जुगुप्सारतिः—

जुगुप्सा स्यादहृद्यानुभवाचित्तनिमीलनम् ॥ ५४ ॥

तत्र निष्ठीवनं वक्रकूणनं कुत्सनादयः ॥

रतेरनुग्रहाज्जाता सा जुगुप्सारतिर्मता ॥ ५५ ॥

यथा—

यदवधि मम चेतः कृष्णपादारबिन्दे

नवनवरसधामन्युद्यतं रन्तुमासीत् ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

अथ कंसेति । हेतिः=अखं ज्वाला च, अलिकं=ललाटम् ।

वक्रकूणनं=मुखस्य कुटिलीकरणम् ।

तद्वधि वत नारीसंगमे स्मर्यमाणे

भवति मुखविकारः सुष्ठु निष्ठिवनं च ॥

रतित्वात्प्रथमैकैव सप्त हासादयस्तथा ॥

इत्यष्टौ स्थायिनो यावद्रसावस्थां न संश्रिताः ॥ ५६ ॥

चेत्स्वतन्त्रास्त्रयस्त्रिंशद्भवेयुर्व्यभिचारिणः ॥

इहाष्टौ सात्त्विकाश्चैते भावाख्यास्तानसंख्यकाः ॥ ५७ ॥

कृष्णान्वयाद् गुणातीतप्रौढानन्दमया अपि ॥

भान्त्यमी त्रिगुणोत्पन्नसुखदुःखमया इव ॥ ५८ ॥

तत्र स्फुरन्ति ह्रीवोधोत्साहाद्याः सात्त्विका इव ॥

तथा राजसवद्गर्वहर्षसुप्तिहसादयः ॥ ५९ ॥

विषाददीनतामोहशोकाद्यास्तामसा इव ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

प्रथमा=मुख्या, यावदिति । रसावस्थायां तु रसा एवोच्यन्त-
इत्यर्थः,

स्वतन्त्राः स्थाय्यङ्गतया रसात्मतामगताश्चेद्भवेयुस्तदा व्यभि-
चारिणस्त्रयस्त्रिंशत्; ताना ऊनपञ्चाशत् तत्संख्यकाः ।

कृष्णान्वयादित्यस्यायमर्थः—कृष्णान्वयात् कृष्णस्फुरणमयत्वाद्-
र्षादयस्तावदप्राकृतसुखमया एव किन्तु तदन्वयाद् विषादादयश्च
तादृशसुखमया एव वक्तव्याः दुःखमयत्वेन तेषां स्फुरणं तु तदप्रा-
प्त्यादिभावनारूपेणोपाधिनापादानेनैव जायते; कृष्णस्फुरणं तु तत्र
निमित्तमात्रं भक्तानामायत्यां तत्प्राप्त्यादयस्त्वावश्यकता एव प्राप्त्या-
दिषु तु जातेषु तद्भावनारूपस्योपाधेरुपादानस्योपगमाद्धर्षस्य
पोषणाच्च बुभुक्षाऽऽदिवद्विषादादयोऽपि सुखमयत्वेनैव स्फुरन्तीति

प्रायः सुखमयाः शीता उष्णा दुःखमया इह ॥ ६० ॥

चित्रेयं परमानन्दसान्द्राऽप्युष्णा रतिर्भता ॥

शीतैर्भावैर्बलिष्ठैस्तु पुष्टा शीतायते ह्यसौ ॥ ६१ ॥

उष्णैस्तु रतिरत्युष्णा तापयन्तीव भासते ॥

विप्रलम्भे ततो दुःखभराभासकृदुच्यते ॥ ६२ ॥

रतिर्द्विधाऽपि कृष्णाद्यैः श्रुतैरवगतैः स्मृतैः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

दुःखमया इव ते न तु दुःखमयाः, ते च भक्तगते सुखदुःखे अभक्तानां-
त्रिगुणोत्पन्ने एते इति प्रतीत्यास्पदे भवतः, वस्तुतस्तु न तादृशे
यथोक्तमेकादशे “कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानमि”त्यादौ “मन्निष्टं निर्गुणं-
स्मृतमि”ति ।

प्रायो=वितर्कं, शीता हर्षादयः, उष्णा विषादादयः, रतेः स्वत-
उष्णत्वं तु संयोगेऽप्युत्कण्ठाशङ्काप्रधानत्वाद्,

यथोक्तं—

“अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता ।

नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखमि”ति ।

शीतैर्भावैः शीतायते हर्षादिभिः सहाभेदं प्राप्नोतीत्यर्थः, उष्णै-
रिति । स्वस्यात्युष्णत्वाभावाच्च स्वयं तापयति किन्तूष्णैर्विषा-
दादिभिर्भावैरत्युष्णेव सती तापयन्तीव भासते प्रतीयते, वियोगाद्यु-
त्थानां तेषां गुणा एव तस्यामारोप्यन्त इत्यर्थः, यथा योगराजाद्याह्वयं-
बहुगुणमौषधं तत्तद्गुणद्रव्यैरिवेति भावः ।

आभासत्वमाद्यन्तयोरस्थायित्वाद् वियोगलक्षणमुपाधिमन्वेव
मध्येऽन्यथाप्रतीयमानत्वात् ।

मुख्यागौणीविभेदेन द्विधा, अभिनयादौ कृष्णत्वादिनाऽवगतैः य-

तैर्विभावादितां यद्भिस्तद्भक्तेषु रसो भवेत् ॥ ६३ ॥

यथा दध्यादिकं द्रव्यं शर्करामरिचादिभिः ॥

संयोजनविशेषेण रसालाख्यो रसो भवेत् ॥ ६४ ॥

तदत्र सर्वथा साक्षात् कृष्णाद्यनुभवाद्भुतः ॥

प्रौढानन्दचमत्कारो भक्तैः कोऽप्यनुरस्यते ॥ ६५ ॥

स रत्यादिविभावाद्यैरेकीभावमयोऽपि सन् ॥

ज्ञप्ततत्तद्विशेषश्च तत्तदुद्भेदतो भवेत् ॥ ६६ ॥

तथा चोक्तं—

“प्रतीयमानाः प्रथमं विभावाद्यास्तु भागशः ।

गच्छन्तो रसरूपत्वं मिलिता यान्त्यखण्डताम् ॥

यथा मरिचखण्डादेरेकीभावेऽपि पानके ।

उद्भासः कस्य चित्कापि विभावादेस्तथा रस” इति ॥

रतेः कारणभूता ये कृष्णकृष्णप्रियादयः ॥

स्तम्भाद्याः कार्यभूताश्च निर्वेदाद्याः सहायकाः ॥ ६७ ॥

हित्वा कारणकार्यादिशब्दवाच्यत्वमत्र ते ॥

रसोद्बोधे विभावादिव्यपदेश्यत्वमाप्नुयुः ॥ ६८ ॥

रतेस्तु तत्तदास्वादविशेषायातियोग्यताम् ॥

विभावयन्ति कुर्वन्तीत्युक्ता धीरैर्विभावकाः ॥ ६९ ॥

तां चानुभावयन्त्यन्तस्तन्वन्त्यास्वादिभिर्भारम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

द्भिः प्राप्नुवद्भिः, रतेस्त्विति । स्पष्टताऽर्थमेवोक्तस्याप्यपवादोऽयं वि-
भावयन्तीत्येव व्याचष्टे, रतेस्तु तत्तदास्वादविशेषायातियोग्यतां कुर्व-
न्तीति परपरत्राप्येवमुज्ज्वलं, तां विभावितां रतिमनुभावयन्ति=अन्तर्मनः

इत्युक्ता अनुभावास्ते कटाक्षाद्याः ससाविकाः ॥ ७० ॥
 संचारयन्ति वैधित्तीं नयन्ते तां तथाविधाम् ॥
 ये निर्वेदादयो भावास्ते तु सञ्चारिणो मताः ॥ ७१ ॥
 एतेषां तु तथाभावे भगवत्काव्यनाट्ययोः ॥
 सेवामाहुः परं हेतुं के चित्तत्पक्षरागिणः ॥ ७२ ॥
 किन्तु तत्र मुदुस्तर्कमाधुर्याद्भुतसंपदः ॥
 रतेरस्याः प्रभावोऽयं भवेत्कारणमुत्तमम् ॥ ७३ ॥
 महाशक्तिविलासात्मा भावोऽचिन्त्यस्वरूपभाक् ॥
 रत्याख्य इत्ययं युक्तो न हि तर्केण बाधितुम् ॥ ७४ ॥
 भारताद्युक्तिरेषा हि प्राक्तनैरप्युदाहृता ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

स्यात्स्वादिभिर्भरा तन्वन्ति कुर्वन्तीति, स्वरतेस्तत्तद्रूपेणातिविकाशात्,
 तथाविधां=विभावितामनुभावितां च ।

तथाभावे=विभावादेित्वे ।

अस्याः=श्रीभगवत्सम्बन्धिन्याः, अयं=वक्ष्यमाणप्रकारः ।

ननु देवतान्तररतिवदेवेयमपि सत्कविनिवद्धतयाऽपि रसत्वं
 नापद्येत किमुत तां विनेत्याशङ्क्याह—महाशक्तीति । ह्लादिनी-
 विलासरूपः; अत एवाचिन्त्यस्वरूपभाग् या खलु मोक्षानन्दमपि
 तिरस्करोति श्रीभगवन्तमत्यानन्दयतीति भावः, न हि तर्केण
 बाधितुमिति । किन्तु श्रीभागवतादिशास्त्रानुसार्यनुभवेनैव ग्रहीतुं
 युक्तं इत्यर्थः,

तर्केणाबाधे हेतुमाह—“भारताद्युक्तिरेषा हि प्राक्तनैरप्युदाह-
 ते”ति । प्राक्तनैः=शारीरकभाष्यकारादिभिः, शास्त्रं चेदम्—

यथोक्तमुद्यमपर्वणि—

“अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।

प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणमि”ति ॥

विभावताऽऽदीनानीय कृष्णादीन्मञ्जुला रतिः ॥ ७५ ॥

एतैरेव तथाभूतैः स्वं संवर्द्धयति स्फुटम् ॥

यथास्वैरेव सलिलैः परिपूर्य्य बलाहकान् ॥ ७६ ॥

रत्नालयो भवत्येभिर्वृष्टैस्तैरेव वारिधिः ॥

नवे रत्यङ्कुरे जाते हरिभक्तस्य कस्य चित् ॥ ७७ ॥

विभावत्वादिहेतुत्वं किञ्चित्त्वाव्यनाट्ययोः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

क चिद्दुदन्त्यच्युतचिन्तया क चि-

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या

जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।

हसत्यथो रांदिति रौति गाय-

त्युन्मादवन्नुत्यति लोकबाह्यः ।

द्धसन्ति नन्दति वदन्त्यलौकिकाः ।

नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं-

भवान्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥

इत्यादि,

प्रभावमेव विवृणोति-विभावताऽऽदीनिति । धर्मानिति शेषः,
तथाभूतैः=विभावादित्वं प्राप्तैः ।

तर्हि काव्यनाट्ययोर्वैयर्थ्यं स्यात् ? तत्राह-नव इति । हरिभक्तस्य
कस्य चित्त्वाव्याद्यर्थचर्वणविज्ञस्येत्यधिकरणे सम्बन्धविवक्षा, तत्र
हय्याश्रयकाव्यनाट्ययोर्विभावादिकारणत्वं स्यात् तच्च किञ्चित्स्यात्

हरेरीषच्छ्रुतिविधौ रसास्वादः सतां भवेत् ॥ ७८ ॥

रतेरेव प्रभावोऽयं हेतुस्तेषां तथाकृतौ ॥

माधुर्याद्याश्रयत्वेन कृष्णार्दीस्तनुते रतिः ॥ ७९ ॥

तथाऽनुभूयमानास्ते विस्तीर्णां कुर्वते रतिम् ॥

अतस्तस्य विभादिचतुष्कस्य रतेरपि ॥ ८० ॥

अत्र साहायकं व्यक्तं मिथोऽजस्रमवेक्ष्यते ॥

किन्त्वेतस्याः प्रभावोऽपि वैरूप्ये सति कुञ्चति ॥ ८१ ॥

वैरूप्यं तु विमावादेरनौचित्यमुदीर्यते ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

जातिरतौ तु प्रकारान्तरस्यापि यथा तत्कारणत्वं न तथेत्यर्थः ।

तर्हि कथमारूढभावेषु तत्तदप्रयोजकः स्याद् ? नेत्याह—हरेरिति । ईषच्छ्रुतिविधावपि स्यात्, लोके हर्षशोकादिकारणेभ्यो हर्षशोकादि नियमेन जायते काव्यनाट्ये सर्वेभ्योऽपि सुखमेवेत्यलौकिकत्वं ताभ्यां तत्तदनुभवप्राप्त्यर्थं तु सुतरामेवेति भावः, श्रीहनुमदादीनां नित्यमेव रामायणश्रवणप्रसिद्धेः, “नैषाऽतिदुःसहा क्षुन्मामि”त्यादि श्रीपरिक्षिप्तप्रभृतिवचनात् “तव कथाऽमृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितमि”ति श्रीब्रजदेवीनामभिलाषाच्च, न च ते विना तेषु च तदुत्पात्तिर्न सम्भाव्ये त्याशङ्क्याह—तेषां कारणादीनां तथाकृतौ=विभावत्वादिप्रापणे, हेतुरयं पूर्वोक्तरतेः प्रभाव एव स्यात् ।

तनुते=प्रकाशयति ।

विभादेरिति । विभावोऽत्र श्रीकृष्णः कृष्णभक्ताविशेषश्च तदादेवैरूप्यमनुपयुक्तावस्थत्वम्,

अथ तादृशी रतिरेव प्राचीनभक्तानां भावैः सहार्वाचीनां भावान् साधारण्यमानयति साधारण्यप्रापकेण भावेन येन रसस्थि

अलौकिक्या प्रकृत्येयं सुदुरूहा रसस्थितिः ॥ ८२ ॥

यत्र साधारणतया भावाः साधु स्फुरन्त्यमी ॥

एषां स्वपरसम्बन्धनियमानिर्णयो हि यः ॥ ८३ ॥

साधारण्यं तदेवोक्तं भावानां पूर्वसूरिभिः ॥

तदुक्तं श्रीभरतेन—

“शक्तिरस्ति विभावादेः काऽपि साधारणीकृतौ ॥ ८४ ॥

प्रमाता तदभेदेन स्वं यथा प्रतिपद्यते ॥

दुःखादयः स्फुरन्तोऽपि जातु स्वीयतया हृदि ॥ ८५ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तिरपि तादृशी स्यादित्याह—अलौकिक्येत्यादिना प्रतिपद्यत इतीत्य-
न्तेन, भावा अत्र विभावादयो रत्यादयश्च,

यदुक्तं—

“व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः ।

तत्प्रभावात्परस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः ॥

उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः ।

नृणामपि समुद्रादिलङ्घनादौ न दुष्यति ॥

साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते ।

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ॥

तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते” ॥ इति ।

प्लवनादयः=तादृशचेष्टाः, रत्यादिरपि स्वात्मगतत्वेन ब्रोडाऽऽत-
ङ्कादिर्भवेत् परगतत्वेन रस्यता न स्यादिति भावः, मुनिवाक्ये तु
भेदांशः स्वयमस्येवेत्यभेदांश एव तु विभावादेः शक्तिरिति भावः ।

अन्यामपि सुदुरूहतां दर्शयति—दुःखादय इति द्वाभ्याम्, तादृश्य-
निर्णयेऽपि सति यदा दुःखादयः स्वीयतयाऽपि स्फुरन्ति यदा च सु-

प्रौढानन्दचमत्कारचर्वणामेव तन्वते ॥

पराश्रयतयाऽप्येते जातु भान्तः सुखादयः ॥ ८६ ॥

हृदये परमानन्दसंदोहमुपचिन्वते ॥

सद्भावश्चेद्विभावादेः किञ्चिन्मात्रस्य जायते ॥ ८७ ॥

सद्यश्चतुष्टयाक्षेपात्पूर्णतैवोपपद्यते ॥

रतिः स्थिताऽनुकार्येषु लौकिकत्वादिहेतुभिः ॥ ८८ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

खादयः पराश्रयतयाऽपि स्फुरन्ति तदाऽपीति योज्यं, दुःखादीनां प्रौढानन्दप्रापणं तु दुःखादिशान्तिपूर्वकमायत्यां सुखादयस्तत्र समुद्भूता इति तत्काव्याद्वक्तृमुखाद्वा सङ्केपाच्छ्रुतस्य तच्छ्रवणादिसमयेऽप्यन्तरनुसन्धानं वर्तते एवेति यथा श्रीसीताहरणादावित्यभिप्रायः, तन्न चेद ?

“न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते”—

इति नोपपद्येत,

तस्या रतेरन्यमपि प्रभावं दर्शयति-सदिति । श्रीकृष्णलीलापरिकरगतविभावादेः किञ्चिन्मात्रस्यापि सद्भावश्चेज्जायत आधुनिकतत्त्वसासनभक्तानां हृद्यादिर्भवति तदा विभावानुभावसार्विकसञ्चारिण इति चतुष्टयस्याक्षेपात् स्फोरणात् पूर्णतैवोपपद्यते सिद्ध्यतीत्यर्थः ।

तदेवं मनसा तदनुभवितृणां रसमुपपाद्य साक्षात्तदनुभवितृणां रसमुपपादयिष्यन्नभ्युपगमवादेन विरोधिमतमुत्थापयति-रतिरिति । नात्यज्ञा इत्युपलक्षणं काव्यमात्रज्ञानां, ते च लौकिका एव तेषां रसोत्पत्तौ त्रिविधजनाः परिकराः-दृश्यकव्ये तावदनुकार्या नलादयः, अनुकर्तारो नटाः, तद्द्रष्टारः सामाजिकाः, तथा श्रव्ये च

रसः स्यान्नेति नाट्यज्ञा यदाहुर्युक्तमेव तत् ॥

अलौकिकी चित्तं कृष्णरतिः सर्वाद्भुताद्भुता ॥ ८९ ॥

योगे रसविशेषत्वं गच्छन्त्येव हरिप्रिये ॥

वियोगे त्वद्भुतानन्दविवर्त्तत्वं दधत्यपि ॥ ९० ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

क्रमेण ते श्रोतव्यवक्तृश्रोतारः, तत्रानुकार्यश्रोतव्ययो रसनिष्पत्ति-
न ते मन्यन्ते लौकिकत्वात्पारिमित्याद्भयादिसद्भावाच्च,

न चानुकर्तृवक्त्रोः जीविकाऽर्थं तत्तदनुकरणात्, किन्तु द्रष्टृश्रोत्रां
रसं मन्यन्ते तेषां निबन्धचातुर्येण तत्तच्चरितस्यालौकित्वादिप्राप्तेः,

तत्र च सवासनेष्वेव न च जरन्ममिंसकादिषु तदेतदभ्युपग-
च्छन्नाह-युक्तमेवेति । किन्तु लोकातीतानन्तगुणः श्रीरामसीतादयो-
यन्निजानुकार्यादिषु प्रवेश्यन्ते तत्त्वयुक्तमिति भावः, तयोः कर्तृ-
वक्त्रोर्यदि सवासनत्वं स्यात् तदा तेषां वा कथं न स्यादिति च ।

अथ तत्रैव स्वमतानुकार्यादिष्वपि रसमुपपादयति-अलौकिकी
त्विति । मोक्षानन्दस्यापि तिरस्कारित्वात्सर्वानन्दमूलस्य श्रीभग-
वतोऽप्यानन्दकत्वात्,

सर्वेति । श्रीभगवत्प्रादुर्भावान्तराणां रतितोऽपि परमाधिक्यात्,
तच्च स्वयं श्रीकृष्णेन तद्भक्तवरेण च “यन्मर्त्यलीलौपयिकमि”त्याद्य-
नुभवाद्, हरिप्रिये साक्षादनुभवितरि तल्लीलापरिकरे रतेः परमाश्रये ।

ननु दुःखमथे वियोगे तेषां कथं रसः स्याद् रसस्य परमानन्दम-
यत्वात् ? तत्राह-वियोग इति । अद्भुतानन्दविवर्त्तत्वं स्वतः परमा-
नन्दस्वरूपत्वात् सर्वानन्दमूलश्रीभगवदालम्बनत्वाच्च, प्रगाढार्त्तिम-
राभासत्वं वियोगज्ञानपरिणामदुःखस्य तस्यामध्यासात्, तस्यास्तु
तत्र निमित्तत्वात् तद्दुःखस्यापि दृढप्राप्त्याशया तिरस्कृतत्वा-

तनोत्येषा प्रगाढार्त्तिभराभासत्वमूर्जिता ॥
 तत्रापि बल्लवाधीशनन्दनालम्बना रतिः ॥ ९१ ॥
 सान्द्रानन्दचमत्कारपरमावधिरिष्यते ॥
 यत्सुखौघलवागस्त्यः पिवत्येव स्वतेजसा ॥ ९२ ॥
 रमेशमाधुरीसाक्षात्कारानन्दाविधिमप्यलम् ॥

किञ्च—

परमानन्दतादात्म्याद्रत्यादेरस्य वस्तुतः ॥ ९३ ॥
 रसस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिद्ध्यति ॥
 पूर्वमुक्ताद् द्विधा भेदान्मुख्यगौणतया रतेः ॥ ९४ ॥
 भवेद्भक्तिरसोऽप्येष मुख्यगौणतया द्विधा ॥
 पञ्चधाऽपि रतेरैक्यान्मुख्यस्त्वेक इहोदितः ॥ ९५ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

दिति भावः,

विवर्त्तोऽत्र परीपाकः, तस्याः स्वरूपानन्यथाभावे हेतुः—ऊ-
 र्जितेति । अन्यथाभावे सा त्यज्येतैव न तु त्यक्तुं शक्येतेति, तदुक्तं-
 ब्रजदेवीभिः स्वयमेव “आशा हि परमं दुःखमि”त्याद्यनन्तरं

“तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाऽऽप्याशा दुरत्यये”ति,

तदेवं सामान्यतः श्रीकृष्णरतेः सर्वोत्कर्षमुक्त्वा श्रीमद्व्रजगता
 यास्तु वैशिष्ट्यमाह—तत्रापीति ब्राह्म्यां, यत्सुखौघलवेति । रमेशोऽत्र
 श्रीरुक्मिणीनाथत्वावस्थः स एव, तदेतत्तु “हरिः पूर्णतम” इत्यादौ
 तत्राप्येकान्तिनां श्रेष्ठा” इत्यादौ च सुष्ठु व्याख्यातमेव,

परमानन्दतादात्म्यादिति । परमानन्दोऽत्र इलादिनी शक्तिः
 तत्र रतिस्तन्मूला, कृष्णरूपो विभावस्तु शक्तिशक्तिमतोरेकात्मक-

सप्तधाऽत्र तथा गौण इति भक्तिरसोऽष्टधा ॥

तत्र मुख्यः—

मुख्यस्तु पञ्चधा शान्तः प्रीतिः प्रेयांश्च वत्सलः ॥ ९६ ॥

मधुरश्चेत्यमी ज्ञेया यथापूर्वमनुत्तमाः ॥

अथ गौणः—

हास्योऽद्भुतस्तथा वीरः करुणो रौद्र इत्यपि ॥ ९७ ॥

भयानकः सर्वाभत्स इति गौणश्च सप्तधा ॥

एवं भक्तिरसो भेदाद् द्वयोर्द्वादशधोच्यते ॥ ९८ ॥

वस्तुतस्तु पुराणादौ पञ्चधैव विलोक्यते ॥

श्वेतश्चित्रोऽरुणः शोणः श्यामः पाण्डरं पिङ्गलौ ॥ ९९ ॥

गौरो धूम्रस्तथा रक्तः कालो नीलः क्रमादमी ॥

कपिलो माधवोपेन्द्रौ नृसिंहो नन्दनन्दनः ॥ १०० ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

त्वात्तच्छक्यात्मकः; भक्तरूपो रत्याविष्टः; अनुभावा व्यभिचारिणश्च तदुत्था इति; रत्यादेस्तु तत्तादात्म्यप्राप्तिः; तदेवं परमानन्दतादात्म्याद्= हेतोरित्यर्थः; ततश्च पूर्वदर्शितमोक्षानन्दतिरस्कारिश्चीभगवद्वशीकारि- महानन्दतया वस्तुतो मूलांशविचारे सति स्वप्रकाशत्वं मनआद्यनधी- नप्रकाशत्वमखण्डत्वमनन्यस्फूर्तिमयत्वं च सिद्ध्यतीति विवक्षितम्, अनुत्तमाः=कनिष्ठाः ।

पञ्चधैवेति । हासादीनां व्यभिचारिषु पर्यवसानात् ।

यशसः शुक्लत्ववत्कविसमयानुरूप्येण मनआदीनां चन्द्रादिव- त्तदधिष्ठातृमूर्तिभेदेन वा तेषां रूपमाह-श्वेत इति ।

अत्र भगवत्सम्बन्धिनामेतेषां रसानां चन्द्रादीनामनिरुद्धादि- वदन्तर्यामित्वेन भगवदवतारा एव ज्ञेया इत्याह-कपिलो माधवोपे-

वलः कूर्मस्तथा कल्की राघवो भार्गवः किरिः ॥

बुद्ध इत्येषु कथिताः क्रमाद् द्वादश देवताः ॥ १०१ ॥

पूर्त्तेर्विकाशविस्तारविक्षेपक्षोभतस्तथा ॥

सर्वभक्तिरसास्वादः पञ्चधा परिकीर्तितः ॥ १०२ ॥

पूर्त्तिः शान्ते विकाशस्तु प्रीतादिष्वपि पञ्चसु ॥

वीरेऽद्भुते च विस्तारो विक्षेपः करुणोग्रयोः ॥ १०३ ॥

भयानकेऽथ बीभत्से क्षोभो धीरैरुदाहृतः ॥

अखण्डसुखरूपत्वेऽप्येषामस्ति क्व चित् क्व चित् ॥ १०४ ॥

रसे सुगहनास्वादविशेषः कोऽप्यनुत्तमः ॥

दुर्गमसङ्गमनो ।

न्द्राविति ।

किरिः=बराहः, मीनस्थाने बुद्धो वा पठनीयः, तच्चेष्टाया अ-
रोचकत्वाद् मीनस्य तु सच्चिदानन्दविग्रहत्वात्,

पञ्चस्त्विति हास्यसाहित्याद् युक्तम्, उग्रः=रौद्रः,

तत्र तावत्पञ्चविधा जनाः परामृश्यन्ते भाव्यभक्ता भावक-
भक्ताः प्राज्ञा अज्ञा ग्राम्याश्चेति, तत्र कश्चिदाशङ्कते—ननु वि-
योगे यथा रसता स्थापिता तथा प्रतीयते स्म; किन्तु करुणभयानक-
बीभत्सेषु न प्रतीयते, तत्र करुणे वियोग इव लीलापरिकरलक्षण-
भाव्यभक्तानां तत्प्राप्त्याशया व्यत्ययाद्, भयानके भयेनाच्छादनाद्,
बीभत्से चाहद्यस्फूर्त्या हृद्यकृष्णादिस्फुरणाच्छादनादानन्दस्वरूप-
सप्रतियोगि दुःखमेव स्फुरति, अत एव तदितरेषां भावकभक्तानां-
वैरस्यापत्तिः स्यादिति तत्राह—प्रतीयमाना इति । अज्ञैः=शास्त्रान्तरवि-
ज्ञत्वेऽपि रसशास्त्रानभिज्ञत्वाद्भाव्यभक्तानां तत्तद्रसाक्रान्तचित्तानां-
मर्म बोद्धुमसमर्थैः, तथा ग्राम्यैः=पशुनिर्विशेषैः सपदि तात्कालिक-

प्रतीयमाना अप्यज्ञैर्ग्राम्यैः सपदि दुःखवत् ॥ १०५ ॥

करुणाद्या रसाः प्राज्ञैः प्रौढानन्दमया मताः ॥

अलौकिकविभावत्वं नीतेभ्यो रतिलीलया ॥ १०६ ॥

सदुक्त्या च सुखं तेभ्यः स्यात्सुव्यक्तमिति स्थितिः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

दृष्टिमात्रपारवश्याद् दुःखवत्प्रतीयमाना अपि भाव्यभावकभ-
क्तास्वाद्याः करुणाद्या रसाः प्राज्ञैः रसचर्वणायामसमर्थत्वेऽपि रस-
शास्त्रतात्पर्यविज्ञैः प्रौढानन्दमया मताः ।

तदेवमज्ञान् ग्राम्यांश्च निन्दित्वा रसनिष्पत्तौ प्राज्ञमतेन युक्ति-
दर्शयति-अलौकिकेति । अत्र नीतेभ्यस्तेभ्य इति बहुवचनं स्पष्टतार्थ-
त्रिभिरेकवचनैः पृथक्कृत्य व्याख्येयम् ,

अत्र करुणेऽनिष्टाशङ्कामयत्वाद्वियोगाद्विलक्षणे; "अवलोक्य फ-
णीन्द्रयन्त्रितमि"त्यादिभाव्यभक्तानुभवेन वियोगे वियोगज्ञानज-
मिवाध्यस्तं यदनिष्टाशङ्कामयं दुःखं तन्मयेऽपि रतिलीलया स्वतः
परमानन्दरूपाया रतेलीलया तत्तत्काव्यप्रशस्तभाव्यभक्तेषु सर्व-
ज्ञशतवाग्विश्वस्तितः पूर्वपूर्ववत्प्राप्तिसम्भावनातश्चाशामय्या वृत्त्या
तथा सदुक्त्या भावकभक्तेषु प्रथमसूचितावसानविस्तृतमङ्गलमय्या
सद्रवनारूपया सतां वक्तॄणां तादृगुक्त्या चालौकिकविभावत्वं-
लोकचमत्कारकारिविभावादिस्फूर्तिशालित्वं नीतात्करुणरसात् सुखं-
व्यक्तं स्यादिति स्थितिः रसविदां रसमय्यादेत्यर्थः,

अथ भयानके रतिलीलया तद्वदेवाशामय्या रतेर्वृत्त्या सदुक्त्या
च तादृश्येत्यर्थः,

बीभत्सेऽपि रतिलीलया बीभत्सस्फूर्तिमुपमर्द्य; श्रीकृष्णस्फूर्ति-
कारिण्या सदुक्त्या च तादृश्येत्यर्थः,

यथोक्तं-श्रीरुक्मिणीदेव्या "त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशे"त्यादि ।

तथा च नाट्यादौ—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ॥ १०७ ॥

सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥

सर्वत्र करुणारूपस्य रसस्यैवोपपादनात् ॥ १०८ ॥

भवेद्रामायणादीनामन्यथा दुःखहेतुता ॥

तथात्वे रामपादाऽञ्जप्रेमकल्लोलवारिधिः ॥ १०९ ॥

प्रीत्या रामायणं नित्यं हनुमान् शृणुयात्कथम् ॥

अपि च—

संचारी स्यात्समोना वा कृष्णरत्याः सुहृदतिः ॥ ११० ॥

अधिका पुष्यमाणा चेद्भावोल्लास इतीर्यते ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तत्रास्तां तावदस्माकं सा कथेत्यभिप्रेत्याह—तथा चेति ।

अथ व्यतिरेकेण स्वमतं योजयति—सर्वत्रेति । प्रतिकाण्डं बहुत्रे-
त्यर्थः, उपपादनाद्=व्यञ्जनाद्, दुःखहेतुतेत्यत्र भावकभक्तेष्विति शेषः ।

तत्र भावकेषु मुख्यस्यैकस्य प्रवृत्त्यन्यथाऽनुपपत्तिं प्रमाणयति—
तथात्व इति । दुःखहेतुत्वे सतीत्यर्थः ।

अपि चेति । तदेतत्समाप्तं किञ्चिदन्यदप्युच्यत इत्यर्थः,

सञ्चारी स्यादित्यस्यायमर्थः—सुहृदां निजाभीष्टरसाश्रये भक्तवि-
शेषे श्रीराधिकाऽऽदौ विषये सजातीयभावभक्तानां परस्परं रत्या-
विषयाश्रयरूपाणां ललिताऽऽदीनां सखीमुख्यानामेकतराश्रया या रतिः
सा यदि कृष्णविषयाया रत्याः समा स्यादूना वाऽस्यात् तदा
कृष्णविषयाया रत्याः सञ्चार्याख्य एव भावः स्यात् तन्मूलत्वात्
तत्पोषणत्वाच्च,

एवं मधुराख्ये रसे तु सा यदि क्वचित् कृष्णविषयाया अपि

फलगुवैराग्यनिर्दग्धाः शुष्कज्ञानाश्च हेतुकाः ॥ १११ ॥

मीमांसका विशेषेण भक्त्यास्वादबहिर्मुखाः ॥

इत्येष भक्तिरसिकैश्चोरादिव महानिधिः ॥ ११२ ॥

जरन्मीमांसकाद्रक्ष्यः कृष्णभक्तिरसः सदा ॥

सर्वथैव दुरूहोऽयमभक्तैर्भगवद्रसः ॥ ११३ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

रत्या अधिका तत्रापि पुष्यमाणा सन्तताभिनिवेशेन सम्बर्द्धमाना
स्यात्तदा सञ्चारित्वेऽपि वैशिष्ट्यापेक्षया भावोल्लासाख्यो भाव ईर्य-
त इति, तदिदं त्वत्रानुस्मृत्य लिखितमपि सञ्चारिणामन्ते योजनीय-
तत्रैव सजातीयत्वात्,

अथ पूर्वोक्तानज्ञादीन् रसानधिकारिण आह—फलगुवैराग्येति ।

फलगुवैराग्यम्=भक्त्युदासीनादिवैराग्यं, शुष्कज्ञानं=भक्त्युदासीनादि-
ज्ञानं, हेतुकाः=तर्कमात्रनिष्ठाः, मीमांसकाः=कर्मवादिनः पूर्वमीमांस-
काः, तथा द्वैतमात्रमिथ्यावादिनः केचिदुत्तरमीमांसकम्मन्याः, एषा-
मुत्तरोत्तरं परिहार्यत्वाधिक्यं, तार्किकाणां च केषां चित्तकौतुकेनाधी-
तालङ्कारादीनां रससाधारण्यात्किञ्चिदत्र प्रवेशः स्यादिति मीमांस-
कात् पूर्वत्र पाठः, अत्र ग्राम्याः फलगुवैराग्यनिर्दग्धा, अन्ये त्वज्ञा-
ज्ञेयाः,

यस्मात्सर्वेऽपि मीमांसकाविशेषेण भक्त्यास्वादबहिर्मुखा इति
हेतोरेव कृष्णभक्तिरसो जरन्मीमांसकास्तु सदा विशेषेण रक्ष्यो गो-
प्य इति पूर्वेणान्वयादन्येभ्योऽपि फलगुवैराग्यनिर्दग्धादिभ्यो यथा-
यथं रक्ष्य इति लभ्यते, तत्र “चोरादिव महानिधिरिति” दृष्टान्तस्तु
तेन तद्विकीकरणमात्रापेक्षया न तु तेनापि तस्य लोभ्यत्वमित्यपेक्षया,
बन्धेरिवेति तु पाठान्तरम्, अस्य भक्तिरसस्यास्वादस्तु भाग्यभावकम-
कैरेवास्वाद्यः स्याद् न तु पूर्वोक्तप्राज्ञैरपीत्याह—सर्वथैवेति ।

तत्पदाम्बुजसर्वस्वैर्भक्तैरेवात्र रस्यते ॥

व्यतीत्य भावनावर्त्म यश्चमत्कृतिभारभूः ॥ ११४ ॥

हृदि सत्त्वोज्ज्वले बाढं स्वदते स रसो मतः ॥

भावनायाः पदं यस्तु बुधेनानन्यबुद्धिना ॥ ११५ ॥

भाव्यते गाढसंस्कारैश्चित्ते भावः स कथ्यते ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिणाविभागे भक्तिरससामान्य-
निरूपणे स्थायिभावलहरी ॥ ५ ॥

गोपालरूपशोभां दधदपि रघुनाथभावविस्तारी ॥

तुष्यतु सनातनात्मा दक्षिणभागे सुधाऽम्बुनिधेः ॥ ११६ ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ भक्तिरससामान्यनिरूपणनामा
दक्षिणो विभागः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

अथ कारणकार्याद्यस्तिन्वेन साम्येऽपि रसभावयोर्भेदमाह-व्यती-
त्येति द्वाभ्यां, सत्त्वं भावकारणत्वेन पूर्वमुद्दिष्टं शुद्धसत्त्वविशेषः,
समाधिध्यानयोरिवानयोर्भेद इति भावः ॥ १-११६ ॥

इति पञ्चलहर्यात्मके दक्षिणविभागे स्थायिभावलहरी पञ्चमी ।

इति दुर्गमसङ्गमनीनाम्न्यां श्रीरसामृतसिन्धुटीकायां
दक्षिणो विभागः ।

पश्चिमविभागे

शान्तरसलहरी ।

धृतमुग्धरूपभारो भागवतार्पितपृथुप्रेमा ॥

स मयि सनातनमूर्तिस्तनोतु पुरुषोत्तमस्तुष्टिम् ॥ १ ॥

रसामृताब्धेर्भागेऽत्र तृतीये पश्चिमाभिधे ॥

मुख्यो भक्तिरसः पञ्चविधः शान्तादिरीर्यते ॥ २ ॥

अतोऽत्र पाञ्चविध्येन लहर्यः पञ्च कीर्तिताः ॥

अथामी पञ्च लक्ष्यन्ते रसाः शान्तादयः क्रमात् ॥ ३ ॥

तत्र शान्तभक्तिरसः—

वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः शमिनां स्वाद्यतां गतः ॥

स्थायी शान्तिरतिधीरैः शान्तभक्तिरसः स्मृतः ॥ ४ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

धृतेति पूर्ववत् दिलष्टं; मुग्धादिशब्दानां ह्यर्थत्वाद्, भारोऽत्र सौ-
न्दर्यपक्ष आधिक्यं, स्वनामपक्षे निजोत्सङ्गकलेशकृद्वोढव्य इवेत्यर्थः।

अथामी इति। रसरसवतोरभेदोपचाराद्रसाश्च शान्तादय उच्यन्ते,
स्थायीति स्थायिभावपर्यायः भीमसेनो भीम इतिवत्, ततः स्वलिङ्गं
न त्यजति ततश्च शान्तिरतिरूपः स्थायिभावो वक्ष्यमाणैर्वि-
भावाद्यैः सह मिलित्वा शमिनां शमिभिः कर्तृभिर्यत् स्वाद्यं तद्रूपतां-
गतश्चेच्छान्तभक्तिरसः कावेभिः स्मृतः इत्यर्थः ।

यद्यपि शुद्धायाः सामान्या स्वच्छा शान्तिरिति भेदत्रयमुक्तं;
तथाऽपि शान्तेरेव रसत्वप्रतिपादनं; सामान्याया अस्फुटत्वात् स्व-
च्छायाश्चञ्चलत्वाद्भ्रससामग्रीपरिपोषो न स्यादित्यभिप्रायेण,

प्रायः स्वसुखजातीयं सुखं स्यादत्र योगिनाम् ॥
 किन्त्वात्मसौख्यमघनङ्घ्रनं त्वीशमयं सुखम् ॥ ५ ॥
 तत्रापीशस्वरूपानुभवस्यैवोरुहेतुता ॥
 दासादिवन्मनोज्ञत्वलीलाऽऽदेर्न तथा मता ॥ ६ ॥

तत्रालम्बनाः—

चतुर्थ्युजश्च शान्ताश्च तस्मिन्नालम्बना मताः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

स्वसुखजातीयं=सर्वमूलस्वरूपनिर्विशेषब्रह्मानन्दप्रकारं, प्राय इति ।
 गुणानामपि स्फूर्तैः, सा चात्मारामाश्च मुनय इत्यादेः, ईशमयं=सच्चि-
 दानन्दविग्रहभगवत्स्फूर्तिप्रचुरम् ,

ईशमयत्वमेव विशदयति-तत्र=तेषु स्वसुखजातीयत्वादिष्वपि
 दासादीनामिव तेषामीशस्वरूपानुभवस्य श्रीविग्रहरूपतत्साक्षात्-
 कारस्यैव रसोत्पत्त्यर्थमुरुहेतुता स्याद्, यद्यप्येवं तथाऽपि मनोज्ञत्व-
 लीलाऽऽदेर्गुणस्य; तथा=दासाद्यनुभवप्रकारेण; नोरुहेतुता मता
 किन्तु यथा कथं चिदेवेत्यर्थः,

यथोक्तं तृतीये—

“एवं तदैव भगवानरविन्दनाभः

स्वानां विबुध्य सदतिक्रममार्यहृद्यः ।

तस्मिन् यथा परमहंसमहामुनीना-

मन्वेषणीयचरणौ चलयन् सहश्रीः ॥

तं त्वागतं प्रतिहतौपयिकं स्वपुष्मि-

स्तेऽचक्षताक्षविषयं स्वसमाधिभाग्यम्”

इत्यादि,

अत्र स्वसमाधिभाग्यमित्यनेन पुष्मिरित्यत्र स्वशब्देनोपहृतच्छ-

तत्र चतुर्भुजः--

श्यामाकृतिः स्फुरति चारुचतुर्भुजोऽयमानन्दराशिरखिलात्मतरङ्गसिन्धुः ।

यस्मिन् गते नयनयोः पथि निजिहीते प्रत्यक्पदात्परमहंसमुनेर्मनोऽपि ॥

सच्चिदानन्दसान्द्राङ्ग आत्मारामशिखामणिः ॥ ७ ॥

परमात्मा परं ब्रह्म समो दान्तः शुचिर्वशी ॥

सदा स्वरूपसम्प्राप्तो हतारिगतिदायकः ॥ ८ ॥

विभुरित्यादिगुणवानस्मिन्नालम्बनो हरिः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

त्रचामराद्यौपयिकत्वेन सहश्रीरित्यनेन च तानतिक्रम्य दासादीनां-
मनोज्ञत्वलीलाऽऽद्यनुभवाधिक्यं दर्शितम् ,

श्यामाकृतिरिति तापसशान्तानां वचनम्; उदाहरणं तु ज्ञानिशा-
न्तस्य ज्ञेयम्; उत्तरार्द्धे तस्यैव प्रतिपाद्यत्वाद्, अत्र यद्यपि "यन्मर्त्य-
लीलौपयिकमि"त्यादिबलाद् द्विभुजस्यैव तदाकर्षणसामर्थ्याधिक्य-
मिति तस्यैवालम्बनत्वे मुख्यत्वं युज्यते; उदाहरिष्यते च "प्रयास्य-
ति महत्तप" इत्यादिना;

तथाऽपि "यूयं नृलोके वत भूरिभागा लोकं पुनाना मुनयो-
ऽभियन्ति ।

येषां गृहानावसतीति साक्षाद् गूढं परं ब्रह्म मनुष्यालिङ्गम्"--

इत्युक्तदिशा गूढतया न ते सर्वदा तदनुभवन्तीति चतुर्भुजत्वस्यैव
प्राचुर्येणानुभवात्प्राधान्यं दर्शितं, तथैवोदाहरति-श्यामाकृतिरिति ।
अत्र वर्णस्य प्रथमतो निर्देशाच्चाविति सौन्दर्यस्य च कथनात् तत्र
तत्र चमत्कारातिशयो दर्शितः, अत आलम्बनत्वनिर्देशे "सच्चिदानन्द-
सान्द्राङ्ग"इति यद्वक्ष्यते तदप्येतत्प्राधान्येनैव ज्ञेयम्, अखिला य आत्मा-
नो जीवास्तेषां तरङ्गरूपाणां सिन्धुरूप इत्यात्मपरमात्मनोरंशांशिता-

अथ शान्ताः--

शान्ताः स्युः कृष्णतत्प्रेष्टकारुण्येन रतिं गताः ॥ ९ ॥

आत्मारामास्तदीयाध्वबद्धश्रद्धाश्च तापसाः ॥

तत्रात्मारामाः--

आत्मारामास्तु सनकसनन्दनमुखा मताः ॥ १० ॥

प्राधान्यात्सनकादीनां रूपं भक्तिश्च कथ्यते ॥

तत्र रूपं--

ते पञ्चषाब्दबालाभाश्चत्वारस्तेजसोज्ज्वलाः ।

गौराङ्गा वातवसनाः प्रायेण सहचारिणः ॥

तत्र च भक्तिः--

समस्तगुणवर्जिते करणतः प्रतीचीनतां-

गते किमपि वस्तुनि स्वयमदीपि तावत्सुखम् ॥

न यावदियमद्भुता नवतमालनीलद्युते-

मुकुन्द ! सुखचिद्धना तव बभूव साक्षात्कृतिः ॥

अथ तापसाः--

मुक्तिर्भक्त्यैव निर्विघ्नेत्यात्तयुक्तविरक्तताः ॥ ११ ॥

अनुज्झितमुमुक्षा ये भजन्ते ते तु तापसाः ॥

यथा--

कदा शैलद्रोण्यां पृथुलविटपिक्रोडवसति-

र्वसानः कौपीनं रचितफलकन्दाशनरुचिः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

मात्रतात्पर्यकम्, अखिलात्ममयूखसूर्य इति वा पठनीयं, प्रत्यक्ष-
दाद्=निर्विशेषब्रह्मानुसन्धानाद्, निर्जिहीते=निर्गतं सत्तद्गुणेष्वेवाविष्टं-
भवतीत्यर्थः ।

हृदि ध्यायं ध्यायं मुहुरिह मुकुन्दाभिधमहं—

चिदानन्दं ज्योतिः क्षणसिन्धु विनेष्यामि रजनीः ॥

भक्तात्मारामकरुणाप्रपञ्चेनैव तापसाः ॥ १२ ॥

शान्त्याख्यभावनचन्द्रस्य हृदाकाशे कलां श्रिताः ॥

अथोद्दीपनाः—

श्रुतिर्महोपनिषदां विविक्तस्थानसेवनम् ॥ १३ ॥

अन्तर्दृष्टिविशेषोऽस्य स्फूर्तिस्तत्त्वविवेचनम् ॥

विद्याशक्तिप्रधानत्वं विश्वरूपप्रदर्शनम् ॥ १४ ॥

ज्ञानिभक्तेन संसर्गो ब्रह्मसत्तादयस्तथा ॥

एष्वसाधारणाः प्रोक्ता बुधैरुद्दीपना अमी ॥ १५ ॥

तत्र महोपनिषच्छ्रुतिर्यथा—

अक्लेशाः कमलभुवः प्रविश्य गोष्ठं कुर्वन्तः श्रुतिशिरसां श्रुतिं श्रुतज्ञाः ।

उत्तुङ्गं यदुपुररुङ्गमाप रङ्गं योगीन्द्राः एलकभृतो नवाप्यवरापुः ॥

पादाब्जतुलसीगन्धः शङ्खनादो मुरद्विषः ॥

पुण्यशैलः शुभारण्यं सिद्धक्षेत्रं स्वरापगा ॥ १६ ॥

विषयादिक्षयिष्णुत्वं कालस्याखिलहारिता ॥

इत्याद्युद्दीपनाः साधारणास्त्वेषां किलाश्रितैः ॥ १७ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

मुकुन्दाभिधमिति । स्वभावत एव संसारहरणान्मुकुन्दाभिधं मु-
क्तिदातारं, रजनीरित्युपलक्षणमहोरात्रानित्यर्थः, “त्रिरात्रमपि ये तत्र
वसन्ती”तिवत् तत्त्वविवेचनादित्रयं तापसानां ज्ञेयम् अन्ये तूभयेषा-
मेव, तत्र विद्याशक्तिप्रधानत्वादिद्वयमीश्वरगतं ज्ञेयं, ब्रह्मसत्तामन्यो-
न्यंसमविद्यानामुपनिषद्विचारः,

तत्र पादाब्जतुलसीगन्धो यथा तृतीये--

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्दकिञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।

ॐ न्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥

अथानुभावाः--

नासाग्रन्यस्तनेत्रत्वमवधूतविचेष्टितम् ॥

युगमात्रेक्षितगतिज्ञानमुद्राप्रदर्शनम् ॥ १८ ॥

हरेर्द्विष्यपि न द्वेषो नातिभक्तिः प्रियेष्वपि ॥

सिद्धतायास्तथा जीवन्मुक्तेश्च बहुमानिता ॥ १९ ॥

नैरपेक्ष्यं निर्ममता निरहंकारिता तथा ॥

मौनमित्यादयः शीताः स्युरसाधारणाः क्रियाः ॥ २० ॥

तत्र नासाग्रनयनत्वं यथा--

नासिकाऽग्रदृगयं पुगे मुनिः स्पन्दबन्धुरशिरा विराजते ।

चित्तकन्दरतटीमनाकुलामस्य नूनमवगाहते हरिः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

पादाब्जतुलसीगन्धशङ्खनादस्वरापगा उभयेषाम्, अन्ये तापसानाम् आश्रितैर्दासविशेषैः सह साधारणाः तेषामपि भवन्तीत्यर्थः, तत्र स्वरिति स्वर्गस्यापगा गङ्गेत्यर्थः,

युगं हलाद्यङ्गं तच्च चतुर्हस्तप्रमाणं लक्ष्यते, युगमात्रे यदीक्षितमीक्षणं तेनैव गतिः, ज्ञानमुद्रा=तर्जन्यङ्गुष्ठयोर्युतिः, सिद्धता=अत्यन्त संसारध्वंसः, जीवन्मुक्तिः=शरीरद्वयानावेशेन स्थितिः, एतद्द्वयबहुमानिता तद्भक्त्याभासवतां तापसानां ज्ञेया,

नासिकाऽग्रदृगिति मुनिरिति चात्र तस्यात्मारामत्वं द्योत्यते, तत्र तु स्पन्दबन्धुरशिरा इति विशेषानुभवः, स च श्रीहरिगुणात्मक एव सम्भवति; “आत्मारामाश्च मुनयः” इत्यादेरिति भावः,

जृम्भाऽङ्गमोटनं भक्तेरुपदेशो हरेर्नतिः ॥

स्तवादयश्च दासाद्यैः शीताः साधारणाः क्रियाः ॥ २१ ॥

तत्र जृम्भा यथा--

हृदयाम्बरे ध्रुवन्ते भावाम्बरमणिस्तेति योगीन्द्र ! ।

यदिदं वदनाम्भोजं जृम्भामवलम्बते भवतः ॥

अथ सात्त्विकाः--

रोमाञ्चस्वेदकम्पाद्याः सात्त्विकाः प्रलयं विना ॥

तत्र रोमाञ्चो यथा--

पाञ्चजन्यजनितो ध्वनिरन्तः क्षोभयन् सपदि विद्धसमाधिः ।

योगिनां गिरिगुहानिलयानां पुद्गले पुलकपालिमनैषीत् ॥

एषां निराभिमानानां शरीरादिषु योगिनाम् ॥ २२ ॥

सात्त्विकास्तु ज्वलन्त्येव न तु दीप्ता भवन्त्यमी ॥

अथ सञ्चारिणः--

सञ्चारिणोऽत्र निर्वेदो धृतिर्दृष्टो मतिः स्मृतिः ॥ २३ ॥

विषादोत्सुकताऽऽवेगवितर्काद्याः प्रकीर्त्तिताः ॥

तत्र निर्वेदो यथा--

अस्मिन् सुखघनमूर्त्तौ परमात्मनि वृष्णिपत्तने स्फुरति ।

आत्मारामतया मे वृथा गतो बत चिरं कालः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

एषां श्रीभगवत्समाधौ चेष्टाया ज्ञानान्तरस्य च निराकृतौ प्रलयलक्षणत्वे प्राप्तेऽपि भूनिपतनाद्यभावात् प्रलयं विनेत्युक्तम् ,

पुद्गले=देहे,

“कायो देहः स्त्रियां मूर्त्तिः पुद्गलश्च पुमांस्तनुरि”त्यमरः,

एषामिति । तावदपि श्रीभगवत्सम्बन्धप्रभावादेव भवतीति भावः,

हरि० ४१

अथ स्थायी—

अत्र शान्तिरतिः स्थायी समा सान्द्रा तु सा द्विधा ॥ २४ ॥

तत्राद्या—

समाधौ योगिनस्तस्मिन्नसम्प्रज्ञातनामनि ।

लीलया मयि लब्धेऽस्य बभ्रुवोत्कम्पिनी तनुः ॥

सान्द्रा यथा—

सर्वाविद्याध्वंसतो यः समन्तादाविर्भूतो निर्विकल्पे समाधौ ।

जाते साक्षाद्यादवेन्द्रे स बिन्दन् मय्यानन्दः सान्द्रतां कोटिधाऽऽसीत् ॥

शान्तो द्विधैष पारोक्ष्यसाक्षात्कारविभेदतः ॥

तत्र पारोक्ष्यं यथा—

प्रयास्यति महत्तपः सफलतां किमष्टाङ्गिका-

मुनीश्वर ! पुरातनी परमयोगचर्याऽप्यसौ ।

नराकृतिवराम्बुदद्युतिधरं परं ब्रह्म मे

विलोचनचमत्कृतिं कथय किन्तु निर्मास्यति ॥

यथा वा—

क्षेत्रे कुरोः किमपि सूर्यकरोपरागे सान्द्रं महः पथि विलोचनयोर्यदासीत् ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

समाधौविति श्रीभगवद्वचनम्—

“मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः ।

या संप्रज्ञातनामाऽसौ समाधिरभिधीयते” ॥

सर्वेति । ज्ञानित्वात्परमगम्भीरस्याप्यस्य कण्ठोक्तीकृतनिजानन्दतया चापलाभिष्यक्तेः पूर्वस्मादाधिक्यमेव व्यक्तं, जात इति । स एवानन्दः साक्षाज्जाते यादवेन्द्रेऽधिकरणे तदीयरूपगुणलीलाऽनुभवान्मयि कोटिधा सान्द्रतां विज्ञानसान्द्रतया प्रकाशमान आसीदित्यर्थः, सान्द्रं महः पथीति; यदासीदिति; द्युतिजयीत्येत एव पाठास्त्विष्टाः,

तन्नीरदद्युतिजयि स्मरदुत्सुकं मे न प्रत्यगात्मनि मनो रमते पुरेव ॥

साक्षात्कारो यथा—

परमात्मतयाऽतिमेदुराद् वत साक्षात्करणप्रसोदतः ।

भगवन्नधिकं प्रयोजनं कतरद् ब्रह्मविदोऽपि विद्यते ॥

यथा वा—

दृष्टः कम्बुपतिस्वनैर्भुवि लुठचीराञ्चलः सञ्चल-

न्सूर्वा रुद्धदृगश्रुभिः पुलकितो द्रागेप लीनव्रतः ।

अक्षणोरङ्गनमञ्जनत्विपि परब्रह्मण्ययाप्ते मुदा

मुद्राभिः प्रकटीकरोत्ययमतिं योगी स्वरूपस्थितौ ॥

भवेत्कदा चित्कुत्रापि नन्दमूनोः कृपाभरः ॥ २५ ॥

प्रथमं ज्ञाननिष्ठोऽपि सोऽत्रैव रतिमुद्वहेत् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

हे भगवन् ! सर्वातीतानन्तगुणसम्पन्न ! तव साक्षात्करणानन्दादधिकं प्रयोजनं ब्रह्मणः परमवृहन्निर्विशेषानन्दस्वरूपस्य योऽनुभवी-
तस्यापि कतरद्विद्यते ?

ननु ब्रह्म तावत्सर्वेषां स्वरूपं; स्वरूपस्यैव सर्वतः प्रेष्टत्वेन तत्साक्षात्कारस्यैव सर्वतः प्रीत्यास्पदत्वात्कृतं गुणमयसाक्षात्कर-
णेन ? तत्राह—परंरति । आत्मा सर्वेषां स्वरूपं यद् ब्रह्म ततोऽपि तव परमतयाऽतिमेदुराद् “ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहमि”ति श्रीभगवद्गी-
तोपनिषद्भ्यः; “कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमाखिलात्मनामि”ति श्रीशु-
क्वाक्याञ्च,

अश्रुमी रुद्धदृगिति योऽयं, लीनं नष्टं व्रतं तत्तन्नियमो यस्य,

तत्र श्रीमन्नन्दसूनुरूपस्य तस्य कृपाऽतिशये तु परमोत्कर्षमाह—
भवेदिति । अत्र श्रीनन्दसूनावेव रतिमुच्चैर्बहेत तद्योग्यां शान्तिमपि
रतिमतिक्रम्य रतिविशेषं वहतीत्यर्थः ।

यथा विल्वमङ्गलस्तवे--

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वानन्दसिंहासनलब्धदीक्षाः ।

शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन ॥

तत्कारुण्यश्लथीभूतज्ञानसंस्कारसन्ततिः ॥ २६ ॥

एष भक्तिरसानन्दनिपुणः स्याद्यथा शुकः ॥

शमस्य निर्विकारत्वान्नाट्यज्ञैर्नैष मन्यते ॥ २७ ॥

शान्त्याख्याया रतेरत्र स्वीकारान्न विरुध्यते ॥

शमो मन्निष्ठता बुद्धेरिति श्रीभगवद्वचः ॥ २८ ॥

तन्निष्ठा दुर्घटा बुद्धेरेतां शान्तिरतिं विना ॥

केवलशान्तोऽपि श्रीविष्णुधर्मोत्तरे यथा--

नास्ति यत्र सुखं दुःखं न द्वेषो न च मत्सरः ॥ २९ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

अद्वैतेति शाब्दं ज्ञानमुक्तं; स्वानन्देति त्वनुभवपर्यन्तं; स्वानन्द-
एव सिंहासनं तत्र लब्धा दीक्षा पूजा यैरित्यर्थः; दीक्ष मौण्ड्यैत्यादि-
धातुगणाद्, व्याजस्तुतिरियम्,

अत्रार्थमपि प्रमाणमाह-तदिति । श्रीशुकेन हि सर्वोत्तमप्रेमतया
ब्रजवासिमात्रं निरूप्य तत्रापि कुत्र चित्परमोत्कर्षो दर्शितः,
अत्रेति । केवलः शान्तो रसस्तैर्विरुध्यतां नाम; अत्रास्मत्सम्भते तु
शान्तरसे तैर्विरोद्धुं न शक्यत इत्यर्थः; तत्र हेतुमाह-शान्त्येति ।
श्रीभगवद्रतिमात्रस्य रसत्वं पूर्वमेव हि स्थापितमिति भावः; तत्र हि
कार्यद्वारा रतिरूपं कारणं लक्ष्यत इत्याह-तन्निष्ठेति । तथाऽपि सामा-
न्यायामेव रतौ लब्धायां विशेषेऽत्र प्रवृत्तिः प्रसिद्धशमप्राचुर्यार्थपर्य-
वसीयते,

अथ केवलशान्ताख्ये रसे विवदमानानां मतनिरासेन कैमुत्या-

समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः ॥
 सर्वथैवमहङ्काररहितत्वं व्रजन्ति चेत् ॥ ३० ॥
 अत्रान्तर्भावमहन्ति धर्मवीरादयस्तदा ॥
 धृतिस्थायिनमेके तु निर्वेदस्थायिनं परे ॥ ३१ ॥
 शान्तमेव रसम्पूर्वे प्रोचुरेकमनेकधा ॥
 निर्वेदो विषये स्थायी तत्त्वज्ञानोज्ज्वलः स चेत् ॥ ३२ ॥
 इष्टानिष्टवियोगासिद्धस्तु व्यभिचार्यसौ ॥

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ पश्चिमविभागे मुख्यभक्तिरस-
 पञ्चकनिरूपणे शान्तभक्तिरसलहरी ॥ १ ॥

अथ प्रीतभक्तिरसः ।

श्रीधरस्वामिभिः स्पष्टमयमेव रसोत्तमः ॥
 रङ्गप्रसङ्गे सप्रेमभक्तिकाव्यः प्रकीर्तितः ॥ १ ॥
 रतिस्थायितया नामकौमुदीकृद्भिरप्यसौ ॥
 शान्तत्वेनायमेवाद्धा सुदेवाद्यैश्च वर्णितः ॥ २ ॥
 आत्मोचितैर्विभावाद्यैः प्रीतिराश्वादनीयताम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

दात्ममतं स्थापयति-केवलं शान्तोऽपि श्रीविष्णुधर्मोत्तरे यथेति,
 धर्मवीरादयो=धर्मदयादानवीराः ।

इति पञ्चलहरीार्त्तिके पश्चिमविभागे शान्तभक्तिरसलहरी प्रथमा ।

नीता चेतासि भक्तानां प्रीतभक्तिरसो मतः ॥ ३ ॥

अनुग्राह्यस्य दासत्वाल्लाल्यत्वादप्ययं द्विधा ॥

भिद्यते सम्भ्रमप्रीतो गौरवप्रीत इत्यपि ॥ ४ ॥

तत्र सम्भ्रमप्रीतिः—

दासाभिमानिनां कृष्णे स्यात् प्रीतिः सम्भ्रमोत्तरा ॥

पूर्ववत् पुष्यमाणोऽयं सम्भ्रमप्रीत उच्यते ॥ ५ ॥

तत्रालम्बनाः—

हरिश्च तस्य दासाश्च ज्ञेया आलम्बना इह ॥

तत्र हरिः—

आलम्बनोऽस्मिन् द्विभुजः कृष्णो गोकुलवासिषु ॥ ६ ॥

अन्यत्र द्विभुजः क्वापि कुत्राप्येष चतुर्भुजः ॥

तत्र व्रजे यथा—

नवाम्बुधरबन्धुरः करयुगेन वक्त्राम्बुजे-

निधाय मुरलीं स्फुरन् पुरटनिन्दिपट्टाम्बरः ।

शिखण्डकृतशेखरः शिखरिणस्तटे पठ्यन्

प्रभुर्दिविःदिवौकसो भुवि धिनोति नः किङ्करान् ॥

अन्यत्र द्विभुजो यथा—

प्रभुरयमनिशं पिशङ्गवासाः करयुगभागरिकम्बुरम्बुदाभः ।

नवघन इव चञ्चलापिनद्धो रविशशिमण्डलमण्डितश्चकास्ति ॥

चतुर्भुजो यथा ललितमाधवे—

चञ्चत्कौस्तुभकौमुदीसमुदयः कौमोदकीचक्रयोः

सख्येनोज्ज्वलितैस्तथा जलजयोराढ्यश्चतुर्भिर्भुजैः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

चञ्चदिति । श्रीदारुकावयम्, एष इति । वैकुण्ठनाथादपि चम-

दिव्यालङ्करणेन सङ्कटतनुः सङ्गी विहङ्गेशितु-
 मां व्यस्मारयदेष कंसविजयी वैकुण्ठगोष्ठीश्रियम् ॥
 ब्रह्माण्डकोटिधामैकरोमकूपः कृपाऽम्बुधिः ॥ ७ ॥
 अविचिन्त्यमहाशक्तिः सर्वसिद्धिनिषेवितः ॥
 अवतारावलीबीजं सदात्मारामहृद्गुणः ॥ ८ ॥
 ईश्वरः परमाराध्यः सर्वज्ञः सुहृद्व्रतः ॥
 समृद्धिमान् क्षमाशीलः शरणागतपालकः ॥ ९ ॥
 दक्षिणः सत्यवचनो दक्षः सर्वशुभङ्करः ॥
 प्रतापी धार्मिकः शास्त्रचक्षुर्भक्तसुहृत्तमः ॥ १० ॥
 वदान्यस्तेजसा युक्तः कृतज्ञः कीर्तिसंश्रयः ॥
 वरीयान् बलवान् प्रेमवश्य इत्यादिभिर्गुणैः ॥ ११ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

त्कारकरत्वेन मयाऽनुभूयमान इत्यर्थः, व्यस्मारयदित्यनेन च प्रस्तु-
 तानां सामग्रीणां वैकुण्ठसामग्रीभ्यो विलक्षणत्वं ध्वनितम् ।

ब्रह्माण्डकोटिधामैकरोमकूप इति । “न चान्तर्न बहिर्यस्ये”त्यादि-
 प्रमाणेन मध्यमपरिमाणत्वेऽप्यविचिन्त्यशक्त्या परमविभुविग्रह इत्यर्थः,
 तत्सम्बन्धस्तु तत्र नास्तीति स्वयमेव “मया ततमिदं सर्वं जगद-
 व्यक्तमूर्त्तिने”त्यादिना व्यञ्जितमेव, स च पुरुषेणैव तत्सम्बन्धाभासो-
 न तु स्वयं भगवतेति,

यथोक्तं श्रीदशमे—

“यस्यांशांशांशभागेन विश्वस्थित्यप्ययोदयाः”,

इति, टीका च—यस्यांशः पुरुषः तस्यांशो मायेत्यादिका, तदेवमा-
 दिकगुणवत्ता च तस्य न सर्वत्र सर्वा स्फुरति किन्तु यथाविभाग-

युतश्चतुर्विधेष्वेष दासेष्वालम्बनो हरिः ॥

अथ दासाः--

दासास्तु प्रश्रितास्तस्य निदेशवशवर्तिनः ॥ १२ ॥

विश्वस्ताः प्रभुताज्ञानविनम्रितधियश्च ते ॥

यथा--

प्रभुरयमखिलैर्गुणैर्गरीयानिह तुलनामपरः प्रयाति नास्य ।

इति परिणतनिर्णयेन नम्रान् हितचरितान् हरिसेवकान् भजध्वम् ॥

चतुर्द्धाऽमी अधिकृताश्रितपारिषदानुगाः ॥ १३ ॥

तत्राधिकृताः--

ब्रह्मशङ्करशक्राद्याः प्रोक्ता अधिकृता बुधैः ॥

रूपं प्रसिद्धमेवैषां तेन भक्तिरुदीर्यते ॥ १४ ॥

यथा--

दुर्गमसङ्गमनी ।

मेव यथा प्रथमोऽयं गुणोऽधिकारिविशेषाश्रितः तापसेष्वेवेति ।

प्रश्रितानतदृष्टित्वादिना स्थिताः; निदेशे स्वस्वयोग्यकर्मणि या श्रीकृष्णस्याज्ञा तत्र यो वश इच्छा स्वत एव रुचिः तत्र वर्त्तितुं शीलं येषां ते तथा, वशः कान्तावित्यमरः, तदेतल्लक्षणाऽनुसाराद्बुद्धिवृत्त्या दासत्वेनाशब्दमानाः श्रीकृष्णगौरवविषया विप्रादयोऽपि योगवृत्त्या गणयिष्यन्ते, दास्यते दीयते कृपया वाञ्छितं सम्पाद्यते येभ्य इति निरुक्तेः, दासृ दाने यथा चात्र प्रमाणाकृतं भाषावृत्तौ “गुणिनां ब्राह्मणो दास” इति,

किन्त्वेते नित्यसिद्धाः साधनसिद्धाश्चेत्युभये लीलापरिकरास्ताः दशभाववाञ्छकाश्चेति भेदेन तत्र तत्र ज्ञेयाः ।

कः पथ्येत्यस्मिन्नेकं हरिमवकलयन् कम्पते कः शिवोऽसौ-
तं कः स्तौत्येष धाता प्रणमति विलुठन्कः शिवो वासवोऽयम् ।
कः स्तब्धो हस्यतेऽद्धा दनुजभिदनुजैः पूर्वजोऽयं ममेत्थं-
कालिन्दी जाम्बवत्यां त्रिदशपरिचयं जालरन्ध्राद् व्यतानीत् ॥

ते शरण्या ज्ञानिचराः सेवानिष्ठास्त्रिधा श्रिताः ॥

यथा--

के चिद्धीताः शरणमभितः संश्रयन्ते भवन्तं-
विज्ञातार्थास्त्वदनुभवतः प्रास्य के चिन्मुमुक्षाम् ॥
श्रावं श्रावं तव नवनवां माधुरीं साधुवृन्दाद्
वृन्दाऽरण्योत्सव ! किल वयं देव ! सेवेमहि त्वाम् ॥

तत्र शरण्याः--

शरण्याः कालियजरासन्धवद्धनृपादयः ॥ १५ ॥

यथा--

अपि गहनागसि नागे प्रभुवर ! मय्यदभुताऽद्य ते करुणा ।
भक्तैरपि दुर्लभया यदहं पदमुद्रयोज्ज्वलितः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

अधिकृता इति । श्रीकृष्णनाधिकृत्य स्थापिता इत्यर्थः, उदाहरणं-
च-केति ।

पथ्येति=प्रदक्षिणीकरोति, स्तब्धः=स्तम्भाख्यसात्त्विकेन युक्तः,
पूर्वज इति । तदानीं मन्वन्तरस्थायिमनुशरीरप्रविष्टस्यार्थस्पर्शोऽपि
तद्रूपत्वेनैव व्यवहारात् ।

के चिद्धीता इत्यादौ भूत एव निष्ठा न तु वर्तमाने; सम्प्राति
ह्येषामन्यामिलाषिताश्चान्यत्वमेव वक्तव्यं शुद्धभक्तेषु गणनाद्, मुमु-
क्षामित्युपलक्षणं; तेन शान्तिरतिहेतुज्ञानत्यागोऽपि लभ्यते; अत-
एव ज्ञानिचरा इति भूतपूर्वत्वं ज्ञानस्यापि दर्शितम्, अत्र च मध्य-

यथा वाऽपराधभञ्जने--

कामादीनां कति न कतिधा पालिता दुर्निदेशा-

जाता तेषां मयि न करुणा न त्रपा नोपशान्तिः ।

उत्सृज्येतानथ यदुपते ! साम्प्रतं लब्धबुद्धि-

स्त्वामायातः शरणमभयं मां नियुङ्क्ष्वात्मदास्ये ॥

अथ ज्ञानिचराः--

ये मुमुक्षां परित्यज्य हरिमेव समाश्रिताः ॥

शौनकप्रमुखास्ते तु प्रोक्ता ज्ञानिचरा बुधैः ॥ १६ ॥

यथा हरिभक्तिसुधोदये--

ऐहो महात्मन् ! बहुदोषदुष्टोऽप्येकेन भात्येष भवो गुणेन ।

सत्सङ्गमारुयेन सुखावहेन कृताऽद्य नो येन कृशा मुमुक्षा ॥

यथा वा पद्यावल्यां--

ध्यानातीतं किमेपि परमं ये तु जानन्ति तत्त्वं-

तेषामास्तां हृदयकुहरे शुद्धचिन्मात्रमात्मा ।

अस्माकं तु प्रकृतिमधुरः स्मेरवक्त्रारविन्दो-

मेघश्यामः कनकपरिधिः पङ्कजाक्षोऽयमात्मा ॥

अथ सेवानिष्ठाः--

मूलतो भजनासक्ताः सेवानिष्ठा इतीरिताः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

मान्तिमाधिकारिणामन्योन्यभेद ऐश्वर्यमाधुर्यानुभवाभ्यां ज्ञेयः,
भीता इति त्वद्भक्तिव्यतिरिक्तात् सर्वस्मादपि भययुक्ता इत्यर्थः,
त्वदनुभवतो विज्ञातार्था इति । ब्रह्मानुभवत्वदनुभवयोर्ज्ञाततारतम्या-
इत्यर्थः, तदिदं सहजतदास्यरतेः साधकभक्तस्य वचनमात्मनः सार्व-
दिकानन्यगतित्वनिवेदनाय ।

ध्यानातीतमिति पूर्वार्द्धे हेयत्वविवक्षया ज्ञातस्याप्यज्ञातवन्नि-

चन्द्रध्वजो हरिहयो बहुलाश्वस्तथा नृपः ॥ १७ ॥

इक्ष्वाकुः श्रुतदेवश्च पुण्डरीकादयश्च ते ॥

यथा—

आत्मारामानपि गमयति त्वद्गुणो गानगोष्ठी-
शून्योद्याने नयति विहगानप्यलं भिक्षुचर्याम् ।
इत्युत्कर्षं कमपि सचमत्कारमाकर्ण्य चित्र-
सेवायां ते स्फुटमवहर ! श्रद्धया गर्दितोऽस्मि ॥

अथ पारिषदाः—

उद्धवो दारुको जैत्रः श्रुतदेवश्च शत्रुजित् ॥ १८ ॥

नन्दोपनन्दभद्राद्याः पार्षदा यदुपत्तने ॥

नियुक्ता सन्त्यमी मन्त्रसारथ्यादिषु कर्मसु ॥ १९ ॥

तथाऽपि क्वाप्यवसरे परिचर्यां च कुर्वते ॥

कौरवेषु तथा भीष्मपरीक्षिद्विदुरादयः ॥ २० ॥

तथां रूपं यथा—

सरसाः सरसीरुहाक्षवेपास्त्रिदिवेशावलिजैत्रकान्तिलेशाः ।
यदुवीरसभासदः सदाऽमी प्रचुरालङ्कारणोज्ज्वला जयन्ति ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

हंशात्, पङ्कजाक्षोऽयमात्मेति परमेशितृत्वात्परमाप्रियत्वाच्च ।

शून्येति । निर्जन उद्याने वर्त्तमानाद् विहगसदृशांस्तपस्विनोऽपि
भिक्षुचर्यां त्वद्गुणगानश्रवणेच्छया तद्गानसभायां भिक्षोरिव चर्या-
नयति, यद्वा शून्योद्यान इत्यावेशात्प्रौढिवचनम्,

“जनस्थाने शून्ये करुणकरुणैराय्यचरितै-

रपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयमि”तिवत्,

श्रुतदेवशत्रुजितावपि प्रथमस्कन्धे प्रोक्तावत्र ज्ञेयौ, परिचर्याऽत्र

भक्तिर्यथा—

शंसन् धूर्जटिनिर्जयादिविरुद्धं बाष्पावरुद्धाक्षरं-

शङ्कापङ्कलवं मदादगणयन् कालाग्निरुद्रादपि ।

त्वय्येवार्पितशुद्धिरुद्धवसुखस्त्वत्पार्षदानां गणो-

द्वारि द्वारवतीपुरस्य पुरतः सेवोत्सुकस्तिष्ठति ॥

एतेषां प्रवरः श्रीमानुद्धवः प्रेमाविकलवः ॥

तस्य रूपं यथा—

कालिन्दीमधुरत्विपं मधुपतेर्मालयेन निर्मालयतां-

लब्धेनाञ्जितमम्बरेण च लसद्गोरोचनारोचिषा ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

स्वस्वयोग्यानुगतिः,

शंसन्निति । इन्द्रप्रस्थं गतं श्रीकृष्णं प्रति कस्य चिद्वचनं, शंसन् प्रशंसन् शङ्कैव पङ्कम् उद्वेगदायित्वात् तस्य लवमप्यगणयन् सोऽपि नास्तीति निश्चित्वन्नित्यर्थः, यद्वा शङ्कैव पङ्कलवो यस्मिन् स शङ्कापङ्कलवः=ईषच्छङ्कमान इत्यर्थः,

ततश्च-

“समस्तस्यासमस्तेन नित्यापेक्षेण संगति”रि-

नित्यायेन कालाग्निरुद्रादपि शङ्कापङ्कलवो यो भगवद्भक्तजनः तमपि मदाद् भगवदाश्रयमाहात्म्यगर्वाद् अगणयन् भगवदाश्रये सति तदाभासोऽपि नोचित इत्यतो न बहु मन्वान इत्यर्थः, तदेवमेव पूर्वभ्यो जगत्यधिकृतेभ्य एषां विशेषो दर्शितः, द्वारवतीपुरस्य पुरतो-द्वारि सर्वाग्रिमद्वारे,

प्रेमाविकलवः=प्रेमपरवशः, “कलव भय” इति घटाद्यात्मनेपदित्वेन वोपदेवः, “विकलवो विह्वल” इति विशेषनिघ्नवर्गः, तत्र “विकलवते कातरीभवती”ति क्षीरस्वामी, “भयाद्यभिभूते द्वयमि”ति टीकान्तराणि

द्वन्द्वेनार्गलछन्दरेण भुजयोः भ्राजिष्णुमन्त्रेक्षणं-
मुख्यं पारिपदेषु भक्तिलहरीरुद्धं भजान्मुद्ववम् ॥

भक्तिर्यथा—

मूर्द्धन्याहुकशासनं प्रणयते ब्रह्मेशयोः शासिता
सिन्धुं प्रार्थयते भुवं तनुतरां ब्रह्माण्डकोटीश्वरः ।
मन्त्रं पृच्छति मामपेशलधियं विज्ञानवारां निधि-
विक्रीडत्यसकृद्विचित्रचरितः सोऽयं प्रभुर्माहेशम् ॥

अथानुगाः—

सर्वदा परिचर्यासु प्रभोरासक्तचेतसः ॥ २१ ॥
पुरस्थाश्च ब्रजस्थाश्चेत्युदिता अनुगा द्विधा ॥

तत्र पुरस्थाः—

सुचन्द्रो मण्डनः स्तम्बः सुतम्बाद्याः पुरानुगाः ॥ २२ ॥
एषां पार्षदवत्प्रायो रूपालंकरणादयः ॥

सेवा यथा—

उपरिकनकदण्डं मण्डनो विस्तृणीते
ध्रुवति किल सुचन्द्रश्चामरं चन्द्रचारुम् ।
उपहरति स्तम्बः स्रष्टु ताम्बूलवीर्यं-
विदधति परिचर्यां साधवो माधवस्य ॥

अथ ब्रजस्थाः—

रक्तकः पत्रकः पत्री मधुकण्ठो मधुव्रतः ॥ २३ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

ततश्च भयेनात्र पारवश्यं लक्ष्यत इति, एवमेव “इति विकलवितं-
तासामि”त्यत्र स्वामिभिः “पारवश्यप्रलपितमि”ति व्याख्यातम्,
विक्रीडतीति व्याजेन तस्य विनयमेव व्यनक्ति स्म,

रसालः सुविलासश्च प्रेमकन्दो मरन्दकः ॥

आनन्दश्चन्द्रहासश्च पयोदो वकुलस्तथा ॥ २४ ॥

रसदः शारदाद्याश्च व्रजस्था अनुगा मताः ॥

एषां रूपं यथा—

मणिमयवरमण्डनोज्ज्वलाङ्गान्

पुरटजयामधुलिट्पटीरभासः ।

निजवपुरनुरूपदिव्यवस्त्रान्

व्रजपतिनन्दनकिङ्कुरान्नमामि ॥

सेवा यथा—

द्रुतं कुरु परिष्कृतं वकुल ! पीतपट्टांशुकं-

वरैरगुरुभिर्जलं रचय वासितं वारिद ! ।

रसाल ! परिकल्पयोरगलतादलैर्बीटिकाः

परागपटली गवां दिशमरुन्ध पौरन्दरीम् ॥

व्रजानुगेषु सर्वेषु वरीयान् रक्तको मतः ॥ २५ ॥

अस्य रूपं यथा—

रम्यपिङ्गपटमङ्गरोचिषा खर्वितोरुशतपर्विकारुचिम् ।

छष्टु गोष्ठयुवराजसेविनं रक्तरुण्डमनुयामि रक्तयम् ॥

भक्तिर्यथा—

गिरिविरभृति भर्तृदारकेऽस्मिन् व्रजयुवराजतया गते प्रसिद्धिम् ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

शतपर्विका=दूर्वा, रक्तः=रागविद्यानिपुणः कण्ठो यस्य तम्
अनुयामि=अनुगतो भवामि ।

निजेशित्रा कदाऽपि सखिवह्न्यवह्नियमाणं स्वं संकुचद्भावं वीक्ष्य
विजने पृच्छन्तं रसदं प्रति स्वयमेवाह-गिरीति । रता=आविष्टा,

शृणु रसद ! सदा पदाभिलेवापटिमरता रतिरुत्तमा ममास्तु ॥

धुर्य्यो धीरश्च वीरश्च त्रिधा पारिषदादिकः ॥

तत्र धुर्य्यः—

कृष्णेऽस्य प्रेयसीवर्गे दासादौ च यथायथम् ॥ २६ ॥

यः प्रीतिं तनुते रक्तः स धुर्य्य इति कीर्त्यते ॥

यथा—

देवः सेव्यतया यथा स्फुरति मे देव्यस्तथाऽस्य प्रियाः

सर्वः प्राणसमानतां प्रचिनुते तद्भक्तिभाजां गणः ।

स्मृत्वा साहसिकं बिभेमि तदहं भक्ताभिमानोन्नतं-

प्रीतिं तत्प्रणते खरेऽप्यविदधद्यः स्वास्थ्यमालम्बते ॥

अथ धीरः—

आश्रित्य प्रेयसीमस्य नातिसेवापरोऽपि यः ॥ २७ ॥

तस्य प्रसादपात्रं स्यान्मुख्यं धीरः स उच्यते ॥

यथा—

कमपि पृथगनुचैर्नाचरामि प्रयत्नं-

यदुकुलकमलार्क ! त्वत्प्रसादश्रियेऽपि ।

समजनि ननु देव्याः पारिजातार्चितायाः

परिजनलिखनान्तःपातिनी मे यदाख्या ॥

अथ वीरः—

कृपां तस्य समाश्रित्य प्रौढां नान्यमपेक्षते ॥ २८ ॥

अतुलां यो वहन् कृष्णे प्रीतिं वीरः स उच्यते ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

पारिषदादिक इति । पार्षदा अनुगाश्चेत्युभयोर्गण इत्यर्थः ।

कमपीति । सत्यभामायाः पित्रा तदनुगततया दत्तस्य तद्वात्रीपु-

यथा—

प्रलम्बरिपुरीश्वरो भवतुं कां कृतिस्तेन मे
कुमारमकरध्वजादपि न किञ्चेदास्ते फलम् ।
किमन्यदहमुद्धतः प्रभुकृपाकटाक्षश्रिया
प्रियापरिपदग्रिमां न गणयामि भामामपि ॥

चतुर्थं च—

जगज्जनन्यां जगदीश ! वैशसं-
स्यादेव यत् कर्मणि नः समीहितम् ।
करोपि फलवप्युरु दीनवत्सलः
स्व एव धिष्णेऽभिरतस्य किं तथा ॥

एतेषु तस्य दासेषु त्रिविधेष्वश्रितादिषु ॥ २९ ॥

नित्यसिद्धाश्च सिद्धाश्च साधका अपि कीर्तिताः ॥

अथोद्दीपनाः—

अनुग्रहस्य संप्राप्तिस्तस्याङ्घ्रिरजसां तथा ॥ ३० ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

त्रस्यात एव श्रीकृष्णमनु स्निग्धश्यालायमानस्य नर्मप्रायया सेवया
तं सुखयतः कस्य चिद्वचनम् ; अत एव रसावहमिदं स्यात् , कमपि-
कं चिदपि, अनुच्चैः=स्वलपमपि,

प्रलम्बेति । अस्य तत्र तत्रान्तःसरसत्वेऽपि प्रणयकौतुकविशेषेणैव
वहिर्गर्वव्यञ्जना ज्ञेया, सर्वथा तद्भावत्वे वैरस्यापत्तेः, एवमुत्तरत्र
“जगज्जनन्यामि”त्यादावपि ज्ञेयम्, वक्ष्यते च—“ईर्ष्यालवेने”त्यादि,
तदेतच्च सत्यभामायाः कं चिदन्तरङ्गं प्रति रहसि वीरभक्तस्य वचनं,
स्पष्टवचनत्वे प्रलम्बरिपुमप्यतिक्रम्य सत्यभामाधिक्यव्यञ्जनायां-
श्रीकृष्णस्य लज्जा स्यादिति,

एतेष्विति । तद्वदधिकृतेष्वपि भेदा इमे ज्ञेयाः, तथा शान्तादिष्वपि,

श्रुक्तावशिष्टभक्तादेरपि तद्भक्तसंगतिः ॥

इत्यादयो विभावाः स्युरेष्वसाधारणा मताः ॥ ३१ ॥

तत्रानुग्रहसंप्राप्त्यर्था—

कृष्णस्य पश्यत कृपां कृपाद्याः ! कृपणे मयि ।

ध्येयोऽसौ निधने हन्त दृशोरध्वानमभ्यगात् ॥

मुरलीशृङ्गयोः स्वानः स्मितपूर्वावलोकनम् ॥

गुणोत्कर्षश्रुतिः पद्मपदाङ्गनवनीरदाः ॥ ३२ ॥

तदङ्गसौरभाद्यास्तु सर्वैः साधारणा मताः ॥

तत्र मुरलीस्वनो यथा विदग्धमाधवे—

सोत्कण्ठं मुरलीकलापरिमलानाकर्ण्य धूर्णत्तनो-

रेतस्याक्षिसहस्रतः सरपतेरश्रूणि सस्नुर्भुवि ।

चित्रं वारिधरान् विनाऽपि तरसा यैरद्य धारामयै-

दूरात्पश्यत देवमातृकमभूद् वृन्दाटवीमण्डलम् ॥

अथानुभावाः—

सर्वतः स्वनियोगानामाधिक्येन परिग्रहः ॥ ३३ ॥

ईर्ष्यालवेन चास्पृष्टा मैत्री तत्प्रणते जने ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

अनुग्रहसंप्राप्त्यादीनामुद्दीपनत्वं बत्सलेषु न संभवत्येव,

सभयभेदेन कुत्र चिदन्यत्रापीत्यसाधारणत्वं ज्ञेयं, तद्भक्तिसङ्ग-
तिस्तु विशेषविवक्षयैव गणिता,

कृष्णेति भीष्मवचनम्,

स्मितेत्यत्र गुणेत्यत्र पदाङ्केत्यत्र च तदीयत्वं गम्यम्,

देवमातृकम्=वृष्ट्यम्बुपालितम्,

४३ हरि०

तन्निष्ठताऽऽद्याः शीताः स्युरेष्वसाधारणाः क्रियाः ॥३४॥

तत्र स्वनियोगस्य सर्वत आधिक्यं यथा—

अङ्गस्तम्भारम्भमुत्तुङ्गयन्तं प्रेमानन्दं दासको नाभ्यनन्दत् ।

कंसारातेर्बीजने येन साक्षादक्षोदीयानन्तरायो व्यधायि ॥

उद्भास्वराः पुरोक्ता ये तथाऽस्य सुहृदादरः ॥

विरागाद्याश्च ये शीताः प्रोक्ताः साधारणास्तु ते ॥ ३५ ॥

तत्र नृत्यं यथा श्रीदशमे—

श्रुतदेवोऽच्युतं प्राप्तं स्वगृहान् जनको यथा ।

नत्वा मुनींश्च संहृष्टो धुन्वन्वासो ननर्त्त ह ॥

यथा वा—

त्वं कलासु विमुखोऽपि नर्त्तनं-

प्रेमनाट्यगुरुणाऽसि पाठितः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

तन्निष्ठता=प्रीतिमात्रनिष्ठता ,

अङ्गस्तम्भेति । प्रेमानन्दं स्तम्भारम्भमुत्तुङ्गयन्तं सन्तं नाभ्यनन्द-
दित्यन्वयः,

अयमर्थः—प्रेमा तावद् द्विधा विशेषणभाक् स्तम्भादिना; आ-
नुकूल्येच्छया च, तत्र दासादीनामानुकूल्येच्छैवातिवृद्धा सेवारूपस्व-
पुरुषार्थसम्पादकत्वात् स्तम्भादिकं त्वहृद्यमेव तद्विघातकत्वा-
त्, तस्मात्स्तम्भकरत्वांशेनैव तं नाभ्यनन्दत् किं त्वानुकूल्यकरत्वे-
नैवाभ्यनन्ददिति “सविशेषणे विधिनिषेधौ विशेषणमुपसङ्क्रामतः
सति विशेष्ये बाध” इति न्यायेन, आरम्भः=आटोपः,

अङ्गस्तम्भासङ्गमिति वा पाठः,

त्वं कलासु विमुखोऽपि यद्विचित्रगतिचर्ययाऽञ्जितः सन्नहह चा-

यद्विचित्रगतिचर्ययाऽञ्चित-

श्चित्रयस्यहह चारणानपि ॥

अथ सात्त्विकाः ।

स्तम्भाद्याः सात्त्विकाः सर्वे प्रीतादित्रितये मताः ॥

यथा—

गोकुलेन्द्रगुणगानरसेन स्तम्भमद्भुतमसौ भजमानः ।

पदय भक्तिरसमण्डपमूलस्तम्भतां वहति त्रैणववर्यः ॥

श्रीदशमे—

स इन्द्रसेनो भगवत्पदाम्बुजं-

विभ्रन् मुहुः प्रेमविभिन्नया धिया ।

उवाच हानन्दजलाकुलेक्षणः

प्रहृष्टरोमा वृष ! गद्गदाक्षरम् ॥

अथ व्यभिचारिणः—

हर्षो गर्वो धृतिश्चात्र निर्वेदोऽथ विषण्णता ॥ ३६ ॥

दैन्यं चिन्ता स्मृतिः शङ्का मतिरौत्सुक्यचापले ॥

वितर्कवेगहीजाड्यमोहोन्मादावहित्थिकाः ॥ ३७ ॥

बोधः स्वप्नः क्लमो व्याधिर्मृतिश्च व्यभिचारिणः ॥

इतरेषां मदादीनां नातिपोषकता भवेत् ॥ ३८ ॥

योगे त्रयः स्युर्धृत्याद्या अयोगे तु क्लमादयः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

रणानपि चित्रयसि तत्प्रेमनाट्यगुरुणैव नर्त्तनं पाठित इत्यर्थः, चारणाश्च नर्त्तकसदृशा इति तदभेदेनोक्तिः,

इन्द्रसेनो=बलिः,

मदादीनां=मदश्चमत्रासापस्मारालस्यौग्यामर्षासूयानिद्राणां, त-

उभयत्र परे शेषा निर्वेदाद्याः सतां मताः ॥ ३९ ॥

तत्र हर्षो यथा प्रथमे—

प्रोत्थोत्फुल्लमुखाः प्रोचुर्हर्षगद्गदया गिरा ।

पितरं सर्वसुहृदमवितारमिवाभकाः ॥

यथा वा—

हरिमवलोक्य पुरो भुवि

पतितो दण्डप्रणामशतकामः ।

प्रमदविमुग्धो नृपतिः

पुनरुत्थानं विसस्मार ॥

क्लमो यथा स्कान्दे—

अशोपयन्मनस्तस्य म्लापपन्मुखपङ्कजम् ।

आधिस्त्वद्विरहे देव ! ग्रीष्मे सर इवांशुमान् ।

निर्वेदो यथा—

धन्याः स्फुरन्ति तत्र सूर्य ! कराः सहस्रं-

ये सर्वदा यदुपतेः पदयोः पतन्ति ।

बन्ध्या दृशां दशशती ध्रियते ममासौ

दूरे मुहूर्त्तमपि या न विलोकते तम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

त्र मदस्य पोषकता नास्त्येव मधुपानानङ्गविकारजतया द्विवि-
धत्वेनाप्ययोग्यत्वात्,

श्रमस्य तु कथं चिज्जातस्य सेवोत्कण्ठापोषकत्वात्कदा चिद्भ-
वत्यपि न पुनरालस्यजन्माऽपि स्याद्, अत्र त्रासादयस्तद्वैरियोगा-
ज्जाताश्चेत्तर्हि पोषकाश्च भवन्तीति मनसिकृत्याह-नातीति । एवं प्रेय-
आदिष्वपि विचेचनीयम् ।

ध्रियते=अवतिष्ठते, दूरेऽपि मुहूर्त्तमपीत्युभयश्रान्वयः,

अथ स्थायी—

सम्भ्रमः प्रभुताज्ञानात्कम्पश्चेतसि सादरः ॥
 अनेनैक्यं गता प्रीतिः संभ्रमप्रीतिरुच्यते ॥ ४० ॥
 एषा रसेऽत्र कथिता स्थायिभावतया बुधैः ॥
 आश्रितादेः पुरैवोक्तः प्रकारो रतिजन्मनि ॥ ४१ ॥
 तत्र पारिषदादेस्तु हेतुः संस्कार एव हि ॥
 संस्कारोद्धोधास्तस्य दर्शनश्रवणादयः ॥ ४२ ॥
 एषां तु सम्भ्रमप्रीतिः प्राप्नुवत्युत्तरोत्तराम् ॥
 वृद्धिं प्रेमा ततः स्नेहस्ततो राग इति त्रिधा ॥ ४३ ॥

तत्र संभ्रमप्रीतिर्यथा श्रीदशमे—

ममाद्यामङ्गलं नष्टं फलवांश्चैप मे भवः ।
 यन्नमस्ये भगवतो योगिध्येयाङ्घ्रिपङ्कजम् ॥

यथा वा—

कलिन्दनन्दनीकूलकदम्बवनवल्लभम् ।
 कदा नमस्करिष्यामि गोपरूपं तमीश्वरम् ॥

अथ प्रेमा—

हासशङ्काच्युता वद्धमूला प्रेमेयमुच्यते ॥
 अस्यानुभावाः कथितास्तत्र व्यसनिताऽऽदयः ॥ ४४ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

कम्पोऽत्र केन कथं किं कुर्यामित्यस्थैर्यम्,
 पुरैवेति । भावसामान्यप्रकरणे “साधनाभिनिवेशेने”त्यादिना,
 हासेति । इयं सम्भ्रमप्रीतिः वद्धमूला; अत एव हासशङ्काच्युता,

यथा—

अणिमादिसौख्यवीचीमवीचिदुःखप्रवाहं वा ।

नय मां विकृतिर्न हि मे त्वत्पदकमलावलम्बस्य ॥

यथा वा—

रूपा ज्वरितबुद्धिना भृगुसूतेन शसोऽप्यलं-

मया हृतजगत्त्रयोऽप्यतनुकैतवं तन्वता ।

विनिन्द्य कृतबन्धनोऽप्युरगाराजपाशैर्बला-

दरज्यत स मय्यहो द्विगुणमेव वैरोचनिः ॥

अथ स्नेहः —

सान्द्रश्चित्तद्रवं कुर्वन् प्रेमा स्नेह इतीर्यते ॥

क्षणिकस्यापि नेह स्याद्विश्लेषस्य सहिष्णुता ॥ ४५ ॥

यथा—

दम्भेन बाष्पाम्बुझरस्य केशवं-

वीक्ष्य द्रवश्चित्तमस्रुवत्तव ।

इत्युच्चकैर्धारयतो विचित्तां-

चित्रा न ते दारुक ! दारुकल्पता ॥

यथा वा—

पत्नीं रत्ननिधेः परामुपहरन् पूरेण बाष्पाम्भसां-

रज्यन्मञ्जुलकण्ठगर्भलुठितस्तोत्राक्षरोपक्रमः ।

सुम्बन् फुल्लकदम्बदम्बुरतुलामङ्गैः समीक्ष्याच्युतं-

दुर्गमसङ्गमनी ।

अणिमादीति । दण्डप्रसादयोरनन्तरं श्रीवलिवचनम्, अवीचिर्न-
रकविशेषः,

रुषेति । वालिसदनादागमनानन्तरमुद्धवं प्रति श्रीकृष्णवचनम् ।

रज्यन् स्नेहजनितं स्वरविशेषमाधुर्यं विभ्रत् तथा स्वभावत-

स्तब्धोऽप्यभ्यधिकां श्रियं प्रणमतां वृन्दादधारोद्धवः ॥

अथ रागः—

स्नेहः स रागो येन स्यात् सुखं दुःखमपि स्फुटम् ॥

तत्सम्बन्धलवेऽप्यत्र प्रीतिः प्राणव्ययैरपि ॥ ४६ ॥

यथा—

गुरुरपि भुजगाङ्गीस्तक्षकात् प्राज्यराज्य-

च्युतिरतिशयिनी च प्रायचर्या च गुर्वी ।

अतनुत मुदमुच्चैः कृष्णलीलासुधाऽन्त-

र्विहरणसचिवत्वादौत्तरेयस्य राज्ञः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

एव मञ्जुलस्तद्गोर्माधुरीमनोहरस्तादृशो यः कण्ठः तस्य यो ग-
र्भो मध्यभागस्तत्रैव लुठित इतस्ततः स्खलन्नेव भ्रमन् स्तोत्राक्षरा-
णामुपक्रमो यत्र सः,

स्नेह एव रागः स्यात् कीदृशः सन् श्रीकृष्णस्य साक्षात्कारेण
वा तत्तुल्यस्फुरणेन वा कृपालाभेन वा यः सम्बन्धविशेषस्तद-
न्तरङ्गतालाभस्तस्य लेशोऽपि जाते; येन स्नेहेन दुःखमपि सुखं स्फुटं-
स्यात् सुखतया प्रतिभातीत्यर्थः, अत्र च सति येन प्राणव्ययैः=ना-
शपर्यन्तैरपि प्राणस्य क्षयैः, प्रीतिस्तदानुकूल्यं क्रियत इत्यर्थः, त-
त्सम्बन्धाभावे तु सुखमपि दुःखं स्यादिति विशेषः, तदेव तादृशः
सन्नित्यर्थः ।

अत्र तादृशस्फुरणेनोदाहरन् साक्षात्कारेण कैमुत्यं व्यञ्जयति-
गुरुरिति । प्राज्यं=प्रचुरं, प्रायचर्या=प्राणान्तमनशनव्रतम्, औत्तरे-
यस्य=श्रीपरीक्षितः,

अत्र तत्सम्बन्धाभावे तूदाहरणं ज्ञेयम्, अथ कृपालाभालाभाभ्या-

यथा वा —

केशवस्य करुणालवोऽपि चे-

द्वाडवोऽपि किल पाडवो मम ।

अस्य यद्यदयता कुशस्थली-

पूर्णसिद्धिरपि मे कुशस्थली ॥

प्राय आद्यद्वये प्रेमा स्नेहः पारिषदेष्वसौ ॥

परीक्षिति भवेद्रागो दारुके च तथोद्धवे ॥ ४७ ॥

ब्रजानुगेष्वनेकेषु रक्तकप्रमुखेषु च ॥

अस्मिन्नभ्युदिते भावः प्रायः स्यात्सख्यलेशभाक् ॥ ४८ ॥

यथा—

शुद्धान्तान्मिलितं बाष्परूढवागुद्धवो हरिम् ।

किञ्चित्कुञ्चितनेत्रान्तः स्वान्तेन परिपस्वजे ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

मुदाहरति—केशवस्येति । पाडवः=पानकविशेषः, कुशस्थली=द्वारका,
तत्राधिकृताश्रितपार्षदानुगेषु व्यवस्थामाह—प्राय आद्यद्वय इति।
प्रायोग्रहणं “यर्ह्यम्बुजाक्षापसार भो भवानि”त्यादिद्वारकावासिवचने
रागस्यापि स्पर्शदर्शनात्, परिक्षितीति । “नैषाऽतिदुस्सहा श्रुन्मामि”-
त्यादितद्वाक्याद्, दारुके च यथा—“अपश्यतस्ते चरणाम्बुजं प्रभो !
दृष्टिः प्रणष्टे”त्यादितद्वाक्याद्, उद्धवे च यथा—“सुदुस्त्यजस्नेह-
वियोगकातर”इत्यादेः; साधारणेष्वप्यनुगेषु प्राय ईदृश पवत्यभिप्रेत्य,
तद्विशेषेषु विशेषमाह—ब्रजानुगेष्विति ।

अस्मिन् रागे भावः प्रीत्याख्योऽपि प्रायः स्यादिति प्रणयांशम-
यत्वे सतीत्यर्थः,

अत्र केषु चिद् ब्रजानुगेषु सम्भवत्यपि प्रणयांशे “त्वं मे भृत्यः सु-
हृत् सखे”ति प्रसिद्धिमुपलक्ष्य श्रीमदुद्धवमुदाहरति—शुद्धान्तादिति ।

अयोगयोगावेतस्य प्रभेदौ कथितावुभौ ॥

तत्रायोगः—

सङ्गाभावो हरेर्धैरैरयोग इति कथ्यते ॥ ४९ ॥

अयोगे तन्मनस्कत्वं तद्गुणाद्यनुसंधयः ॥

तत्प्राप्त्युपायचिन्ताऽऽद्याः सर्वेषां कथिताः क्रियाः ॥५०॥

उत्कण्ठितं वियोगश्चेत्ययोगोऽपि द्विधोच्यते ॥

तत्रोत्कण्ठितं—

अदृष्टपूर्वस्य हरेर्दिदृक्षोत्कण्ठितं मतम् ॥ ५१ ॥

यथा नरसिंहपुराणे—

चकार मेघे तद्वर्णं बहुमानरतिं नृपः ।

पक्षपातेन तन्नाम्नि मृगे पक्षे च तद्दृशि ॥

यथा वा श्रीदशमे—

अप्यद्य विष्णोर्भुजत्वमीयुषो भारावताराय भुवो निजेच्छया ।

लावण्यधाम्नो भवितोपलम्भनं मह्यं न न स्यात्फलमञ्जसा दृशः ॥

अत्रायोगप्रसक्तानां सर्वेषामपि सम्भवे ॥

औत्सुक्यदैन्यनिर्वेदचिन्तानां चापलस्य च ॥ ५२ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

शुद्धान्ताद्=अन्तःपुरात्,

एतस्य=प्रीतिभक्तिरसस्य,

नृपः=इक्ष्वाकुः, पक्षपातेन=अत्यासक्त्या; तन्नाम्नि तस्य नाम यत्र

तादृशे कृष्णसाराख्ये, तद्दृशि तस्य दृक्तुल्य इत्यर्थः ।

मनुजत्वं मनुजजातित्वमीयुषः प्राप्तवतस्तत्र प्रकाशमानस्येत्यर्थः ।

जडतोन्मादमोहानामपि स्यादतिरिक्तता ॥

तत्रौत्सुक्यं यथा कर्णामृते—

अमून्यधन्यानि दिनान्तराणि हरे ! त्वदालोकनमन्तरेण ।

अनाथबन्धो ! कस्यैकसिन्धो ! हा हन्त हा हन्त कथं नयामि ॥

यथा वा—

विलोचनसुधाऽम्बुधेस्तव पदारविन्दद्वयी

विलोकनरसच्छटामनुपलभ्य विश्रुभ्यतः ।

मनो मम मनागपि क्व चिदनाण्युवन्निर्वृति-

क्षणार्द्धमपि मन्यते व्रजमहेन्द्र ! वर्षव्रजम् ॥

दैन्यं यथा तत्रैव—

निबद्धमूर्द्धाञ्जलिलेप याचे नीरन्ध्रदैन्योन्नतिसुक्तकण्ठम् ।

दयाऽम्बुधे ! देव ! भवत्कटाक्षदाक्षिण्यलेशेन सकृन्निपिञ्च ॥

यथा वा—

असि शशिसुकुटाद्यैरप्यलब्धेक्षणस्त्वं-

लघुरघहर ! कीटादप्यहं कूटकर्ममां ।

इति विसदृशताऽपि प्रार्थने प्रार्थयामि

स्नपय कृपणबन्धो ! मामपाङ्गच्छटाभिः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

सर्वेषां व्यभिचारिणां सम्भवे सत्यपि, अतिरिक्तता=उद्रेकः,
न विद्यते नाथो नाथान्तरं यस्य तस्य बन्धो=प्रतिपालक ।

विलोचनेति । मथुरातः श्रीमदुद्धवस्य गुप्तपत्रिका, विश्रुभ्यत-
इत्यत्र विक्षोभभृदिति पाठान्तरं ज्ञेयम् ।

कूटकर्ममांऽहं कीटादपि लघुरिति प्रार्थने विसदृशताऽपि प्रार्थ-
याम्यपीत्यन्वयः, प्रार्थयेऽपीति वा पाठः, यद्यप्ययोग्यता तथाऽपि
प्रार्थय इत्यर्थः ।

निवेदो यथा—

स्फुटं श्रितवतोरपि श्रुतिनिषेवया श्लाघ्यतां-

ममामवनिरेतयोर्भवतु नेत्रयोर्मन्दयोः ।

भवेन्न हि ययो! पदं मधुरिमश्रियामास्पदं-

पदाम्बुजनखाङ्कुरादपि विसारि रोचिस्तव ॥

चिन्ता यथा—

हरिपदकमलावलोकतृष्णा तरलमतेरपि योग्यतामवीक्ष्य ।

अवनतवदनस्य चिन्तया मे हरि हरि निःश्वसतो निशाः प्रयान्ति ॥

चापलं यथा कर्णामृते—

त्वच्छैशवं त्रिभुवनान्मृतमित्यवेहि

मच्चचापलं च तव वा मम वाऽधिगम्यम् ।

तत् किं करोमि विरलं सुरलीविलासि

सुगंधं सुखाम्बुजसुदीक्षितुमीक्षणाभ्याम् ॥

यथा वा—

हियमवहर ! मुक्त्वा दृक्पतङ्गी ममासौ

दुर्गमसङ्गमनी ।

स्फुटमिति च पूर्ववदेवोद्धवस्य संदेशः, पदाम्बुजस्य नखरूपोऽङ्कुरः=अग्रभागः, श्रुतिनिषेवयोति । दीर्घघोरपीत्यर्थः, बहुतरश्रौतग्रन्थदर्शिनोरिति वा, अभवनिः=नाशः ।

हरिपदेति । कस्य चिद्भक्तस्य निर्जनविलापः, हरि हरि खेदे, मे मम योग्यतामवीक्ष्य सोऽयमगोशो दुःखितो भवतु नामेतीव विभाव्य निशाः प्रयान्तीत्यर्थः कीदृशस्यापि मम=हरिपदेत्यादिलक्षणस्य, अत एव चिन्तयाऽवनतवदनस्येति, षष्ठी चेयमनादरे ।

विरलं=क चिद् भाग्यवद्भिरेवोपलभ्यम् ।

दृक्पतङ्गीति लुप्तोपमा कथञ्चै किवन्तात् पुनः “कर्त्तरि क-

भयमपि दमयित्वा भक्तवृन्दात्तृपाऽर्त्ता ।
 निरवधिमविचार्य स्वस्य च क्षोदिमानं-
 तव चरणसरोजं लेढुमन्विच्छतीश ! ॥

जडता यथा सप्तमस्कन्धे—

न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत्तन्मनस्तथा ।
 कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम् ॥

यथा वा—

निमेषोन्मुक्ताक्षः कथमिह परिस्पन्दविधुरां-
 तनुं बिभ्रन्नव्यः प्रतिकृतिरिवास्ते द्विजपतिः ।
 अये ज्ञातं वंशीरसिकनवरागव्यसनिना
 पुरः श्यामाम्भोदे बत विनिहिता दृष्टिरमुना ॥

उन्मादो यथा तत्रैव—

नदति क्व चिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्व चित् ।
 क्व चित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

द्वि"हितः किंवित्युपमावाचकस्य पूर्वस्य किपो लोपाद्, रूपकं तु नात्रेष्यते
 तत्पुरुषस्योत्तरपदप्रधानत्वात्, प्रधानभूतायाः पतङ्ग्या हीनं सम्भवति
 गुणीभूतायां दृशि तु योजयितुं न शक्यत इत्यभवन्मतयोगाख्यो-
 दोषः स्यात्, ततश्च दृक् कर्त्री ह्रियं मुक्त्वा भयमपि दमयित्वा स्वस्य
 च क्षोदिमानमविचार्य पतङ्गीवाचरन्ती तव चरणसरोजं लेढुमन्वि-
 च्छतीति योज्यं, "दृक् तपस्विन्यसौ मे" इति वा पाठः, अन्विच्छतीति
 "इषुगमियमां छ" इति विधानात् ।

न्यस्तेति । तन्मनस्तथा कृष्णमनस्तथा न्यस्तक्रीडनकः तदनन्तरं-
 तयैव जडवत् तत्तुल्यः तत्पश्चात् कृष्णग्रहगृहीतात्मा ग्रहेणैव कृष्णे-
 नाविष्टः सन् जगदीदृशं न वेद न ददर्श, यथा लोकाः पश्यन्ति तथा

यथा वा—

क चिन्नटति निष्पटं क चिदसंभवं स्तम्भते
क चिद्विहसति स्फुटं क चिदमन्दमाक्रन्दति ।
लसत्यनलसं क चित् क चिदपार्थमात्तायते
हरेरभिनवोद्भुरप्रणयसोधुमत्तो मुनिः ॥

मोहो यथा हरिभक्तिछोधोदये—

अयोग्यमात्मानमितीशदर्शने स मन्यमानस्तदनाप्तिकातरः ।
उद्वेलदुःखार्णवमग्नमानसः सुताश्रुधारो द्विज ! मूर्च्छितोऽपतत् ॥

यथा वा—

हरिचरणविलोकालब्धितापावलीभि-
र्वत् विधुतचिदम्भस्यत्र नस्तथैववर्धे ।
श्रुतिपटुपरिवाहेनेशनामामृतानि
क्षिपत ननु सतीर्थ्याश्चेष्टतां प्राणहंसः ॥

अथ वियोगः—

वियोगो लब्धसङ्गेन विच्छेदो दनुजद्विषा ॥ ५३ ॥

यथा—

वलिष्ठतभुजपण्डखण्डनाय क्षतजपुरं पुरुषोत्तमे प्रयाते ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

न किन्तु तत्स्फूर्त्तिकरत्वेनैव ददर्शेत्यर्थः, भव्यः=सर्वत्र योग्यः,

“भव्यं सत्ये शुभे चाथ भेद्यतद्योग्यभाविनो”रि—

तिविश्वप्रकाशात् ।

लसति=क्रीडति, अपार्थं दृष्टार्त्तिसामग्रीं विनेत्यर्थः,

मुनिः=नारदः, सः=श्रीप्रल्हादः ।

चित्=चैतन्यं, तीर्थमत्र गुरुः, पक्षे ऋषिजुष्टजलम्,

क्षतजपुरं=शोणितपुरं, विधुता कम्पिता यतो विधुरा दुःखिता

विधुतविधुरबुद्धिरुद्धवोऽयं विरहनिरुद्धमना निरुद्धवोऽभूत् ॥

अङ्गेषु तापः कृशता जागृष्याऽऽलम्बशून्यता ॥

अधृतिर्जडता व्याधिरुन्मादो मूर्च्छितं मृतिः ॥ ५४ ॥

वियोगसंभ्रमप्रीतेर्दशावस्थाः प्रकीर्त्तिताः ॥

अनवस्थितिराख्याता चित्तस्यालम्बशून्यता ॥ ५५ ॥

अरागिता तु सर्वस्मिन्नधृतिः कथिता बुधैः ॥

अन्येऽष्टौ प्रकटार्थत्वात्तापाद्या न हि लक्षिताः ॥ ५६ ॥

तत्र तापो यथा--

अस्मान् दुनोतु कमलं तपनस्य मित्रं-

रत्नाकरश्च बड्वाऽनलगूढमूर्तिः !

इन्दीवरं विधुसहृत् कथमीश्वरं वा

तं स्मारयन्मुनिपते ! दहतीह सभ्यान् ।

कृशता यथा--

दधति तव तथाऽद्य सेवकानां भुजपरिधाः कृशतां च पाण्डुतां च ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

च वा तादृशी बुद्धिर्यस्य सः, विधुरविधुतेति वा पाठः, "विधुरं तु प्रविश्लेष" इत्यमरः ।

अस्मानित्यादिकं नारदं प्रत्युद्धववाक्यं, बड्वाऽनलेन गूढाच्छादिता मूर्त्तिस्तन्मध्यभागो यस्य सः, अत्र तापार्थं तपनमित्रत्वादिद्वयस्य हेतोराभासत्वं व्यज्य; विधुसहृत्त्वस्य तु विरुद्धत्वं व्यज्य; वियोगस्यैव दुरन्ततेयं अत्कमलादिकमपि तापकत्वेन सम्पादयतीति व्यञ्जितं, "तं स्मारयद्दहति पारिषदान्मुनीन्द्रे"ति पाठे स्मारयदित्यत्र लिङ्गविपरिणामः कर्त्तव्यः, "तं स्मारयन्मुनिपते दहतीह सभ्यानि"ति पाठे तु सन्धिविश्लेषात्सर्वत्राप्यन्वयः ।

पतति वत यथा मृणालबुद्ध्या स्फुटमिह पाण्डवमित्र ! पाण्डुपक्षः ॥

जागर्त्या यथा—

विरहान्मुरविद्विपश्चिरं विधुराङ्गे परिखिन्नचेतसि ।

क्षणदाः क्षणदायितोज्झिताः बहुलाश्चे बहुलास्तदाऽभवन् ॥

आलम्बनशून्यता यथा—

विजयरथकुटम्बिना विनाऽन्य-

न्न किल कुटुम्बमिहास्ति नखिलोक्याम् ।

अमदिदमनवेक्ष्य तत्पदाब्जं-

क्व चिदपि न व्यवतिष्ठतेऽद्य चेतः ॥

अदृतिर्यथा—

प्रेक्ष्य पिञ्जकुलमक्षि पिधत्ते

नैचिकीनिचयमुज्झति दूरे ।

वष्टि यष्टिमपि नाद्य मुरारे !

रक्तकस्तव पदाम्बुजरक्तः ॥

दुर्गमसङ्गमनो ।

सेवकानां=केषां चिदावश्यककार्यार्थं द्वारकास्थितानामित्यर्थः,
स्फुटमित्युपप्रेक्षायां, सा चात्रोदात्तनामालङ्कारं व्यञ्जयन्ती विरहाति-
शयं व्यञ्जयति, पाण्डुपक्षो=हंसः ।

क्षणदाः=राज्यस्तदुपलक्षणत्वाद्दिनान्यपिः, यद्वा क्षणदायितृपदा-
र्थाः, उत्सवदाऽयोऽपीति तु श्लेषः, क्षणदायितया=उत्सवदायित्वे-
नोज्झिता बभूवुः ।

विजयरथेति । समयविशेषे श्रीयुधिष्ठिरवाक्यं, विजयोऽर्जुनः,
रथकुटुम्बी=सारथिः ।

प्रेक्ष्येत्यनुसारेण पूर्वमरागितेति लक्षणे नञ् विरोध एव ज्ञेयः
रागप्रातिकूल्यमित्यर्थः ।

जडता यथा—

यौघिष्ठिरं पुरमुपेयुषि पद्मनाभे
खेदानलव्यतिकरैरतिविकलवस्य ।
स्वेदाश्रुभिर्न हि परं जलतामवापु-
रङ्गानि निष्क्रियतया च किलोद्धवस्य ॥

व्याधिर्यथा—

चिरयति मणिमन्वेष्टुं चलिते मुरभिदि कुशस्थलीपुरतः ।
समजनि धृतनव्याधिः पवनव्याधिर्यथाऽर्थाख्यः ॥

उन्मादो यथा—

प्रोषिते बत निजाधिदैवते रैवते नवमवेक्ष्य नीरदम् ।
भ्रान्तधोरयमधोरमुद्धवः पश्य नौति रमते नमस्यति ॥

मूर्च्छितं यथा—

समजनि दशा विश्लेषात्ते पदाम्बुजसेविनां-
व्रजभुवि तथा नासीन्निद्रालवोऽपि यथा पुरा ।
यदुवर ! दरश्वासेनामी वितर्कितजीविताः
सततमधुना निश्चेष्टाङ्गास्तटान्यधिशेरते ॥

मृतिर्यथा—

दनुजदमन ! याते जीवने त्वय्यकस्मा-
त्प्रचुरविरहतापैर्ध्वस्तहृत्पङ्कजायाम् ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

जडतां=द्रवत्वं, पक्षे जाड्यम् ।

पवनव्याधिः=उद्धवः, बाल्यादेव भगवत्प्रेमोन्मत्तत्वेन तस्य तथा-
लोकभावनात्तथाख्यातेः ।

तथा दशा समजनि यथा पुरा प्रथमं निद्रालवोऽपि नासीद् अ-
धुना तु सततं निश्चेष्टाङ्गाः सन्तस्तटान्यधिशेरत इति योज्यम् ।

व्रजमभि परितस्ते दासकासारपङ्क्तौ

न किल वसतिमार्त्ताः कर्तुमिच्छन्ति हंसाः ॥

अशिवत्वान्न घटते भक्ते कुत्राप्यसौ मृतिः ॥

क्षोभकत्वाद्वियोगस्य जातप्रायेति कथ्यते ॥ ५७ ॥

अथ योगः—

कृष्णेन सङ्गमो यस्तु स योग इति कीर्त्यते ॥

योगोऽपि कथितः सिद्धिस्तुष्टिः स्थितिरिति त्रिधा ॥ ५८ ॥

तत्र सिद्धिः—

उत्कण्ठिते हरेः प्राप्तिः सिद्धिरित्याभिधीयते ॥

यथा कर्णामृते—

मौलिश्चन्द्रकभूषणो मरकतस्तम्भभिरामं वपु-

र्वक्त्रं चित्रविमुग्धहासमधुरं बाले विलोले दृशौ ।

वाचः शैशवशीतला मदगजश्लाघ्या विलासस्थिति-

र्मन्दं मन्दमये क एष मथुरावीर्यी मिथो गाहते ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

कासारः=सरः, पक्षे हंसाः=प्राणाः ।

कुत्रापीति । कुत्र चिदेव भक्ते सिद्धलक्षण एवेत्यर्थः, तत्र मृतिर्न घटत इत्यत्र हेतुः—अशिवत्वादिति । तत्रामङ्गलमात्रं हि न सम्भवतीत्यर्थः ।

साधकभक्ते मृतिरपि वर्णिता “प्राणान् जहति मथुरायां सुकृतिन” इत्यादि, ततश्च सिद्धभक्ते वियोगस्य क्षोभकत्वमुद्दिश्यैव जातप्राया मृतिरिति कथ्यत इत्यर्थः ।

यस्य मौल्यादय ईदृशाः स एष इत्यध्याहारेणान्वयः, बाले=कोमले, शैशवेन तदंशेन शीतला तापहरा इत्यर्थः, मथुराया वीर्यी-

यथा वा श्रीदशमे—

रथात् तूर्णमवप्लुत्य सोऽक्रूरः प्रेमविह्वलः ।

पपात चरणोपान्ते दण्डवद्गामकृष्णयोः ॥

तुष्टिः—

जाते वियोगे कंसारेः संप्राप्तिस्तुष्टिरुच्यते ॥ ५९ ॥

यथा प्रथमस्कन्धे—

कथं वयं नाथ ! चिरोषिते त्वयि

प्रसन्नदृष्ट्याऽखिलतापशोषणम् ।

जीवाम ते सुन्दरहासशोभित-

मपश्यमाना वदनं मनोहरम् ॥

यथा वा—

समक्षमक्षमः प्रेक्ष्य हरिमञ्जलिबन्धने ।

दारुको द्वारकाद्वारि तत्र चित्रदशां ययौ ॥

स्थितिः—

सहवासो मुकुन्देन स्थितिर्निगदिता बुधैः ॥

यथा हंसदूते—

पुरस्तादाभीरीगणभयदनामा स कठिनो-

मणिस्तम्भालम्बी कुरुकुलकथाः संकथयिता ।

स जानुभ्यामष्टापदभुवमवष्टभ्य भविता

गुरोः शिष्यो नूनं पदकमलसंवाहनरतः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

निकटभूमिं वृन्दावनमिति यावद्, मिथोऽन्योन्यं रहस्येऽपीत्यमरः

कथं वयमिति प्रथमस्य यर्ह्यम्बुजाक्षेत्यनन्तरं पद्यं काचित्कमेव,

तत्रोपलक्षणत्वेन कां चित् स्थितिमाह-पुरस्तादिति । गुरोर्बृह-

स्पतेः शिष्यः=श्रीमदुद्धवः, अत्र श्रीमद्व्रजसेवकानामपि तन्महा-

निजावसरशुश्रूषाविधाने सावधानता ॥ ६० ॥

पुरस्तस्यानिवेशाद्या योगेऽमीषां क्रिया मताः ॥

के चिदस्या रतेः कृष्णभक्त्यास्वादवहिर्मुखाः ॥ ६१ ॥

भावत्वमेव निश्चित्य न रसावस्थतां जगुः ॥

इति तावदसाधीयो यत्पुराणेषु केषु चित् ॥ ६२ ॥

श्रीमद्भागवते चैष प्रकटो दृश्यते रसः ॥

तथा हि—

क चिद्बुदन्त्यच्युतचिन्तया क चि-

द्वसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

विरहानन्तरं नित्या स्थितिर्वक्ष्यमाणस्य प्रेयसो बत्सलस्य चास्ति-
मटीकाऽनुसारेण ज्ञेयाः तेषां दिग्दर्शनं तु गणोद्देशदीपिकादृष्ट्या
क्रियते,

अङ्गाभ्यङ्गकरं सुबन्धमुपरि स्नानप्रदं वारिदं-

वस्त्रप्रापणशर्मधाम बहुलं गन्धार्पिणं पुष्पकम् ।

मिष्टद्रव्यसमर्पकं मधुकरं ताम्बूलदं जम्बूलं-

नित्यं गोष्ठसुधांशुकान्तिसुधया पुष्टं दिदृक्षामहे ॥

ननु भवन्तु ते तद्वहिर्मुखाः तेषां पूर्वनिर्दिष्टं तन्मतं तु सुदृढ-
मेव रसशास्त्रकृन्मुनिसम्मत्वात् तत्राह-इतीति । तावत्प्रदं वाक्योप-
न्यासेऽव्ययम्, इति=एतन्मतमसाधीयः श्रीभागवतं रसं व्याप्तुमस-
मर्थत्वान्नातिदृढमित्यर्थः, कुतस्तत्राह-यदिति । मतेऽपीति शब्द इति
क्षीरस्वामी; तत्र यद्वर्शितमित्यापिशलिरिति, तत्राप्यापिशलिरिद-
म्मतं स्वीकृतवानित्यर्थः ।

क चिद्बुदन्तीत्यादिकं सामान्यभक्तिरसपरमपि विशेषे पर्यव-

नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं-
 भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥
 निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्
 वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि ।
 यदाऽतिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं-
 प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यतीति ॥

एषाऽत्र भक्तभावानां प्रायिकी प्रक्रियोदिता ॥ ६३ ॥

किन्तु कालादिवैशिष्ट्यात्क चित्स्यात् सीमलङ्घनम् ॥

अथ गौरवप्रीतिः—

लाल्याभिमानिनां कृष्णे स्यात् प्रीतिगौरवोत्तरा ॥ ६४ ॥

सा विभावादिभिः पुष्टा गौरवप्रीति उच्यते ॥

अत्रालम्बनाः—

हरिश्च तस्य लाल्याश्च भवन्त्यालम्बना इह ॥ ६५ ॥

तत्र हरिर्यथा—

अयमुपहितकर्णः प्रस्तुते वृष्णिवृद्धे-
 र्यदुपतिरितिहासे मन्दहासोज्ज्वलास्यः ।
 उपदिशति सुधर्म्मांमध्यमध्यास्य दीव्यन्
 हितमिह निजयाऽग्रे चेष्टयैवात्मजान्नः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

स्येदिति भावः, तत्र क चिद्वृन्तीत्यादिकमेकादशस्कन्धस्थं पद्यम्,
 निशम्येति तु सप्तमस्थं ज्ञेयम् ।

गौरवं=श्रीकृष्णरूपगुरुनिष्ठगुरुत्वमेवोत्तरं प्रौढत्वे पर्यवसितं-
 यस्याम्,

अयमिति । चेष्टया=उपहितकर्ण इत्यादिलक्षणया, हितम् एवमेव

महागुरुर्महाकीर्त्तिर्महाबुद्धिर्महाबलः ॥

रक्षी लालक इत्याद्यैर्गुणैरालम्बनो हरिः ॥ ६६ ॥

अथ लालयाः—

लालयाः किल कनिष्ठत्वपुत्रत्वाद्याभिमानिनः ॥

कनिष्ठाः सारणगदसुभद्राप्रसुखाः स्मृताः ॥ ६७ ॥

प्रद्युम्नचारुदेष्णाद्याः साम्बाद्याश्च कुमारकाः ॥

एषां रूपं—

अपि मुरान्तकपार्षदमण्डलादधिकमण्डनवेपगुणश्रियः ।

असितपीतसितद्युतिभिर्युता यदुकुमारगणा पुरि रेमिरे ॥

भक्तिः—

सर्गिध भजन्ति हरिणा मुखमुन्नमय्य

ताम्बूलवर्चितमदन्ति च दीयमानम् ।

घ्राताश्च मूर्ध्नि परिरभ्य भवन्त्युदन्नाः

साम्बादयः कति पुरा विदधुस्तपांसि ॥

रुक्मिणीनन्दनस्तेषु लाल्येषु प्रवरो मतः ॥ ६८ ॥

तस्य रूपं—

स जयति शम्बरदमनः सुकुमारो यदुकुमारकुलमौलिः ।

जनयति जनेषु जनकभ्रान्तिं यः सुष्ठु रूपेण ॥

भक्तिः—

प्रभावति ! समीक्ष्यतां दिवि कृपाऽम्बुधिमांद्दशां-

दुर्गमसङ्गमनी ।

पूर्वेषां वृत्तमनुसरणीयमित्यर्थः ।

सर्गिध=सहभोजनम् ।

प्रभावतीति । श्रीहरिवंशोक्तप्रभावतीहरणे तत्समीपस्थस्य श्री-

स एष परमो गुरुर्गुरुङ्गोयदूनां पतिः ।

यतः किमपि लालनं वयमवाप्य दृष्ट्योद्भुराः

पुरारिमपि संगरे गुरुरूपं तिरस्कृतमिह ॥

उभयेषां सदाऽऽराध्यधियैव भजतामपि ॥

सेवकानामिहैश्वर्यज्ञानस्यैव प्रधानता ॥ ६९ ॥

लाल्यानां तु स्वसम्बन्धस्फूर्तिरेव समन्ततः ॥

व्रजस्थानां परैश्वर्यज्ञानशून्यधियामपि ॥ ७० ॥

अस्त्येव बल्लवाधीशपुत्रत्वैश्वर्यवेदनम् ॥

अथोद्दीपनाः—

उद्दीपनास्तु बात्सल्यस्मितप्रेक्षाऽऽदयो हरेः ॥ ७१ ॥

यथा—

अग्रे सानुग्रहं पश्यन्नग्रजं व्यग्रमानसः ।

गदः पदारविन्देऽस्य विदधे दण्डवन्नतिम् ॥

अथानुभावाः—

अनुभावास्तु तस्याग्रे नीचासननिवेशनम् ॥

गुरोर्वर्तमानुसारित्वं धुरस्तस्य परिग्रहः ॥ ७२ ॥

स्वैराचारविमोक्षाद्याः शीता लाल्येषु कीर्तिताः ॥

तत्र नीचासननिवेशनं यथा—

यदुसदसि छरेन्द्रैर्द्रागुपवृज्यमानः

दुर्गमसङ्गमनी ।

प्रद्युम्नस्य वाक्यम्,

बल्लवाधीशपुत्रत्वेनैव यदैश्वर्यमिन्द्रजयादिप्रभावस्तस्य वेदनमनुभवः,

उपवृज्यमानः=पुरो गत्वा समानीयमानः, पाठान्तरं तु त्यक्तं, रङ्गः=

सुखदकरकवार्भिर्ब्रह्मणाऽभ्युक्षिताङ्गः ।

मधुरिपुमभिवन्द्य स्वर्णपीठानि मुञ्चन्

भुवमभि मकराङ्गो राङ्गवं स्वीचकार ॥

दासैः साधारणाश्चान्ये प्रोच्यन्तेऽमीषु के चन ॥ ७३ ॥

प्रणामो मौनबाहुल्यं संकोचः प्रश्रयाढ्यता ॥

निजप्राणव्ययेनापि तदाज्ञापारिपालनम् ॥ ७४ ॥

अधोवदनता स्थैर्यं कासहासादिवर्जनम् ॥

तदीयातिरहःकेलिवार्त्ताव्युपरमादयः ॥ ७५ ॥

अथ सार्विकाः—

कन्दर्प ! बिन्दति मुकुन्दपदारविन्द-

द्वन्द्वे दृशोः पदमसौ किल निष्प्रकम्पा ।

प्रालेयविन्दुनिचितं घृतकण्टका ते

स्विन्नोऽद्य व. ण्टलिफलं तनुरन्वकार्पीत् ॥

अथ व्यभिचारिणः—

अनन्तरोक्ताः सर्वेऽत्र भवन्ति व्यभिचारिणः ॥

तत्र हर्षो यथा—

दूरे दरेन्द्रस्य नभस्युदीर्ण-

ध्वनौ स्थितानां यदुराजधान्याम् ।

तनूरुहैस्तत्र कुमारकाणां-

नटैश्च हृष्यन्निकारि नृत्यम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

मृगविशेषः ।

दासैरित्यादौ “तदीयातिरहःकेली”ति यद्यपि तेष्वत्यन्तासम्भवा-
न्निषेधोऽपि न प्रसज्येत तथाऽप्याधुनिकतद्भावानां बोधनार्थमेव निषि-

निवेदो यथा—

धन्यः साम्ब ! भवान् सरिङ्गणमयन्पाद्वे रजःकर्बुरो-

यस्तातेन विकृष्य बत्सलतया स्वोत्सङ्गमारोपितः ।

धिक्कां दुर्भगमत्र शम्बरमयैर्दुर्दैवविस्फूर्जितैः

प्रासा न क्षणिकाऽपि लालनरतिः सा येन बाल्ये पितुः ॥

अथ स्थायी—

देहसम्बन्धितामात्राद् गुरुधीरत्र गौरवम् ॥ ७६ ॥

तन्मयी लालके प्रीतिगौरवप्रीतिरुच्यते ॥

स्थायी भावोऽत्र सा चैषामामूलात् स्वयमुच्छ्रिता ॥ ७७ ॥

कं चिद्विशेषमापन्ना प्रेमेति स्नेह इत्यपि ॥

राग इत्युच्यते चात्र गौरवप्रीतिरेव सा ॥ ७८ ॥

तत्र गौरवप्रीतिर्यथा—

मुद्रां भिनत्ति न रदच्छदयोरमन्दां-

वक्त्रं च नोन्नमयति स्रवदस्त्रकीर्णम् ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

द्धमिति ज्ञेयम् ।

शम्बरमयैरित्यवयवार्थं मयट् ।

देहसम्बन्धितेति । अत्र गुरुधीरिति=गुरुरयमिति बुद्धिरित्यर्थः,
सा गौरवमिति सम्बन्धिलक्षणया गम्यम्,

अत्र नानास्थानपतितानां सामान्यविशेषप्रीतिनिरूपिकाणां-
कारिकाणां समन्वयः क्रियते,

स्वस्मान्भवन्ति ये न्यूनास्तेऽनुग्राह्या हरेर्मताः ।

आराध्यत्वात्मिका तेषां रतिः प्रीतिरितीरिता ॥

ये न्यूना वयमिति स्वाभिमानमयरतिमन्तस्तेऽनुग्राह्यतया हरे-

धीरः परं किमपि।संकुचर्तो क्षपाङ्गो-

दृष्टिं क्षिपत्यवभिदश्चरणारविन्दे ॥

प्रेमा यथा—

द्विपद्भिः क्षोदिष्टैर्जगदविहतेच्छत्य भवतः

करादाकृष्येव प्रसभमभिमन्यावपि हते ।

सुभद्रायाः प्रीतिर्दनुजदमन ! त्वद्विपयिका

प्रपेदे कल्याणी न हि मलिनिमानं लवमपि ॥

स्नेहो यथा—

विमुञ्च पृथुवेपथुं विमुञ्ज कम्पकुण्ठायितं-

विमृज्य मयि निक्षिप प्रसरदश्रुधारे हशौ ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

मृताः, तेषां त्वाराध्योऽयमितिज्ञानात्मिका रतिः प्रीत्यभिधया प्रोक्ते-
त्यर्थः,

अथ तस्या रसभेदद्वारा भेदद्वयमाह—

अनुग्राह्यस्य दासत्वालाल्यत्वादप्ययं द्विधा ।

भिद्यते सम्भ्रमप्रीतो गौरवप्रीत इत्यपि ॥

दासत्वं स्वकर्तृकतत्सेवायामिच्छुत्वं तस्मात्संभ्रमो भवति सम्भ्र-
मात्मत्वाच्च सम्भ्रमप्रीत उच्यते, एवं लाल्यत्वं तत्कर्तृकस्वलालना-
यामिच्छुत्वं तस्माद्गौरवं भवति गौरवात्मत्वाच्च गौरवप्रीत उच्यते-
इति,

अथ सम्भ्रमप्रीतिं वदन् सम्भ्रमस्य लक्षणमाह—

सम्भ्रमः प्रभुताज्ञानात् कम्पश्चेतसि सादरः ।

अनेनैक्यं गता प्रीतिः संभ्रमप्रीतिरुच्यते ॥

कम्पोऽत्र त्वरा सा च सेवेच्छामयी ज्ञेया,

लाल्याभिमानिनां कृष्णे स्यात्प्रीतिर्गौरवोत्तरा ॥

सा विभावादिभिः पुष्टा गौरवप्रीत उच्यते—

४६ हरि०

करं च मकरध्वज ! प्रकटकण्टकालंकृतं-

निधेहि सविधे पितुः कथय बत्स ! कः संभ्रमः ॥

रागो यथा—

विषमपि सहसा सुधामिवायं-

निपिबति चेत्पितुरिङ्कितं क्षपाङ्कः ।

विद्युजति तदसंमतिर्यदि स्या-

द्विषमिव तां तु सुधां स एष सद्यः ॥

त्रिष्वेवायोगयोगाद्या भेदाः पूर्ववदीरिताः ॥

तत्रोत्कण्ठितं—

शम्बरः समुखि ! लब्धदुर्विषदम्बरः स रिपुरम्बरायितः ।

अम्बुराजमहसं कदा गुहं कम्बुराजकरमीक्षितास्महे ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

इत्थत्र लक्षितस्य गौरवप्रीतरसस्य स्थायिनं गौरवप्रीतिं वदन्
गौरवस्य लक्षणमाह—

देहसम्बन्धितेति । देहसम्बन्धितया स्वाभाविकया यो मानः स्व-
भावत एवातिशाल्येऽपि तदीयताऽभिमानः तस्माद्या गुरुधीर्ममायं गु-
रुर्लालक इति बुद्धिः सा गौरवमुच्यते तन्मयी या तस्मिँल्लालके प्री-
तिः सा गौरवप्रीतिरुच्यते इति, तत्र यद्यपि लालकधारतिबाल्य एव
केवला; गुरुधीमिश्रा तु प्रौढदशायां दृश्यते, तथाऽपि कारणकार्यात्म-
कयोस्तयोरभेद एवेष्टेः, एवमेव तत्र तत्र “क्व चिद्” इत्युक्तं; किन्तु
यथायोग्यं भेद एवावगन्तव्य इति,

तदेव स्थापयति-स्थायीति ।

विषमपि सहसेत्यादिकमेव पठनीयं, न तु विषमपि मुदित इ-
त्यादिकम् ।

त्रिष्वेव=प्रीतप्रेयोबत्सलेष्वेव, अयोगयोगाद्या भेदा मुख्यावान्तरभे-

अथ वियोगः—

मनो ममेष्टामपि गेण्डुलीलां न वष्टि योग्यां च तथास्त्रयोग्याम् ।

गुरौ पुरं कौरवमभ्युपेते कारासिन्धु द्वारवतीमवैति ॥

सिद्धिः—

मिलितः शम्बरपुरतो मदनः पुरतो विलोकयन्पितरम् ।

कोऽहमिति स्वं प्रमदान्न धीरघोरप्यसौ वेद ॥

तुष्टिः—

मिलितमधिष्ठितगरुडं प्रेक्ष्य युधिष्ठिरपुरान्मुरारातिम् ।

अजनि मुदा यदुनगरे सम्भ्रमभूमा कुमारगाम् ॥

स्थितिः—

कुञ्जयन्त्रक्षिणी किञ्चिद्वापपनिस्यन्दिपक्ष्मणी ।

वन्दते पदयोर्द्वन्द्वं पितुः प्रतिदिनं स्मरः ॥

उत्कण्ठितवियोगादौ यद्यद्विस्तारितं न हि ॥ ७९ ॥

संभ्रमप्रीतवज्ज्ञेयं तत्तदेवाखिलं बुधैः ॥

इति रसामृतसिन्धौ पश्चिमविभागे मुख्यभक्तिरसपञ्चक-

निरूपणे प्रीतभक्तिरसलहरी ॥ २ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

देन तत्तत्संज्ञाः, पूर्ववद्=अत्रैव प्रीतसामान्यैकदेशसंभ्रमप्रीत इव,

ईरिताः=कथिताः, भेदा इत्यत्र संज्ञा इत्येव वा पाठः,

अन्यत्र तु शान्तस्य पारोक्ष्यसाक्षात्कारावित्येव संज्ञे, मधुरस्य सम्भोगविप्रलम्भाविति मुख्ये संज्ञे पूर्वरागाद्याश्च तदवान्तरसंज्ञा-ईरिता इत्यर्थः ।

अस्त्रयोग्याम्=अस्त्राभ्यासम्, “अभ्यासः खुरली योग्ये”ति त्रिकाण्डशेषः ।

इति पञ्चलहय्यात्मके पश्चिमविभागे प्रीतिभक्तिरसलहरी द्वितीया ॥

अथ प्रेयोभक्तिरसः ।

स्थायी भावो विभावाद्यैः सख्यमात्मोचितैरिह ॥

नीतश्चित्ते सतां पुष्टिं रसः प्रेयानुदीर्यते ॥ १ ॥

तत्रालम्बनाः—

हरिश्च तद्वयस्याश्च तस्मिन्नालम्बना मताः ॥

तत्र हरिः—

द्विभुजत्वादिभागत्र प्राग्वदालम्बनो हरिः ॥ २ ॥

तत्र व्रजे यथा—

महेन्द्रमणिमञ्जुलघुतिरमन्दकुन्दस्मितः

स्फुरत्पुरटकेतकीकुसुमरम्यपट्टाम्बरः ।

स्रगुलसदुरस्थलः कणितवेणुरत्राव्रजन्

व्रजादवहरो हरत्यहह नः सखीनां मनः ॥

अन्यत्र यथा—

चञ्चत्कौस्तुभकौमुदीसमुदयं कौमोदकीचक्रयोः

सख्येनोज्ज्वलितैस्तथा जलजयोराढ्यं चतुर्भिर्भुजैः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

दारुकवाक्यम्—

चञ्चन्=इतस्ततः प्रसरन्; कौस्तुभकौमुदीसमुदयो यस्य तम्, आत्मसम्भावनाम्=अयमहमस्मीति ज्ञानम्, “शिरसि नृपतिर्द्रागप्रासीदघारिमि”ति वक्ष्यमाणाद्युधिष्ठिरादीनां बात्सल्यादिबालितत्वेऽप्यत्र पाण्डुसुतसामान्योक्तिः सौहृद्यरूपे सख्ये तत्तदंशस्य सम्भवाद्, वक्ष्यते हि—

बात्सल्यगन्धिसख्यास्तु किञ्चित्ते वयसाऽधिकाः ।

कनिष्ठकल्पाः सख्येन सम्बद्धाः प्रीतिगन्धिनेति ॥

एषां चतुर्भुजत्वाविर्भावेऽपि सख्यं मुहुस्तदनुभवेन नातिवैलक्ष-

दृष्ट्वा हारिहरिन्मणिद्युतिहरं शौरिं हिरण्याम्बरं-

जग्मुः पाण्डुसुताः प्रमोदस्रग्धया नैवात्मसंभावनाम् ॥

सुवेषः सर्वसल्लक्ष्मलक्षितो बलिनां वरः ॥

विविधाद्भुतभाषाविद्विद्वदूकः सुपण्डितः ॥ ३ ॥

विपुलप्रतिभो दक्षः करुणो वीरशेखरः ॥

विदग्धो बुद्धिमान् क्षन्ता रक्तलोकः समृद्धिमान् ॥ ४ ॥

मुखी वरीयानित्याद्या गुणास्तस्येह कीर्तिताः ॥

अथ तद्वयस्याः—

रूपवेषगुणाद्यैस्तु समाः सम्यगयन्त्रिताः ॥ ५ ॥

विस्त्रम्भसम्भृतात्मानो वयस्यास्तस्य कीर्तिताः ॥

यथा—

साम्येन भीतिविधुरेण विधीयमान-

भक्तिप्रपञ्चमनुदब्धदुग्धेण ।

विस्त्रम्भसारनिकुरम्बकरम्बितेन

वन्देतरामघहरस्य वयस्यवृन्दम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

पयमननाद्,

यथोक्तं श्रीमदजुनेन--

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो ! भव विश्वमूर्ते ! इति ।

सदा तु तत्रापि श्रीमन्नराकारतयैव स्थितिः, “येषां गृहानावस-
तीति साक्षाद् गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गमि”त्यादेः, अतस्तद्वयस्याः,
“रूपवेषगुणाद्यैस्तु समा” इति वक्ष्यमाणेन तेषां न चतुर्भुजत्वमापद्यते,
सम्यगयन्त्रिताः=दासवद्यन्त्रणाशून्याः, यतो विश्रम्भेति । विश्र-

ते पुरव्रजसम्बन्धाद् द्विविधाः प्राय ईरिताः ॥ ६ ॥

तत्र पुरसम्बन्धिनः—

अर्जुनो भीमसेनश्च दुहिता द्रुपदस्य च ॥

श्रीदामभूसुराद्याश्च सखायः पुरसंश्रयाः ॥ ७ ॥

एषां सख्यं यथा—

शिरसि नृपतिर्द्रागघ्रासीदवारिमधीरधी-

भुंजपरिघयोः श्लिष्टौ भीमार्जुनौ पुलकोज्ज्वलौ ।

पदकमलयोः साक्षौ दस्त्रात्मजौ च निपेततु-

स्तमवशधियः प्रौढानन्दादरुन्धत पाण्डवाः ॥

श्रेष्ठः पुरवयस्येषु भगवान् वानरध्वजः ॥

अस्य रूपं यथा—

गाण्डीवपाणिः करिराजसुण्डा-

रम्योरुहिन्दीबरसुन्दरामः ।

रथाङ्किना रत्नरथाधिरोही

स रोहिताक्षः सुतरामराजीत् ॥

सख्यं यथा—

पर्यङ्के महति स्रारिहन्तुरङ्के

निःशङ्कुप्रणयनिसृष्टपूर्वकायः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

म्भस्तु वक्ष्यते—“विस्मम्भो गाढविश्वासविशेषो यन्त्रणोज्झित” इति ।

शिरसीत्यत्र भीमार्जुनावेवोदाहरणे ज्ञेयौ, श्रीदामद्रौपद्यौ च ताभ्यामुपलक्ष्येते, भुजपरिघयोः पदकमलयोश्च विषययोः, प्रकरणादघारेरेव तानि ज्ञेयानि, श्लिष्टौ=श्लिष्टवन्तौ, “गत्यर्थाकर्मकश्लिष्टे”त्यादिना कर्त्तरि क्तः ।

उन्मीलन्नवनवनमर्ममर्मोऽयं-

गाण्डीवी स्मितवदनाम्बुजो व्यराजीत् ॥

अथ व्रजसम्बन्धिनः—

क्षणादर्शनतो दीनाः सदा सहविहारिणः ॥ ८ ॥

तदेकजीविताः प्रोक्ता वयस्या व्रजवासिनः ॥

अतः सर्ववयस्येषु प्रधानत्वं भजन्त्यमी ॥ ९ ॥

एषां रूपं यथा—

बलानुजसद्वत्थोगुणविलासवेपथ्रियः

प्रियङ्गुरणसल्लकीदलविषाणवेण्वङ्किताः ॥

महेन्द्रमणिहाटकस्फटिकपद्मरागात्वपः

सदा प्रणयशालिनः सहचरा हरेः पान्तु वः ॥

सख्यं यथा—

उन्निद्रस्य ययुस्तवात्र विरतिं सप्त क्षपास्तिष्ठतो-

हन्त श्रान्त इवासि निक्षिप सखे ! श्रीदामपाणौ गिरिम् ।

आधिर्विध्यति नस्त्वमर्पय करे किं वा क्षणं दक्षिणे

दोष्णस्ते कश्याम काममधुना सव्यस्य संवाहनम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

क्षणादर्शनत इति ।

“ऊचुश्च सुहृदः कृष्णमि” इत्यत्र “तदेकजीविता” इति;

कृष्णं महावकप्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः ।

बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राणं विचेतसः ॥

इत्यत्र ज्ञेयम् ।

प्रियंकरणेति । अप्रियं प्रियं क्रियते यैस्तैस्सर्वशुभङ्करैः सल-

कीदलविषाणवेणुभिरङ्किताः, पाठान्तरं तु त्यक्तम् ।

उन्निद्रस्येति सखीनां वचनं, तदानीं हरौ शकेराविर्भावदर्शनेन

यथा वा श्रीदशमे—

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन ।

मायाश्रितानां नरदारकेण सार्द्धं विजहुः कृतपुण्यपुञ्जाः ॥

एषु कृष्णस्य यथा—

सहचरनिकुरम्बं भ्रातरार्य्यं ! प्रविष्ट-

द्रुतमघजठरान्तःकोटरे प्रेक्षमाणः ।

स्खलदशिशिरवाष्पक्षालितक्षामगण्डः

क्षणमहमवसीदन् शून्यचित्तस्तदाऽऽसम् ॥

सुहृदश्च सखायश्च तथा प्रियसखाः परे ॥

प्रियनर्मवयस्याश्चेत्युक्ता गोष्ठे चतुर्विधाः ॥ १० ॥

तत्र सुहृदः—

बात्सल्यगन्धिसख्यास्तु किञ्चित्ते वयसाऽधिकाः ॥

सायुधास्तस्य दुष्टेभ्यः सदा रक्षापरायणाः ॥ ११ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तदावेशाज्ज्ञेयं, तदेतत्पद्यं समत्वभावनामयस्नेहव्यञ्जकम्, उत्तरं तु सहविहारमयतद्व्यञ्जकमिति भेदः ।

सतां परमस्वरूपसत्ताविर्भाववतां यद्वा ब्रह्मपदसान्निध्यात् स-
द्विशेषाणाम् उभयथा ज्ञानिनामित्येव; अनुभूतिः=जडप्रतियोगिस्वप्र-
काशवस्तु सैव सुखं स्वात्मत्वेन पर्यवसिततया निरुपाधिप्रेमास्प-
दत्वात् सैव बृहत्तमपर्यायब्रह्माख्या सर्वेषां परमस्वरूपत्वात् तेषां-
केवलतद्रूपेण स्फुरता; दास्यं गतानां दास्यभक्तिमताम् ऐश्वर्यादिपू-
र्णतया ततोऽपि परेण दैवतेन सर्वाराध्येन रूपेण स्फुरता महिमदर्श-
नार्थं तत्स्फूर्तिद्वयस्य विरलतामाह, मायाऽधिकास्पतितानां तु “मनु-
ष्यदृष्ट्या द्रष्टृप्रज्ञा मर्त्यात्मानो न मेनिर” इत्यादिरीत्या यत् किञ्चिन्न-
रदारकरूपेण ज्ञानभक्त्योरभावात् तु तत्तद्रूपेणापि; तेन सार्द्धं विजहुः

सुभद्रमण्डलीभद्रभद्रवर्द्धनगोभटाः ॥

यक्षेन्द्रभटभद्राङ्गवीरभद्रमहागुणाः ॥ १२ ॥

विजयो बलभद्राद्याः सुहृदस्तस्य कीर्तिताः ॥

एषां सख्यं यथा—

धुन्वन् धावसि मण्डलाग्रममलं त्वं मण्डलीभद्र ! किं-

गुर्वीं नार्थ्य ! गदां गृहाण विजय ! क्षोभं वृथा मा कृथाः ।

शक्तिं न क्षिप भद्रवर्द्धन ! पुरो गोवर्द्धनं गाहते

गर्जन्नेप घनो बली ननु बलीवर्दाकृतिर्दानवः ॥

सुहृत्सुमण्डलीभद्रबलभद्रौ किलोत्तमौ ॥ १३ ॥

तत्र मण्डलीभद्रस्य रूपं यथा—

पाटलपटलसदङ्गो लकुटकरः शोखरी शिखण्डेन ।

द्युतिमण्डलीमलिनिभां भाति दधन्मण्डलीभद्रः ॥

सख्यं यथा—

वनभ्रमणकेलिभिर्गुरुभिरन्हि खिन्नीकृतः

सुखं स्वपितु नः सहद् व्रजनिशान्तमध्ये निशि ।

अहं शिरसि मर्दनं मृदु करोमि कणं कथां-

त्वमस्य विसृजन्नलं सुबल ! सक्थिनी लालय ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

सहार्थतृतीयया स्वप्रेम्णा वशीकृत्यात्मसङ्गितामापादितेन तरदा-
रकाकारत्वेऽपि तत्तत्सर्वातिक्रमिमधुरतया स्फुरता विहारमपि कृत-
वन्त इत्यर्थः, अतस्तेभ्यः सर्वेभ्यः कृतपुण्यपुञ्जा इति लोकोक्तिः,
वस्तुतस्तु कृतानां चरितानां भगवतः परमप्रसादहेतुत्वेन पुण्याश्चा-
रवः पुञ्जा येषान्त इत्यर्थः, “पुण्यन्तु चार्वपी”त्यमरः,

विशेषजिज्ञासा चेद्वैष्णवतोषणी दृश्या ।

धुन्वान्नित्यरिष्टवधात्पूर्ववृत्तम्,

४७ हरि०

बलदेवस्य रूपं यथा—

गण्डान्तस्फुरदेककुण्डलमलिच्छत्रावतंसोत्पलं-

कस्तूरीकृतचित्रकं पृथुहृदि भ्राजिष्णुगृञ्जास्रजम् ।

तं वीरं शरदम्बुदद्युतिभरं संवीतकालाम्बरं-

गम्भीरस्वनितं प्रलम्बभुजमालम्बे प्रलम्बद्विपम् ॥

सख्यं यथा—

जनितिथिरिति पुत्रप्रेमसंवीतयाऽहं-

स्नपयितुमिह सन्नन्यम्बया स्तम्भितोऽस्मि ।

इति स्रबल । गिरा मे रुदिश त्वं मुकुन्दं-

फणिपतिहृदकच्छे नाद्य गच्छेः कदाऽपि ॥

अथ सखायः—

कनिष्ठकल्पाः सख्येन सम्बद्धाः प्रीतिगग्धिना ॥

विशालवृषभौजस्विदेवप्रस्थवरूथपाः ॥ १४ ॥

मरन्दकुसुमापीडमणिवन्धकरन्धमाः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

“द्वेतरक्तस्तु पाटल” इत्यमरः, तादृशेन पटेन लसदङ्गः ।

गण्डान्तरित्यादौ कस्तूरीकृतचित्रकं पृथुहृदि भ्राजिष्णुगृञ्जास्र-
जमित्येव द्वितीयचरणपाठः, चित्रकं=तिलकम्,

जनितिथिरिति । मासिकीयञ्जनमर्क्षयुक्ता तिथिः ; न तु वार्षिकी
महामहोत्सवायां तस्यां स्वत एव श्रीकृष्णस्य गमनासम्भवात्, सोऽयं-
च सन्देशः सुबलेन विलम्बमानतया गतेन झटिति समासादयितुं न
शक इति गम्यते; अन्यथा पूर्वपूर्ववत्तदाऽपि तदाश्ना तु तेन नालङ्घ-
यिष्यतेति ।

विशालं वृषभौजस्वीति श्रीभागवते गौडादिसम्मतः पाठः, वृषा-
लवृषतेजस्वीति तु काश्यादिसम्मतः,

इत्यादयः सखायोऽस्य सेवासौख्यैकरागिणः ॥ १५ ॥

एषां सख्यं यथा—

विशालविसिनीदलैः कलय बीजनप्रक्रियां-
वरूप ! विलम्बितालकवरूपमुत्सारय ।
मृपा वृषभ ! जल्पितं त्यज भजाङ्गसंवाहनं-
यदुग्रभुजसङ्गरे गुरुमगात् क्लमं नः सखा ॥

सर्वेषु सखिषु श्रेष्ठो देवप्रस्थोऽयमीरितः ॥

तस्य रूपं यथा—

विभ्रद् गेण्डु पाण्डुरोन्नासवासाः
पाशाबद्धोत्तुङ्गमौलिर्बलीयान् ।
बन्धूकाभः सिन्धुररूपधिलीलो-
देवप्रस्थः कृष्णपात्रं प्रतस्थे ॥

सख्यं यथा—

श्रीदाम्नः पृथुलां भुजामभि शिरो विन्यस्य विश्रामिणं-
दान्नः सव्यकरेण रुद्धहृदयं शय्याविराजत्तनुम् ।
मध्ये सुन्दरि ! कन्दरस्य पदयोः संवाहनेन प्रियं-
देवप्रस्थ इतः कृती सखयति प्रेम्णा व्रजेन्द्रात्मजम् ॥

अथ प्रियसखाः—

वयस्तुल्याः प्रियसखाः सख्यं केवलमाश्रिताः ॥ १६ ॥

श्रीदामा वसुदामा च दामा च वसुदामकः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

स्नेहवशाद्दाम्नः सव्यकरेण रुद्धं हृदयं निजवक्षो येन तं "समस्त-
स्यासमस्तेन नित्यापेक्षेण सङ्गतिरिति" न्यायेन रुद्धहृदययोः समासे
कृते सव्यकरेणेत्यस्य सम्बन्धः,

श्रीदामा चेत्यत्र दामसुदामवसुदामकिङ्किणयः पठिता अपि

किङ्किणिस्तोककृष्णांशुभद्रसेनविलासिनः ॥ १७ ॥

पुण्डरीकविटङ्काक्षकलविङ्कादयोऽप्यमी ॥

रमयन्ति प्रियसखाः केलिभिर्विविधैः सदा ॥ १८ ॥

नियुद्धदण्डयुद्धादिकौतुकैरपि केशवम् ॥

एषां सख्यं यथा—

सगद्गदपदैर्हरिं हसति कोऽपि वक्रोदितैः

प्रसार्य भुजयोर्युगं पुलकि कश्चिदाश्लिष्यति ।

करेण चलता दृशौ निभृतमेत्य रुन्धे परः

कृशाङ्ग ! छलयन्त्यमी प्रियसखाः सखायं तव ॥

एषु प्रियवयस्येषु श्रीदामा प्रवरो मतः ॥ १९ ॥

तस्य रूपं—

वासः पिङ्गं बिभ्रतं शृङ्गपाणि-

बद्धस्पन्दं सौहृदान्भाधवेन ।

ताम्रोष्णीपं श्यामधामाभिरामं-

श्रीदामानं दामभाजं भजामि ॥

सख्यं यथा—

त्वं नः प्रोज्झ्य कठोर ! यासुनतटे कस्मादकस्माद् गतो-

दुर्गमसङ्गमनी ।

प्रियनर्मसखगणेऽपि ज्ञेयाः, ते हि श्रीकृष्णस्यान्तःकरणरूपत्वात् सर्व-
त्रैव प्रविशन्ति, यथाऽहं प्रथमावरणपूजायां गोतमीये--

“दामसुदामवसुदामकिङ्किणीन् गन्धपुष्पकैः ।

अन्तःकरणरूपास्ते कृष्णस्य परिकीर्त्तिताः ॥

आत्माभेदेन ते पूज्या यथा कृष्णस्तथैव त” इति,

तत्रोत्साहादिवर्णने कालिन्दीतटभुवित्यादिभिर्बद्धस्पर्शत्वं वर्णि-
तमेव, सौहृदं तु तत्र गुप्तं स्यादिति पृथगेव तद्वर्णयति-त्वं न इति ।

दिष्टया दृष्टिमितोऽसि हन्त निबिडादलेपैः सखीन्प्रीणय ।

ब्रूमः सत्यमदर्शने तद्य मनाक् का धेनवः के दय-

र्किं गोष्ठं किमभीष्टमित्यचिरतः सर्वं विपर्यस्यति ॥

अथ प्रियनर्मवयस्याः—

प्रियनर्मवयस्यास्तु पूर्वतोऽप्यभितो वराः ॥

आत्यन्तिकरहस्येषु युक्ता भावविशेषिणः ॥ २० ॥

सुवलाजुनगन्धर्वास्ते वसन्तोऽज्ज्वलादयः ॥

एषां सख्यं यथा—

राधासन्देशवृन्दं कथयति सुबलः पश्य कृष्णस्य कर्णे

इयामाकन्दप्यलेखं निभृतमुपहरत्यर्जुनः पाणिपद्मे ।

पालोताम्बूलमास्ये वितरति चतुरः कोकिलो मूर्ध्नि धत्ते

तारादामेति नर्मप्रणयिसहचरास्तन्त्रि ! तन्नन्ति सेवाम् ॥

प्रियनर्मवयस्येषु प्रवरौ सुवलोज्ज्वलौ ॥ २१ ॥

तत्र सुबलस्य रूपं यथा—

तनुरचिविजितहिरण्यं-

हरिदयितं हारिणं हरिद्वसनम् ।

सुबलं कुवलयनयनं-

नयनन्दितबान्धवं बन्धे ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

का धेनव इत्यादौ धेन्वादयोऽप्यधेन्वादयो भवन्तीत्यर्थः, यत इति ।

अनेन प्रकारेण सर्वमन्यदपि विपर्यस्यति,

स च भावविशेषस्तत्प्रेयसीसाहाय्यमयतत्सुखदित्सैवेति दर्श-

यति-राधेति । तदिदं श्रीकृष्णस्य दूत्योर्मिथः संवादः,

“संज्ञा स्याच्चेतना नामहस्ताद्यैश्चार्थसूचने”ति नानार्थवर्गः,

सख्यं यथा—

वयस्यगोष्ठ्यामखिलेङ्गितेषु
विशारदायामपि माधवस्य ।
अन्यैर्दुरुद्धा सुशलेन सार्द्धं-
संज्ञामयी काऽपि बभूव वार्त्ता ॥

ज्ज्वलस्य रूपं यथा—

अरुणाम्बरमुच्चलेक्षणं-
मधुपुष्पावलिभिः प्रसाधितम् ।
हरिनीलरुचिं हरिप्रियं-
मणिहारोज्ज्वलमुज्ज्वलं भजे ॥

सख्यं यथा—

शकाऽस्मि मानमवितुं कथमुज्ज्वलोऽयं-
दूतः समेति सखि ! यत्र मिलत्यदूरे ।
साऽपत्रपाऽपि कुलजाऽपि पतिव्रताऽपि
का वा वृषस्यति न गोपवृषं किशोरी ॥

उज्ज्वलोऽयं विशेषेण सदा नमोऽकिञ्चलसः ॥

यथा—

स्फुरदतनुतरङ्गावर्द्धितानलपवेलः

दुर्गमसङ्गमनी ।

शकाऽस्मीत्यत्र कथमित्यन्तमेकं वाक्यं; समेतीत्यन्तमन्यत्; शेष-
मपरं, सापत्रपेत्यादौ यद्यपि लज्जाकुलभयधर्मभयानामेकतरेऽपि सति
मर्यादालङ्घनं न स्यात् ;

तथाऽपि सर्वेष्वपि तेषु सत्सु का गोपवृषं गोपभ्रेष्ठं श्रीकृष्णं न
वृषस्यति न कामयत किन्तु सर्वैव कामयत इत्यर्थः ।

कृष्णपक्षे वर्द्धिता—छिन्ना; अनलपा वेला मर्यादा येन, समुद्रपक्षे

सुमधुरसरूपो दुर्गमावारपारः ।

जगति युवतिजातिर्निम्नगा त्वं समुद्र-

स्तदियमवहर ! त्वामेति सर्वाध्वनैव ॥

एतेषु केऽपि शास्त्रेषु केऽपि लोकेषु विश्रुताः ॥ २२ ॥

नित्यप्रियाः सुरचराः साधकाश्चेति ते त्रिधा ॥

के चिदेषु स्थिरा जात्या मन्त्रिवत्तमुपासते ॥ २३ ॥

तं हासयन्ति चपलाः के चिद्वैहासिकोपमाः ॥

के चिदार्जवसारेण सरलाः शीलयन्ति तम् ॥ २४ ॥

वामा वक्रिमचक्रेण के चिद्विस्माययन्त्यमुम् ॥

के चित्प्रगल्भाः कुर्वन्ति वितण्डाममुना समम् ॥ २५ ॥

सौम्याः सूनृतया वाचा धन्या धिन्वन्ति तं परे ॥

एवं विविधया सर्वे प्रकृत्या मधुरा अमी ॥ २६ ॥

पवित्रमैत्रीवैचित्रीचारुतामुपचिन्क्ते ॥

अथोद्दीपनाः—

उद्दीपना वयोरूपशृङ्गवेणुदरा हरेः ॥ २७ ॥

विनोदनर्मविक्रान्तिगुणाः प्रेष्ठजनास्तथा ॥

राजदेवावतारादिचेष्टाऽनुकरणादयः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

वर्द्धिता=एधिता वेला जलं येन, “वेला स्यात्सीरनीरयोः”त्यमरः ।

साधकाः=साधनसिद्धाः, यद्यपि सुरचरा अपि साधका एव तथाऽपि विशेषं दर्शयितुं पृथुगुच्यन्ते,

विस्माययन्तीत्यन्तःस्थयद्वयमध्य एव पाठः, हेतुणिजन्तत्वेऽपि हेतुभयत्वाभावाच्च विस्मापयन्ति इति स्याद्, विस्मेरयन्तीति पाठे तु

तत्र वयः—

वयः कौमारपौगण्डे कैशोरं चेह सम्मतम् ॥

गोष्ठे कौमारपौगण्डे कैशोरं पुरगोष्ठयोः ॥ २९ ॥

तत्र कौमारं—

कौमारं वत्सले वाच्यं ततः संक्षिप्य लिख्यते ॥

यथा श्रीदशमे—

विभ्रद् वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे

वामे पाणौ मसृणकबलं तत्फलान्यङ्गुलीषु ।

तिष्ठन्मध्ये स्वपरिच्छिदो हासयन्नर्मभिः स्वैः

स्वर्गं लोके सिपति बुभुजे यज्ञभुरवालकेलिः ॥

अथ पौगण्डम्—

आद्यं मध्यं तथा शेषं पौगण्डं च त्रिधा भवेत् ॥ ३० ॥

तत्राद्यं पौगण्डं—

अधरादेः सुलौहित्यं जठरस्य च तानवम् ॥

कम्बुग्रीवोद्गमाद्यं च पौगण्डे प्रथमे सति ॥ ३१ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

कृतेऽपि “तत् करोति तदाचष्ट” इति कृदन्ताणिचि कुर्वन्तमाचष्टे कारयतीतिवद् ; वादितवन्तं प्रयोजितवानवीवददितिबन्ध प्रकृतिप्रत्यापत्तिः स्याद्, हुठमाख्यातवानौजिठदित्यत्र सा न दृश्यतेऽपीति चेद् ? न दृश्यतां नाम किं तावता कष्टेन ।

विभ्रदित्यस्यायमर्थः—जठरपटयोर्मध्ये वेणुं विभ्रद् वामे कक्षे शृङ्गवेत्रे विभ्रद् मसृणकबलं दध्यादिसंस्कृतभक्तपिण्डं पत्रपात्रमृते वामे पाणौ विभ्रत् तत्फलानि तदन्तरर्थनीयानास्वाद्यभागांश्च क्रमेण दक्षिणपाण्यङ्गुलिषु विभ्रद् भोजने यथा मुखस्यशौ न स्या-

यथा—

तुन्दं विदन्ति ते सकुन्द ! शनकैरश्वत्थपत्रश्रियं-
कण्ठः कम्बुवदम्बुजाक्ष ! भजते रेखात्रयीमुज्ज्वलाम् ।
आरुन्धे कुरुबिन्दकन्दलरुचिं भूचन्द्र ! दन्तच्छदो-
लक्ष्मीराधुनिकी धिनोति सहृदामक्षीणि सा काऽप्यसौ ॥

पुष्पमण्डनवैचित्र्यं चित्राणि गिरिधातुभिः॥
पीतपट्टदुकूलाद्यमिह प्रोक्तम् प्रसाधनम् ॥ ३२ ॥
सर्वाटवीप्रचारेण नैचिकीचयचारणम् ।
नियुद्धकेलिनृत्यादिशिक्षाऽऽरम्भोऽत्र चेष्टितम् ॥ ३३ ॥

यथा—

वृन्दाऽरण्ये समन्तात् सुरभिणि सुरभीवृन्दरक्षाविहारी
गुञ्जाहारी शिखण्डप्रकटितमुकुटः पीतपट्टाम्बरश्रीः ।
कर्णाभ्यां कर्णिकारे दधदलमुरसा फुल्लमल्लीकमालयं-
नृत्यन् दोर्युद्धरङ्गे नटवदिह सखीजनन्दयत्येष कृष्णः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तथा सविनोदं गृह्णन्नित्यर्थः, स्वं परितो वर्त्तमानान् सुहृदश्च स्वैर-
साधारणैर्नर्मभिर्हासयन् स्वर्गे स्वर्गस्थलोके मिषति किमिदमपूर्व-
मिति पश्यति सति, अपूर्वत्वे कारणमाह-यज्ञभुग्बालकेलिरिति ।
योऽयं यज्ञे दृष्टिमात्रेण भोक्ता सोऽयमेव बालकेलिः सन् बुभुज इति ।

तुन्दमित्यागतचराणामधुना पुनरागतानां वैदेशिकबन्दिनां वच-
नम्, आरुन्धे=वशीकरोति, कम्बुवदिति । “तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः”
एवं लक्षणेऽपि कम्बुवद् प्रीवाया उद्गम इत्यर्थः, कुरुबिन्दं=पद्मरागः,
सा काऽपीति वर्णयितुमशक्येत्यर्थः ।

फुल्ला मल्लयो यस्मिंस्तादृशं मालयं दधद्, अत्र यद्यपि गुणादा-
४८ हरि०

अथ मध्यम्—

नासा सुशिखरा तुङ्गा कपोलौ मण्डलाकृती ॥

पार्श्वार्धङ्गं सुवलितं पौगण्डे सति मध्यमे ॥ ३४ ॥

यथा—

तिलकुसुमविहासिनासिकाश्री-

र्चमणिदर्पणदर्पनाशिगण्डः ।

हरिरिह परिमृष्टपार्श्वसीमा

स्रजयति स्रष्टु सखीन् स्वशोभयैव ॥

उष्णीषं पट्टसूत्रोत्थपाशेनात्र तडित्त्विषा ॥

यष्टिः श्यामा त्रिहस्तोच्चा स्वर्णाग्रेत्यादिमण्डनम् ॥ ३५ ॥

भाण्डीरे क्रीडनं शैलोद्धारणाद्यं च चेष्टितम् ॥

यथा—

यष्टिं हस्तत्रयपरिमितां प्रान्तयोः स्वर्णवद्धां-

विभ्रन्मालां चटुलचमरीचारुचूडोज्ज्वलश्रीः ।

बद्धोष्णीषः पुरटरुचिना पट्टपाशेन पाश्व

दुर्गमसङ्गमनी ।

वुज्ज्वलदत्तेन मल्लिकाशब्द एव साधितः मल्लीशब्दस्तु प्रामादिक-
एव मतः, अमरेण च “तृणशून्यं तु मल्लिके”ति पठितं तथाऽपि “दर-
विदलितमल्ली”ति, “स्फुरन्मल्लीहल्लीसके”ति, “मिलन्मन्दाकिनीम-
ल्लीदामे”ति, कविभिः स्वीकृतत्वादत्रापि प्रयुज्यते, हस्वान्तस्तु
तच्छब्दः कुत्रापि न दृश्यत इति पाठान्तरं त्यक्तम् ।

तिलकुसुमेति । परिमृष्टपार्श्वसीमेति परिमृष्टतुल्यपार्श्वानां सीमा
मर्यादा तेषामूर्ध्वं विराजमान इत्यर्थः ।

चमरीभिर्मञ्जरीभिश्चार्या [चूडा] मस्तकमध्यबद्धकेशततिस्त-

पश्य क्रीडन् सखयति सखे ! मित्रवृन्दं मुकुन्दः ॥

पौगण्डमध्य एवाग्रं हरिर्दिव्यन् विराजते ॥ ३६ ॥

माधुर्याद्भुतरूपत्वात्कैशोराग्रांशभागिव ॥

अथ शेष—

वेणी नितम्बलम्बाग्रा लीलाऽलकलताद्युतिः ॥ ३७ ॥

अंसयोस्तुङ्गतेत्यादि पौगण्डे चरमे सति ॥

यथा—

अग्रे लीलाऽलकलतिकयाऽलङ्कृतं विभ्रदास्य-

चञ्चद्वेणीशिखरशिखया चुम्बितश्रोणिबिम्बः ।

उत्तुङ्गांसच्छविरघहरो रङ्गमङ्गश्रियैव

न्यस्यन्नेप प्रियसवयसां गोकुलान्निर्जिहीते ॥

उष्णीषे वक्रिमा लीलासरसीरूपागिता ॥ ३८ ॥

काश्मीरेणोर्ध्वपुण्ड्राद्यमिह मण्डनमीरितम् ॥

यथा—

उष्णीषे द्रवक्रिमा करतले व्याजृम्भलीलाऽम्बुज-

दुर्गमसङ्गमनी ।

या नात्युन्नतया सूक्ष्मस्वच्छोष्णीषाञ्चलवृतयोज्ज्वला श्रीर्यस्य सः,
पट्टपाशेन बद्धः सशोभं किञ्चिद्वेष्टित उष्णीषो यस्य सः ।

माधुर्येण वर्णपुष्टाऽऽदीनां मनोरमत्वेनाद्भुतं लोकविस्मयका-
रकं रूपमाकारो यस्य सः; तद्रूपत्वात् कैशोराग्रांशभागिव विभाति
यथाऽन्यः सर्वलक्षणसम्पन्नो राजकुमारस्तदग्रांशभाक् सन् विराजते
तथा तस्य कैशोराग्रांशभागस्तु सर्वतो विलक्षण इत्यर्थः ।

लीलया विन्यस्ताया अलकलतायाः द्युतिः=शोभा ।

गौरश्रीरलिके किलोर्ध्वतिलकः कस्तूरिकाबिन्दुमान् ।

वेपः केशव ! पेशलः सुबलमप्याघूर्णयत्यद्य ते

विक्रान्तं किमुत स्वभावमृदुलां गोष्ठावलानां ततिम् ॥

अत्र भङ्गी गिरां नर्मसखैः कर्णकथारसः ॥ ३९ ॥

एषु गोकुलवालानां श्रीश्लाघेत्यादिचेष्टितम् ॥

यथा—

धूर्तस्त्वं यद्वैषि हृदयतमः कर्णं तव व्याहरे

केयं मोहनतासमृद्धिधुरना गोधुक्कुमारीगणे ।

अत्रापि धुतिरत्नरोहणभुवो बालाः सखे ! पञ्चपाः

पञ्चेपुर्जगतां जये निजधुरां यत्रार्पयन् माद्यति ॥

अथ कैशोरं—

कैशोरम् पूर्वमेवोक्तं सङ्क्षेपेणोच्यते ततः ॥ ४० ॥

यथा—

पश्योत्सिक्तत्रलित्रयीवरलते वासस्तडिन्मज्जुले

प्रोन्मीलद्वनमालिकापरिमलस्तामे तमालत्विषिः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

उष्णीषे दरेति । गौरेत्यादौ भाले कुङ्कुमदीव्यदुर्ध्वतिलक इति पाठः,
विक्रान्तमपि सुबलमित्यन्वयः,

उत्सिक्तेति प्रोन्मीलदिति च श्रीदामोदरपक्षे सप्तम्यन्यपदार्थे,
अम्भोधरपक्षे तृतीयाऽन्यपदार्थे, यद्वा श्रीदामदामोदरयोर्बनाम्भो-
धरयोरिवात्यन्तावेशेन परस्परमालिङ्गितयोर्वर्णनमिदं तस्माल्ल-
तावनमालाशास्त्रिणां तत्र तत्र स्वाच्छन्द्येन रसावहमेव ज्ञेयम्,
तथा हि—

अम्बकानि सर्वेषामक्षीण्येव चातकाः तानुक्षतिं सिञ्चति दामो-
दराम्भोधरे श्रीदामा बभौ तत्संलग्नतया विरेज इत्यर्थः, तदेवं तद-

उक्षत्यम्बकचातकान् स्मितरसैर्दामोदराम्भोधरे

श्रीदामा रमणीयरोमकलिकाऽऽकीर्णाङ्गशाखी बभौ ॥

प्रायः किशोर एवायं सर्वभक्तेषु भासते ॥

तेन यौवनशोभाऽस्य नेह का चित्प्रपञ्चिता ॥ ४१ ॥

अथ रूपं यथा—

अलङ्कारमलं कृत्वा तवाङ्गं पङ्कजेक्षण !

सखीन् केवलमेवेदं धाम्ना धीमन् ! धिनोति नः ॥

अथ शृङ्गं यथा—

व्रजनिजवडभीवितर्दिकाया-

मुपसि बिपाणवरे रुवत्युदयम् ।

अहह सवयसां तदीयरोम्णा-

मपि निवहाः सममेव जाग्रति स्म ॥

वेणुर्यथा—

खट्वो ! न हि यात कातरा-

दुर्गमसङ्गमनी ।

भेदमिव प्राप्तं दामोदराम्भोधरं विशिनष्टि-उत्सिक्तैत्यादिना, वन-स्थानीयत्वेन श्रीदामानं विशिनष्टि रमणीयेत्यनेन, रमणीयरोमकलि-काभिराकीर्णा व्याप्ता अङ्गरूपा बाह्यादिलक्षणाः शाखिनो यत्र सः ।

अयं श्रीकृष्णः किशोरः शैशवमिश्रयौवन एव सन् सर्वभक्तेषु प्रायः प्राचुर्येण भासते; तेभ्यो रोचते, कौमारपौगण्डरूपस्तु न्यूनत-रन्यूनत्वेनेत्यर्थः, तेन तत ऊर्ध्ववयसः तेष्वभासमानत्वेन केवला यौ-वनशोभा त्विह श्रीकृष्णे नोदयत इति का चित्स्वरूपाऽपि न प्रपञ्चि-तेत्यर्थः ।

अलङ्कारमलं कृत्वेति तत्करणेनालमित्यर्थः ।

ब्रजे या निजा स्वशयनावासरूपा वडभी=चन्द्रशालिका,

हरिमन्वेष्टुमितः सुतां खेः ।

कथयन्नमुमत्र वैणव-

ध्वनिदूतः शिखरे धिनोति नः ॥

शङ्को यथा—

पाञ्चालीपतयः श्रुत्वा पाञ्चजन्यस्य निस्वनम् ।

पञ्चास्य ! पश्य मुदिताः पञ्चास्यप्रतिमा ययुः ॥

विनोदो यथा—

स्फुरदरुणदुकूलं जागुर्दौर्गंगाग्रं-

कृतवरकबरीकं रत्नताटङ्गकर्णम् ।

मधुरिपुमिह राधावेपमुद्वीक्ष्य साक्षा-

त्प्रियसखि ! छत्रलोऽभृद्विस्मितः सस्मितश्च ॥

अथानुभावाः—

नियुद्धकन्दुकद्यूतवाहवाहादिकेलिभिः ॥

लगुडालगुडि क्रीडासङ्गरैश्चास्य तोषणम् ॥ ४२ ॥

पल्यङ्कासनदोलासु सहस्वापोपवेशनम् ॥

चारुचित्रपरीहासो विहारः सलिलाशये ॥ ४३ ॥

युग्मत्वे लास्यगानाद्याः सर्वसारणाः क्रियाः ॥

तत्र नियुद्धेन तोषणं यथा—

अघहर ! जितकाशी युद्धकण्डूलबाहु-

दुर्गमसङ्गमनी ।

यस्यामसेवन्त नमद्वलीकाः

समं वधूभिर्बलभीर्युवान-

इति माघकाव्यात्, तस्या वितर्हिंका=द्वाराप्रवेदिका तस्याम् ।

नियुद्धेत्यादौ युग्मत्वं युग्मधर्मा मिलनमित्यर्थः, युग्मत्वेनास्येति

स्त्वमटसि सखिगोष्ठ्यामात्मवीर्यं स्तुवानः ।

कथय किमु ममोच्चैश्चण्डदोर्दण्डवेष्टा-

विरमितरणङ्गो निःसहाङ्गः स्थितोऽसि ॥

युक्तायुक्तादिकथनं हितकृत्ये प्रवर्त्तनम् ॥ ४४ ॥

प्रायः पुरसरत्वाद्याः सुहृदामीरिताः क्रियाः ॥

ताम्बूलाद्यर्पणं वक्त्रे तिलकस्थासकक्रिया ॥ ४५ ॥

पत्राङ्कुरविलेखादि सखीनां कर्म कीर्त्तितम् ॥

निर्जितीकरणं युद्धे वस्त्रे धृत्वाऽस्य कर्षणम् ॥ ४६ ॥

युष्पाद्याच्छेदनं हासात् कृष्णेन स्वप्रसाधनम् ॥

हस्ताहस्तिप्रसङ्गाद्याः प्रोक्ताः प्रियसखक्रियाः ॥ ४७ ॥

दूत्यं व्रजकिशोरीषु तासां प्रणयगामिता ॥

ताभिः केलिकलौ साक्षात्सख्युः पक्षपरिग्रहः ॥ ४८ ॥

असाक्षात्स्वस्वपूर्वेशापक्षस्थापनचातुरी ॥

कर्णाकर्णिकथाऽऽद्याश्च प्रियनर्मसखक्रियाः ॥ ४९ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तेन सहेत्यर्थः, सवैति । सखिमात्राणां साधारणाः क्रियाः, जितकाशी जयाहव इति क्षीरस्वामी, स्वजयाभिमानीत्यर्थः, युक्तेति । युक्तम-
युक्तं चादिर्यस्य, युक्तमिदं कर्त्तव्यमयुक्तमिदं न कर्त्तव्यमित्युपदेश-
इत्यर्थः, स्थासकश्चन्दनादिभिश्चर्चा ।

हस्ताहस्तीति । परस्परमाकर्षणदिना हस्तेन हस्तेन युद्धमिवे-
त्युत्प्रेक्ष्यते ।

प्रणयगामिता=प्रणयस्यानुमोदनमित्यर्थः, ताभिः सह सख्युः
श्रीकृष्णस्य केलिकलौ कीडाकलहे, तासां कैवलानां साक्षात् तस्यैव

वन्यरत्नाद्यलङ्कारैः माधवस्य प्रसाधनम् ॥

पुरस्तौत्यर्थत्रिकं तस्य गवां सम्भालनक्रियाः ॥ ५० ॥

अङ्गसंवाहनं माल्यगुम्फनं बीजनादयः ॥

एताः साधारणा दासैर्वयस्यानां क्रिया मताः ॥ ५१ ॥

पूर्वोक्तेष्वपराश्चात्र ज्ञेया धीरैर्यथोचितम् ॥

अथ सात्त्विकाः, तत्र स्तम्भो यथा—

निष्क्रामन्तं नागमुन्मथ्य कृष्णं-

श्रीदामाज्यं द्राक् परिष्वक्तुकामः ।

लब्धस्तम्भौ सम्भ्रमारम्भशाली

बाहुस्तम्भौ पश्य नोत्क्षेपुमीष्टे ॥

स्वेदो यथा—

क्रीडोत्सवानन्दरसं मुकुन्दे-

स्वात्यम्बुदे वर्षति रम्यघोषे ।

श्रीदाममूर्तिर्वरञ्जुक्तिरेषा

स्वेदाम्बुमुक्तापटलीं प्रसूते ॥

रोमाञ्चो यथा दानकेलिकौमुद्यां—

अपि गुरुपुरस्त्वं दोस्तम्भौ प्रसार्य निर्गलं-

दुग्मसङ्गमनी ।

पक्षपरिग्रहः तासामसाक्षात् तस्य तु साक्षात्तासां मध्ये या स्वस्वा-
श्रययूथेशा तस्या यः पक्षः तस्यैव स्थापनचातुरीत्यर्थः, तासां तस्य
च युगपत्साक्षाच्चेत्तथाऽपि तस्या एव पक्षस्थापनचातुरीति ज्ञेयं,
कर्णाकर्णीति व्याख्यातमेव ।

पूर्वोक्तेष्वनुभावेष्वपरा अगणिताः के चनानुभावा अत्र ज्ञेया-
इति यावत् ।

अपि गुरुपुर इति श्रीराधाया मानसमेवानुतापवचनं, गुरुवोऽत्र-

विपुलपुलको धन्यः स्वैरी परिष्वजसे हरिम् ।

प्रणयति तव स्कन्धे चासौ भुजं भुजगोपमं-

क सुबल ! पुरा सिद्धक्षेत्रे चकर्थ कियत्तपः ॥

स्वरभेदादिचतुष्कं यथा—

प्रविष्टवति माधवे भुजगराजभाजं हृद-

तदीयसद्वदस्तदा पृथुलवेपथुव्याकुलाः ।

विवर्णवपुषः क्षणाद्विकटघर्षरध्मायिनो-

निपत्य निकटस्थलीभुवि सुषुप्तिमारेभिरे ॥

अश्रु यथा—

दावं समीक्ष्य विचरन्तमिपीकतूलै-

स्तस्य क्षयार्थमिव बाष्पक्षरं किरन्ती ।

त्वामप्युपेक्ष्य तनुमम्बुजमालभारि-

ण्याभीरवीथिरभितो हरिमावलिष्ट ॥

अथ व्यभिचारिणः—

औगन्ध्यं त्रासं तथाऽऽलस्यं वर्जयित्वाऽखिलाः परे ॥५२॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

श्रीरामादय एव ।

स्वरभेदादिचतुष्कमिति । अश्रु त्यक्त्वा, पूर्वोद्दिष्टक्रमो न तु श्लोकक्रमः, क्षणादिति । क्षणमातिक्रम्य विकटेत्यादिलक्षणा एवमेवंभूताः, निपत्येति । निपतनादनन्तरमित्यर्थः, सुषुप्तिमिति । तामिव निश्चेष्टावस्थामित्यर्थः ।

इषीकाः=शरपुष्पदण्डाः, तासां तूलैः, “इष्टकेषीकामालानां चित्तलभारिष्वि”ति ह्रस्वत्वं, प्रकरणबलादत्राभीरादिशब्दाः सखिष्वेव पठ्यन्वस्यन्ति, भयेऽप्यश्रुक्षरमिदमनिष्टस्य निश्चयाच्छोकमनुभूयेति ज्ञेयम् ।

औगन्ध्यमत्र केवलकृष्णविषयं, त्रासं केवलं तद्धेतुकम्, आलस्यं-

४९ हरि०

रसे प्रेयसि भावज्ञैः कथिता व्यभिचारिणः ॥

तत्रायोगे मदं हर्षं गर्वं निद्रां धृतिं विना ॥ ५३ ॥

योगे मृतिं क्लमं व्याधिं विनाऽपस्मृतिर्दीनते ॥

तत्र हर्षो यथा—

निष्क्रम्य किल कालियोरगं-

बलवेनवरसते समीयुषि ।

सम्मदेन छद्ददः स्खलत्पदा-

स्तद्गिरश्च विवशाङ्गतां दधुः ॥

अथ स्थायी—

विमुक्तसंभ्रमा या स्याद् विश्रम्भात्मा रतिर्द्वयोः ॥ ५४ ॥

प्रायः समानयोरत्र सा सख्यं स्थायिशब्दभाक् ॥

विश्रम्भो गाढविश्वासाविशेषो यन्त्रणोज्झितः ॥ ५५ ॥

एषा सख्यरतिर्बुद्धिं गच्छन्ती प्रणयः क्रमात् ॥

प्रेमा स्नेहस्तथा राग इति पञ्चभिदोदिता ॥ ५६ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तदानुकूल्यविषयं वर्जयति, तत्तदुपाधिसङ्गावे तु तत्र तत्रावर्णय-
देवेति ।

गीर्षु स्खलत्पदत्वं पदावसानस्याशक्यनिर्णयत्वं, विवशाङ्गत्व-
मक्षरावसानस्येति ।

विश्रम्भात्मा या रतिः सा विमुक्तसंभ्रमा सती सख्यं स्यात्
तच्च स्थायी शब्दभागित्यन्वयः, सम्भ्रमोऽत्र गौरवकृतवैयग्यम् ।

गाढविश्वासाविशेषोऽत्र परस्परं सर्वथा स्वाभेदप्रतीतिः, अत-
एव यन्त्रणोज्झितश्च, प्रेमादीनां लक्षणम् पूर्ववत्, प्रणयस्य तु वक्ष्यते ।

तत्र सख्यरतिर्यथा—

मुकुन्दो गान्दिनीपुत्र ! त्वया संदिश्यतामिति ।

गरुडाङ्ग ! गुडाकेशस्त्वां कदा परिप्स्यते ॥

प्रणयः—

प्राप्तायां संभ्रमादीनां योग्यतायामपि स्फुटम् ॥

तद्गन्धेनाप्यसंसृष्टा रतिः प्रणय उच्यते ॥ ५७ ॥

यथा—

सुरैस्त्रिपुरजिन्मुखैरपि विवीयमानस्तुते-

रपि प्रथयतः परामधिकपारमेष्ठ्यश्रियम् ।

दधत्पुलकिनं हरेरधिशिरोधि सव्यं भुजं-

समस्कुसुत पांशुलान् शिरसि चन्द्रकानजुनः ॥

प्रेमा यथा—

भवत्युदयतीश्वरे सहदि हन्त राज्यच्युति-

मुकुन्द ! वसतिर्वने परगृहे च दास्यक्रिया ।

इयं स्फुटममङ्गला भवतु पाण्डवानां गतिः

परं तु बबूधे त्वयि द्विगुणमेव सख्यामृतम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

सुरैस्त्रिपुरजिन्मुखैरिति । असुराणां वधान्तेष्वीदृशी लीला ज्ञेया।

भवत्युदयतीति पाण्डवानामज्ञातवाससमये श्रीनारदवचनं, त-
त्रेयममङ्गला गतिर्भवत्विति; अतिसर्गनाम्नी या कामचारानुज्ञा
तस्यां लोद्, यतः सा तेषां न सख्यस्य हानिकरी प्रत्युत तस्यां-
तस्य वृद्धिरेव दृश्यत इत्याह—परं त्विति, तेषाम् भवति प्रेमा भवता
कृतैरुपकारैर्न जनितः किंत्वसमोर्ध्वभवद्विगुणगणानामनुभवेनैव ते
च भवदुदासीनतामयं तेषां दुःखानुभवं निर्धूय स्फुरन्तस्तम्
प्रेमाणमेधयन्त एव विराजन्त इति भावः, बबूध इति सिद्धवाञ्छिर्दे-

स्नेहो यथा दशमे—

अन्ये तदनुरूपाणि मनोज्ञानि महात्मनः ।

गायन्ति स्म महाराज ! स्नेहविलम्बधियः शनैः ॥

यथा वा—

आर्द्राङ्गस्खलदच्छातुषु सुहृद्रोत्रेषु लीलारसं-

वर्षत्युच्छ्वसितेषु कृष्णमुदिरे व्यक्तं बभूवाद्भुतम् ।

या प्रागास्त सरस्वती द्रुतमसौ लीनोपकण्ठस्थले

या नासीदुदगाद् दशोः पथि सदानीरोरुधाराऽत्र सा ॥

रागो यथा—

अल्त्रेण दुष्परिहरा हरये व्यकारि

या पत्रिपङ्क्तिरूपेण कृपीछतेन ।

उत्प्लुत्य गाण्डिवभृता हृदि गृह्यमाणा

जाताऽस्य सा कुष्ठमवृष्टिरिवोत्सवाय ॥

यथा वा—

कुष्ठमान्यवचिन्वतः समन्ताद्

दुर्गमसङ्गमनी ।

शाब्दार्थं बोधयति; परोक्षनिर्देशात्तेषामेवानुभवगम्यं तदस्माकं तु लक्षणदृष्ट्याऽनुमानगम्यमेवेति सूचयति ।

कृष्णमुदिरे लीलारसं वर्षति सति; आर्द्राङ्गात्स्खलन्तोऽच्छाः स्वच्छा घातवो गैरिकाद्यङ्गरागा येषां तादृशेषु सुहृद्रूपेषु गोत्रेषु पर्व-
तेषु चोच्छ्वसितेषु चैः श्वासयुक्तेषु; पक्षे वृक्षादिवृक्षोच्छ्वसेषु
आस्त=आसीत्, सरस्वती=वाणी पक्षे नदी, उपकण्ठस्थले कण्ठस्य
समीपे स्थाने, पक्षे निकटे या नीरोरुधारा दशोः पथि नासीत् सा
सदोदगात्, पक्षे सदानीरा करतोया नदी,

व्यकारि=क्षिप्ता, धाटी छलादाक्रमणमिति क्षीरस्वामी, च-

वनमालारचनोचितान्यरण्ये ।

वृषभस्य वृषार्कजा मरीचि-

र्दिवसार्धेऽपि बभूव कौमुदीव ॥

अथायोग उत्कण्ठितं यथा—

धनुर्वेदमधीयानो मध्यमस्त्वयि पाण्डवः ।

वाष्पसंकीर्णया कृष्ण ! गिरा श्लेपं व्यजिज्ञपत् ॥

अथ वियोगे यथा—

अघस्य जठरानलात्फणिहृदस्य च क्षेडतो-

दवस्य कवलादपि त्वमविताऽत्र येषामभूः ।

इतस्त्रितयतोऽप्यतिप्रकटघोरधाटीधरा-

त्कथं न विरहज्वरादवसि तान्सखीनद्य नः ॥

अत्रापि पूर्ववत्प्रोक्तास्तापाद्यास्ता दश दशा ॥

तत्र तापः—

प्रपन्नो भाण्डीरेऽप्यधिकशिशिरे चण्डिमभरं-

नुपारेऽपि प्रौढं दिनकरसुतास्रोतसि गतः ।

अपूर्वं कंसारे ! सुबलमुखमित्रावलिमसौ

बलीयानुत्तापस्तव विरहजन्मा ज्वलयति ॥

कृशता—

त्वयि प्राप्ते कंसक्षितिपतिविमोक्षाय नगरीं-

गभीरादाभीरावलितनुषु खेदादनुदिनम् ।

चतुर्णां भूतानामजनि तनिमा दानवरिपो !

समीरस्य प्राणाध्वनि पृथुलता केवलमभूत् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तुर्णामित्याकाशस्यापि तनिमा देहकाश्येन विचराणां सूक्ष्मत्वप्राप्तेः ।

जागर्त्या यथा—

नेत्राम्बुजद्वन्द्वमवेक्ष्य पूर्ण-
वाष्पाम्बुपूरेण वरूथपस्य ।
तत्रानुवृत्तिं किल यादवेन्द्र !
निर्विद्य निद्रामधुपी मुमोच ॥

आलम्बशून्यता—

गते वृन्दाऽरण्यात् प्रियसद्वदि गोष्ठेश्वरसुते
लघूभूतं सद्यः पतदतितरामुत्पतदपि ।
न हि भ्रामं भ्रामं भजति चटुलं तूलमिव मे
निरालम्बं चेतः क्व चिदपि विलम्बं लवमपि ॥

अधृतिः—

रचयति निजवृत्तौ पाशुपाल्ये निवृत्ति-
कलयति च कलानां विस्मृतौ यत्नकोटिम् ।
किमपरमिह वाच्यं जीवितेऽप्यद्य धत्ते
यदुवर ! विरहात्ते नार्थितां बन्धुवर्गः ॥

जडता—

अनाश्रितपरिच्छदाः कृशविशीर्णरूक्षालकाः
सदा विफलवृत्तयो विरहिताः किल च्छायया ।
विरावपरिवर्जितास्तव मुकुन्द ! गोष्ठान्तरे
स्फुरन्ति सदृदां गणाः शिखरजातवृक्षा इव ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

परिच्छदाः=वेषादयः, पक्षे परितश्छदाः पत्राणि, छाया=कान्तिः,
पक्षेऽनातपः, विरावो विशेषेण रावः, पक्षे वीणां पक्षिणां रावः, शि-
खरजातवृक्षा इवेत्येव पाठः; विशिष्टस्थैवात्रोपमानत्वात् ।

व्याधिः—

विरहज्वरसंज्वरेण ते
ज्वलिता विश्लथगात्रबन्धना ।
यदुवीर ! तटे विचेष्टते
चिरमाभीरकुमारमण्डली ॥

उन्मादः—

विना भवदनुस्मृतिं विरहविभ्रमेणाधुना
जगद्व्यवहृतिक्रमं निखिलमेव विस्मारिता ।
लुठन्ति भुवि शेरते यत हसन्ति धावन्त्यमी
रुदन्ति मथुरापते ! किमपि बलवानां गणाः ॥

मूर्च्छितम्—

दीव्यतीह मथुरे मथुरायां-
प्राप्य राज्यमधुना मधुनाथे ।
विश्वमेव मुदितं रुदितान्धे
गोकुले तु मुहुराकुलताऽभूत् ॥

मृतिः—

कंसारेविरहज्वरोर्मिजनितज्वालावलीजर्जरा-
गोपाः शैलतटे तथा शिथिलितश्वासाङ्कुराः शेरते ।
वारं वारमखर्वलोचनजलैराप्लाव्य तान्निश्चलान्
शोचन्त्यद्य यथा चिरं परिचयस्तिग्ग्धाः कुरङ्गा अपि ॥

दुर्गमसङ्गमनो ।

विरह एव ज्वरस्तस्य संज्वरेण सन्तापेन ।

दीव्यतीति श्रीकृष्णं प्रति सखिविशेषसन्देशः, अत्र रुदितान्ध-
इत्यादिना मुहुर्मूर्च्छां ध्वन्यते, रुदितान्धत्वं खलु रोदनानन्तरं मूर्च्छि-
तत्वं; तच्च गोकुलं लक्ष्मीकृत्य स्वयमेव व्यज्यत इति, आकुलता चात्र
रोदनमूर्च्छां पौनःपुन्येन व्याकुलता ।

प्रोक्तेयं विरहावस्था स्पष्टलीलाऽनुसारतः ॥ ५८ ॥

कृष्णेन विप्रयोगः स्यान्न जातु व्रजवासिनाम् ॥

तथा च स्कान्दे मथुराखण्डे—

वत्सैर्वत्सतरीभिश्च सदा क्रीडति माधवः ।

वृन्दावनान्तरगतः सरामो बालकैर्वृतः ॥

अथ योगे सिद्धिर्यथा—

पाण्डवः पुण्डरीकाक्षं प्रेक्ष्य चक्रिनिकेतने ।

दुर्गमसङ्गमनो ।

प्रोक्तेयमिति । स्पष्टलीलाऽनुसारेणेत्यनेनोत्तरार्धे त्वस्पष्टलीलाऽनुसारेणेति गम्यते, स्पष्टलीला=प्रकटलीला, लीला हि द्विविधा-प्रकटाऽप्रकटा चेति, तत्र प्रकटा प्रापञ्चिकलोकगोचरीभूता सा च कादाचित्की, अप्रकटा तदगोचरीभूता सा तु नित्यैव श्रीवृन्दावनादौ वर्त्तते, यैव खलु स्कान्दादावागमादौ तापनीश्रुत्यादौ जयति जननिवास-इत्यादौ च प्रगीयते, तस्यां तु देशान्तरगमनादिकं नास्ति नित्यत्वादेव, किन्तु प्रकटायामेव कदा चित्तदस्ति प्रापञ्चिकलोकगोचरीभावश्च सपरिकरस्य भगवतस्तत्तल्लीलाऽनुसारेण कदा चिद्भवति, तत्र षोडशसहस्रकन्याविवाहवल्लीलाशक्त्या प्रादुर्भावे-दादभिमानमेदः परस्परमनलुलन्धानं च तत्तल्लीलारसरक्षणाय स्यात् तदन्यथा तु वियोग एव न स्यात् तस्मात्प्रकटलीलायां वियोगे जातेऽप्यप्रकटलीलायां तदभावात् जात्वित्युक्तं, किन्तु प्रकटलीलामेवोद्दिश्य सर्वेयं रचनेति तस्याः पर्थवसानरस्यत्वमवश्यं स्थापनीयम्, तच्च व्रजे पुनः सङ्गत्य द्वयोर्लीलोः श्रीभगवता कृते पुनरेकीभावे प्रकटलीलागतविरहश्च शाम्यतीति विवरणमये वत्सलरसप्रान्ते ज्ञेयम् ।

पाण्डवोऽर्जुनः सख्यमुख्यत्वात्, चक्री दुपदनगरस्य कुम्भकारः,

चित्राकारं भजन्नेव मित्राकारमदर्शयत् ॥

तुष्टिर्यथा श्रीदशमे—

तं मातुलेयं परिरभ्य निर्द्वतो-
भीमः स्मयन् प्रेमजवाङ्गुलेन्द्रियः ।
यमौ किरीटी च सुहृत्तमं मुदा
प्रवृद्धवाष्पा परिरेभिरेऽच्युतम् ॥

यथा वा—

कुरुजाङ्गले हरिमवेक्ष्य पुरः
प्रियसंगमं व्रजसुहृन्निकराः ।
भुजमण्डलेन मणिकुण्डलिनः
पुलकाञ्चितेन परिपक्वजिरे ॥

स्थितिर्यथा श्रीदशमे—

यत्पादपांशुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः ।

स एव यद्दृष्ट्विविषयः स्वयं स्थितः किं वर्ण्यते दिष्टमहो व्रजौकसाम् ॥

द्वयोरप्येकजातीयभावमाधुर्य्यभागसौ ॥ ५९ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तथैव भारतव्याख्यानात् , चित्रस्याकारमाकृतितुल्यताम् मित्रयो-
ग्यमाकारमिङ्गितम् ।

प्रकटलीलायामपि श्रीव्रजसुहृन्निकराणां तुष्टिमाह—कुरुजाङ्गल-
इति, कुरुक्षेत्र इत्यर्थः, प्रियांऽमिलषितः सङ्गमो यस्य तम् ।

बहुजन्मभिर्यत्कृच्छ्रं दुःखात्मकमष्टाङ्गयोगसाधनं तेन धृतः स्थि-
रीकृत आत्मा मनो यैस्तैरपि योगिभिर्यत्पादपांसुरलभ्यस्तादृशेना-
त्मनाऽपि लब्धुमशक्यः स एव श्रीकृष्णो न तु तदंशः स्वयमा-
त्मनैव हेतुना न तु हेत्वन्तरेण किन्तु स्वभावेनैव येषामहो आश्चर्य्य-
द्विविषयः स्थितस्तेषां व्रजौकोमात्राणां दिष्टं प्राक्तनं पुण्यं किं वर्ण्य-

प्रेयान् कामपि पुष्पाति रसश्चित्तचमत्कृतिम् ॥
 प्रीते च वत्सले चापि कृष्णतद्भक्तयोः पुनः ॥ ६० ॥
 द्वयोरन्योन्यभावस्य भिन्नजातीयता भवेत् ॥
 प्रेयानेव भवेत्प्रेयानतः सर्वरसेष्वयम् ॥ ६१ ॥
 सख्यसंपृक्तहृदयैः सद्भिरेवानुबुध्यते ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ पश्चिमविभागे मुख्यभक्तिरस-
 निरूपणे प्रेयोभक्तिलहरी ॥ ३ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

ते न हि किन्तु स्वाभाविकी तादृशतया महती स्थितिरेव वर्णनी-
 येत्यर्थः, तदेवं सहविहारकृतां पूर्वोक्तसखीनां किमुतेति भावः, स्थि-
 त इति श्लिष्यादित्वाद् वर्तमाने कः,

यच्च किं चिज्जगत्स्थिमन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ।

अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थित इतिवत् ।

अतः=पूर्वपद्यद्वयोक्ताद्धेतोः प्रेयानेवेत्यादि योज्यम् ॥ १-६१½ ॥

इति पञ्चलहृदय्यात्मके पश्चिमविभागे प्रेयोभक्तिर-
 सलहरी तृतीया ॥

अथ बत्सलभक्तिरसः—

विभावाद्यैस्तु वात्सल्यं स्थायी पुष्टिमुपागतः ॥

एष वत्सलतामात्रः प्रोक्तो भक्तिरसो बुधैः ॥ १ ॥

तत्रालम्बनाः—

कृष्णं तस्य गुरुंश्चात्र प्राहुरालम्बनान् बुधाः ॥

तत्र कृष्णो यथा—

नवकुवलयदामदयामलं कोमलाङ्गं विचलदलकभृङ्गक्रान्तनेत्रास्तुजान्तम् ।

व्रजभुवि विहरन्तं पुत्रमालोकयन्ती व्रजपतिदयिताऽऽसोत्प्रस्नवोत्पीडदिग्धा ॥

श्यामाङ्गो रुचिरः सर्वसल्लक्षणयुतो मृदुः ॥ २ ॥

प्रियवाक् सरलो ह्रीमान् विनयी मान्यमानकृत् ॥

दातेत्यादिगुणः कृष्णो विभाव इह कथ्यते ॥ ३ ॥

एवङ्गुणस्य चास्यानुग्राह्यत्वादेव कीर्तिता ॥

प्रभावानास्पदतया वेद्यस्यात्र विभावता ॥ ४ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

उत्पीडः=स्वयं बलादुद्गमः, दिग्धा लितेति सङ्कीर्णवर्गात् ।

श्यामाङ्ग इत्यास्तां तावत्तत्तद्गुणापेक्षा श्यामाङ्गतामात्रेण जन-
न्यादीनामालम्बनमित्यर्थः, रम्याङ्ग इति वा पाठः,

आलम्बनत्वमेव तस्य विशदयति—एवमिति । अस्य पुत्रत्वे-
नाभिव्यक्तस्य श्रीकृष्णस्य तत एव प्रभावानास्पदतया वे-
द्यस्य=अनभिव्यञ्जितप्रभावस्य क चिदभिव्यञ्जितप्रभावत्वेऽप्यन्य-
थाभावितस्य तस्य यदनुग्राह्यत्वं पुत्रोऽयं ममान्तर्बहिरप्यति-
कोमल इति भावनया मात्रादीनां हितेच्छाविषयत्वं तस्मा-
देव नेतरस्मात् प्रकारादत्र रसे विभावता=मात्रादिषु वात्स-

यथा श्रीदशमे—

त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्त्वतैः ।

उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं साऽमन्यतात्मजम् ॥

यथा वा—

विष्णुर्नित्यमुपास्यते सखि ! मया तेनात्र नीताः क्षयं-

शङ्के पूतनिकाऽऽदयः क्षितिरुहौ तौ वात्ययोन्मूलितौ ।

प्रत्यक्षं गिरिरेष गोष्ठपतिना रामेण सार्द्धं धृत-

स्तत्तत्कर्म दुरन्वयं मम शिशोः केनास्य संभाव्यते ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

ल्याभिधरत्यास्वादजनकता, कीर्तितेति पुत्रतयाऽऽविर्भावमात्रेण सा सिद्धैव पूर्वरीत्याऽनुग्रहोदयेन तु सर्वतः प्रसरत्कीर्तिर्बभूवेत्यर्थः, गुणानां तूद्दीपनतामात्रेण जनकत्वमित्याह-एवङ्गुणस्य चेति । पूर्वदर्शितगुणगणस्यापीत्यर्थः, वात्सल्यानुग्रहयोस्तु कारणकार्यताभेदेन भेदो ज्ञेयः, मम पुत्रोऽयं भ्रातुःपुत्रोऽयमिति स्निग्धता वात्सल्यं, तत्र हितेच्छा त्वनुग्रह इति ।

तदेवं श्रीभागवतमतेन “नेमं विरिञ्च-” इत्याद्यनुसारात् त्रयेत्यादिव्यञ्जिततद्वात्सल्यमहिमानं दर्शयित्वा शुद्धं तदेव दर्शयति-विष्णुरिति । स्पष्टमेव, अनेन श्रीव्रजेद्वय्याः परमार्जवं सूचितं, यद्वा विष्णुरिति नर्म गोष्ठीयं, तत्रायमर्थः-मया सार्द्धं गोष्ठपतिना यद्विष्णुरुपास्यते ततस्तेनैव पूतनाऽऽदयः क्षयं नीताः क्षितिरुहौ तु वात्ययौन्मूलितौ न तत्र तस्यापि सम्बन्ध इति भावेन मच्छिशोरस्य रक्षा तु तेनैव कृतेति ध्वनितं, गिरिस्तु तादृशतदुपासनबलेन तेन गोष्ठपतिनैव धृतः रामेण सार्द्धमिति यदि मम शिशोस्तत्सम्भाव्यते तर्हि कथं रामेऽपि न सम्भाव्यत इत्यर्थः, तदेतत्कचित्तत्पुरातनतादृशगोवर्द्धनधरप्रतिमादृष्ट्या श्रीकविचरणैः स्पष्टीकृतं, “तेन सहेति तुल्ययो-

अथ गुरवः—

अधिकमन्यभावेन शिक्षाकारितयाऽपि च ॥

लालकत्वादिनाऽप्यत्र विभावा गुरवो मताः ॥ ५ ॥

भूर्यनुग्रहचितेन चेतसा लालनोत्कमभितः कृपाऽऽकुलम् ।

गौरवेण गुरुणा जगद्गुरोर्गौरवं गणमगण्यमाश्रये ॥

ते तु तस्यात्र कथिता व्रजराज्ञी व्रजेश्वरः ॥

रोहिणी ताश्च बल्लव्यो याः पद्मजहृतात्मजाः ॥ ६ ॥

देवकी तत्सपत्न्यश्च कुन्ती चानकदुन्दुभिः ॥

सान्दीपनिमुखाश्चान्ये यथापूर्वममी वराः ॥ ७ ॥

व्रजेश्वरीव्रजाधीशौ श्रेष्ठौ गुरुजनेष्विमौ ॥

तत्र व्रजेश्वर्या रूपं यथा श्रीदशमे—

क्षौमं वासः पृथुकटितटे विभ्रती सूत्रनन्द-

पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं जातकम्पं च स्रभूः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

ग"इति समाससूत्रे सहार्थस्य द्वैविध्येऽपि दृष्टे; अत्र मया सार्द्धं रामेण सार्द्धमिति स पुनः सहार्थो विद्यमानतामात्रेण विवक्ष्यते न तुल्ययोगेनेति श्रीव्रजपतिकृतविष्णुसभाजनमेव कारणत्वेन व्यज्य तस्मिन्पाल्यत्वमेव पर्यवसायितम्,

अधिकमन्यभावेनेत्यादिपूपलक्षणे तृतीया, स्वन्यूनपालनेच्छाऽनुग्रहः परदुःखहानेच्छा कृपा, रोहिणीत्यनेनान्याः पितृव्यपत्न्यादयश्चोपलक्ष्यन्ते देवकीसपत्न्यादिभ्य आनकदुन्दुमेर्न्यूनत्वं ज्ञानांसाधिक्येन पुरुषत्वेन च स्नेहांशस्यावरणाद्, व्रजेश्वर्याः श्रेष्ठत्वं स्नेहमात्रपात्रत्वात्, तदुक्तं "पितरौ नानुविन्दतामि"त्यादिना ।

क्षौमं परमसुक्ष्मातसीतन्तुसम्भवम् अतसी स्यादुमा क्षमेत्यमरः,

रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत्कङ्कणौ कुण्डले च
स्विन्नं वक्त्रं कवरविगलन्मालती निर्ममन्थ ॥

यथा वा—

डोरीजूटितवक्रकेशपटला सिन्दूरविन्दूलस-
त्सीमन्तद्युतिरङ्गभूषणविधिं नातिप्रभृतं श्रिता ।
गोविन्दास्यविस्मृत्साश्रुनयनद्वन्द्वानेन्दीवर-
श्यामश्यामरुचिर्विचित्रसिचया गोष्ठेश्वरी पातु वः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

नेन्दीवरेति क्रमदीपिकायां यथासंख्यप्राप्तत्वाल्लभ्यते, तथा हि
तत्रावरणपूजायां—

ततो यजेदलाग्रेषु वसुदेवं च देवकीम् ।

नन्दगोपं यशोदां चेत्युक्त्वा प्राह—

ज्ञानमुद्राऽभयकरौ पितरौ पीतपाण्डुरौ ।
दिव्यमालयाम्बरालेपभूषणौ मातरौ पुनः ॥
धारयन्त्यौ च वरदं पायसापूर्णपात्रकम् ।
अरुणश्यामले हारमणिकुण्डलमण्डिते इति

यत् खलु गौतमीयतन्त्रे—

तद्वाहिर्वसुदेवं च यशोदां देवकीं पुनः ।
वसुदेवो हेमगौरो वराभयकरस्थितिः ॥
देवकी श्यामसुभगा सर्वावरणशोभना ।
यशोदा हेमसङ्काशा शितवस्त्रयुगान्विता ॥
सर्वाभरणसन्दीप्ता कुण्डलोद्भालितानना ।
रोहिणीं च यजेत्तत्र नन्दं गौरं समर्चयेत् ॥
वरदाभयसंयुक्तं समस्तपुरुषार्थदमिति ;

तदेतत्तु विचार्यम् ,

इन्द्रीवरश्यामश्यामरुचिरिति इन्द्रीवरमिव श्यामा न केवलं—

वात्सल्यं यथा—

तनौ मन्त्रन्यासे प्रणयति हरेर्गद्गदमयी
सबाष्पाक्षा रक्षातिलकमलिके कल्पयति च ।
स्नुवाना प्रत्यूषे दिशति च भुजे कर्मणमसौ
यशोदा मूर्त्तैव स्फुरति सुतवात्सल्यपटला ॥

ब्रजाधीशस्य रूपं यथा—

तिलतण्डुलितैः कचैः स्फुरन्तं-
नवभाण्डीरपलाशचास्चेलम् ।
अतितुन्दिलमिन्दुकान्तिभाजं-
व्रजराजं वरकूर्चमर्चयामि ॥

वात्सल्यं यथा—

अवलम्ब्य कराङ्गुलिं निजां स्खलदङ्घ्रिं प्रसरन्तमङ्गने ।
उरसि स्रवदश्रुनिर्झरो मुमुदे प्रेक्ष्य सुतं ब्रजाधिपः ॥

अथोद्दीपनाः—

कौमारादिवयोरूपवेषाः शैशवचापलम् ॥ ८ ॥

जल्पितस्मितलीलाद्या बुधैरुद्दीपनाः स्मृताः ॥

तत्र कौमारं—

आद्यं मध्यं तथा शेषं कौमारं त्रिविधं मतम् ॥ ९ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तादृशी ; आप तु श्यामा रुविर्दीप्तिश्च यस्यास्तादृशी च ; विशेषणयोः
कर्मधारयः, कर्मणं=मूलकर्म रक्षौषधमिति यावत् ।

तिलमिश्रिततण्डुलवदाचराङ्गिः श्याममिश्रश्वेतैरित्यर्थः,

अतितुन्दिलमिति प्रशंसाविषयतया स्थूलमित्यर्थः, “अतिशब्दः
प्रशंसायामि”ति विश्वः,

“कूर्चो विकथने मध्ये भ्रुवोः श्मश्रुणि कैतवे” इति विश्वः ।

तत्रार्थ—

स्थूलमध्योरुताऽपाङ्गश्वेतिमा स्वल्पदन्तता ॥

प्रव्यक्तमार्दवाद्यं च कौमारे प्रथमे सति ॥ १० ॥

यथा—

त्रिचतुरदशनस्फुरन्मुखेन्दुः पृथुतरमध्यकटीरकोरुसीमा ।

नवकुवलयकोमलः कुमारो मुदमधिकां व्रजनाथयोर्व्यतानीत् ॥

अस्मिन्मुहुः पदक्षेपः क्षणिके रुदितस्मिते ॥

स्वाङ्गुष्ठपानमुत्तानशयनाद्यं च चेष्टितम् ॥ ११ ॥

यथा—

मुखपुटकृतपादाम्भोरुहाङ्गुष्ठमूर्ध्व-

प्रचलचरणयुग्मं पुत्रमुत्तानघसम् ।

क्षणमिह विरुदन्तं स्मेरवक्त्रं क्षणं सा

तिलमपि विरताऽऽसीन्नेक्षितुं गोष्ठराज्ञी ॥

अत्र व्याघ्रनखः कण्ठे रक्षातिलकमञ्जनम् ॥

पटहोरी कटौ हस्ते सूत्रमित्यादि मण्डनम् ॥ १२ ॥

यथा—

तरक्षुनखमण्डनं नवतमालपत्रद्युति-

दुर्गमसङ्गमनी ।

स्थूलं मध्यमूरु च यस्य तस्य भावस्तत्ता, त्रयो वा चत्वारो वा त्रिचतुरा इति सन्दिग्धतायामेवायं बहुव्रीहिः, सन्दिग्धत्वं चातिस्फुट-
त्वव्यञ्जनार्थमिति, चत्वार एव दशना वस्तुतो बोध्यन्ते सीमशब्दे-
नात्रास्पदं वाच्यं, तेषामाश्रय इत्यर्थः ।

तरक्षोर्व्याघ्रप्रायतया तच्छब्देनात्र व्याघ्र एव बोधनीयः, द्वितीय-
तमालपत्रं तिलकम्,

शिशुं रुचिररोचनाकृततमालपत्रश्रियम् ।

धृतप्रतिसरं कटस्फुरितपट्सूत्रजं-

व्रजेशगृहिणी छतं न किल वीक्ष्य तृप्तिं ययौ ॥

अथ मध्यं—

दृक्तटीभागलकताऽऽनग्नता च्छिद्रिकर्णता ॥

कलोक्तिरिङ्गणाद्यं च कौमारे सति मध्यमे ॥ १३ ॥

यथा—

विचलदलकरुद्धभूतटीचञ्चलाक्षं-

कलत्रचनमुदञ्चन्नूतनश्रोत्ररन्ध्रम् ।

अलघुरचितरिङ्गं गोकुले दिग्दुकूलं-

तनयममृतसिन्धौ प्रेक्ष्य माता न्यमाङ्गीव ॥

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY

Jangamawadi Math, Varanasi
Acc. No. 006

दुर्गमसङ्गमनी ।

आनग्नता=ईषन्नग्नता, सा चासम्यगाच्छाद्यता कादाचित्कन-
ग्नता चेति द्विविधा, च्छिद्राति नित्ययोगेऽपि तत्राभिव्यक्तत्वा-
दुक्तं, रिङ्गणमेवाद्यं यत्र तद्रिङ्गणाद्यं किञ्चिच्चरणविहारान्तं च-
रितमित्यर्थः,

विचलद्भिरलकै रुद्धे ये भूतय्यौ तत्तलभागौ तत्र चञ्चले अक्षि-
णी यस्य तं, उदञ्चती नूतनयोः श्रोत्रयो रन्ध्रे यस्य तं, रिङ्गणाद्यमिति
यदुक्तं-तत्रत्यं रिङ्गणं चरणविहारं च तन्नेणोदाहरति—अलघुरचित-
रिङ्गमिति । तत्र प्रथमे-अनलपरचितरिङ्गमित्यर्थः, अनेन प्रथमकौमारा-
न्तेऽपि स्वल्पं रिङ्गणं बोध्यते, अथ द्वितीये न लघ्वपि रचितो रिङ्गो-
येन तं किञ्चिच्चरणचर्यया विहरन्तमित्यर्थः, दिग्दुकूलमिति । पूर्ववदी-
षन्नग्नता कादाचित्कनग्नता चेति ज्ञेयम्,

“तनयमनुभवन्ती सा सुधाऽन्धौ विजहे” इति वा पाठः ।

घ्राणस्य शिखरे मुक्ता नवनीतं कराम्बुजे ॥

किङ्किण्यादि च कट्यादौ प्रसाधनमिहोदितम् ॥ १४ ॥

यथा—

कणितकनककिङ्किणीकलापं-

स्मितमुखमुज्ज्वलनासिकाऽग्रमुक्तम् ।

करधृतनवनीतपिण्डमग्रे

तनयमवेक्ष्य ननन्द नन्दपत्नी ॥

अथ शेष—

अत्र किञ्चित्कृशं मध्यमीषत्प्रथितभागुरः ॥

शिरश्च काकपक्षाढ्यं कौमारे चरमे सति ॥ १५ ॥

यथा—

स मनागपचीयमानमध्यः

प्रथिमोपक्रमशिक्षणार्थिवक्षाः ।

दधदाकुलकाकपक्षलक्ष्मी-

जननीं स्तम्भयति स्म दिव्यडिम्भः ॥

घटी फणपटी चात्र किञ्चिद्वन्यविभूषणम् ॥

लघुवेत्रकरत्वादि मण्डनं परिकीर्तितम् ॥ १६ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

नवनीतं कादाचित्कमेव तच्च शोभाकरत्वात्प्रसाधननिर्विशेषः ।

अपचीयमानेति कर्मकर्त्तरि प्रयोगः, स्वयं क्षीणीभवन्मध्य इ-
त्यर्थः, काकपक्षोऽत्र सव्यापसव्यमध्यस्थवेणीत्रयस्य पृष्ठे युतिः ।

घटी=स्वल्पविस्तारवह्वायामः पटविशेषः; यः खलु विचित्रपरि-
वृत्तिबाहुल्येनाधराङ्गे विच्छित्तिं लभते, फणपटी=पुरतः फणाकारः
कच्छीकरणाय पश्चादल्पघटीसंनिभः स्यूतपटः ।

वत्सरक्षा व्रजाभ्यर्णो वयस्यैः सह खेलनम् ॥

पावशृङ्गदलादीनां वादनाद्यत्र चेष्टितम् ॥ १७ ॥

यथा—

शिखण्डकृतशेखरः फणपटीं कटीरे दधत्

कोरे च लगुडीं लघुं सवयसां कुलैरावृतः ।

अवन्निह शङ्कत्करीन् परिसरे व्रजस्य प्रिये !

सुतस्तव कृतार्थयत्यहह पदय नेत्राणि नः ॥

अथ पौगण्डं—

पौगण्डादि पुरैवोक्तं तेन संक्षिप्य लिख्यते ॥

यथा—

पथि पथि स्रभीणामंशुकोत्तंसिमूर्धां

धवलमयुगपाङ्गो मण्डितः कञ्चुकेन ।

लघु लघु परिगुञ्जन्मञ्जुमञ्जीर्युगमं-

व्रजभुवि मम वत्सः कच्छदेशादुपैति ॥

अथ कैशोरं—

अरुणिमयुगपाङ्गस्तुङ्गवक्षःकपाटी-

विलुठदमलहारो रम्यरोमावलिश्रीः ।

पुरुषमणिरयं मे देवकि ! इयामलाङ्ग-

स्त्वदुदरखनिजन्मा नेत्रमुच्चैर्धिनोति ॥

नव्येन यौवनेनापि दीव्यन् गोपेन्द्रनन्दनः ॥ १८ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

पावः=सूक्ष्मवेणुः ।

शिखण्डेति । सुतस्य गृहागमने विलम्बमानतां वीक्ष्य चन्द्रशालि-
काशिखरमारूढस्य श्रीव्रजेशस्य स्वभार्यामपि तथाऽतिव्यग्रां प्रति
वचनम् । शङ्कत्करीन्=वत्सान् ।

भाति केवलबात्सल्यभाजां पौण्ड्रभागिव ॥
 सुकुमारेण पौण्ड्रवयसा संगतोऽप्यसौ ॥ १९ ॥
 किशोराभः सदा दासविशेषाणां प्रभासते ॥

अथ शैशवचायलं—

पारीभिन्नति विकिरत्यजिरे दर्शानि
 सन्तानिकां हरति कृन्तति मन्थदण्डम् ।
 वन्हौ क्षिपत्यविरतं नवनीतमित्थं-
 मातुः प्रमोदभरमेव हरिस्तनोति ॥

यथा वा—

प्रेक्ष्य प्रेक्ष्य दिशः सशङ्कुमसकृन्मन्दं पदं निक्षिप-
 न्नायात्येप लताऽन्तरे स्फुटमितो गव्यं हरिष्यन् हरिः ।
 तिष्ठ स्वैरमजानतीव मुखरे ! चौथ्यंभ्रमदूभूलतं-
 त्रस्यल्लाचनमस्य शुष्यदधरं रम्यं दिदृक्षे सुखम् ॥

अथानुभावाः—

अनुभावाः शिरोघ्राणं करेणाङ्गाभिर्मार्जनम् ॥ २० ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

दासविशेषाणामिति । तत्प्रौढतारूपस्फूर्तिमयलोकपालादीना-
 मित्यर्थः ।

पारी=पानपात्रमिति क्षीरस्वामी, तच्च दुग्धादेर्ज्ञेयं, मृण्मयाच्छाद-
 नभाण्डमिति माथुराः, सन्तानिका=दुग्धोपरिजाततत्सारमयजालि-
 का, अविरतमित्यत्र “त्यपि मुहुरि”ति पाठान्तरं दृश्यम् ।

स्वैरं=मन्दमचञ्चलं तिष्ठ “मन्दस्वच्छन्दयोः स्वैरमि”ति नानार्थात्,
 चौथ्याय भ्रमन्त्यावेवमेवमपहरिष्यामीति भावनया नानागतिं दधत्यौ
 भूलते यस्य तम् ।

आशीर्वादो निदेशश्च लालनं प्रतिपालनम् ॥

हितोपदेशदानाद्या वत्सले परिकीर्तिताः ॥ २१ ॥

तत्र शिरोघ्राणं यथा श्रीदशमे—

तदा क्षणोत्प्रेमरसाप्लुताशया
जातानुरागा गतमन्यवोऽर्भकान् ।
उद्गृह्य दोर्मिः परिरम्य मूर्ध्नि
घ्राणैरवापुः परमां मुदं ते ॥

यथा वा—

दुग्धेन दिग्धा कुचविच्युतेन
समानमाघ्राय शिरः सपिच्छम् ।
करेण गोष्ठेशितुरङ्गनेय-
मङ्गानि पुत्रस्य मुहुर्ममार्ज ॥

चुम्बाश्लेषौ तथाऽऽह्वानं नामग्रहणपूर्वकम् ॥

उपालम्भादयश्चात्र भित्रैः साधारणाः क्रियाः ॥ २२ ॥

अथ सात्त्विकाः—

नवात्र सात्त्विका स्तन्यस्रावः स्तम्भादयश्च ते ॥

तत्र स्तन्यस्रावो यथा श्रीदशमे—

तन्मातरो वेणुरवत्वरोत्थिता-
उद्गृह्य दोर्मिः परिरम्य निर्भरम् ।
स्नेहस्नुतस्तन्यपथःस्रधाऽऽसवं-
मत्वा परं ब्रह्म स्रतानपाययन् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

लालनं=स्नपनादि, प्रतिपालनं=रक्षणम् ।

यथा वा ललितमाधवे—

निचुलितगिरिधातुस्फोटपत्रावलीका-
नखिलछरभिरैणून् क्षालयद्भिर्यशोदा ।
कुचकलशविमुक्तैः स्नेहमाध्वीकमेध्वै-
स्तव नवमभिषेकं दुरधपूरैः करोति ॥

स्तम्भादयो यथा—

कथमपि परिबद्धं न क्षमा स्तब्धगात्रा
कलयितुमपि नालं बाष्पपूरप्लुताक्षी ।
न च छतमुपदेष्टुं रुद्धकण्ठी समर्था
दधतमचलमासीद् व्याकुला गोकुलेशा ॥

अथ व्यमिचारिणः—

अत्रापस्मारसहिताः प्रीतोक्ताः व्यमिचारिणः ॥ २३ ॥

तत्र हर्षो यथा श्रीदशमे—

यशोदा च महाभागा नष्टलब्धप्रजा सती ।
परिष्वज्याङ्कुमारोप्य मुमोचाश्रुकलां मुहुः ॥

यथा वा विदग्धमाधवे—

जितचन्द्रपरागचन्द्रिका-
नलदेन्दीवरचन्दनश्रियम् ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

निचुलितत्वम्=आच्छादितत्वं, स्नेह एव माध्वीकं येषु ते मेध्याश्च
परमपवित्रास्त इति विशेषणयोः समासः, तवापि परमास्वाद्यैरिति
भावः, नवं प्रथममित्यभिषेकान्तरं जलैर्भविष्यदप्यनेनापि पिष्टपेषी-
करिष्यत इति भावः ।

गोकुलेशेत्यत्र गोपराक्षीति पाठान्तरम् ।

चन्द्रपरागादीनां श्रीः सम्पत्तिः साऽप्यत्र शैत्यमाधुर्येव तत्प्रति-

परितो मयि शैत्यमाधुरी-

वहति स्यर्शमहोत्सवस्तव ॥

अथ स्थायी—

सम्भ्रमादिच्युता या स्यादनुकम्प्येऽनुकम्पितुः ॥

रतिः सैवात्र वात्सल्यं स्थायी भावो निगद्यते ॥ २४ ॥

यशोदाऽऽदेस्तु वात्सल्यरतिः प्रौढा निसर्गतः ॥

प्रेमवत्स्नेहवद्भाति कदा चित्किल रागवत् ॥ २५ ॥

तत्र वात्सल्यरतिर्यथा श्रीदशमे—

नन्दः स्वपुत्रमादाय प्रोप्यागत उदारधीः ।

मूधूर्ध्वघ्राय परमां मुदं लेभे कुरुद्वह ! ॥

यथा वा—

विन्यस्तश्रुतिपालिरद्य मुरलीनिस्वानशुश्रूषया

भूयः प्रस्नववर्षिणी द्विगुणितोत्कण्ठा प्रदोषोदये ।

गेहादङ्गनमङ्गनात् पुनरसौ गेहं विशन्त्याकुला

गोविन्दस्य मुहुर्व्रजेन्द्रगृहिणी पन्थानमालोकते ॥

प्रेमवद्यथा—

प्रेक्ष्य तत्र मुनिराजमण्डलैः स्तूयमानमपि मुक्तसम्भ्रमा ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

योगित्वेन निर्दिष्टत्वात्, चन्द्रपरागः=कर्पूरचूर्णः, नलदम्=उशीरम् ।

यशोदाऽऽदेरित्युपलक्षणम् अन्येषामपि प्रौढरतीनां, प्रौढा=राग-
पराकाष्ठात्मिका, प्रेमादिवादिति । यथाऽन्येषां प्रेमादयस्तथा भाति
प्रतीयते, अन्तस्तु सदा प्रौढैवेत्यर्थः ।

“पालिः कर्णलताऽग्रे स्यादि”ति विश्वः, तद्विन्यासेन तु समग्र-
कर्णविन्यास एव लक्ष्यते ।

प्रेक्षा=परम्परया बुद्धेत्यर्थः, अन्तर्वास एव तस्य मिलनौचित्यं-

कृष्णमङ्गलमभि गोकुलेश्वरी

प्रस्तुता कुरुभुवि न्यवीविशत् ॥

यथा वा—

देवक्या विवृतप्रसूचरितयाऽप्युन्मृज्यमानानने

भूयोभिर्वन्देवनन्दनतयाऽप्युद्घुष्यमाणे जनैः ।

गोविन्दे मिहिरग्रहोत्सुकतया क्षेत्रं कुरोरागते

प्रेमा बल्लवनाथयोरतितरामुल्लासमेवाययौ ॥

दुर्गमसङ्गमनो ।

स्यात् प्रेक्षा च बुद्धिरुच्यते, कुरुभुवि न्यवीविशदित्येव पाठः ।

उन्मृज्यमानानन इति बल्लवनाथयोर्मिलनसुखेन तदाननस्या-
श्रुल्लिप्ततां व्यञ्जयति, मिहिरेति । मिहिरग्रहं निमिच्छीकृत्य योत्सुक-
ता=बल्लवनाथावप्यत्रागमिष्यत इति तयोर्दर्शनोत्कण्ठा; तयेत्यर्थः, प्रे-
म्णस्तूलासे हेतुः स्वाभाविकभावप्रेरितायास्तद्विरोधिन्या युक्तेः
स्फुरणमेव ज्ञेयं, कंसवधात्पूर्वमश्रुतभेदवार्त्तानां श्रीव्रजेन्द्रादीनां तद्व-
धादुत्तरम्;

“अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता यां वहसेऽवुधे”-

त्याकाशवाणीप्रामाण्यमात्रेण श्रीकृष्णे स्वान्वयतां वदत्सु
स्वपुत्रपरिवृत्तिवार्त्तया व्यक्तया तु पुनस्तदुपादानमन्याय्यं स्यादिति
तां गोपयत्सु तत्परिवृत्तिसूचकहरिवंशरीत्या गुप्ततया नारदेन कंस-
प्रति कृतं भेदमपि गोपयत्सु यादवेषु; सा युक्तिरीदृशी, अस्यास्त्वामष्ट-
मइत्यादिकं खलु

“किं मया हतया मन्द ! जातः खलु तवान्तकृत् ।

यत्र क वा पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणान् वृधे”ति-

देवीबाण्या व्यभिचारितं कंसेनापि तथा सूचितं-

“दैवमप्यनृतं वक्ति न मर्त्या एव केवलमि”ति;

यदि च किमप्यत्र संदर्भान्तरं स्यात् तदा सर्वत्रावञ्चकशीलेन

स्नेहवद्यथा—

पीयूषद्युतिभिः स्तनाद्विपतितैः क्षीरोत्करैर्जान्हवी
कालिन्दी च विलोचनाब्जजनितैर्जाताञ्जनश्यामलैः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

निरुपाधिवन्धुभावभावितेन वसुदेवेन—

“दिष्ट्या भ्रातः ! प्रवयस इदानीमप्रजस्य ते ।

प्रजाशया निवृत्तस्य प्रजा यत् समपद्यते”—

त्यादिकं न प्रोच्येत; तस्माद्यथा—

“प्रागयं वसुदेवस्य क चिज्जातस्तवात्मज” इति

गर्गेणात्र प्रोक्तं तथा तत्रापि नूनं प्रोक्तमिति, सम्प्रति स्वकार्यसा-
धनार्थमेव प्राचीनमर्वाचीनं वेत्याविविच्य स्वान्वयत्वमात्रं ते प्रचा-
रयामासुः,

भवतु नाम तत्तदपि यतः स्वपुत्रे योग्या जना यदि पुत्रवदाच-
रन्ति तदा पित्रोः सुखमेव स्यात् किमुत प्रेम्णा याभ्यामभिन्नौ देव-
कीवसुदेवौ; तदेतदनुसन्धाय-स्वयं कृष्णेनाप्येतदुक्तं—

“यात यूयं व्रजं तात ! वयं च स्नेहदुःखितान् ।

ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखमि”ति;

तस्मात्सुहृत्सु वसुदेवादिष्वस्माभिर्यावत्तत्सुखविधानं भवद्-
भिस्तावद् गाम्भीर्यं कार्यमिति सूचितम्,

श्रीमदुद्धवं प्रति च रहस्तथैव निजहार्दमुक्तं—

“गच्छोद्धव ! व्रजं सोम्य” इत्यादौ “पित्रोर्नः प्रीतिमावहे”ति,

यत्तु कुरुक्षेत्रयात्रायां श्रीदेवक्या श्रीयशोदां प्रति “एतावदष्ट-
पितरा”वित्युक्तं तत्राप्यनया तत्क्षणमिलितचिरवियुक्तपुत्रतया नाव-
धानं कृतमिति गम्यते; यत एवानन्तरं न किञ्चिदप्युक्तमिति दिक् ।

पीयूषेति सूच्योपरागयात्राव्याजेन स्वपुत्रदर्शनोत्कण्ठया व्रज-
हरि० ५२

आरान्मध्यमवेदिमापतितयोः क्लिन्ना तयोः सङ्गमे
वृत्ताऽसि व्रजराशि ! तत्सुखमुखप्रेक्षां स्फुटं वाञ्छसि ॥

रागवद्यथा—

तुषारति तुषानलोऽप्युपरि तस्य बद्धस्थिति-
भवन्तमवलोकते यदि मुकुन्द ! गोष्ठेश्वरी ।
सुधाऽम्बुधिरपि स्फुटं विकटकालकूटत्यलं-
स्थिता यदि न तत्र ते वदनपद्ममुद्गीक्ष्यते ॥

अथायोग उत्कण्ठितं—

वत्सस्य हन्त शरदिन्दुविनिन्दिवक्त्रं—
सम्पादयिष्यति कदा नयनोत्सवं नः ।
इत्यच्युते विहरति व्रजवाटिकाया—
मुर्वी त्वरा जयति देवकनन्दिनीनाम् ॥

यथा वा—

आतस्तनयं आतु—
मम सन्दिश गान्धिनीपुत्र ! ।
आतृव्येषु वसन्ती
दिदृक्षते त्वां हरे ! कुन्ती ॥

अथ वियोगो यथा श्रीदशमे—

यशोदा वर्ण्यमानानि सुतस्य चरितानि च ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

न्यां व्रजेस्वर्यां कस्याश्चित्परिचितचरतापस्या वचनं, क्षीरं दुग्धं-
जलं च, मध्यमो मध्यभागः स एव वेदिस्तां पक्षे मध्यमवेदिं प्रयागम् ।

हे मुकुन्द ! गोष्ठेश्वरी यदि भवन्तमवलोकते तदा तुषानलोऽपि
तुषारति तुषारवदाचरति, कीदृशी सत्यवलोकते तत्राह—तस्य तुषान-
लस्योपरि बद्धस्थितिरित्यन्वयः, एवमुत्तरत्रापि ।

आतृव्येषु=शत्रुषु ।

शृण्वत्यश्रूयवास्त्राक्षीत् स्नेहस्तुतपयोधरा ॥

यथा वा—

याते राजपुरं हरौ मुखतटी व्याकीर्णभ्रूजालका
पश्य स्रस्ततनुः कठोरलुठनैर्देहे व्रणं कुर्वती ।
क्षीणा गोष्ठमहीमहेन्द्रमहिषी हा पुत्र पुत्रेत्यसौ
क्रोशन्ती करयोर्युगेन कुरुते कष्टादुरस्ताडनम् ॥

बहूनामपि सद्भावे वियोगेऽत्र तु के चन ॥

चिन्ताविषादनिर्वेदजाड्यदैर्न्यानि चापलम् ॥ २६ ॥

उन्मादमोहावित्याद्या अत्युद्रेकं व्रजन्त्यमी ॥

तत्र चिन्ता—

मन्दस्पन्दमभूत् क्लमैरलघुभिः सन्दानितं मानसं—
द्वन्द्वं लोचनयोश्चिरादविचलव्याभुम्रतारं स्थिरम् ।
निश्वासैः स्रवदेव पाकमयते स्तन्यं च तप्तैरिदं—
नूनं बलवराजि ! पुत्रविरहोद्घूर्णाभिराक्रम्यसे ॥

विपादः—

वदनकमलं पुत्रस्याहं निमीलति शैशवे
नवतरुणिमारम्भोन्मृष्टं न रम्यमलोक्यम् ।
अभिनववधूयुक्तं चासुं न हर्म्यमवेशयं—
शिरसि कुलिशं हन्त क्षिप्तं स्वफलकघृतेन मे ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

मन्दस्पन्दमिति श्रीकृष्णस्य वनगमने कस्याश्चिद्वचनं, सन्दानितं=
बद्धं, निश्वासैः स्रवदेवेत्यादिपाठ एव पुत्रविरहसूचकः ।

वदनेति श्रीकृष्णस्य द्वारकायां गार्हस्थ्यनिष्ठां श्रुत्वा श्रीव्रजेश्व-
रीवचनम् ।

निवेदः—

धिगस्तु हतजीवितं निरवधिश्रियोऽप्यद्य मे
मया न हि हरेः शिरः स्नुतकुचाग्रमाग्रायते ।
सदा नवसुधादुहामपि गवां परार्धं च धिक्
स लुञ्चति न चञ्चलः सुरभिगन्धि यासां दधि ॥

जाड्यं—

यः पुण्डरीकेक्षण ! तिष्ठतस्ते
गोष्ठे कराम्भोरुहमण्डनोऽभूत् ।
तं प्रेक्ष्य दण्डस्तिमितेन्द्रियाऽद्य
दण्डाकृतिस्ते जननी बभूव ॥

दैन्यं—

याचते बत विधातरुदस्त्रा
त्वां रदैस्तृणमुदस्य यशोदा ।
गोचरे सकृदपि क्षणमद्य
मत्सरं त्यज ममानय वत्सम् ॥

चापलं—

किमिव कुरुते हर्म्ये तिष्ठन्नयं निरपत्रपो—
व्रजपतिरिति ब्रूते मुग्धोऽयमत्र मुदा जनः ।
अहह तनयं प्राणेभ्योऽपि प्रियं परिहृत्य तं—
कठिनहृदयो गोष्ठे स्वैरी प्रविश्य सुखीयति ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

धिगस्त्विति विरहचिन्तया चित्तानवस्थानात्तद्वात्यस्फूर्तिमयं-
वचनम्, अत एव च लुञ्चतीत्युक्तं, सदा नवसुधादुहामित्येव पाठो-
धिकारपोषकः ।

किमिवेत्यतिदुःखमयं श्रीव्रजेश्वरीवाक्यं, मुदेति । हास्यपूर्वकमि-
त्यर्थः, अत्र=जगति, मुग्धो जनः=देशान्तरस्थविपक्षरूपः, तदिदमपि

उन्मादः—

क मे पुत्रो नीपाः ! कथयत कुरङ्गाः ! किमिह वः
स बभ्रामाम्यर्णे भणत तदुदन्तं मधुकराः ! ।
इति भ्रामं भ्रामं भ्रमभरविदूना यदुपते !
भवन्तं पृच्छन्ती दिशि दिशि यशोदा विचरति ॥

मोहः—

कुटुम्बिनि ! मनस्तटे विधुरतां विधत्से कथं—
प्रसादय दृशं मनाक् तव सुतः पुरो वर्तते ।
इदं गृहिणि ! मे गृहं न कुरु शून्यमित्याकुलः
स शोचति तव प्रसू यदुकूलेन्द्र ! नन्दः पिता ॥

अथ योगे सिद्धिः—

विलोक्य रङ्गस्थललब्धसङ्गमं—
विलोचनाभीष्टविलोकनं हरिम् ।
स्तन्यैरसिञ्चन्नवकञ्चुकाञ्चलं—
देव्यः क्षणादानकदुन्दुभिप्रियाः ॥

तुष्टिर्यथा प्रथमे—

ताः पुत्रमङ्कमारोप्य स्नेहस्नुतपयोधराः ।
हर्षविह्वलितात्मानः सिपिचुर्नेत्रजैर्जलैः ॥

यथा वा ललितमाधवे—

नयनयोः स्तनयोरपि युग्मतः
परिपतद्भिरसौ पयसां झरैः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

दुःखेन वितर्कमयमेव, तस्य तादृशवचनं च युक्तमेवेत्याह—अहहेति ।

क मे पुत्र इत्यकस्मान्मथुरातस्तत्पलायनं श्रुत्वा तस्या वचनम्,
उदन्तं=वार्त्ताम् ।

अहह बल्लभराजगृहेश्वरी

स्वतनयं प्रणयादभिषिञ्चति ॥

स्थितिर्यथा विदग्धमाधवे—

अहह कमलगन्धेरत्र सौन्दर्यवृन्दे

विनिहितनयनेयं त्वन्मुखेन्दोर्मुकुन्द ! ।

कुचफलशमुखाभ्यामम्बरक्रोपमम्बा

तव मुहुरतिहर्षाद्वर्षति क्षीरधाराम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

बल्लभराजविलासिनीत्यत्र बल्लभराजगृहेश्वरीति पाठान्तरम् ।

अम्बरक्रोपमम्बरमाद्रियित्वेत्यर्थः;

अनया स्थित्या नित्यस्थितिरपि प्रत्यागमनान्तरं प्रेयोरसान्ते
सूचितसिद्धान्तवदुन्नेया, किं चित्तु विशद्यते—

तत्र सत्यसङ्कल्पतया वेदादिगीतस्य तस्य

“ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्ट्यामो विधाय सुहृदां सुखमि”ति,

प्रत्यागमनसङ्कल्पः श्रीदशमे स्पष्ट एव, अत्र द्रष्टुमिति दर्शनस्य
पुरुषार्थत्वेन निर्देशो नित्यावस्थायित्वं बोधयति;

यद्वा द्रष्टुमिति दर्शनविषयीभवितुमित्यर्थः,

“तथाऽपि भूमन् ! महिमाऽगुणस्य ते

विवोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिरि”-

त्यत्र विवोद्धुं बोधविषयीभवितुमितिवत्,
तदेतदेव विवृतं श्रीमदुद्धवेन—

“हत्वा कंसं रङ्गमध्ये प्रतीपं सर्वसात्वताम् ।

यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत् ॥

आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः ।

प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान् सात्वतां पतिरिति”ति,

दुर्गमसङ्गमनी ।

अत्र पित्रोः प्रियविधानं खलु सदा तत्संयोग एवेति,
तदेतदागमनसमयश्च दन्तवक्रवधानन्तरमेव
तथा च सुचितं स्वयमेव—

“अपि स्मरथ नः सख्यः ! स्वानामर्थचिकीर्षया ।

गतांश्चिरायितान् शत्रुपक्षक्षपणचेतसः” इति,

तदिदं शत्रुवधान्ते दन्तवक्रेऽपि शान्ते निजागमनं भावीति कुरु-
क्षेत्रयात्रायां भगवद्बचनं, यात्रा चेयं दन्तवक्रवधात्पूर्वमेव,

अत्र वनपर्वरीत्या सालवधसहितस्यास्य दन्तवक्रवधस्य
समकालमेव हि पाण्डवानां वनगमनं, तेषामागमनानन्तरमेव च भी-
ष्मादिवधमयभारतयुद्धं, सा यात्रा च भीष्माद्यागमनमयीति, तथा
श्रीबलदेवतीर्थयात्रा कुरुक्षेत्रयात्रातः पूर्वं पठिता; तत्तीर्थयात्रा च
दुर्योधनवधदिने पूर्णेति,

दन्तवक्रवधानन्तरं प्रत्यागमनं च तस्य पाद्मोत्तरखण्डे स्फुटं-
दृश्यते—

“कृष्णोऽपि तं हत्वा यमुनामुत्तीर्य नन्दव्रजं गत्वा सोत्कण्ठौ पि-
तरावभिवाद्याश्वास्य ताभ्यां साश्रुकण्ठमालिङ्गितः सकलगोपवृद्धान्
प्रणम्याश्वास्य बहुवस्त्राभरणादिभिस्तत्रस्थान् सर्वान् सन्तर्प्या-
मासे”ति गद्येन,

अतः श्रीभागवते च भारतयुद्धानन्तरं श्रीकृष्णस्य द्वारकाप्रवेशे
प्रथमस्कन्धस्थद्वारकाप्रजावचनम्—

“यह्यम्बुजाक्षपससार भो ! भवान्

कुरुन् मधून् वाऽपि सुहृद्दिदक्षया ।

तत्राब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवे-

द्रविं विनाऽक्षणोरिव नस्तवाच्युते”ति,

अत्र मधून् मथुरां वेति स्वामिटीका च, सुहृदश्च तदा तत्र श्री-

दुर्गमसङ्गमनी ।

व्रजस्था एव

“तत्र योगप्रभावेण नीत्वा सर्वजनं हरिरिति; सर्वशब्दात्,

“बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ ! भगवान् रथमास्थितः ।

सुहृदिदक्षुरुत्कण्ठः प्रययौ नन्दगोकुलमिति,

तत्रैव तच्छब्दप्रयोगात् तदेवमभीष्टाय श्रीकृष्णस्य व्रजप्रत्यागमनाय श्रीभागवतपाद्मयोः संवादे दर्शिते तदानुषङ्गिकं तु दन्तवक्रवधस्थानं कल्पभेदरीत्या वैष्णवतोषणीरीत्वा वा विवादं परिहृत्य सङ्गमनीयम्,

तदेवमपि पुनः श्रीकृष्णस्य द्वारकागमनं च द्वारकोचितनिजप्रादुर्भावान्तरेणैव, यथोक्तं पाद्मोत्तरखण्डे तदनन्तरमेव—

“अथ तत्रस्था नन्दादयः पुत्रदारसहिताः पशुपक्षिमृगादयश्च वासुदेवप्रसादेन दिव्यरूपधरा विमानमारूढाः परमं वैकुण्ठमवापुरि”ति,

“कृष्णस्तु नन्दगोपव्रजौकसां सर्वेषां निरामयं स्वपदं दत्वा दिवि देवगणैः संस्तूयमानो द्वारवतीं विवेशेति च,”

तत्र नन्दादयः पुत्रदारसहिता इति श्रीमन्नन्दस्य तद्वर्गमुख्यस्य पुत्रः श्रीकृष्ण एव, दाराश्च श्रीयशोदैवेति प्रसिद्धमपि पुत्रादिशब्दोक्त्या तत्तद्रूपैरेव तैः सह तत्र प्रवेश इति गम्यते, अतो व्रजं प्रति प्रत्यागमनरूपेण वासुदेवप्रसादेन दिव्यरूपधरा इत्युल्लासेन परमविराजमानरूपत्वमेव विवक्षितं, विमानेन तेषां परमवैकुण्ठप्रस्थापनं च प्रापञ्चिकजनस्य वञ्चनार्थमेव प्रपञ्चितम्,

वस्तुतस्तु तददृश्ये वृन्दावनस्यैव प्रकाशविशेषे प्रवेशनं; प्रवेश्य च तत्र स्थितानामप्रकटप्रकाशानामेषु प्रकटचरप्रकाशेष्वन्तर्भावनं कृतं, यथा प्रकटलीलागतषोडशसहस्रविवाहे श्रीनारददृष्टयोगमाया-

दुर्गमसङ्गमनी ।

वैभवे सर्वान्तःपुरेभ्यः सुधर्माप्रवेशे च तादृशत्वमिति,

पूर्वमपि श्रीवृन्दावन एवास्मिंस्तेषां तेन तत्र यथा प्रवेशनं-
श्रीशुकेन दर्शितं,

तथा हि श्रीदशमे—

“नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा लोकपालमहोदयम् ।

कृष्णे च संनतिं तेषां ज्ञातिभ्यो विस्मितोऽब्रवीत् ॥

ते चैतसुकथयधियो राजन् ! मत्वा गोपास्तमीश्वरम् ।

अपि नः स्वगार्तिं सूक्ष्मासुपाधास्यदधीश्वरः ॥

इति स्वानां स भगवान् विज्ञायाखिलदृक् स्वयम् ।

सङ्कल्पसिद्धये तेषां कृपयैतदचिन्तयत् ॥

जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्याकामकर्मभिः ।

उच्चावचासु गतिषु न वेद स्वां गतिं भ्रमन् ॥

इति सञ्चित्य भगवान्महाकारुणिको विभुः ।

दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम् ॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्मज्योतिः सनातनम् ।

यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः ॥

ते तु ब्रह्महदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः ।

ददृशुर्ब्रह्मणो लोकं यत्राकूरोऽध्यगात् पुरा ॥

नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृताः ।

कृष्णं च तत्र छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिता” इति,

अत्र खलु यन्निजपदं तेषामेवास्पदतया पुरा तेषामेव दृष्टिपथम-
कार्षीत्तदेव पश्चाद् व्यतारीदिति गम्यते,

ब्रह्महदम्=अकूरतीर्थं, तन्माहिमानं लक्ष्यं विधातुं कृष्णेन नीता म-
ग्नाश्च पुनः कृष्णेनैवोद्धृताः; उद्धृत्य वृन्दावनप्रदेशमानीतास्तस्मिन्नेव
नराकृतिपरब्रह्मणस्तस्य लोकं ददृशुरिति च लभ्यते, कोऽसौ ब्रह्म-

दुर्गमसङ्गमनी ।

दस्तत्राह—यत्रेति, पुरेत्येतत्प्रसङ्गाद्भाविकाल इत्यर्थः,

“पुरा पुराणे निकटे प्रवन्धातीतभाविष्वि”ति विश्वप्रकाशाद्,
यद्यपि ब्रह्मलोकशब्देन भगवल्लोकमात्रं द्वितीये “ब्रह्मलोकः सना-
तन” इत्यनेन लब्धं, “सूक्ष्मामि”ति; “तमसः परमि”ति, च तदेव सा-
मान्यतो व्यक्तं च; तथाऽ“प्यपि नः स्वगतिं सूक्ष्मामि”ति; “न वेद
स्वां गतिमि”ति “गोपानां स्वं लोकमि”ति “कृष्णं” च तत्रे”ति
श्रीगोपाललोक एव विशेषाल्लभ्यते, तत्र छन्दोभिः स्तूयमानमिति
तज्जन्मादिलीलावर्णिनीनां श्रुतिवरवर्णिनीनां साक्षिता तु तेषु तस्य
प्रत्यभिज्ञापनार्थमेव, अत एवात्मान एव च तत्परिकरतया तैरनु-
भूता इति नान्ये वर्णिताः; तदेकरुचीनां तेषां विस्मितिः परमानन्द-
निर्वृतिश्च घटते, तस्य स्वलोकतायामप्यवतारावसरे तेषामज्ञाने
कारणं “जनो वा” इति सालोक्यसार्ष्ट्यादिपद्यस्थजनशब्दवदत्रापि
जनस्तदीयस्वजन एवोच्यते तत्राप्यत्र परमस्वजनत्वं गम्यते,

“तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम् ।

गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहित”-

इति श्रीकृष्णस्य मनसि भावनादेव, ततश्च परमस्वजनोऽयं मम
व्रजवासिलक्षणः प्रापञ्चिके लोके याः स्वाविद्याऽऽदिभिर्देवतिर्यगादि-
रूपा गतयस्तासु भ्रमंस्तस्मिन्निर्विशेषतयाऽऽत्मानं मन्वानो दर्शयि-
ष्यमाणो स्वां गतिं न जानातीत्यर्थः; मदीयलोकवल्लीलाऽवेशादेवेति
भावः,

“इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा ।

कुर्वन्तो रममाणाश्च नाबिन्दन् भववेदनामि”त्यादेः,

“यद्भामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्तत्कृत” इत्यादेः,

“कृष्णे कमलपत्राक्षे संन्यस्ताखिलराधस”-

इत्यादेश्च,

दुर्गेमसङ्गमनी ।

तदज्ञानादेव “नन्दस्त्वतीन्द्रियमि”त्यादिकं घटत एव इति, स एष एव श्रीवृन्दावनस्य प्रकाशविशेषः श्रीवाराहेऽप्युपलक्षितः, तद्यथा—

“तत्रापि महदाश्चर्यं पश्यन्ते पण्डिता नराः ।

कालियहृदपूर्वेण कदम्बो महितो द्रुमः ॥

शतशाखं विशालाक्षि ! पुण्यं सुरभिगन्धि च ।

स च द्वादशमासातिमनोज्ञः शुभशीतलः ॥

पुष्पायति विशालाक्षि ! प्रभासन्ते दिशो दशे”ति,

तथा—

“तत्राश्चर्यं प्रवक्ष्यामि तच्छृणु त्वं वसुन्धरे ! ।

लभन्ते मनुजा सिद्धिं मम कर्मपरायणाः” ॥

तस्य तत्रोत्तरे पार्श्वेऽशोकवृक्षः शितप्रभः ।

वैशाखस्य तु मासस्य शुक्लपक्षस्य द्वादशी ॥

स पुष्यति च मध्याह्ने मम भक्तसुखावहः ।

न कश्चिदपि जानाति विना भागवतं शुचिमि”ति,

अत्र तत्रापि महदाश्चर्यमित्यादिभिस्त्वया पृथिव्याऽपि न ज्ञायत-
इति बोध्यते, तस्य=ब्रह्मकुण्डस्येत्यर्थः,

तथा हि स्कान्दे—

“वृन्दावनं द्वादशमं वृन्दया परिरक्षितम् ।

हरिणाऽधिष्ठितं तच्च ब्रह्मरुद्रादिसेवितमि”ति,

आदिवाराहे—

“कृष्णक्रीडासेतुबन्धं महापातकनाशनम् ।

बलभीं तत्र क्रीडाऽर्थं कृत्वा देवो गदाधरः ॥

गोपकैः सहितस्तत्र क्षणमेकं दिने दिने ।

तत्रैव रमणार्थं हि नित्यकालं स गच्छती”ति च,

दुर्गमसङ्गमनी ।

“वत्सैर्वत्सतरीभिश्चे”त्यादिकं तु दर्शितमेव; तस्माद्
 “अके चेन्मधु बिन्देत किमर्थं पर्वतं ब्रजेदि”ति—
 न्यायेन समीपे लब्धे दुरगमनप्रक्रिया संगोपतार्थमेव संभ-
 वति, तस्माद् वृन्दावनस्य प्रपञ्चागोचरप्रकाशविशेष एव तेषां-
 प्रवेशः,

तथा चोक्तं बृहद्भोतमीये स्वयं भगवता—

“इदं वृन्दावनं रम्यं मम धामैव केवलम् ।

अत्र मे पशवः पक्षिमृगाः कीटा नरामराः ॥

ये वसन्ति ममाधिष्ठे मृता यान्ति ममालयम् ।

अत्र या गोपकन्याश्च निवसन्ति ममालये ॥

योगिन्यस्ता मया नित्यं मम सेवापराधनाः ॥

पञ्चयोजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम् ।

कालिन्दीयं सुषुम्णाऽऽख्या परमामृतवाहिनी ॥

अत्र देवाश्च भूतानि वर्तन्ते सुक्ष्मरूपतः ।

सर्वदेवमयश्चाहं न त्यजामि वनं क्वचित् ॥

आविर्भावस्तिरोभावो भवेन्मेऽत्र युगे युगे ।

तेजोमयमिदं रम्यमदृश्यं चर्मचक्षुषे”ति,

श्रीगोपालोत्तरतापन्यां च श्रीमतीर्गोपीः प्रति दुर्वाससो वचनम्—

“जन्मजराभ्यां भिन्नः स्थाणुरयमच्छेद्योऽयं योऽसौ सौर्यं तिष्ठति
 योऽसौ गोषु तिष्ठति योऽसौ गोपान् पालयति योऽसौ गोपेषु तिष्ठति
 योऽसौ सर्वेषु वेदेषु तिष्ठति योऽसौ सर्वैर्वेदैर्गीयते योऽसौ सर्वेषु
 भूतेष्वाविश्य भूतानि विदधाति स वो हि स्वामी भवती”ति,

सौर्य इति ।

सौरी=यमुना, तददूरभवे देशे वृन्दावन इत्यर्थः, तस्मात्कंसादिक-
 दन्तवक्रान्तमसुरचक्रं संहृत्य ब्रजमागत्य च वृन्दावन एव रहस्यप्रका-

दुर्गमसङ्गमनी ।

शविशेषे सर्वव्रजवासिभिः सह श्रीमन्नन्दनन्दनेन नित्यावस्थितिः कृ-
तेत्यवगतम्,

अत एव वृन्दावनलीलायां तस्य निहतकंसता च निर्दिष्टा पाता-
लखण्डे—

“अहो अभाग्यं लोकस्य न पीतं यमुनाजलम् ।

गोगोपगोपिकासङ्गे यत्र क्रीडति कंसहे”ति,

बोधायनकर्मविपाके च—

गोगोपावृतगोविन्दाराधने—

“गोविन्दगोपीजनवल्लभेश !

कंसासुरघ्न ! त्रिदशेन्द्रबन्धे”ति

मन्त्रविशेषश्च,

यदत्रैव वीररसे लीलायुद्धे वक्ष्यते-

“प्रोत्साह्यस्यतितरां किमिहाग्रहेण

मां केशिसूदन ! विदन्नपि भद्रसेनमि”ति,

तच्चेत्थमभिप्रायादेव केशिवधादधस्तात्तादृशलीला स्वाच्छन्द्या-
वान्तरकालासम्भवात् ,

किंचात्र ग्रन्थे लीलावर्णनास्त्रिविधाः—व्रजलीलामय्यो व्रज-
त्यागमय्यः पुरलीलामय्यश्चेति, श्रोतारश्च त्रिविधाः—व्रजजना-
नुगाः पुरजनानुगाः तदस्थाश्चेति, सर्वेषां सुखपोषार्थमेव च ता-
निर्दिष्टाः,

तत्र तदस्थानां सर्वा एव सुखपोषिका भवन्ति श्रीकृष्णमात्रतात्प-
र्यकत्वात्,

पुरजनानुगानां व्रजलीलाश्च सुखपोषिका भवन्ति “अस्मदी-
यश्रीमदानकदुन्दुमिनन्दनस्तत्र व्रजे स्थित्वा विचित्रा लीला वि-
धाय पुरमागत्य तासामुपधारणया श्रीमदानकदुन्दुभ्यादीनां सुखपो-

दुर्गमसङ्गमनी ।

षाय जात' इति भावनया, तस्मादासातां तावदन्ये द्वे लीले,

ब्रजजनानुगानां तु पुरसम्बन्धिन्यः सुखपोषिका न भवन्त्येव
प्रत्युत दुःखपोषिकाः; पुनस्तस्य ब्रजागमनानुदङ्कनात् ततस्तु
ब्रजलीलामयश्च दुःखदत्वेनैव पर्यवसिताः किमुत ब्रजत्यागमयः,

सर्वेषामेव च सुखं पोष्टुमिच्छद्भिर्ग्रन्थकृद्भिः सर्वा लीला व-
र्णिताः,

विशेषतश्च--

"अलौकिका त्वयं कृष्णरतिः सर्वाद्भुताद्भुता ।

तत्रापि बल्लवाधीशनन्दनालम्बना रतिः ॥

सान्द्रानन्दचमत्कारपरमावधिरिष्यत"-

इति स्पष्टोक्तिर्व्रजजनानुगानामेव सर्वाधिकं सुखं पोष्टव्यम् ,

तस्मादुक्तरीत्या स्वयमेव संक्षेपभागवतामृते लिखितं श्री-
कृष्णस्य पुनर्व्रजागमनपूर्वकं पुरगततत्तद्विजयश्रवणादपि पुष्टसुखानां
ब्रजजनानां मध्ये नित्यावस्थानमेव ग्रन्थकृतां हृद्गतं, तेन तत्तच्छ्रव-
णेन ब्रजजनानुगा अपि पुष्टसुखाः स्युः,

"परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च मम प्रियमि"तिवत्,

प्रकटं तु तन्न पाठितमिति ज्ञेयम् ,

नित्यावस्थानं चात्र कैमुत्येन गत्यन्तरास्वीकारेण च श्रीमद्भाग-
वते दर्शितं—

"एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देवरातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति ।

सद्वेषादिब पूतनाऽपि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृत" इति,

"तासामविरतं कृष्णे कुर्वतीनां सुतेक्षणम् ।

न पुनः कल्पते राजन् ! संसारोऽज्ञानसम्भव-

स्वीकुर्वते रसमिमं नाट्यज्ञा अपि के चन ॥ २७ ॥

तथाऽऽहुः—

“स्फुटञ्चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः ।

स्थायी वत्सलताऽस्येह पुत्राद्यालम्बनं मतम्” ॥

दुर्गमसङ्गमनो ।

इति च,

पूर्वत्र तस्य तेषु ऋणित्वप्राप्तेस्तत्प्राप्तेश्चानादिकल्पपरम्परा-
प्राप्तत्वाभित्यावस्थानमवगम्यते ।

सद्वेषादिति । सतां धात्रीजनानां वेषादित्यर्थः, उत्तरत्र च तत् ए-
वेत्थं व्याख्येयं—संसारः=संसारित्वं, न पुनर्न तु कल्पते=घटते, तत्र
हेतुः—अविरतमाद्यन्तमध्यविच्छेदहीनं यथा स्यात्तथा कृष्णे सुतेक्षणं-
सुत इति प्रत्यक्षतां कुर्वतीनां=तत्कृतितया सदा वर्त्तमानानामिति,

अस्या नित्यावस्थितेः परिपाटीविशेषस्तत्तरगोपालचम्पूद-
ष्टया निष्टङ्गयो, दिग्दर्शनं चेदं—

“मातुर्लीलनमेत्य सम्मतिमितस्तातस्य च भ्रातृभिः

सार्द्धं धेनुगणावनाय विपिनं गत्वा चरन् क्रीडितम् ।

आगम्याथ गृहं समस्तसुहृदामीदृक् प्रतीतं भज-

त्येष श्रीव्रजराजनन्दनवरः इवासो न एषामिति,”

श्रीमथुराद्वारकयोर्नित्यावस्थितिश्च—

“मथुरा भगवान् यत्र नित्यं संनिहितो हरिरिति”ति;

“नित्यं संनिहितस्तत्र भगवान् मधुसूदन”-

इति दशमैकादशयोर्द्वष्टव्या,

विशेषजिज्ञासा चेद्वैष्णवतोषणीकृष्णसन्दर्भगोपालचम्पूद्वयलो-
चनरोचनीनामोज्ज्वलनीलमणिटीका द्रष्टव्याः ।

किंच—

अप्रतीतौ हरिरतेः प्रीतस्य स्यादपुष्टता ॥

प्रेयसस्तु तिरोभावो वत्सलस्यास्य न क्षतिः ॥ २८ ॥

एषा रसत्रयी प्रोक्ता प्रीतादिः परमाद्भुता ॥

तत्र केषु चिदप्यस्या संकुलत्वमुदीर्यते ॥ २९ ॥

सङ्कर्षणस्य सख्यं तु प्रीतिवात्सल्यसङ्गतम् ॥

युधिष्ठिरस्य वात्सल्यं प्रीत्या सख्येन चान्वितम् ॥ ३० ॥

आहुकप्रभृतीनां तु प्रीतिर्वात्सल्यमिश्रिता ॥

जरदाभीरिकाऽऽदीनां वात्सल्यं सख्यमिश्रितम् ॥ ३१ ॥

माद्रेयनारदादीनां सख्यं प्रीत्या करम्बितम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

अप्रतीतौ=अनिर्णये, हरिरतेः=हरिकर्तृकरतेः ।

संकर्षणस्येति । अत्र संकर्षणस्य सख्यं—

“नृत्यतो गायतः कापि बलगतो युध्यतो मिथः ।

गृहीतहस्तौ गोपालान् हसन्तौ प्रशशंसतुः” ॥

वात्सल्यं यथा—

“क चित्क्रीडापरिश्रान्तं गोपोत्सङ्गोपबर्हणम् ।

स्वयं विश्रमयत्यार्यं पादसंवाहनादिभिः” ॥

प्रीतिर्यथा—

“प्रायो मायाऽस्तु मे भर्तुर्नान्या मेऽपि विमोहनी”ति-

तद्वाक्यम् ,

तदेवं पौराणिकदृष्ट्याऽन्यदाऽन्यदपि ज्ञेयम् ,

जरदाभीरिकाऽऽदीनां सख्यमत्र परिहासरूपांशेनैव ज्ञेयं, रुद्रस्य
तु श्रीविष्ण्वजितादिरूपेण ज्ञेयम् ,

रुद्रताक्ष्योद्धवादीनां प्रीतिः सख्येन मिश्रिता ॥ ३२ ॥

अनिरुद्धादिनप्तृणामेवं के चिद्वभाषिरे ॥

एवं केषु चिदन्येषु विज्ञेयं भावमिश्रणम् ॥ ३३ ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ पश्चिमविभागे मुख्यभक्तिरस-
निरूपणे वत्सलभक्तिरसलहरी ॥ ४ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

के चिदिति । गौडदेश्यानां पौत्र्यादिभिः किञ्चिद्विनोददर्शना-
दिति भावः ।

इति पञ्चलहर्ष्यात्मके पश्चिमविभागे वत्सला-
ख्यभक्तिरसलहरी चतुर्थी ।

अथ मधुराख्यभक्तिरसः—

आत्मोचितैर्विभावाद्यैः पुष्टिं नीता सतां हृदि ॥

मधुराख्यो भवेद्भक्तिरसोऽसौ मधुरा रतिः ॥ १ ॥

निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुरुहत्वादयं रसः ॥

रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य वितताङ्गोऽपि लिख्यते ॥ २ ॥

तत्रालम्बनाः—

अस्मिन्नालम्बनः कृष्णः प्रियास्तस्य च सुभुवः ॥

तत्र कृष्णः—

असमानोर्ध्वसौन्दर्यलीलावैदग्ध्यसम्पदाम् ॥ ३ ॥

आश्रयत्वेन मधुरे हरिरालम्बनो मतः ॥

यथा श्रीगीतगोविन्दे—

विश्वेषामनुरञ्जनेन जनयन्नानन्दमिन्दीवर-

श्रेणीदयामलकोमलैरुपनयन्नङ्गैरनङ्गोत्सवम् ।

स्वच्छन्दं व्रजछन्दरीभिरभितः प्रत्यङ्गमालिङ्गितः

शृङ्गारः सखि ! मूर्त्तिमानिव मधौ सुग्धो हरिः क्रीडति ॥

अथ तस्य प्रेयस्यः—

नवनववरमाधुरीधुरीणाः

प्रणयतरङ्गकरम्बितान्तरङ्गाः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

सतां=श्रीकृष्णविषयकतत्कान्तारतिस्पृष्टचित्तानां सद्भिः शेषाणां,
निवृत्तेषु=प्राकृतशृङ्गाररससाम्यदृष्ट्या भागवतादप्यस्माद्रसाद्विरक्तेषु,

अनुपयोगित्वात्=अयोग्यत्वात्—

अन्तरित्यन्तःकरणं प्रणयतरङ्गैः करम्बितानि मिश्रितान्यन्तः—

निजरमणतया हरिं भजन्तीः

प्रणमत ताः परमाद्भुताः किशोरीः ॥

प्रेयसीषु हरेरासु प्रवरा वार्षभानवी ॥ ४ ॥

अस्या रूपं—

मदचक्रचकोरीचारुताचोरदृष्टि—

वदनदमितराकारोद्विणीकान्तकीर्त्तिः ।

अविकलकलधौतोद्घुतिधौरयकश्री—

मधुरिममधुपान्नी राजते पश्य राधा ॥

रतिः—

नर्मोक्तौ मम निर्मितोरुपरमानन्दोत्सवायामपि

श्रोत्रस्यान्ततटीमपि स्फुटमनाधाय स्थितोद्यन्मुखी ।

राधा लाघवमप्यसादरगिरां भङ्गीभिरातन्वती

मैत्रीगौरवतोऽप्यसौ शतगुणां मत्प्रीतिमेवादधे ॥

अत्र कृष्णरतिर्यथा श्रीगीतगोविन्दे—

वंसारिरपि संसारवासनावद्भृङ्खलाम्

राधामाधाय हृदये तत्याज व्रजसुन्दरीः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

करणस्याङ्गानि वृत्तयो यासां ताः,

मदेन चकुरा चपला या चकोरी, चकितेति पाठे लक्षणया स एवार्थः,

स्फुटमित्यनेनालक्षिततया त्वाधाय स्थितेति व्यञ्जितम्, उद्यन्मुखी=ऊर्ध्वदृष्टिः सप्रणयगर्वादिति भावः, नर्मोक्तावित्यस्य लाघवमित्यनेनाप्यन्वयः, भङ्गीभिरिति व्यञ्जनावृत्त्या तु गौरवमेव व्यञ्जयन्तीति व्यञ्जितम् ।

वस्तुतस्तु सम्यङ् सारः संसार इति भावः,

अथोद्दीपनाः—

उद्दीपना इह प्रोक्ता मुरलीनिस्वनादयः ॥

यथा पद्यावल्यां—

गुरुजनगञ्जनमयशो—

गृहपतिचरितं च दारुणं किमपि ।

बिस्मारयति समस्तं—

शिव शिव मुरली मुरारातेः ॥

अथानुभावाः—

अनुभावास्तु कथिता दृगन्तेशास्मितादयः ॥ ५ ॥

यथा ललितमाधवे—

कृष्णापाङ्गतरङ्गितद्युमणिजासंभेदवेणीकृते

राधायाः स्मितचन्द्रिकाछरधुनीपूरे निपीयामृतम् ।

अन्तस्तोषतुषारसंलवलवव्यालीढतापोद्गमाः

क्रान्त्वा सप्त जगन्ति संप्रति वयं सर्वोर्ध्वमध्यात्मदे ॥

अथ सात्त्विका यथा पद्यावल्यां—

कामं वपुः पुलकितं नयने धृतास्त्रे

वाचः सगद्गदपदाः सखि ! कम्पि वक्षः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

कृष्णापाङ्गेत्यत्रापाङ्गशब्दोऽपाङ्गसमीपदेशवाचकः सितापाङ्गशब्द-
वद् “अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तावि”त्यत्र तत्समीपदेशोऽपि वाचयितुं शक्य-
ते नेत्रबहिर्भागस्यापि नेत्रान्तःपाताद्; यथोक्तं गोपालस्तवे “नीले-
न्दीवरलोचनमि”ति, ततस्तत्समीपदेशतदेकदेशयोरैकात्म्यात्तत्तर-
ङ्गितस्य द्युमणिजात्वेन रूपकं युक्तमेव ज्ञेयम्,

तरङ्गितेति तु वयङ्क्यकिबन्तधातोर्भावे निष्ठा,

श्रूयमाणं मुरलीरवं लक्ष्मीकृत्य का चिदाह-काममिति ।

ज्ञातं मुकुन्दमुरलीरवमाधुरी ते
चेतः स्रधांशुवदने ! तरलीकरोति ॥

अथ व्यभिचारिणः—

आलस्यौगन्धे विना सर्वे विज्ञेया व्यभिचारिणः ॥

तत्र निर्देदो यथा पद्यावल्यां—

मा मुञ्च पञ्चशर ! पञ्चशरौ शरीरे
मा सिञ्च सान्द्रकमरन्दरसेन वायो ! ।
भङ्गानि तत्प्रणयभङ्गविगर्हितानि •
नालम्बितुं कथमपि क्षमतेऽद्य जीवः ॥

हर्षो यथा दानकेलिकौमुद्यां—

कुवलययुवतीनां लेहयन्निभृङ्गान्
कुवलयदललक्ष्मीलङ्गिमाः स्वाङ्गभासः ।
मदकलकलभेन्द्रोलङ्घिविलीलातरङ्गः
कवलयति धूर्तिं मे क्षमाधरारण्यधूर्तः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

आलस्यौगन्धे विनेति । यथाक्रमं सम्भोगान्तप्रियसङ्गमङ्गकराभ्या-
मन्यत्र ज्ञेयम् ,

कुवलयेति । प्रथमं कुवलयं भूमण्डलं द्वितीयं नीलोत्पलं, लेहयन्नि-
त्यत्रास्वादार्थलिहेर्भोजनात्मकप्रत्यवसानार्थत्वं ; तेन च “गतिबुद्धिप्र-
त्यवसानार्थे”त्यादिना प्रयोज्यकर्तृणामक्षिभृङ्गानां कर्मत्वमित्यक्षिभृ-
ङ्गानित्येव पाठ इष्टः, भृङ्गरूपकेण च स्वाङ्गभासां मधुरूपत्वं ध्वन्य-
ते, ततश्च यस्मान्मध्वेवेदं तस्मादास्वादयेति प्रोत्साहनमयी प्रयो-
जना गम्यते तथा कुवलयादेः स्वाङ्गभासोऽन्या मध्वन्यद्, मम-तु
स्वाङ्गभासोऽपि मध्विति कुवलयदललक्ष्मीतोऽपि स्वाङ्गभासो लङ्गिमा-
इत्युक्त्याऽऽस्वादनस्यावश्यकत्वं व्यञ्जितं, क्षमाधरारण्यधूर्त-

अथ स्थायी—

स्थायी भावो भवत्यत्र पूर्वोक्ता मधुरा रतिः ॥ ६ ॥

यथा पद्यावल्यां—

भ्रूवल्लिताण्डवकलामधुराननश्रीः

कङ्कलिकोरककरम्बितकर्णपूरः ।

कोऽयं नवीननिकपोपलतुल्यवेषो—

वंशीरवेण सखि ! मामवशीकरोति ॥

राधामाधवयोरेव क्वापि भावैः कदाऽप्यसौ ॥

सजातीयविजातीयैर्नैव विच्छिद्यते रतिः ॥ ७ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

एव सन् मे घृतिं कवलयति यतो मदकलेत्यादिलक्षणः, “मदोत्कटो-
मदकल” इत्यमरः, क्षमाधरोऽत्र तत्प्रकरणप्राप्तत्वाद्बोवर्द्धनः; तदरण्य-
धूर्त्तत्वेन निरूपितश्च श्रीकृष्ण एव, धूर्त्तत्वेन निरूपणं चास्य नर्मणा कृ-
तमिति रसावहमेव ; यथा “कितव योषितः कस्त्यजेन्निशी”त्यत्र
प्रणयकोपेन कृतं तद्वत् ,

वल्लीशब्दस्य ह्रस्वान्तत्वं “नवनागवल्लिदलपूगरसैरि”ति माघका-
व्यदृष्ट्या “मल्लीवल्लिचञ्चत्पराग” इति गीतगोविन्ददृष्टिपरम्परया च,
भूयुग्मेति वा पठनीयं, नवीननिकषेति । पीताम्बरत्वेन निकषोपलतु-
ल्यवेष इत्यर्थः; मध्यपदलोपित्वाद्, अवशीकरोतीति । न विद्यते किं-
चिदपि वशो यस्यास्तादृशीकरोति; यद्वा—अवशा स्वतन्त्रा तादृशी-
करोति लङ्घितमर्यादीकरोतीत्यर्थः; अभूततद्भावे च्विप्रत्ययः; कङ्कल्लिः=
अशोकः;

राधामाधवयोरेव न तु प्रेयस्यन्तरमाधवयोः, रतिः सव्याजव्यति-
दर्शनादिमयी, नैव विच्छिद्यते नावृता स्यात्, कैः सजातीयैस्तत्प्रेय-

यथा—

इतोऽदूरे राज्ञी स्फुरति परितो मित्रपटली
 दृशोरग्रे चन्द्रावलिरुपरि शैलस्य दनुजः ।
 असव्ये राधायां कुष्ठमितलतासंवृततनौ
 दृगन्तश्रीर्लोला तडिदिव मुकुन्दस्य बलते ॥
 घोरा खण्डितशङ्खचूडमजिरं रुन्धेशिवा तामसी
 ब्रह्मिष्ठश्वसनः शमस्तुतिकथाप्रालेयमासिञ्चति ।
 अग्रे रामसुधारुचिर्विजयते कृष्णप्रमोदोचितं—
 राधायास्तदपि प्रकुलमभजन् म्लानिं न भावाम्बुजम् ॥

स विप्रलम्भसम्भोगभेदेन द्विविधो मतः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

स्यन्तरव्यञ्जितैर्विजातीयैस्तद्वत्सलादिव्यञ्जितैर्भावैस्तद्विरोधिस-
 मीहामयैः,

राज्ञी=व्रजराज्ञी, दनुजः=अरिष्टः, शैलस्य शिलासमूहस्य व्रज-
 द्वार्यास्थानीरूपतया चितस्य,

भावपक्षे खण्डितः शङ्खचूडस्तदाख्यो यक्षो यत्र तादृशमजिरं क्री-
 डाङ्गनं, तामसी=तमोगुणमयी, शिवा शुगालजातिः, रुन्धे=आवृणोति,
 अम्बुजपक्षे तत्प्रत्यशिवा=अमङ्गला, तामसी=रात्रिः, एवमुभयत्र,
 ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मनिष्ठो वर्गः स एव श्वसन इत्यादि योज्यं, क्रमेण तद्भा-
 वविरोधिनां भयानकशान्तवत्सला दर्शिताः, अम्बुजविरोधिनश्च रा-
 त्रिप्रालेयसुधारुचयः, तस्माद्यथाऽन्यदम्बुजं तत्तत्सम्बन्धेन म्लानिं
 प्राप्नोति तथा तु तद्भावांम्बुजं न प्राप्नोतीति विशेषोक्तिनामा
 ऽलङ्कारः ।

तत्र विप्रलम्भः—

स पूर्वरागो मानश्च प्रवासादिमयस्तथा ॥ ८ ॥

विप्रलम्भो बहुविधो विद्वद्भिरिह कथ्यते ॥

तत्र पूर्वरागः—

प्रागसङ्गतयोर्भावः पूर्वरागो भवेद् द्वयोः ॥ ९ ॥

यथा पद्यावल्यां—

अकस्मादेकस्मिन् पथि सखि ! मया यामुनतटं—

व्रजन्त्या दृष्टो यो नवजलधरदयामलतनुः ।

स दृग्भङ्गया किं वाऽकुरुत न हि जाने तत इदं—

मनो मे व्यालोलं क्व च न गृहकृत्ये न बलते ॥

वथा वा श्रीदशमे—

तथाऽहमपि तच्चित्तो निद्रां च न लभे निशि ।

वेदाहं रुक्मिणा द्वेषान्ममोद्वाहो निवारितः ॥

अथ मानः—

मानः प्रासिद्ध एवात्र

यथा श्रीगीतगोविन्दे—

विहरति वने राधा साधारणप्रणये हरौ

दुर्गमसङ्गमनी ।

सः=प्रथममुक्तो मधुराख्यो भक्तिरसः,

प्रागिति । अत्र द्वयोरिति कान्तायाः पूर्वरागो भक्तिरसत्वेनोच्यते
कान्तस्य तु तदुद्दीपनत्वेन गम्यते, एवमुत्तरत्रापि,

व्रजदेवीषु श्रीकृष्णस्य पूर्वरागस्तु “जयति तेऽधिकञ्जन्मने”त्य-
ध्याये तासां मुखेनैव श्रीमन्मुनिना बहुशोऽपि “शरदुदाशय”इत्या-
दिभिर्वर्णित एवेत्यभिप्रेत्यासकृदुक्तं श्रीरुक्मिण्यामेव तं दर्शयति—
यथा वेति ।

विहरतीत्यर्द्धमेव मानोदाहरणं द्रष्टव्यम् ,

विगलितनिजोत्कर्षादीर्घ्यावशेन गताऽन्यतः ।

क चिदपि लताकुञ्जे गुञ्जन्मधुव्रतमण्डली-

मुखरशिखरे लीना दीनान्युवाच रहः सखीम् ॥

प्रवासः—

प्रवासः सङ्गीवच्युतिः ॥

यथा पद्यावल्यां—

हस्तोदरे विनिहितैककपोलशाले-

रश्रान्तलोचनजलस्नपिताननायाः ।

प्रस्थानमङ्गलदिनावधि माधवस्य

निद्रालवोऽपि कुत एव संरोरुहाक्ष्याः ॥

तथा प्रलहादसंहितायामुद्धववाक्यं—

भगवानपि गोविन्दः कन्दर्पशरपीडितः ।

न भुङ्क्ते न स्वपिति च चिन्तयन् वो ह्यहर्निशम् ॥

अथ संभोगः—

द्वयोर्मिलितयोर्भोगः संभोग इति कीर्त्यते ॥ १० ॥

यथा पद्यावल्यां—

परमानुरागपरयाऽथ राधया परिरम्भकौशलविकाशिभावया ।

स तथा सह स्मरसभाजनोत्सवं निरवाहयच्छिखिशिखण्डशेखरः ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ पश्चिमविभागे मुख्यभक्तिरसनिरूपणे

मधुराख्यभक्तिरसलहरी ॥ ५ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

परमानुरागेति । अस्यान्ते नित्या स्थितिस्तु व्रजदेवीनां पुरदेवीनां
च युगपद् दर्शिता—“जयति जननिवास” इत्यादिना ।

इति श्रीदुर्गमसंगमनीनाम्न्यां श्रीरसामृतसिन्धुटीकायां पञ्चलह-

र्यात्मके पश्चिमविभागे मधुराख्यभक्तिरसलहरी पञ्चमी ।

हरि० ५५

श्रीमद्भागवताद्यर्हशास्त्रदर्शितया दृशा ॥

इयमाविष्कृता मुख्या पञ्चभक्तिरसी मया ॥ ११ ॥

गोपालरूपशोभां दधदपि रघुनाथभावविस्तारी ॥

तुष्यतु सनातनात्मा पश्चिमभागे रसाम्बुनिधेः ॥ १२ ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ मुख्यभक्तिरसनिरूपणनामा पश्चि-
मो विभागस्तृतीयः ॥



दुर्गमसङ्गमनी ।

श्रीमदिति । श्रीमद्भागवतादिलक्षणयोग्यशास्त्रप्रकाशितेन ज्ञाने-
नेत्यर्थः ॥ १—२१=३ ॥

इति दुर्गमसङ्गमनीनाम्न्यां रसामृतसिन्धुटीकायां मुख्यभक्तिरस-
पञ्चकनिरूपणनामा पश्चिमो विभागस्तृतीयः ॥



उत्तरे विभागे हास्यरसः—

भक्तिभरेण प्रीतिं कलयन्नुरीकृतत्रजासङ्गः ॥
तनुतां सनातनात्मा भगवान्मयि सर्वदा तुष्टिम् ॥ १ ॥
रसामृताब्धेर्भागेऽत्र तुरीये तूत्तरामिधे ॥
रसः सप्तविधो गौणो मैत्रीवैरस्थितिर्मिथः ॥ २ ॥
रसाभासाश्च तेनात्र लह्यर्थो नव कीर्त्तिताः ॥
प्रागत्रानियताधाराः कदा चित् काप्युदित्वराः ॥ ३ ॥
गौणा भक्तिरसाः सप्त लेख्या हास्यादयः क्रमात् ॥
भक्तानां पञ्चधोक्तानामेषां मध्यत एव हि ॥ ४ ॥
काप्येकः काप्यनेकश्च गौणेष्वालम्बनो मतः ॥
वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः पुष्टिं हासरतिर्गता ॥ ५ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

ननु शान्तादिवद्धासाद्भुतादयोऽपि पृथक् स्युर्विदूषकसेनान्यादिषु
हास्यवीरादीनां स्थिरतादर्शनात्, तत्राह-भक्तानामिति । भक्तानां पञ्च-
धारतिपञ्चकाश्रयत्वेनोक्तानां मध्यत एव, न तु तेभ्योऽन्य इत्यर्थः,
अयं भावः-तत्तद्रतिविषयत्वेनोक्तस्य श्रीकृष्णस्य तत्तदाश्रयत्वेनोक्त-
स्य तद्भक्तस्य च सर्वत्रोत्सर्गसिद्धत्वेनास्येवालम्बनत्वं किन्तु तत्त-
द्रतिसम्बन्धाद्रतित्वेनोपचर्यमाणहासादीनां प्राकृतरसशास्त्रानुसा-
रेणैव स्थायित्वमुपचर्यते, तदनुसारेणैव च भयानकरसादौ दारुणा-
दीनामालम्बनत्वमभ्युपगंस्यते, स्वमते तु —

“विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र; येन विभाव्यते ।

विभावो नाम स द्वेधाऽऽलम्बनोद्दीपनात्मकः”—

हास्यभक्तिरसो नाम बुधैरेष निगद्यते ॥

अस्मिन्नालम्बनः कृष्णस्तथाऽन्योऽपि तदन्वयी ॥ ६ ॥

बुद्धाः शिशुमुखाः प्रायः प्रोक्ता धीरैस्तदाश्रयाः ॥

विभावनादिवैशिष्ट्यात्प्रवराश्च क चिन्मताः ॥ ७ ॥

तत्र कृष्णो यथा—

यास्याम्यस्य न भीषणस्य सविधे जीर्णस्य शीर्णाकृते—

मातनैव्यति मां पिधाय कपटादाधारिकायामसौ ।

इत्युक्त्वा चकिताक्षमद्भुतशिशुबुद्धीक्षमाणे हरौ

हास्यं तस्य निरुन्धतोऽप्यतितरां व्यक्तं तदाऽऽसीन्मुनेः ॥

अथ तदन्वयी—

यच्चेष्टा कृष्णविषया प्रोक्तः सोऽत्र तदन्वयी ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

इत्यार्षप्रमाणानुसारेण सप्तम्यर्थ एव सर्वत्रालम्बनः, स चानु-
गताया रतेः सम्बन्धेन विषयाश्रयरूप एवेति,
परार्थाया रतेर्विषयत्वेन तद्व्यक्तीकृतहासस्य हेतुत्वेन च कृष्णोऽस्मि-
न्नालम्बनः तदन्वयात् तस्य कृष्णस्यानुगतचेष्टश्च तद्वतेराश्रयत्वेन
तादृशहासे हेतुत्वेनात्रालम्बनः, तस्य हासस्याश्रयास्तदाश्रयाः, हासस्य
चेतोविकासमात्ररूपत्वाद्विषयस्तु न विद्यते; न हि कमलादिविकासः
कं चिद्विषयं करोति यमुद्दिश्य प्रवर्तते स एव हि विषयः, परिहासो-
पहासवाची तु यदा स्यात्तदा कं चिद्विषयमपि कुर्यान्नाम स तु ना-
त्रोपादीयत इति भावः ।

यद्=यस्य,

यथा—

ददामि दधि फाणितं विवृणु वक्त्रमित्यग्रतो—
निशम्य जरतीगिरं विवृतकोमलौष्टे स्थिते ।
तथा कुष्ठममर्पितं नवमवेत्य भुग्नानने
हरौ जहस्रुद्धुरं किमपि सुष्ठु गोष्ठाभकाः ॥

यथा वा—

अरूप प्रेक्ष्य करं शिशोर्मुनिपते ! श्यामस्य मे कथ्यतां—
तथ्यं हन्त चिरायुरेप भविता किं धेनुकोटीश्वरः ।
इत्युक्ते भगवन् ! मयाऽद्य परितश्चरीरेण किं चारुणा
द्रागाविर्भवदुद्धुरस्मितमिदं वक्त्रं त्वया रुध्यते ? ॥

उद्दीपना हरेस्तादृग्वाग्बेषचरितादयः ॥ ८ ॥

अनुभावास्तु नासौष्ठगण्डविस्पन्दनादयः ॥

हर्षालस्यावहित्थाऽऽद्या विज्ञेया व्यभिचारिणः ॥ ९ ॥

सा हासरतिरेवात्र स्थायिभावतयोदिता ॥

षोढा हासरतिः स्यात् स्मितहसिते विहसितावहसिते च १०

अपहसितातिहसितके ज्येष्ठादीनां क्रमाद् द्वे द्वे ॥

विभावनादिवैचित्र्यादुत्तमस्यापि कुत्र चित् ॥ ११ ॥

भवैद्विहसिताद्यं च भावज्ञैरिति भण्यते ॥

तत्र स्मितं—

स्मितं त्वलक्ष्यदशनं नेत्रगण्डविकासकृत् ॥ १२ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

फाणितं=खण्डविकृतिः, दधिमिश्रितं फाणितं दधिफाणितं,
कोमलेति बाल्यं व्यञ्जितम्,

उद्दीपना इत्यत्र हरेरित्युपलक्षणं तदन्वयिनोऽपि ज्ञेयाः,

क यामि जरती खला दधिहरं दिधीर्षन्त्यसौ
 प्रधावति जवेन मां सुबल ! मङ्क्षु रक्षां कुरु ।
 इति स्खलदुदीरिते द्रवति कान्दिशीके हरौ
 विकस्वरमुखाम्बुजं कुलमभून्सुनीनां दिवि ॥

हसितं—

तदेव दरसंलक्ष्यदन्ताग्रं हसितं भवेत् ॥

यथा—

मद्वेषेण पुरः स्थितो हरिरसौ पुत्रोऽहमेवास्मि ते
 पश्येत्यच्युतजल्पविश्वसितया संस्मरज्यदृढशा ।
 मामेतिस्खलदक्षरे जटिलया व्याक्रुध्य निष्कासिते
 पुत्रे प्राङ्गनतः सखीकुलमभूदन्तांशुधौताधरम् ॥

विहसितं—

सस्वनं दृष्टदशनं भवेद्विहसितं तु तत् ॥ १३ ॥

यथा—

मुषाण दधि मेदुरं विफलमन्तराशङ्कुसे
 सनिश्वसितडम्बरं जटिलयाऽन्न निद्रायते ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

सुबल हे सुष्ठुबल ! इति किञ्चिद्वलिष्ठं ज्येष्ठभ्रातरं प्रति सम्बोधनं-
 न तु सुबलसंज्ञं तत्समवयस्कं प्रति, कान्दिशीके = भयदुते, द्रवतीति
 द्रवस्यातिशयबोधनाय,

मद्वेषेणेति । दूरमायान्तमदृष्टस्ववेषिश्रीकृष्णं श्रीराधिकायाः पतिम-
 न्यं जटिलाया पुत्रमभिमन्युं दृष्ट्वा तद्वेषेण तद्गृहं गतस्य श्रीकृष्ण-
 स्य तां प्रति वचनं, निष्कासिते=दूरत एव विद्राविते, तस्या वातुल-
 तामाशङ्क्य स्वबन्धूनामानयनार्थं तस्य विद्वतत्वात्,

इति द्रुवति केशवे प्रकटशीर्णदन्तस्थलं—

कृतं हसितमुत्स्वनं कपटसुप्तया वृद्धया ॥

अवहसितं—

तच्चावहसितं फुललनासकुञ्चितलोचनम् ॥

यथा—

लग्नस्ते नितरां दृशोरपि युगे किं धातुरागो घनः

प्रातः पुत्र ! बलस्य वा किमसितं वासस्त्वयाऽङ्गे धृतम् ।

इत्याकर्ण्य पुरो ब्रजेशगृहिणीवाचं स्फुरन्नासिका

दूती सङ्कुचदीक्षणाऽवहसितं जाता न रोद्धुं क्षमा ॥

अपहसितं—

तच्चापहसितं साश्रुलोचनं कम्पितांसकम् ॥ १४ ॥

यथा—

उदलं देवर्षिर्दिवि दरतरङ्गद्भुजशिरा-

यदभ्राण्युद्गण्डो दशनरुचिभिः पाण्डुरयति ।

स्फुटं ब्रह्मादीनां नटयितरि दिव्ये ब्रजशिशौ

जरत्याः प्रस्तोभान्नटति तदनैपीदृ दृशमसौ ॥

अतिहसितं—

सहस्ततालं क्षिप्ताङ्गं तच्चातिहसितं विदुः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

कपटसुप्तयेत्यनेन तयेति पूर्वोक्तस्वारस्याल्लभ्यते, सुप्तयाऽप्येतयेति

वा पाठः,

लग्नस्त इत्यादौ पुत्रेत्यत्र मित्रेति ब्रजेशगृहिणीवाचमित्यत्र च धृता-

जैवसुहृद्वाचमिति वा पाठान्तरं ज्ञेयम्,

यथा—

वृद्धे ! त्वं बलिताननाऽसि बलिभिः प्रेक्ष्य स्वयोग्यामत-
स्त्वामुद्रोदुमसौ बलीमुखवरो मां साधयत्युत्सुकः ।
आभिर्विप्लुतधीवृण्णे न हि परं त्वत्तो बलिध्वंसना-
दित्युच्चैर्मुखरागिरा विजहसुः सोत्तालिका बालिकाः ॥

यस्य हासः स चेत् क्वापि साक्षान्नैव निवध्यते ॥ १५ ॥

तथाऽप्येष विभावादिसामर्थ्यादुपलभ्यते ॥

यथा—

शिम्बीलम्बिकुवाऽसि दर्दुरवधूविस्पर्धिनासाकृति-
स्त्वं जीर्यद्दुलिदृष्टिरोष्ठुलिताङ्गारा मृदङ्गोदरी ।
का त्वत्तः कुटिले ! पराऽस्ति जटिलापुत्रि ! क्षितौ छन्दरी
पुण्येन व्रजसुश्रुवां तव धृतिं हर्तुं न वंशी क्षमा ॥

एष हास्यरसस्तत्र कैशिकीवृत्तिविस्तृतौ ॥

शृङ्गारादिरसोद्भेदाद्बहुधैव प्रपञ्चितः ॥ १६ ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धावुत्तरविभागे गौणभक्तिरस-

निरूपणे हास्यभक्तिरसलहरी ॥ १ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

बलिः=कुञ्चितचर्म, बलीमुखो=वानरः, साधयति=साधनाय प्रे-
रयतीति द्विर्णिच्प्रत्ययाद्, आभिर्वलिभिर्विप्लुता=उपद्रुता धीर्यस्याः,
बालिनस्तृणावर्त्तपूतनाऽऽदयस्तेषां ध्वंसकर्तुः,

दुलिः=कमठी,

तत्र=भरतादिनिबन्धे स्वकृतनाटकलक्षणे च ।

इत्युत्तरविभागे नवलहर्यात्मके हास्यभक्तिरसलहरी प्रथमा ।

अथाद्भुतभक्तिरसः—

आत्मोचितैर्विभावाद्यैः स्वाद्यत्वं भक्तचेतसि ॥

सा विस्मयरतिर्नीताऽद्भुतभक्तिरसो भवेत् ॥ १ ॥

भक्तः सर्वविधोऽप्यत्र घटते विस्मयाश्रयः ॥

लोकोत्तरक्रियाहेतुर्विषयस्तत्र केशवः ॥ २ ॥

तस्य चेष्टाविशेषाद्यास्तस्मिन्नुद्दीपना मताः ॥

क्रियास्तु नेत्रविस्तारस्तम्भाश्रुपुलकादयः ॥ ३ ॥

आवेगहर्षजाड्याद्यास्तत्र स्युर्व्यभिचारिणः ॥

स्थायी स्याद्विस्मयरतिः सा लोकोत्तरकर्मतः ॥ ४ ॥

साक्षादनुमितं चेति तच्च द्विविधमुच्यते ॥

तत्र साक्षाद् यथा—

साक्षादैन्द्रियकं दृष्टश्रुतसङ्कीर्त्तितादिकम् ॥ ५ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

भक्त इति साङ्ख्यत्रयेणाद्भुतस्य परिकरानाह—विस्मयाश्रयो=वि-
स्मयरतेराश्रय इत्यर्थः, विषयस्तस्या एव विषय इत्यर्थः, विस्मयश्चेदं-
कथं जातमिति हेत्वसम्भावनामयी बुद्धिः, एताभ्यां द्वयोरप्यालम्बन-
विभावत्वं दर्शितं, विषय इत्यत्र विभाग इति पाठो लिखनभ्रमात्,

लोकोत्तरकर्मत इत्युपलक्षणं तादृशरूपगुणाभ्यां च, किन्तु लो-
कोत्तरतत्प्रेमहेतुर्भक्तश्चेत्तदा सोऽपि तद्वञ्छेयः; यथा—“नेमं विरिञ्चोन
भव “इत्यादौ; “इत्थं सतां ब्रह्मसुखेत्यादौ” “नायं श्रियोऽङ्गेत्यादौ च”,

हरि० ५६

तत्र दृष्टं यथा—

एकमेव विविधोद्यमभाजं-
मन्दिरेषु युगपन्निखिलेषु ।
द्वारकामभि समीक्ष्य मुकुन्द-
स्पन्दनोज्झिततनुर्मुनिरासीत् ॥

यथा वा—

ऋ स्तन्यगन्धिवदनेन्दुरसौ शिशुस्ते
गोवर्द्धनः शिखररुद्धघनः ऋ चायम् ।
भोः पश्य सन्यकरकन्दुकिताचलेन्द्रः
खेलन्निव स्फुरति हन्त किमिन्द्रजालम् ॥

श्रुतं यथा—

यानक्षिपन्प्रहरणानि भटाः स देवः
प्रत्येकमच्छिन्नदम्बूनि शरत्रयेण ।
इत्याकलय्य युधि कंसरिपोः प्रभावं-
स्फारेक्षणः क्षितिपतिः पुलकी तदाऽऽसीत् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

एकमिति । एकवपुषमेव सन्तमित्यर्थः,

यथाक्तं श्रीदशमे श्रीनारदेन—

“चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत्पृथक् ।

गृहेषु द्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहदि”ति,

तस्मान्मुनिरत्र श्रीनारदः, अत एव कायव्यूहसमर्थानामपि
तद्विधानां विस्मयः,

स्तन्यगन्धीति । अत्रालपाख्यायां समासान्त इत्येत्ययः, अचलेन्द्रः
पूर्वोक्त एव गोवर्द्धनः प्रकृतत्वात्, कन्दुकितं तमद्रि कुर्वन्मुदं-
ब्रह्तीति वा पाठः,

भटाः=तरकस्यैकादशाक्षौह्णोसंख्याः, क्षितिपतिः=श्रीपरीक्षितः,

सङ्कीर्तितं यथा—

डिम्भाः स्वर्णनिभाम्बरा घनरुचो जाताश्चतुर्बाहवो-
वत्साश्चेति वदन् कृतोऽस्मि विवशः स्तम्भश्रिया पश्यत ।
आश्चर्यं कथयामि वः शृणु तयोः प्रत्येकमेकैकशः
स्तूयन्ते जगदण्डवद्भिरभितस्ते हन्त पद्मासनैः ॥

अनुमितं यथा—

उन्मील्य व्रजशिशवो दृशं पुरस्ता-
द्गाण्डीरं पुनरतुलं विलोकयन्तः ।
सात्मानं पशुपटलीं च तत्र दावा-
दुन्मुक्तां मनसि चमत्क्रियामवापुः ॥
अप्रियादेः क्रिया कुर्यान्नालौकिक्यपि विस्मयम् ॥
असाधारण्यपि मनाक् करोत्येव प्रियस्य सा ॥ ६ ॥
प्रियात् प्रियस्य किमुत सर्वलोकोत्तरोत्तरा ॥
इत्यत्र विस्मये प्रोक्ता रत्यनुग्रहमाधुरी ॥ ७ ॥
इति भक्तिरसामृतसिन्धुवुत्तरविभागे गौणभक्ति-
रसनिरूपणेऽद्भुतभक्तिरसलहरी ॥ २ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

डिम्भा इति—सत्यलोकसभायां श्रीब्रह्मवाक्यं, स्तम्भश्रिया पश्य-
तेत्येव पाठस्तेषामिष्टः, स्तूयन्त इति “वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानव-
द्भे”ति न्यायेनाविलम्बदृष्टत्वं सूचयति,

मनागप्यसाधारणीति योज्यम् ।

इति नवलहर्ष्यात्मक उत्तरविभागेऽद्भुतभक्तिरसलहरी द्वितीया ।

अथ वीरभक्तिरसः—

सैवोत्साहरतिः स्थायी विभावाद्यैर्निजोचितैः ॥

आनीयमाना स्वाद्यत्वं वीरभक्तिरसो भवेत् ॥ १ ॥

युद्धदानदयाधर्मैश्चतुर्धा वीर उच्यते ॥

आलम्बन इह प्रोक्त एष एव चतुर्विधः ॥ २ ॥

उत्साहस्त्वेष भक्तानां सर्वेषामेव सम्भवेत् ॥

तत्र युद्धवीरः—

परितोषाय कृष्णस्य दधदुत्साहमाहवे ॥ ३ ॥

सखा बन्धुविशेषो वा युद्धवीर इहोच्यते ॥

प्रतियोद्धा मुकुन्दो वा तस्मिन्वा भेक्षके स्थिते ॥ ४ ॥

तदीयेच्छावशेनात्र भवेदन्यः सुहृद्ररः ॥

तत्र कृष्णो यथा—

अपराजितमानिनन्हठा-

क्षुल्लं त्वामभिभूय माधव ! ।

धिनुयामधुना स्रद्धद्वणं-

यदि न त्वं समरात्पराऽञ्जसि ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

उत्साहः=उत्साहरतिः, सर्वेषामिति । कस्य चित् कश्चिदुत्साहभेदः
स्यादित्यभिप्रायेण,

यदि न त्वामिति । यदि समरं त्यक्तुं छलेन समरात् परान्मुखो-
न भवसीत्यर्थः, स यदि त्वं समरं समञ्जसीति वा पाठः,

यथा वा—

संरम्भप्रकटोक्तप्रतिभटारम्भश्रियोः साद्धृतं-
कालिन्दीपुलिने वयस्यनिकरैरालोक्यमानस्तदा ।
अव्युत्थापितसख्ययोरपि वराहङ्गारविस्फूर्जितः
श्रीदाम्नश्च बकीद्विषश्च समराटोपः पटोयानभृत् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

संरम्भेण कोपेनैव प्रकटीकृता प्रतिभटस्य प्रतियोद्धुरारम्भश्री-
र्याभ्यां, वस्तुतस्त्वव्युत्थापितसख्ययोरविरोधितमैत्रययोरपि, श्रीदा-
मनश्च बकीद्विषश्चेति श्रीदामबकीद्विषोर्द्वयोरित्यर्थः, एतदर्थवशादेव
विशेषणानां द्वित्वम्,

एतदुक्तं भवति-चार्थः खलु चतुर्विधः-समुच्चयान्वाचयेतरेतर-
योगसमाहारभेदेन,

तत्र समुच्चयार्थश्चशब्दस्तत्तदर्थानां पृथक्ताव्यञ्जकः-यथा श्री-
दामा च बकीद्विष चागत इत्यत्रागत इत्यस्य पृथक् पृथक् सम्बन्धः,

अन्वाचयार्थश्च तथा यथा बकीद्विषमानय यदि पश्यसि श्री-
दामानं च; किन्तुत्तरनिर्दिष्टेनात्याग्रहं व्यञ्जयति-यथा श्रीकृष्णश्च
लोकश्च दृश्यतामिति; तस्मात्समर्थशब्दोक्तपरस्परसम्बन्धार्थ-
त्वाभावादनयोर्न द्वन्द्वसमासः क्रियते किन्तु तद्भावादुत्तरयोरेव,

तत्र समहारे समर्थत्वे सत्यपि मिलनमात्रवाचित्वेन तद्वतामवा-
चित्वात्प्रतिविशेषणान्वयित्वं स्यादेव यथा पदकक्रमकमव्यवहित-
मित्यादि, तद्वति वृत्तिस्त्वत्रोपचारादेव,

अथेतरेतरयोगार्थश्चशब्दस्तत्तत्प्रत्येकसंख्यासमुदयेन यावती
तेषां संख्या स्यात्तावत्संख्याऽन्वितताव्यञ्जकः, तत्र च द्वन्द्वे श्रीदाम-
बकीद्विषावागतावित्यत्र श्रीदामा च बकीद्विष चेति द्वावागतावि-
त्यर्थः, समुच्चयादस्यायमेव भेदः-यदि च समासे तथार्थः स्यात्तदा

छद्मद्वरो यथा—

सखिप्रकरमार्गणगणितान् क्षिपन् सर्वत-
स्तथाऽद्य लगुहं क्रमाद् भ्रमयति स्म दामा कृती ।
अमंस्त रचितस्तुतिर्भ्रजपतेस्तनूजोऽप्यमुं-
समृद्धपुलको यथा लगुडपञ्जरान्तःस्थितम् ॥

प्रायः प्रकृतिशूराणां स्वपक्षैरपि कर्हि चित् ॥ ५ ॥

युद्धकेलिसमुत्साहो जायते परमाद्भुतः ॥

तथा च श्रीहरिवंशे—

“तथा गाण्डीवधन्वानं विक्रीडन्मधुसूदनः ।
जिगाय भरतश्रेष्ठं कुन्त्याः प्रमुखतो विशुः” ॥ इति,

कत्थितास्फोटविस्पर्धाविक्रमास्त्रग्रहादयः ॥ ६ ॥

प्रतियोधास्थिताः सन्तो भवन्त्युद्दीपना इह ॥

तत्र कत्थितं यथा—

पिण्डीशूर ! त्वमिह सुबलं कैतवेनाबलाङ्ग-
जित्वा दामोदर ! युधि वृथा मा कृथाः कत्थितानि ।

‘दुर्गमसङ्गमनी ।

तद्विग्रहेऽपि स्याद् यमालम्ब्यैव समासार्थः प्रवर्त्तते, द्वन्द्वसमासस्य
च वैकल्पिकत्वात्केवलविग्रहोऽपि प्रयुज्यते ततश्च श्रीदामा च बकी-
द्विट् चागतावित्यपि स्याद् यथा स च त्वं चाहं च पचाम इत्यत्र,
“विप्रतिषेधे परं कार्यमि”ति पाणिने “युगपद्वचने परः पुरुषाणामि”ति
शर्ववर्मणश्च न्यायेनोत्तमपुरुषेऽपि प्राप्ते बहुवचनं पूर्ववदेव स्यादिति
साधु व्याख्यातं श्रीदामबकीद्विषोर्द्वयोरित्यादि,

मार्गणा अत्र तूलपूर्णचर्मफलकवाणाः,

पिण्डीशूरः=भोजनमात्रपट्टः, अबलाङ्गमपि कैतवेन जित्वेत्यर्थः,

माद्यन्नेप त्वदलघुभुजासर्पदर्पापहारी

मन्द्रध्वानो नटति निकटे स्तोककृष्णः कलापी ॥

कत्थिताद्याः स्वसंस्थाश्चेदनुभावाः प्रकीर्तिताः ॥ ७ ॥

तथैवाहोपुरुषिकाक्ष्वेडिताक्रोशवल्गनम् ॥

असहायेऽपि युद्धेच्छा समरादपलायनम् ॥ ८ ॥

भीताभयप्रदानाद्या विज्ञेयाश्चापरे बुधैः ॥

तत्र कत्थितं यथा—

प्रोत्साहयस्यतितरां किमिवाग्रहेण

मां केशिसूदन ! विदन्नपि भद्रसेनम् ।

योद्धुं बलेन सममत्र छदुर्वलेन

दिव्यार्गलाप्रतिभटस्त्रपते भुजो मे ॥

आहोपुरुषिका यथा—

धृताटोपे गोपेश्वरजलधिचन्द्रे परिकरं-

निबध्नत्युल्लासाद् भुजसमरचर्यासमुचितम् ॥

सरोमाञ्चं क्ष्वेडानिविडमुखबिम्बस्य नटतः

छदाम्नः सोत्कण्ठं जयति मुहुराहोपुरुषिका ॥

चतुष्टयेऽपि वीराणां निखिला एव सात्त्विकाः ॥ ९ ॥

गर्वावेगधृतिव्रीडामतिहर्षावहित्तिकाः ॥

अमर्षोत्सुकताऽसूयास्मृत्याद्या व्यभिचारिणः ॥ १० ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

कलापी तूणवान् सभूषणो वा पक्षे मयूरः,

आहोपुरुषिका दर्पाद्या स्यात्सम्भावनाऽऽत्मनि,

क्ष्वेडितं=सिंहनादः, आक्रोशः साटोपवचनं, वल्गनं युद्धार्थो

गतिविशेषः, युद्धेच्छा युद्धोद्यमः,

युद्धोत्साहरतिस्त्वस्मिन् स्थायिभावतयोदिता ॥

या स्वशक्तिसहायाद्यैराहार्या सहजाऽपि वा ॥ ११ ॥

जिगीषा स्थेयसी युद्धे स युद्धोत्साह ईर्यते ॥

तत्र स्वशक्त्या आहार्योत्साहरतिर्यथा—

स्वतातशिष्टया स्फुटमप्यनिच्छ-

न्नाहूयमानः पुरुषोत्तमेन ।

स स्तोककृष्णो धृतयुद्धतृष्णः

प्रोद्यम्य दण्डं भ्रमयाञ्चकार ॥

स्वशक्त्या सहजोत्साहरतिर्यथा—

शुण्डाकारं प्रेक्ष्य मे बाहुदण्डं-

मा त्वं भैषीः क्षुद्र ! रे भद्रसेन ! ।

हेलाऽरम्भेणाद्य निजित्य रामं-

श्रीदामाऽहं कृष्णमेवाह्वयेय ॥

यथा वा—

बलस्य बलिनो बलात्सहृदनीकमालोडयन्

पयोधिमिव मन्दरः कृतमुकुन्दपक्षग्रहः ।

जनं विकटगर्जितैर्बधिरयन् स धीरस्वरो-

हरेः प्रमदमेककः समिति भद्रसेनो व्यधात् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

सरोमाञ्चं सोत्कण्ठं च यथा स्यातथा नटत इति योज्यम्,

यदत्र जिगीषेत्यादिभिर्युद्धोत्साहादयो लक्ष्यन्ते तच्च सत्त्वरा मान-
सी शक्तिरुत्साह इति पूर्वोक्तसामान्यलक्षणान्तर्गतमेव तत्रापि गाढे-
च्छामात्रस्य विवक्षितत्वात्,

स्वस्य तातस्य शिष्टया हन्त त्वं सर्वजीवनेन युध्यसे धिक् त्वा-
मिति शासनेन, स्फुटमनिच्छन्नपीत्यर्थः, पाठान्तरं त्यक्तम्,

सहायेनाहाय्योत्साहरतिर्यथा—

मयि बलगति भीमविक्रमे

भज भङ्गं न हि सङ्गरादितः ।

इति मित्रगिरा वरूथपः

सविरूपं विरुवन् हरिं ययौ ॥

सहायेन सहजोत्साहरतिर्यथा—

संग्रामकामुकभुजः स्वयमेव कामं-

दामोदरस्य विजयाय कृती सुदामा ।

साहाय्यमत्र सुबलः कुरुते बली चे-

जातो मणिः सुजटितो वरहाटकेन ॥

सुहृदेव प्रतिभटो वीरे कृष्णस्य न त्वरिः ॥ १२ ॥

स भक्तक्षोभकारित्वादौद्रे त्वालम्बनो रसे ॥

रागाभावो दृगादीनां रौद्रादस्य विभेदकः ॥ १३ ॥

अथ दानवीरः—

द्विविधो दानवीरः स्यादेकस्तत्र बहुपदः ॥

उपास्थितदुरापार्थत्यागी चापर उच्यते ॥ १४ ॥

दुर्गमसङ्गमनो ।

आह्वयेयेति । स्पष्टार्थायामात्मनेपदम्,

एककः=एकाकी, “एकादाकिनिश्चासहाय” इति पाणिनिसूत्रात्
कन्, “एकाकी त्वेक एकक” इत्यमरः,

सुजटित इति । जट झट सङ्घात इत्यस्य कान्तस्य रूपं, जटिलित-
इति पाठस्तु नेष्टः, जटिलो हि पिच्छादेत्वादिलचा जटावानेवा-
भिधीयते,

हरि० ५७

तत्र बहुप्रदः—

सहसा दीयते येन स्वयं सर्वस्वमप्युत ॥
 दामोदरस्य सौख्याय प्रोच्यते स बहुप्रदः ॥ १५ ॥
 संप्रदानस्य वीक्षाऽऽद्या अस्मिन्नुद्दीपना मताः ॥
 वाञ्छिताधिकदातृत्वं स्मितपूर्वाभिभाषणम् ॥ १६ ॥
 स्थैर्य्यदाक्षिण्यधैर्य्याद्या अनुभावा इहोदिताः ॥
 वितकौत्सुक्यहर्षाद्या विज्ञेया व्यभिचारिणः ॥ १७ ॥
 दानोत्साहरतिस्त्वत्र स्थायिभावतयोदिता ॥
 प्रगाढा स्थेयसी दित्सा दानोत्साह इतीर्य्यते ॥ १८ ॥
 द्विधा बहुप्रदोऽप्येष विद्वद्भिरिह कथ्यते ॥
 स्यादाभ्युदायिकस्त्वेकः परस्तत्संप्रदानकः ॥ १९ ॥

तत्राभ्युदयिकः—

कृष्णस्याभ्युदयार्थं तु येन सर्वस्वमर्प्यते ॥
 अर्थिभ्यो ब्राह्मणादिभ्यः स आभ्युदयिको भवेत् ॥ २० ॥

यथा—

ब्रजपतिरिह सूनोर्जातकार्थं तथाऽसौ
 व्यतरदमलचेताः संचयं नैचिकीनाम् ।
 पृथुरपि नृगकीर्त्तिः सांप्रतं संवृताऽऽसी-
 दिति निजगदुरुच्चैर्भूधरा येन तृप्ताः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

नृगकीर्त्तिः संवृतत्वे हेतुः—अमलचेताः, पुत्रस्वरूपश्रीकृष्णस्योद-
 यमात्रतत्परतया न तद्वल्लोकद्वयगतलाभप्रतिष्ठाकामनादोषयुक्त-
 इत्यर्थः,

अथ तत्संप्रदानकः—

ज्ञातये हरये स्वीयमहन्ताममताऽऽस्पदम् ॥

सर्वस्वं दीयते येन स स्यात्तत्संप्रदानकः ॥ २१ ॥

तद्दानं प्रीतिपूजाभ्यां भवेदित्युदितं द्विधा ॥

तत्र प्रीतिदानं—

प्रीतिदानं तु तस्मै यद्दद्याद् वन्ध्वादिरूपिणे ॥ २२ ॥

यथा—

चार्विक्यं वैजयन्तीं पटसुरपुरयोद्गासुरं भूषणानां—

श्रेणिं माणिक्यभाजं गजरथतुरगान् कर्बुरान् कर्बुरेण ।

दत्त्वा राज्यं कुटुम्बं स्वमपि भगवते दित्सुरप्यन्यदुच्चै-

र्देयं कुत्राप्यदृष्ट्वा मखसदसि तदा व्याकुलः पाण्डवोऽभूत् ॥

पूजादानं—

पूजादानं तु तस्मै यद्विप्ररूपाय दीयते ॥

यथाऽष्टमे—

यजन्ति यज्ञं क्रतुभिर्यमाहता-

भवन्त आम्नायविधानकोविदाः ।

स एष विष्णुर्वरदोऽस्तु वा परो-

दास्याम्यमुष्मै क्षितिमीप्सितां मुने ! ॥

यथा वा दशरूपके—

लक्ष्मीपयोधरोत्सङ्गकुङ्कुमारुणितो हरेः ।

बलिनैव स येनास्य भिक्षापात्रीकृतः करः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

कर्बुरेण=सुवर्णेन, कर्बुरान्=मिश्रान्, मखसदसि तदेति । अग्न्य-
पूजाऽवसर इति न व्याख्येयं; किन्तु सर्वविधिपूर्यनन्तर इत्येव, पूर्व-
स्य पूजाऽन्तर्गतत्वाद्, उत्तरत्रापि विप्ररूपायेत्युपलक्षणं विप्रदेवभग-
वद्रूपायेत्यस्य विवक्षितत्वात् ,

अथोपस्थितदुरापार्थत्यागी—

उपस्थितदुरापार्थत्याग्यसौ येन नेष्यते ॥ २३ ॥

हरिणा दीयमानोऽपि साष्टर्यादिस्तुष्यता वरः ॥

पूर्वतोऽत्र विपर्यस्तकारकत्वं द्वयोर्भवेत् ॥ २४ ॥

अस्मिन्नुदीपनाः कृष्णकृपाऽऽलपस्मितादयः ॥

अनुभावास्तदुत्कर्षवर्णनद्रढिमादयः ॥ २५ ॥

अत्र संचारिता भूम्ना धृतेरेव समीक्ष्यते ॥

त्यागोत्साहरतिर्धीरैः स्थायी भाव इहोदितः ॥ २६ ॥

त्यागेच्छा तादृशी प्रौढा त्यागोत्साह उदीर्यते ॥

यथा हरिभक्तिस्रधोदये—

स्थानाभिकामस्तपसि स्थितोऽहं-

त्वं दृष्टवान्साधुमुनीन्द्रगुह्यम् ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

उपस्थितेति । यद्यपि सिद्धसाधकभेदेन द्विविधोऽयं सम्भवति तथाऽपि यत्किञ्चिज्ज्ञातरुचिर्दृढाग्रहः साधक एवात्र लक्ष्यते न तु सम्यग्भगवन्माधुर्यानुभवसिद्धः; न ह्यमृतास्वादे लब्धे गुडादित्यागी तथा प्रशस्यते, तस्य तस्यापि भक्त्येकाग्रहृदष्टया तुष्टः श्रीहरिस्तदाग्रहव्यक्त्यर्थं कदा चित्तं दातुमिव प्रोत्साहयतीति, वर इति । अन्यैर्व्रियमाणोऽपीत्यर्थः,

विपर्यस्तकारकत्वं हरेरपादानत्वं भक्तस्य तु सम्प्रदानत्वमित्येव, भूम्ना=अतिशयेन समीक्ष्यते,

तादृशी=साष्टर्याद्यनिच्छामयी,

स्थानेति श्रीधुववाक्यम्, तदिदमपि न सम्यग्माधुर्यानुभवमयं,

काचं विचिन्वन्निव दिव्यरत्नं-

स्वामिन् ! कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे ॥

यथा वा तृतीये—

नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं-

किम्वन्यदर्पितभयं भुव उन्नयैस्ते ।

येऽङ्ग ! त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः

कीर्त्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः ॥

अयमेव भवन्नुच्चैःप्रौढभावविशेषभाक् ॥ २७ ॥

धुर्यादीनां तृतीयस्य वीरस्य पदवीं व्रजेत् ॥

अथ दयावीरः—

कृपाऽऽर्द्रहृदयत्वेन खण्डशो देहमर्पयन् ॥ २८ ॥

कृष्णायाच्छन्नरूपाय दयावीर इहोच्यते ॥

उद्दीपना इह प्रोक्तास्तदार्त्तिव्यञ्जनादयः ॥ २९ ॥

निजप्राणव्ययेनापि विपन्नप्राणशीलता ॥

आश्वासनोक्तयः स्थैर्यमित्याद्यास्तत्र विक्रियाः ॥ ३० ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

श्रीभागवते हि पाञ्चजन्यस्पर्शादेव तेन तत्तदुक्तं किन्तु क्रमादेवानु-
भूतमिति व्यक्तम् ,

नात्यन्तिकमित्यादिनाऽपि तादृशसाधका एव विवक्षिताः, कुशला-
इत्यनेनोक्तानां भाक्तिरसशास्त्रानुसारेण विवेकिनामेवात्रोदाह्रियमा-
णत्वं न तु कैमुत्येनोत्तरत्रोक्तानां रसज्ञानामिति, ते=तव, भुव उन्नयैः=
विक्षेपरूपैः कालैः,

प्रौढभावविशेषभाक् कश्चिदेवेत्यर्थः,

विशेषशब्दो ह्यत्र तादृशदास्यपर्यवसानार्थः, अन्यामिलाषिता-

औत्सुक्यमतिहर्षाद्या ज्ञेयाः संचारिणो बुधैः ॥

दयोत्साहरतिस्त्वत्र स्थायिभाव उदीर्यते ॥ ३१ ॥

दयोद्रेकभृदत्साहो दयोत्साह इहोदितः ॥

बन्दे कुङ्कुमलितान्जलिर्मुहुर्हं वीरं मयूरध्वजं-

येनार्द्धं कपटद्विजाय वपुषः कंसद्विषे दित्सता ।

कष्टं गद्वदिकाऽऽकुलोऽस्मि कथनारम्भादहो धीमता

लोह्लासं क्रकचेन दारितमभूत्पत्नीछताभ्यां शिरः ॥

हरेश्चेत्तत्त्वविज्ञानं नैवास्य घटते दया ॥ ३२ ॥

तदभावे त्वसौ दानवीरेऽन्तर्भवति स्फुटम् ॥

वैष्णवत्वाद्रतिः कृष्णे क्रियतेऽनेन सर्वदा ॥ ३३ ॥

कृताऽत्र द्विजरूपे च भाक्तिस्तेनास्य भक्तता ॥

अन्तर्भावं वदन्तोऽस्य दानवीरे दयाऽऽत्मनः ॥ ३४ ॥

वोपदेवादयो धीरा वीरमाचक्षते त्रिधा ॥

अथ धर्मवीरः—

कृष्णैकतोषणे धर्मे यः सदा परिनिष्ठितः ॥ ३५ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

शून्यमित्यादिभिरसकृदेव सर्वस्यापि भक्तस्य तादृशतया प्राप्तत्वात्,

बन्द इत्यादौ कष्टमित्यादिगर्भितत्वदोषोऽपि चमत्कारपोषकत्वा-
हुणः, यथा साहित्यदर्पणादिषु “दिङ्मातङ्गघटे”त्यादिपद्यानि दर्शिता-
नि, गर्भितत्वं च यद्वाक्यान्तरमध्यं वाक्यान्तरं प्रविशतीति, एव-
मन्यत्रापि समाधेयम्,

हरेरिति । ततश्च तदभावः, तस्या दयाया अभाव इत्यर्थः,

वैष्णवत्वादिति । विष्णुर्मक्तिर्मजनीयोऽस्येति वैष्णवः, स च “भ-
क्तिरि”त्यनेन सूत्रेण शैषिकान्विधानात्, ततश्च वैष्णवत्वाद्विष्णुभ-

प्रायेण धीरशान्तस्तु धर्मवीरः स उच्यते ॥
 उद्दीपना इह प्रोक्ताः सच्छास्त्रश्रवणादयः ॥ ३६ ॥
 अनुभावा नयास्तिक्यसहिष्णुत्वयमादयः ॥
 मतिस्मृतिप्रभृतयो विज्ञेया व्यभिचारिणः ॥ ३७ ॥
 धर्मोत्साहरतिधीरैः स्थायी भाव इहोच्यते ॥
 धर्मैकाभिनिवेशस्तु धर्मोत्साहो मतः सताम् ॥ ३८ ॥

यथा—

भवदभिरतिहेतून् कुर्वता ससतन्तून्
 पुरमभि पुरुहूते नित्यमेवोपहूते ।
 दनुजदमन ! तस्याः पाण्डुपुत्रेण गण्डः
 सुचिरमरचि शक्त्याः सव्यहस्ताङ्कुशायी ॥

यज्ञः पूजाविशेषोऽस्य भुजाद्यङ्गानि वैष्णवः ॥
 ध्यात्वेन्द्राद्याश्रयत्वेन यदेष्याहुतिरर्प्यते ॥ ३९ ॥
 अयं तु साक्षात्तस्यैव निदेशात्कुरुते मखान् ॥
 युधिष्ठिरोऽम्बुधिः प्रेम्णां महाभागवतोत्तमः ॥ ४० ॥
 दानादित्रिविधं वीरं वर्णयन्तः परिस्फुटम् ।
 धर्मवीरं न मन्यन्ते कति चिद्धनिकादयः ॥ ४१ ॥
 इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धवुत्तरविभागे गौणभक्ति-
 रसनिरूपणे वीरभक्तिरसलहरी ॥ ३ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

क्तियुक्तत्वादित्यर्थः,

ससतन्तून्=यज्ञान् ॥ १-४१ ॥

इति नवलहरीर्यात्मक उत्तरविभागे वीरभक्तिरसलहरी तृतीया ॥

अथ करुणभक्तिरसः—

आत्मोचितैर्विभावाद्यैर्नीता पुष्टिं सतां हृदि ॥
भवेच्छोकरतिर्भक्तिरसोऽयं करुणाभिधः ॥ १ ॥
अव्युच्छिन्नमहानन्दोऽप्येष प्रेमविशेषतः ॥
अनिष्टाप्तेः पदतया वेद्यः कृष्णोऽस्य च प्रियः ॥ २ ॥
तथाऽनवाप्ततद्भक्तिसौख्यश्च स्वप्रियो जनः ॥
इत्यस्य विषयत्वेन ज्ञेय आलम्बनस्त्रिधा ॥ ३ ॥
तत्तद्वेदी च तद्भक्त आश्रयत्वेन च त्रिधा ॥
सोऽप्यौचित्येन विज्ञेयः प्रायः शान्तादिवर्जितः ॥ ४ ॥
तत्कर्मगुणरूपाद्या भवन्त्युद्दीपना इह ॥
अनुभावा मुखे शोषो विलापः स्रस्तगात्रता ॥ ५ ॥
श्वासक्रोशनभूपातघातोरस्ताडनादयः ॥
अत्राष्टौ सात्त्विका जाड्यनिर्वेदग्लानिदीनताः ॥ ६ ॥
चिन्ता विषाद औत्सुक्यचापलोन्मादमृत्यवः ॥
आलस्यापस्मृतिव्याधिमोहाद्या व्यमभिचारिणः ॥ ७ ॥
हृदि शोकतयांशेन गता परिणतिं रतिः ॥
उक्ता शोकरतिः सैव स्थायी भाव इहोच्यते ॥ ८ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तत्तद्वेदी तादृशकृष्णादित्रयानुभविता, अनुभावा इति । भुवि पा-
तो भुवि घातश्च हस्तेन भूताडनमिति द्वयं ज्ञेयम् ।
अंशेन=अनिष्टाप्तिप्रतीतिरूपेण निजविशेषणेन,

तत्र कृष्णो यथा श्रीदशमे—

तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्ट-
मालोक्य तत्प्रियसखाः पशुपा भृशार्ताः ।
कृष्णेऽर्पितात्मसहृदयंकलत्रकामा-
दुःखाभिशोकभयमूढधियो निपेतुः ॥

यथा वा—

फणिहृदमवगाढे दारुणं पिञ्छचूडे
स्खलदविरलबाष्पस्तोमधौतोत्तरीया ।
निखिलकरणवृत्तिस्तम्भिनीमाललम्बे
विषमगतिमवस्थां गोष्ठराजस्य राज्ञी ॥

तस्य प्रियजनो यथा—

कृष्णप्रियाणामाकर्षे शङ्खचूडेन निर्मिते ।
नीलाम्बरस्य वक्त्रेन्दुनीलिमानं मुहुर्दधे ॥

स्वप्रियो यथा हंसदूते—

विराजन्ते यस्य व्रजशिशुकुलस्तेयविकल-
स्वयम्भूचूडाऽग्रैर्लुलितशिखराः पादनखराः ।
क्षणं यानालोक्य प्रकटपरमानन्दविवशः
स देवर्षिमुक्तानपि मुनिगणान् शोचति भृशम् ॥

यथा वा—

मातमाद्रि ! गता कुतस्त्वमधुना हा कासि पाण्डो पितः !

दुर्गमसङ्गमनी ।

तत्प्रियसखाश्च पशुपाश्चान्ये गोपाः,

फणिहृदेति । गोष्ठराजस्य पत्नीति पाठान्तरम् ,

विराजन्ते इति । लुलितत्वं विमर्दितत्वं लुल विमर्दन इत्यस्य नि-

ष्टायां प्रयोगाद्, अत्र त्वत्यन्तसंस्पर्शतात्पर्यकत्वेनार्थान्तरसंक्रमित-
त्वमेव ज्ञेयं, तनुभूत इत्यत्र मुनिगणानिति पाठः, स्वाप्रियत्वेन मुक्तेः,

सान्द्रानन्दसुधाऽब्धिरेष युवयोर्नाभूद् दृशां गोचरः ।

हृत्पुत्रैर्नकुलानुजो विलपति प्रेक्ष्य प्रमोदाकुलो-

गोविन्दस्य पदारविन्दयुगलप्रोद्दामकान्तिच्छटाम् ॥

रतिं विनाऽपि घटते हासादेरुद्गमः क्व चित् ॥

कदा चिदपि शोकस्य नास्य सम्भावना भवेत् ॥ ९ ॥

रतेर्भूम्ना क्रशिम्ना च शोको भूयान् कृशश्च सः ॥

रत्या सहाविनाभावात्काप्येतस्य विशिष्टता ॥ १० ॥

अपि च—

कृष्णैश्वर्याद्यविज्ञानं कृतं नैषामविद्यया ॥

किन्तु प्रेमोत्तररसविशेषेणैव तत्कृतम् ॥ ११ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

कृष्णैश्वर्याद्यविज्ञानमिति । एतदुक्तं भवति—भगवान् नाम स्वरूपभूतभगवत्ताविशिष्टः परमानन्दस्वरूपः,

तदुक्तं चतुर्थे—

“तं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त-

आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तावि”ति,

विष्णुपुराणे—

“ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ।

भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिरिति,

भगवत्ता तु षड्विधत्वेऽपि सामान्यतो द्विविधा-परमैश्वर्यरूपा परममाधुर्यरूपा चेति, तत्रैश्वर्यं नाम प्रभावेण वशीकर्तृत्वं यदनुभवेन तस्माद्भयसम्भ्रमादि स्यात्, माधुर्यं तु रूपगुणलीलानां रोचकत्वं, यदनुभवेन तस्मिन्प्रेमा स्यात्, केवलस्वरूपं तु स्वानन्दमात्रसमर्पकं, तत्र माधुर्यानुभवस्तु तद्द्वयस्याप्यनुभवमावृणोति,

दुर्गमसङ्गमनी ।

यथा —

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-

किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।

अन्तर्गतः स्वधिवरेण चकार तेषां--

संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोरिति,

श्रीसनकादिभिस्तद्दर्शने

यथा च—

जन्म ते मय्यसौ पापो मा विद्यान्मधुसूदन ! ।

समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीरि--

त्यत्र श्रीदेवक्यादिवाक्ये,

स च माधुर्यानुभवो माधुर्यभावनाऽऽत्मकसाधनोत्पन्नप्रेमविशेष-
लब्धरसपर्यायास्वादविशेषः, तस्मात्तेन यदैश्वर्याद्यनुभवावरण-
न्तत्सर्वोत्तमविद्यामयमेवेति ब्रह्मज्ञानादर्वाचर्चना त्वविद्या कथं तत्रा-
वकाशं लभताम् ?

यथा श्रीबलदेवस्यापि तन्मङ्गलार्थः प्रयत्नः श्रूयते--

श्रुत्वैतद्भगवान् रामो विपक्षीयबलोद्यमम् ।

कृष्णं चैकं गतं हर्तुं कन्यां कलहशङ्कितः ॥

बलेन महता सार्द्धं भ्रातृस्नेहपरिप्लुतः ।

त्वरितः कुण्डिनं प्रागाद्भजाद्वरथपत्तिभिरिति,

श्रीयुधिष्ठिरस्यापि यथा—

अजातशत्रुः पृतनां गोपीधाय मधुद्विषः ।

परेभ्यः शङ्कितः प्रादादि--

त्यादिना,

यस्मादेवमतः तदानीमपि प्रेमानन्दमयकृष्णानन्दस्फुरणात्
तदुपलक्षितात् तादृशप्रेमस्वभावेन कथं चित्सम्भावनेन वा प्रत्या-

अतः प्रादुर्भवन् शोको लब्ध्वाऽप्युद्भटतां मुहुः ॥

दुरूहामेव तनुते गतिं सौख्यस्य कामपि ॥ १२ ॥

इति श्रीभक्तिसामृतसिन्धावुत्तरविभागे गौणभक्तिरसनि-
रूपणे करुणभक्तिरसलहरी ॥ ४ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

शाऽनुगमात् पर्यवसानेऽपि तत्सुखस्यैवाभ्युदयादसौ सौख्यस्य
गतिमेव तनुते ; किन्तु दुरूहामागन्तुकदुःखानुभवनावृताम् , अत-
एव कामप्यनिर्वचनीयामित्यर्थः, तस्मादस्तेव करुणेऽपि सुखमयत्व-
मिति भावः ॥ १-१२ ॥

इति नवलहर्यात्मक उत्तरविभागे करुणभक्तिरसलहरी चतुर्थी ।

अथ रौद्रभक्तिरसः—

नीता क्रोधरतिः पुष्टिं विभावाद्यैर्निजोचितैः ॥

हृदि भक्तजनस्यासौ रौद्रभक्तिरसो भवेत् ॥ १ ॥

कृष्णो हितोऽहितश्चेति क्रोधस्य विषयस्त्रिधा ॥

कृष्णे सखीजरत्याद्याः क्रोधस्याश्रयतां गताः ॥ २ ॥

भक्ताः सर्वविधा एव हिते चैवाहिते तथा ॥

तत्र कृष्णे सख्याः क्रोधः—

सखीक्रोधो मवेत्सख्याः कृष्णादत्याहिते सति ॥ ३ ॥

यथा विदग्धमाधवे—

अन्तःक्लेशकलङ्किताः किल वयं यामोऽद्य याम्यां पुरं—

नायं बद्धनसञ्चयप्रणयिनं हासं तथाऽप्युज्झति ।

अस्मिन्संपुटिते गभीरकपटैराभीरपल्लीविटे

हा मेधाविनि राधिके ! तव कथं प्रेमा गरीयानभूत् ॥

अथ तत्र जरत्याः क्रोधः—

क्रोधो जरत्या वध्वादिसम्बन्धे प्रेक्षिते हरौ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

अत्याहितं=महाभीतिः, कृष्णादित्यपादानं “भीत्रार्थानाम्भयहेतु”
रिति स्मरणात्,

अन्तःक्लेशकलङ्किता इत्यस्य प्रकरणे परीक्षाऽर्थं कृतौदासीन्य-
प्रायाच्छ्रीकृष्णाच्छ्रीराधाया अत्याहितं जातमिति ज्ञेयम्,

ननु जरत्याः क्रोधः कथं कृष्णे स्याद् “अहो भाग्यमहो भाग्यमि”-
त्यादिश्रीभागवतनिर्णयशतरत्या ब्रजवासिजीवमात्राणां सर्वातिक्रमेण
सर्वसमर्पणेन च तदेकहितानां नासौ स्वार्थः संभवतीति ? तत्राह—

यथा—

अरे युवतितत्स्कर ! प्रकटमेव वध्वाः पट-

स्तवोरसि निरीक्ष्यते बत न नेति किं जल्पसि ।

अहो ब्रजनिवासिनः शृणुत किं न विक्रोशनं-

ब्रजेश्वरघृतेन मे छतगृहेऽग्निस्तथापितः ॥

गोवर्द्धनं महापल्लं विनाऽन्येषां ब्रजौकसाम् ॥ ४ ॥

सर्वेषामेव गोविन्दे रतिः प्रौढा विराजते ॥

अथ हितः—

हितस्त्रिधाऽनवहितः साहसी चेष्ट्युरित्यपि ॥ ५ ॥

तत्रानवहितः—

कृष्णपालनकर्त्ताऽपि तत्कर्माभिनिवेशतः ॥

क चित्तत्र प्रमत्तो यः प्रोक्तोऽनवहितोऽत्र सः ॥ ६ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

गोवर्द्धनमिति । सोऽयं चन्द्रावल्याः पतिमन्यः कंसस्य कश्चिद्गोप
आगन्तुकतया कृतव्रजवास इति कचित्प्रसिद्धिः, तस्मात्तं विनाऽन्ये-
षामित्यादि योज्यम् ,

तदेवमपि तस्मिन्स्तस्याः क्रोधस्तु तन्मङ्गलेच्छयैव मुख्यमु-
द्यममावहति न तु रत्यभावेनेति पूर्वं दर्शितमस्ति, तथा जनेष्वशृण्व-
त्खेव तथा क्रोशनं न तु शृण्वत्खेपीति भावः,

तत्र=कृष्णपालने, क चित्तत्सम्बन्धिभावान्तरेण वैचित्र्ये सति
प्रमत्तस्तत्तत्परमहानिकरीमपि तदवस्थामवधातुमसमर्थो यः सोऽन-
वहितः प्रोक्तः,

यथा—

उत्तिष्ठ मूढे ! कुरु मा विलम्बं-
वृथैव धिक् पण्डितमानिनीत्वम् ।
बुध्यस्पलाशिद्वयमन्तरा ते
बद्धः सुतोऽसौ सखि ! बन्धनीति ॥

अथ साहसी—

यः प्रेरको भयस्थाने साहसी स निगद्यते ॥

यथा—

गोविन्दः प्रियसहृदां गिरैव यात-
स्तालानां विपिनमिति स्फुटं निशम्य ।
श्रूभेदस्थपुटितदृष्टिरास्यमेपां-
डिम्भानां व्रजपतिगेहिनी ददर्श ॥

अथेष्ट्युः—

ईर्ष्युर्मानधना प्रोक्ता प्रौढेर्ष्याक्रान्तमानसा ॥ ७ ॥

यथा—

दुर्मानमन्थमथिते ! कथयामि किं ते
दूरं प्रयाहि सविधे तव जाज्वलीमि ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

पण्डितमानिनी=पुत्रशिक्षाविज्ञमानिनी, ब्रुव्यदिति “वर्त्तमानसा
मीप्ये वर्त्तमानवद्वा” तदिदं प्रायस्तस्मिन् दिने तूपनन्दाद्येकतरगृहे नि-
मन्त्रणया सपुत्रं गतायाश्चुव्यदृक्षगर्जितादागतायाः श्रीदामोदरानिक-
टे श्रीव्रजेश्वराद्यागमनं वीक्ष्य गृह एव प्रविष्टायाः श्रीरोहिण्यास्त-
च्छब्दकृतभयमयमूच्छात उत्थितप्रायां व्रजेश्वरीं प्रति वाक्यं स्यात्,
स्थपुटितं=विषमीकृतं, स्थपुटं विषममिति त्रिकाण्डशेषः, विषमं-
तु नतोन्नतमिति ज्ञेयम्,

हा धिक् प्रियेण चिकुराञ्चितपिञ्चकोट्या
निर्मञ्छिताग्रचरणाऽपि रूषोद्धुराऽऽसीः ॥

अथाहितः—

अहितः स्याद् द्विधा स्वस्य हरेश्चेति प्रभेदतः ॥

तत्र स्वस्याहितः—

अहितः स्वस्य स स्याद्यः कृष्णसम्बन्धवाधकः ॥

यथोद्धवर्द्धदेशे—

कृष्णं मुष्णन्नकरण ! बलाद्गोष्ठतो निष्ठुरस्त्वं—
मा मर्त्यादां यदुकुलभुवां भिन्धि रे गान्धिनेय ! ।
पश्याभ्यर्पणे त्वयि रथमधिष्ठाय यात्रां विधिस्तौ
स्त्रीणां प्राणैरपि नियुतशो हन्त यात्रा व्यधापि ॥

अथ हरेरहितः—

अहितस्तु हरेस्तस्य वैरिपक्षो निगद्यते ॥

यथा—

हरौ श्रुतिशिरःशिखामणिमरीचिनोराजित-
स्फुरच्चरणपङ्कजेऽप्यवमर्ति व्यनक्तयत्र यः ।
अयङ्क्षिपति पाण्डवः शमनदण्डघोरं हठात्
त्रिरस्य मुकुटोपरि स्फुटमुदीर्य सव्यं पदम् ।

सोल्लुण्ठहासवक्रोक्तिकटाक्षानादरादयः ॥ ९ ॥

कृष्णाहितहितस्थाः स्युरमी उद्दीपना इह ॥

हस्तानिष्पेषणं दन्तघट्टनं रक्तनेत्रता ॥ १० ॥

दष्टौष्ठताऽतिभ्रुकुटी भुजास्फालनताडनाः ॥

तूष्णीकता नतास्यत्वं निश्वासो भुग्नदृष्टिता ॥ ११ ॥

भर्त्सनं मूर्धविधुतिर्दगन्ते पाटलच्छविः ॥

भ्रूभेदाधरकम्पाद्या अनुभावा इहोदिताः ॥ १२ ॥

अत्र स्तम्भादयः सर्वे प्राकट्यं यान्ति सास्त्रिकाः ॥

आवेगो जडता गर्वो निर्वेदो मोहचापले ॥ १३ ॥

अमृयौग्यं तथाऽमर्षश्रमाद्या व्यभिचारिणः ॥

अत्र क्रोधरतिः स्थायी स तु क्रोधस्त्रिधा मतः ॥ १४ ॥

कोपो मन्युस्तथा रोषस्तत्र कोपस्तु शत्रुगः ॥

मन्युर्वन्धुषु ते पूज्यसमन्युनास्त्रिधोदिताः ॥ १५ ॥

रोषस्तु दयिते स्त्रीणामतो व्यभिचरत्यसौ ॥

हस्तपेषादयः कोपे मन्यौ तूष्णीकताऽऽदयः ॥ १६ ॥

दृगन्तपाटलत्वाद्या रोषे तु कथिताः क्रियाः ॥

तत्र वैरिणि यथा—

निरुध्य पुरमुन्मदे हरिमगाधसत्त्वश्रियं-

मृधे मगधभृपतौ किमपि वक्रमाक्रोशति ।

दृशं कवलितद्विषद्विसरजाङ्गले लाङ्गले

नुनोद दहदिङ्गलप्रबलपिङ्गलां लाङ्गली ॥

पूज्ये यथा विदग्धमाधवे—

क्रोशन्त्यां करपल्लवेन बलवान्सद्यः पिघत्ते मुखं-

धावन्त्यां भयभाजि विस्तृतभुजो रुन्धे पुरः पद्धतिम् ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

व्यभिचरति=भाद्ये रसे व्यभिचारितां प्राप्नोति, जरतीसख्यादीनां-
कोममन्युवन्नमूषां रोषः स्थायितामायातीत्यर्थः,

तदेवं पूर्वमुक्ता आवेगादयश्च व्यभिचारिण औग्यप्रधानाः शत्रुवि-
षयाः, अमर्षप्रधाना बन्धुविषयाः, असूयाप्रधाना दयितविषयास्तेषां,

द्विषद्विसरजाङ्गलं=शत्रुसमूहमांसम्, इङ्गलः=अङ्गारः,

क्रोशन्त्यामिति । भावं परीक्षमाणायां पौर्णमास्यां कृष्णस्फूर्तिम-

पादान्ते विलुठत्यसौ मयि मुहुर्दृष्टाधरायां रूपा

सातश्चण्डि ! मया शिखण्डमुकुटादात्माऽभिरक्ष्यः कथम् ? ॥

समे यथा—

ज्वलति दुर्मुखि ! मर्मणि मुसुर-

स्तव गिरा जटिले ! निटिले च मे ।

गिरिधरः स्पृशति स्म कदा मदाद्

दुहितरं दुहितुर्मम पामरि ! ॥

न्यूने यथा—

हन्त स्वकीयकुचमूर्ध्नि मनोहरोऽयं-

हारश्चकास्ति हरिकण्ठतटीचरिण्युः ।

भोः ! पश्यत स्वकुलकजलमञ्जरीय-

कूटेन मां तदपि वञ्चयते बधूदी ॥

अस्मिन्न तादृशो मन्यौ वर्त्तते रत्यनुग्रहः ॥ १७ ॥

उदाहरणमात्राय तथाऽप्येष निदर्शितः ॥

क्रोधाश्रयाणां शत्रूणां चैद्यादीनां स्वभावतः ॥ १८ ॥

क्रोधो रतिविनाभावान्न भक्तिरसतां व्रजेत् ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धोवृत्तरविभागे गौणभक्तिरसनिरूपणे
रौद्रभक्तिरसलहरी ॥५॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

यं चरितं साक्षाद्रूपमिव श्रीराधिकया कथितम्,

ज्वलतीति । जटिलामुखरयोर्निभृतकलहः, निटिले=शिरसि,

कदा चिन्निजाङ्गाज्झटिति श्रीराधिकयाऽवतारितं हरिहारं वीक्ष्य

तस्याः सखीः प्रति जटिलावचनं-हन्तेति ।

न तादृश इति । न स्पष्ट इत्यर्थः, गोबर्द्धनं विना मल्लमित्याद्युक्त-
त्वात् ॥ १-१८३ ॥

इति नवलहृदयात्मक उत्तरविभागे रौद्रभक्तिरसलहरी पञ्चमी ।

अथ भयानकभक्तिरसः—

वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः पुष्टिं भयरतिर्गता ॥

भयानकाभिधो भक्तिरसो धीरैरुदीर्यते ॥ १ ॥

कृष्णश्च दारुणाश्चेति तस्मिन्नालम्बना द्विधा ॥

अनुकम्प्येषु सागःसु कृष्णस्तस्य च बन्धुषु ॥ २ ॥

दारुणाः स्नेहतः शङ्कतदनिष्टाप्तिदर्शिषु ॥

दर्शनाच्छ्रवणाच्चेति स्मरणाच्च प्रकीर्तिताः ॥ ३ ॥

तत्रानुकम्प्येषु कृष्णो यथा—

किं शुष्यद्वदनोऽसि मुञ्च खचितं चित्ते पृथुं वेपथुं-

विश्रम्य प्रकृतिं भजस्व न मनागप्यस्ति मन्तुस्तव ।

ऊष्मन्नक्षितमृक्षराज ! रभसाद्विस्तीर्य वीर्यं त्वया

दुर्गमसङ्गमनी ।

तद्भक्ताश्चेति वक्तव्ये दारुणाश्चेत्युक्तिः प्राकृतरसविन्मता-
नुसारेण, स्वमतानुसारेण तु पञ्चम्यर्थानां तेषामालम्बनत्वं न
सम्भवति सामान्ये विशेषेषु च सप्तम्यर्थस्यैवालम्बनत्वेन स्वीकृ-
तत्वात्, प्राकृतरसविन्मतानुवादमयमेतत् प्रकरणमिति स्वयं लि-
खिष्यते—

हास्यादीनां रसत्वं यद्गौणत्वेनापि कीर्तितम् ।

प्राचां मतानुसारेण तद्विज्ञेयं मनीषिभिरिति,

स्वमते तु प्रथमपक्षेऽनुकम्प्या एव भयस्य विषयत्वेनाश्रयत्वेना-
लम्बनाः कृष्णस्तु हेतुमात्रं, तद्वितीयपक्षे कृष्णो विषयत्वेन बन्धव-
आश्रयत्वेनालम्बनाः, दारुणास्तु हेतुमात्रमिति ज्ञेयं, रतिस्तु यथायथ-
मस्येव,

ऊष्मा=क्रोधसन्तापः, पृथ्वी=पृथुतरा,

पृथ्वी प्रत्युत युद्धकौतुकमयी सेवैव मे निर्मिता ॥

यथा वा—

मुरमथन ! पुरस्ते को भुजङ्गस्तपस्वी
लघुरहमिति कार्षीमां स्म दीनाय मन्युम् ।
गुरुरयमपराधस्तथपमज्ञानतोऽभू-
दशरणमतिमूढं रक्ष रक्ष प्रसीद ॥

बन्धुषु दारुणा दर्शनाद्यथा—

हा किं करोमि तरलं भवनान्तराले
गोपेन्द्र ! गोपय बलादुपरुध्य बालम् ।
क्षमामण्डलेन सह चञ्चलयन्मनो मे-
शृङ्गाणि लङ्घयति पश्य तुरङ्गदैत्यः ॥

श्रवणाद्यथा—

शृण्वती तुरगदानवं रूपा
गोकुलं किल विशन्तमुद्धुरम् ।
द्रागभूत्तनयरक्षणाकुला
शुष्यदास्यजलजा व्रजेश्वरी ॥

स्मरणाद्यथा—

विरम विरम मातः पूतनायाः प्रसङ्गा-
त्तनुमियमधुनाऽपि स्मर्य्यमाणा धुनोति ।
कबलयितुमिवाङ्गीकृत्य बालं धुरन्ती
वपुरतिपरुषं या घोरमाविश्रकार ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

कालियस्य वाक्यं, तपस्वी=बराकः, मन्युः=क्रोधः,
शृङ्गाणि=वृक्षादीनामग्रभागान्,
विरमेति । कां चिद् दूरादागतामज्ञातवृत्तां प्रति श्रीव्रजेश्वरीवाक्यं-
ततः कबलयितुमित्याद्यनुवाददोषोऽपि न स्यात् ,

विभावस्य भुक्नुयाद्यास्तस्मिन्नुदीपना मताः ॥

मुखशोषणमुच्छ्वासः पराहत्य विलोकनम् ॥ ४ ॥

स्वसङ्गोपनमुद्घूर्णा शरणान्वेषणं तथा ॥

क्रोशनाद्याः क्रियाश्चात्र सात्त्विकाश्चाश्रुवर्जिताः ॥ ५ ॥

इह सन्त्रासमरणचापलावेगदीनताः ॥

विषादमोहापस्मारशङ्काद्या व्यभिचारिणः ॥ ६ ॥

आस्मिन् भयरतिः स्थायी भावः स्यादपराधतः ॥

भीषणेभ्यश्च तत्र स्याद्बहुधैवापराधिता ॥ ७ ॥

तज्जा भीर्नापरत्र स्यादनुग्राहजनान्विता ॥

आकृत्या ये प्रकृत्या ये ये प्रभावेण भीषणाः ॥ ८ ॥

एतदालम्बना भीतिः केवलप्रेमशालिषु ॥

नारीवालादिषु तथा प्रायेणात्रोपजायते ॥ ९ ॥

आकृत्या पूतनाऽऽद्याः स्युः प्रकृत्या दुष्टभूभुजः ॥

भीषणास्तु प्रभावेण सुरेन्द्रगिरिशादयः ॥ १० ॥

सदा भगवतो भीतिं गता आत्यन्तिकीमपि ॥

कंसाद्या रतिशून्यत्वादत्र नालम्बना मताः ॥ ११ ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धवुत्तरविभागे गौणभक्तिरस-

निरूपणे भयानकभक्तिरसलहरी ॥६॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

घुरन्ती=भीमशब्दं कुर्वती, "घुर भीमार्त्तशब्दयो" रित्यस्य रूपम्,

दुष्टभूभुजः=शिशुपालादयः ॥ १-११ ॥

इति नवलहर्षार्थक उत्तरविभागे भयानकभक्तिरसलहरी षष्ठी ।

अथ बीभत्सभक्तिरसः—

पुष्टिं निजविभावाद्यैर्जुगुप्सारतिरागता ॥

असौ भाक्तिरसो धीरैर्वीभत्साख्य इतीर्यते ॥ १ ॥

अस्मिन्नाश्रितशान्ताद्या धीरैरालम्बना मताः ॥

यथा—

पाण्डित्यं रतहिण्डकाध्वनि गतो यः कामदीक्षाव्रती

कुर्वन्पूर्वमशेषपिङ्गनगरीसाम्राज्यचर्यामभूत् ।

चित्रं सोऽयमुदीरयन् हरिगुणानुद्वाप्यदृष्टिर्जनो-

दृष्टे स्त्रीवदने विकूणितमुखो विष्टभ्य निष्टीवति ॥

अत्र निष्ठीवनं वक्त्रकूणनं घ्राणसंवृतिः ॥ २ ॥

धावनं कम्पपुलकप्रस्वेदाद्याश्च विक्रियाः ॥

इह ग्लानिश्रमेन्मादमोहनिर्वेददीनताः ॥ ३ ॥

विषादचापलावेगजाड्याद्या व्यभिचारिणः ॥

जुगुप्सारतिरत्र स्यात्स्थायी सा च विवेकजा ॥ ४ ॥

प्रायिकी चेति कथिता जुगुप्सा द्विविधा बुधैः ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

अत्र बीभत्सितस्यैवालम्बनत्वेऽप्याश्रितशान्तादीनामालम्बनत्वं
रत्यंशेन, शान्तोऽत्र तपस्विरूप एव, आद्यग्रहणादप्राप्तभगवत्सानि-
ध्याः सर्व एव,

रतहिण्डकः=रतचौरः, विकूणितमुखः=वक्रितवदनः, विष्टभ्य=
विशेषेण स्तब्धो भूत्वा,

तत्र विवेकजा—

जातकृष्णरतेर्भक्तविशेषस्य तु कस्य चित् ॥ ५ ॥

विवेकोत्था तु देहादौ जुगुप्सा स्याद्विवेकजा ॥

यथा—

घनरुधिरमये त्वचा पिनद्धे
पिशितविमिश्रितविस्त्रगन्धभाजि ।
कथमिह रमतां बुधः शरीरे
भगवति हन्त रतेर्लघेऽप्युदीर्णे ॥

अथ प्रायिकी—

अमेध्यपूत्यनुभवात्सर्वेषामेव सर्वतः ॥ ६ ॥

या प्रायो जायते सेयं जुगुप्सा प्रायिकी मता ॥

यथा—

असृङ्मृत्राकीर्णे घनशमलपङ्कज्यतिकरे
वसन्नेप छिन्नो जडतनुरहं मातुरुदरे ।
लभे चेतःक्षोभं तव भजनकर्माक्षमतया
तदस्मिन्कंसारे ! कुरु मयि कृपासागर ! कृपाम् ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

पिशितं=मांसं, “विस्त्रं स्यादामगन्धि यत्” तस्माद्विस्त्रस्य यो-
गन्धस्तद्भाजीत्यर्थः, उदीर्णं इति । क्रैयादिकस्य ऋतु गतवित्यस्य
दीर्घस्य निष्ठावां रूपम्, उदित इत्यर्थः,

भजनकर्माक्षमतयोपलक्षिते मयि न तु तथा हेतुना भजनकर्मा-
क्षमत्येति, सप्तम्यन्तो वा पाठः, अन्यथा बीभत्सस्याविमृष्टत्वं-
स्यादिति,

यथा वा—

प्राणोद्घूर्णकपूतिगन्धविकटे कीटाकुले देहली-
स्रस्तव्याधितयूथगूथघटनानिर्द्धूतनेत्रायुपि ।
कारानामनि हन्त मागधयमेनामी वयं नारके
क्षिप्तास्ते स्मृतिमाकलय्य नरकध्वंसिन्निह प्राणिमः ॥

लब्धकृष्णरतेरेव सुष्ठु पूतं मनस्सदा ॥ ७ ॥

क्षुभ्यत्यह्वलेशेऽपि ततोऽस्यां रत्यनुग्रहः ॥

हास्यादीनां रसत्वं यद् गौणत्वेनापि कीर्तितम् ॥ ८ ॥

प्राचां मतानुसारेण तद्विज्ञेयं मनीषिभिः ॥

अमी पञ्चैव शान्ताद्या हरेर्भाक्तिरसा मताः ॥ ९ ॥

एषु हासादयः प्रायो विभ्रति व्यभिचारिताम् ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धोवुत्तरविभागे गौणभक्तिरस-
निरूपणे बीभत्सभक्तिरसलहरी ॥ ७ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

नारके=नरकसमूहे,

रत्यनुग्रहो रत्या कर्त्र्या पोषणम् ॥ १-९ ॥

इति नवलहर्यात्मक उत्तरविभागे बीभत्स-
भक्तिरसलहरी सप्तमी ।

अथ रसानां मैत्रीवैरस्थितिः—

अथामीषां क्रमेणैव शान्तादीनां परस्परम् ॥

मित्रत्वं शात्रवत्त्वं च रसानामभिधीयते ॥ १ ॥

शान्तस्य प्रीतवीभत्सधर्मवीराः सुहृद्वराः ॥

अद्भुतश्चैष विज्ञेयः प्रीतादिषु चतुर्ष्वपि ॥ २ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

अत्र स्वयमङ्गिरसानुभवी श्रीकृष्णभक्तः श्रीकृष्णस्तद्भक्तान्तरन्तदुदासीनस्तद्विरोधी चेति पञ्चविधगतत्वेन भावा लक्ष्यन्ते, तत्राङ्गिनो रसस्य केन चिदनुचितेनाङ्गेन मिलने सति विघातः स्यादुचितमिलने तु तत्पौष इति वक्तव्ये—शान्तस्य तौ दर्शयितुं तावदाह—शान्तस्येति । वीभत्सधर्मवीरावत्र तपस्विशान्तस्य सुहृदौ ज्ञेयौ, तदुदासीनतद्विरोधिनोर्बीभत्सितताभावनया श्रीकृष्णतद्भक्तयोर्धार्मिकतापर्यालोचनया च तदीयरसोदयाद्, आत्मारामशान्तस्य च तत्तदनवधानेऽपि कविना तदङ्गत्वेन वर्णनायां दोष एव स्याद्, अद्भुतश्च शान्तस्य सुहृद्वरः, एषोऽद्भुतः प्रीतप्रेयोबत्सलमधुरेऽपि सुहृद्वरो विज्ञेयः, किन्तु शान्तस्य शान्तप्रायतपस्विनश्च द्विधा श्रीभगवति चमत्कारो जायते—ब्रह्मानुभवानन्दादपि तन्माधुर्यानुभवानन्देन कचिच्छत्रुपक्षनिग्रहादिलीलाया अप्याश्चर्यत्वेन, यथा “तस्यारविन्दनयनस्ये”त्यादि, यथा च—

“न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रह—

स्तथाऽपि मर्त्यानुविधस्य वर्णयत —

इत्यादि,

मर्त्याननुविधत्तेऽनुकरोति मर्त्यलीलोचितामेव शक्तिं व्यञ्ज-

द्विपन्नस्य शुचिर्युद्धवीरो रौद्रो भयानकः ॥

सुहृत्प्रीतस्य बीभत्सः शान्तो वीरद्वयं तथा ॥ ३ ॥

वैरी शुचिर्युद्धवीरो रौद्रश्चैकविभावकः ॥

प्रेयसस्तु शुचिर्हास्यो युद्धवीरः सुहृद्वराः ॥ ४ ॥

द्विषो वत्सलवीभत्सरौद्रा भीष्मश्च पूर्ववत् ॥

वत्सलस्य सुहृदास्यः कर्णो भीष्मभित्तथा ॥ ५ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

यति नाधिकां तथाऽपि तन्निग्रहादिकं करोत्येव यस्तस्येत्यर्थः, अस्य=शान्तस्य द्विविधस्यापि, शुचिरत्र सम्प्रति टीकोक्तपञ्चविधां गतोऽपि द्विषन् तथा युद्धवीरश्च, रौद्रभयानकौ त्वात्मारामशान्तस्यैव शत्रू, तपस्विशान्तस्य तु यमादीनामौग्यदर्शनान्निजसंसारभयोत्पत्तौ शान्तिपुष्टेः, तस्य तु रौद्रः स्वगतो द्वेष्यः,

सुहृत्प्रीतस्य बीभत्स इत्युदासीनादिद्वये बीभत्सतया तस्यैव पुण्यमाणत्वाद्, एवं तत उपरत्या शान्तोऽपि तथा, प्रथमत्रयगतं वीरद्वयं धर्मदानवीराख्यं, युद्धवीरो रौद्रश्च-एकविभावकः कृष्णविभावकः साक्षात्कृष्णसम्बन्धादुत्पन्नः, स च स चात्र कृष्णेन सह स्वकर्तृकयुद्धमयः कृष्णं प्रति स्वकोपमय इत्यर्थः, तदेतदुपलक्षणत्वेनान्यत्रानुक्तमपि यथायथं तत्तद्वत्त्वेन व्याख्यास्यते,

प्रेयसस्त्विति । शुचिरत्र कृष्णगतः, हास्यस्तद्भक्तद्वयगतश्च, युद्धवीरस्तूदासीनादन्यत्र गतः, पूर्ववत्कृष्णविभावकः स चात्र कृष्णविषयाश्रयतामय इत्यर्थः,

वत्सलस्येति । हास्यकर्णनावत्र प्रथमत्रयगौ भीष्मभिद्=विरोधिहेतुभयानकभेदः, शुचिः सर्वगतः, युद्धवीररौद्रौ कृष्णेन सह पारस्परिकौ, प्रीतो वत्सलस्य कृष्णविषयकः, अतः पूर्ववदित्युपलक्षणम्,

शत्रुः शुचिर्युद्धवीरः प्रीतो रौद्रश्च पूर्ववत् ॥
 शुचेर्हास्यस्तथा प्रेयान् सुहृदस्य प्रकीर्तितः ॥ ६ ॥
 द्विषो वत्सलबीभत्सशान्तरौद्रभयानकाः ॥
 प्राहुरेकस्य सुहृदं वीरयुगं परे रिपुम् ॥ ७ ॥
 मित्रं हास्यस्य बीभत्सः शुचिः प्रेयान्सवत्सलः ॥
 प्रतिपक्षस्तु करुणस्तथा प्रोक्तो भयानकः ॥ ८ ॥
 अद्भुतस्य सुहृद्वीरः पञ्च शान्तादयस्तथा ॥
 प्रतिपक्षो भवेदस्य रौद्रो बीभत्स एव च ॥ ९ ॥
 वीरस्य त्वद्भुतो हास्यः प्रेयान् प्रीतस्तथा सुहृत् ॥
 भयानको विपक्षोऽस्य कस्य चिच्छान्त एव च ॥ १० ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

शुचेरिति । हास्यप्रेयःशान्ताः प्रथमद्वयगताः हास्यप्रेयांसौ तु
 क चित्सखीलक्षणभक्तान्तरगतौ च वत्सलः प्रथमत्रयगतः बीभत्सः
 सर्वगतः रौद्रभयानकौ प्रायःसर्वगतौ वीरयुगं युद्धधर्मवीररूपं, तच्च
 प्रथमत्रयगतं, पर इति तदिदं न स्वमतमित्यभिप्रेतम्,

मित्रमिति । बीभत्सोऽत्र कृतबीभत्सितवेषविदूषकादिलक्षणभक्ता-
 न्तरदर्शनात्प्रथमगतत्वेन ज्ञेयः, न त्वत्यन्तबीभत्सितदौर्गन्ध्यादिदर्श-
 नात्, तदेवं परपरत्र तत्तद्वेतुत्वं तत्तद्गतत्वं च स्वयमुन्नेयम्,

अद्भुतस्येति । अलौकिकवस्त्वन्तरानुभवजातचमत्कारस्य भी-
 षणबीभत्सितयोरनुभवेन विघातः स्यादित्येव विवक्षितम्, अतस्तयोः
 स्वतश्चमत्कारकरत्वं तु न निषिध्यते “रसे सारश्चमत्कार” इत्यस्य
 विरोधात्,

वीरस्येति । श्रीबलदेवादाविव युद्धवीरादेः श्रीव्रजेश्वरादाविव

करुणस्य सुहृद्रौद्रो वत्सलश्च विलोक्यते ॥

वैरी हास्योऽस्य सम्भोगशृङ्गारश्चाद्भुतस्तथा ॥ ११ ॥

रौद्रस्य करुणः प्रोक्तो वीरश्चापि सुहृद्वरः ॥

प्रतिपक्षस्तु हास्योऽस्य शृङ्गारो भीषणोऽपि च ॥ १२ ॥

भयानकस्य वीभत्सः करुणश्च सुहृद्वरः ॥

द्विषस्तु वीरशृङ्गारहास्यरौद्राः प्रकीर्तिताः ॥ १३ ॥

वीभत्सस्य भवेच्छान्तो हास्यः प्रीतस्तथा सुहृत् ॥

शत्रुः शुचिस्तथा प्रेयान् ज्ञेया युक्त्या परे च ते ॥ १४ ॥

कथितेभ्यः परे ये स्युस्ते तटस्थाः सतां मताः ॥

तत्र सुहृत्कृत्यम्—

सुहृदामिश्रणं सम्यगास्वाद्यं कुरुते रसम् ॥ १५ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

दानवीरादेर्वत्सलश्च क्वचित्सुहृद् दृश्यते भयानकः शान्तश्च कस्य चि-
द्युद्धवीरस्य विपक्षो दानवीरादेर्भयानकश्च ज्ञेयः,

करुणस्येति । रौद्रो जातचरस्वप्रियपीडनतयाऽनुस्मृतयाऽत्र
गृह्यते वर्त्तमानतादृशस्य भयमात्रजनकत्वात्,

रौद्रस्येति । भीषणो=भयानकः,

भयानकस्येति । अत्र करुणस्य तु सुहृत्वं भाविस्वप्रियवियोग-
गस्मरणात्,

वीभत्सस्येति । शान्तोऽत्र तापसालम्बनकः प्रीत आरब्धरतिभ-
क्ताद्यालम्बनः हास्यस्य सुहृत्वं विदूषकादिकृतं कुवेषादौ ज्ञेयं ; न
तु सर्वत्र,

कथितेभ्य इति । साक्षादुक्तेभ्यो युक्त्या ज्ञातेभ्यश्चेत्यर्थः,

द्वयोस्तु मिश्रणे साम्यं दुःशकं स्यात्तुलाधृतम् ॥
 तस्मादङ्गाङ्गिभावेन मेलनं विदुषां मतम् ॥ १६ ॥
 भवेन्मुख्योऽथ वा गौणो रसोऽङ्गी किल यत्र सः ॥
 कर्तव्यं तत्र तस्याङ्गं सुहृदेव रसो बुधैः ॥ १७ ॥
 अथाङ्गित्वं प्रथमतो मुख्यानामिह लिख्यते ॥
 अङ्गतां यत्र सुहृदो मुख्या गौणाश्च विभ्रति ॥ १८ ॥

तत्र शान्तेऽङ्गिनि प्रीतस्याङ्गता यथा—

जीवस्फुलिङ्गवन्देर्महसो घनचित्स्वरूपस्य ।

तस्य पदाम्बुजयुगलं किं वा संवाहयिष्यामि ॥

अत्र मुख्येऽङ्गिनि मुख्यस्याङ्गता,

तत्रैव बीभत्सस्य यथा—

अहमिह कफशुकशोणितानां-

पृथु कुतुपे कुतुकी रतः शरीरे ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

द्वयोस्त्वित्यर्द्धस्य परेणान्वयः, तुलया धृतमत्यन्तं यथा स्यात्तथा
 दुःशकं भावयितुमशक्यमित्यर्थः, मेलनमेकदा भावनम्,
 जीवस्फुलिङ्गवन्देरिति श्रौतानुवादः, स च जीवेशयोरंशांशि-
 ताप्रामाण्याय, घनः श्रीविग्रहस्तदाकारा या चित् सच्चिदानन्दलक्षणं—
 परं ब्रह्म सैव स्वरूपं यस्य; तस्य=तादृशत्वेन ममालम्बनस्येति तत्र
 स्वनिष्ठा दर्शिता, तस्माच्छान्तस्याङ्गित्वेऽपि तादृगुत्तमसुहृदालङ्गि-
 तत्वेन प्रशस्तत्वमपि ध्वनितं; किन्त्वत्राप्यङ्गत्वे शान्तस्य प्राबल्यं दग्नि-
 सिताया इवास्वादाधिकाज्ज्ञेयं, पादसंवाहनेच्छा तु परमानन्दविग्र-
 हस्य तस्य स्पर्शानन्दप्राप्तीच्छयैव न तु साहाय्येनानन्ददानेच्छया
 पूर्णानन्दत्वेन तस्य स्फुरणात्,

कुतुपे=स्वल्पचर्मपुटके, कुतुकी=चित्रविषयास्वादाय सोत्साहः,

शिव शिव परमात्मनो दुरात्मा

मुखवपुषः स्मरऽणेपि मन्थरोऽस्मि ॥

अत्र मुख्य एव गौणस्य,

तत्रैव प्रीतस्याद्भुतबीभत्सयोश्च यथा—

हित्वाऽस्मिन् पिशितोपनद्धरुधिरक्लिन्ने मुदं विग्रहे

प्रीत्युत्सिक्तमनाः कदाऽहमसकृद् दुस्तर्कचर्याऽऽस्पदम् ।

आसीनं पुरटासनोपरि परं ब्रह्माम्बुदश्यामलं.

सेविष्ये चलचारुचामरमरुत्सञ्चारचातुर्थ्यतः ॥

अत्र मुख्य एव मुख्यस्य गौणयोश्च,

अथ प्रीते शान्तस्य यथा—

निरविद्यतया सपद्यहं निरवद्यः प्रतिपद्य माधुरीम् ।

अरबिन्दविलोचनं कदा प्रभुमिन्दीवरसुन्दरं भजे ॥

अत्र मुख्ये मुख्यस्य,

तत्रैव बीभत्सस्य यथा—

स्मरन् प्रभुपदाम्भोजं नटन्नटति वैष्णवः ।

यस्तु दृष्ट्या पद्मिनीनामपि सुष्ठु हणीयते ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

तत्रैव=शान्ते,

दुस्तर्कचर्याऽऽस्पदमित्येतेनाद्भुतरसः संवाहनेच्छावत् सेविष्य-
इत्यादीच्छा च तत्सौरभ्याद्यतिशयानुभवार्था ज्ञेया; यथा “तस्यारवि-
न्दनयनस्ये” त्यादिकं श्रीसनकादीनां श्रूयते तद्वत्,

निरविद्यतया=अविद्यारहिततयेति शान्तिवासना,

स्मरन्निति । अटति=भ्रमति, हणीयते=घृणां करोति, पाठान्तरं

त्यक्तम्,

अत्र मुख्ये गौणस्य,
तत्रैव बीभत्सशान्तवीराणां यथा—

तनाति मुखविक्रियां युवतिसङ्गरङ्गोदये
न तृप्यति न सर्वतः सुखमये समाधावपि ।
न सिद्धिषु च लालसां बहति दीयमानास्वपि
प्रभो ! तव पदार्चने परमुपैति तृष्णां मनः ॥

अत्र मुख्ये मुख्यस्य गौणयोश्च,
अथ प्रेयसि शुचैर्यथा—

धन्यानां किल मूर्धन्याः सुबलामूर्धजाबलाः ।
अधरं पिच्छवुलस्य चलाश्चलुकयन्ति याः ॥

अत्र मुख्ये मुख्यस्य,
तत्रैव हास्यस्य यथा—

दृशोस्तरलितैरलं व्रज निवृत्य मुग्धे ! व्रजं-
वितर्कयसि मां यथा न हि तथाऽस्मि किं भूरिणा ।
इतीरयति माधवे नवविलासिनीं छन्नना
ददर्श सुबलो बलद्विकचदृष्टिरस्याननम् ॥

अत्र मुख्ये गौणस्य,
तत्रैव शुचिहास्ययोर्थथा—

मिहिरदुहितुरुद्यद्भञ्जुलं मञ्जुतीरं-

दुर्गमसङ्गमनी ।

ब्रह्मसमाधावपि निमित्तं यत्सर्वं श्रवणमननादिकं तत्र न न
तृप्यति तृप्यत्येव=अलं बुद्धिं करोत्येवेत्यर्थः, दीयमानास्वित्यत्र त्वयेति
गम्यं, सादरतयैव तदनुक्तिः, लभ्यमानास्वपीति पाठान्तरं स्पष्टम्,
धन्यानामित्यनुमोदनात्मिकैवेयं शुचिभावना न संभोगेच्छाम-
यात्मिका तेषां स्वस्वरूप एव नित्यस्थितेः,
दृशोरित्यत्र सत्यपि शुच्यंशे हास्यांशेनैवोदाहरणं ददर्शते,

प्रविशति सुबलोऽयं राधिकावेपगूढः ।

सरभसमभिपश्यन् कृष्णमभ्युत्थितं यः

स्मितविकसितगण्डं स्वीयमास्यं वृणोति ॥

अत्र मुख्ये मुख्यगौणयोः,

अथ बत्सले करुणस्य—

निरातपत्रः कान्तारे सन्ततं मुक्तपादुकः ।

वत्सानवति बत्सो मे हन्त सन्तप्यते मनः ॥

अत्र मुख्ये गौणस्य,

तत्रैव हास्यस्य यथा—

पुत्रस्ते नवनीतपिण्डमतनुं सुहृन्ममान्तर्गृहा-

द्विन्यस्यापससार तस्य कणिकां निद्राण्डिम्भानने ।

इत्युक्ता कुलवृद्धया छतमुखे दृष्टिं विभुमभ्रुणि

स्मेरां निक्षिपती सदा भवतु वः क्षेमाय गोष्ठेश्वरी ॥

अत्र मुख्ये गौणस्य,

तत्रैव भयानकाद्भुतहास्यकरुणानां यथा—

कम्प्रा स्वेदिनि चूर्णकुन्तलतटे स्फारेक्षणा तुङ्गिते

सव्ये दोष्णि विकासिगण्डफलका लीलाऽस्यभङ्गीशते ।

विभ्राणस्य हरेर्गिरीन्द्रमुदयद्वाप्पा चिरोर्ध्वस्थितौ

पातु प्ररुनवसिच्यमानसिचया विश्वं व्रजाधीश्वरी ॥

अत्र मुख्ये चतुर्णां गौणानाम्,

दुर्गमसङ्गमनी ।

वृणोति=आवृणोति, प्राचीरं प्रान्ततो वृतिरित्यमरदर्शनात्,
निरातपत्र इति । अत्रानिष्टाशङ्कीनीव बन्धुहृदयानीति शङ्काचिन्ता-
ऽतिशयेन शोकं संभाव्य श्रीव्रजेश्वरीवचनात्करुणावकाशः,
सव्ये दोष्णि गिरीन्द्रं विभ्राणस्य हरेश्चूर्णकुन्तलतटे स्वेदिनि
सति कम्प्रेत्यादि योज्यम् ,

केवले वत्सले नास्ति मुख्यस्य खलु सौहृदम् ॥

अतोऽत्र वत्सले तस्य नतरां लिखिताऽङ्गता ॥ १९ ॥

अथोज्ज्वले प्रेयसो यथा—

मद्वेपशीलिततनोः सुबलस्य पश्य

विन्यस्य मञ्जुभुजमुर्ध्नि भुजं मुकुन्दः ।

रोमाञ्चक्चुकजुपः स्फुटमस्य कर्णे

सन्देशमर्पयति तन्वि ! मदर्थमेव ॥

अत्र मुखे मुख्यस्य,

तत्रैव हास्यस्य यथा—

स्वसाऽस्मि तव निर्दये ! परिचिनोपि न त्वं कुतः

कुरु प्रणयनिर्भरम् मम कृशाङ्गि ! कण्ठग्रहम् ।

इति द्रुवति पेशलं युवतिपेपगृहे हरौ

कृतं स्मितमभिज्ञया गुरुपुरस्तदा राधया ॥

अत्र मुखे गौणस्य,

तत्रैव प्रेयोवीरयोर्यथा—

मुकुन्दोऽयं चन्द्रावलिबदनचन्द्रे चटुलभे

दुर्गमसङ्गमनी ।

केवले=शुद्धे; वत्सले नास्तीत्युपलक्षणं कुत्र चिदन्यत्राप्युन्नेयम् ,
मद्वेपेति । सुबलेन तद्वेषकरणमिदं नर्मणेति गम्यते,

“स्वसाऽस्मि तव निर्दये” इत्यर्द्धे—

तवास्मि सवयश्चरी स्मरसि मां कठोरे ! न किम् ।

कुरु प्रणयनिर्भरं मम सुकण्ठि ! कण्ठग्रहमिति

पाठान्तरम् ,

मुकुन्दोऽयमिति श्रीचन्द्रावलीसंख्या भावना, सा च तयोर्मधुरां-

हरि० ६१

स्मरस्मेरामाराद् दशमसकलामर्पयति च ।

भुजामंसे सख्युः पुलकिनि दधानः फणिनिभा-

मिभारिक्ष्वेडाभिर्वृषदनुजमुद्योजयति च ॥

अथ मुख्ये मुख्यगौणयोः,

अथ गौणानामङ्गिता—

हास्यादीनां तु गौणानां यदुदाहरणं कृतम् ॥

तेनैषामङ्गिता व्यक्ता मुख्यानां च तथाऽङ्गता ॥ २० ॥

तथाऽप्यल्पविशेषाय किञ्चिदेव विलिख्यते ॥

अथ हास्येऽङ्गिनि शुचेरङ्गता यथा—

मदनान्धतया त्रिवक्रया प्रसभं पीतपटाञ्चले धृते ।

अदधाद्विनतं जनाग्रतो हरिस्तुफुलकपोलमाननम् ॥

अत्र गौणेऽङ्गिनि मुख्यस्याङ्गता,

वीरे प्रेयसो यथा—

सेनान्धं विजितमवेक्ष्य भद्रसेनं-

मां योद्धुं मिलसि पुरः कथं विशाल ! ।

रामाणां शतमपि नोद्भटोग्रधामा

श्रीदामा गणयति रे ! त्वमत्र कोऽसि ॥

अत्रापि गौणेऽङ्गिनि मुख्यस्य,

दुर्गमसङ्गमनी ।

रतिमालम्ब्यैव प्रवृत्ता प्रेयोवीरौ तदनुषङ्गिणौ विधायेति युक्तमुक्तं-
तत्रैव प्रेयोवीरयोर्यथेति, एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् ,

इभानामरयो विद्राविका याः क्ष्वेडाः सिंहनादास्ताभिः,

अत्रापीत्यत्र मुख्यस्येति । श्रीदाम्नो रामप्रतियोद्भुः कृष्णपक्षप्रवे-
शेन तत्सख्ये स्पष्टताप्रतिपत्तेः,

रीद्रे प्रेयोवीरयोर्यथा—

यदुमन्दन ! निन्दनोद्धतं शिशुपालं समरे जिघांसिभिः ।

अतिलोहितलोचनोत्पलैर्जगृहे पाण्डुहस्तैर्वरायुधम् ॥

अत्र गौणे मुख्यगौणयोः,

अद्भुते प्रेयोवीरहास्यानां यथा—

मित्रानीकवृत्तं गदायुधि गुह्यमन्यं प्रलम्बद्विपं-

यष्टया दुर्बलया विजित्य पुरतः सोलुण्डमुद्गायतः ।

श्रीदाम्नः किल वीक्ष्य केलिसमराटोपक्रमे पाटवं-

कृष्णः फुल्लकपोलकः पुलकवान् विस्फारदृष्टिर्वभौ ॥

अत्र गौणे मुख्यस्य गौणयोश्च,

एवमन्यस्य गौणस्य ज्ञेया कविभिरङ्गिता ॥

तथाऽत्र मुख्यगौणानां रसानामङ्गताऽपि च ॥ २१ ॥

सोऽङ्गी सर्वातिगो यः स्यान्मुख्यो गौणोऽथ वा रसः ॥

स एवाङ्गं भवेदङ्गिपोषी संचारितां व्रजन् ॥ २२ ॥

तथा च नाट्याचार्याः पठन्ति—

“एक एव भवेत्स्थायी रसो मुख्यतमो हि यः ।

रसास्तदनुयायित्वादन्ये स्युर्व्यभिचारिणः” ॥

श्रीविष्णुधर्मोत्तरे च—

“रसानां समवेतानां यस्य रूपं भवेद्बहु ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

मित्रानीकमिति कस्य चिदन्यस्य सख्युर्वाक्यम्, अस्यैव चैते रसा-
उदाहार्याः; न तु श्रीकृष्णस्य, भक्तिरसस्यैव प्रकृतत्वाद् दुर्बलया
यष्टया विजित्येति शिक्षाविशेषाधिक्यमभिप्रेतं, सखित्वेनाङ्गी-
कृतेषु सम्भवति च तत्तदिति, समरारोपक्रम इत्येव पाठः;

रूपं=स्वरूपं, बहु=अधिकं, “शेषाः संचारिणो मता” इति तन्मतेऽपि

स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मताः इति,
 स्तोकाद्विभावनाज्जातः सम्प्राप्य व्यभिचारिताम् ॥
 पुष्पान्निजप्रभुं मुख्यं गौणस्तत्रैव लीयते ॥ २३ ॥
 प्रोद्यन्विभावनोत्कर्षात्पुष्टिं मुख्येन लम्बितः ॥
 कुञ्चता निजनाथेन गौणोऽप्यङ्गित्वमश्नुते ॥ २४ ॥
 मुख्यस्त्वङ्गत्वमासाद्य पुष्पान्निन्द्रमुपेन्द्रवत् ॥
 गौणमेवाङ्गिनं कृत्वा निगूढनिजवैभवः ॥ २५ ॥
 अनादिवासनोद्भासवासितं भक्तचेतसि ॥
 भात्येव न तु लीनः स्यादेष संचारिगौणवत् ॥ २६ ॥
 अङ्गं मुख्यः स्वमन्त्राङ्गैर्भावैस्तैरभिवर्द्धयन् ॥
 सजातीयैर्विजातीयैः स्वतन्त्रः सन् विराजते ॥ २७ ॥
 यस्य मुख्यस्य यो भक्तो भवेन्नित्यनिजाश्रयः ।
 अङ्गी स एव तत्र स्यान्मुख्योऽप्यन्योऽङ्गतां व्रजेत् ॥ २८ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

स्वस्वाधारादव्यभिचारिणौ शृङ्गारशान्तौ संचारिणाविव, स्वास्वा-
 धाराद्व्यभिचारिणो हास्यादयस्तु संचारिण एवेति भेदांशे लब्धेऽपि
 यथा पोषकतांशेनाभेदविवक्षा तथाऽत्रापि स “एवाङ्गमि”त्यादिनोक्त-
 मिति दर्शितम् ,

अनादीत्युपलक्षणं पूर्वसिद्धत्वे तात्पर्यं, संचारिगौणवादिति व्यति-
 रेके दृष्टान्तः संचारिवद्गौणवच्च नेत्यर्थः,

स्वमन्त्राङ्गैरित्येव पाठः, विजातीयैः शत्रुवर्जितैः कौश्चित् पूर्वदर्शि-
 तैरन्यैरपि,

मुख्यस्येति । लीलाभेदेन प्रकटितनिजमुख्यताविशेषस्येत्यर्थः ।

किञ्च—

आस्वादोद्रेकहेतुत्वमङ्गस्याङ्गत्वमाङ्गिनि ॥

तद्विना तस्य सम्पातो वैफल्यार्थैव कल्पते ॥ २६ ॥

यथा मृष्टरसालायां यवसादेः कथं चन ॥

तच्चर्वणे भवेदेव सत्पणाभ्यवहारिता ॥ २७ ॥

अथ वैरिक्त्यम्—

जनयत्येव वैरस्यं रसानां वैरिणा युतिः ॥

सुमृष्टपानकादीनां क्षारतिकादिना यथा ॥ २८ ॥

तथा हि—

ब्रह्मज्ञाया निष्फलम् मे व्यतीतः

कालो भूयान् हा समाधिब्रतेन ।

सान्द्रानन्दं तन्मया ब्रह्म मूर्त्तं-

कोणेनाक्षणः साचिसत्यस्य नैक्षि ॥

अत्र शान्तस्योज्ज्वलेन वरस्यम् ,

क्षणमपि पितृकोटिबत्सलं तं-

सुरमुनिबन्दितादमिन्दिरेशम् ।

अभिलषति वराङ्गनानखाङ्कैः

स्फुरिततनुम् प्रभुमीक्षितुं मनो मे ॥

अत्र प्रीतस्योज्ज्वलेनैव,

दोभ्यामर्गलदीर्घाभ्यां सखे ! परिरभस्व माम् ।

शिरः कृष्ण ! तत्राग्राय विहरिष्ये ततस्त्वया ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

अङ्गिनि यदङ्गस्याङ्गत्वं तत्खल्वास्वादोद्रेकहेतुत्वमेव नान्यदित्यर्थः, तदेव दर्शयति—तद्विनेति ।

अत्र प्रेयसो बत्सलेन,

यं समस्तनिगमाः परमेशं-

सात्त्वतास्तु भगवन्तमुशन्ति ।

तं हतेति बत साहसिकीं त्वां-

व्याजिहीर्षतु कथं मम जिह्वा ॥

अत्र बत्सलस्य प्रीतेन,

तडिद्विलासतरला नवयौवनसम्पदः ।

अद्यैव दूति ! तेन त्वं मया रमय माधवम् ॥

अत्रोज्ज्वलस्य शान्तेन—

चिरं जीवेति संयुज्य का चिदाशीर्भिरच्युते ।

कैलासस्था विलासेन कामुकी परिष्वजे ॥

अत्र शुचेर्बत्सलेन,

शुचेः सम्बन्धगन्धोऽपि कथं चिद्यदि बत्सले ॥

क चिद्भवेत्ततः सुष्ठु वैरस्यायैव कल्पते ॥ २९ ॥

पिशिताक्षमयी नाहं सत्यमस्मि तद्योचिता ।

स्वापाङ्गविद्धां श्यामाङ्ग ! कृपयाऽङ्गीकुरुष्व माम् ॥

अत्र शुचेर्बीभत्सेन,

एवमन्याऽपि विज्ञेया प्राज्ञै रसविरोधिता ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

समस्तनिगमा इति । “तत्तु समन्वयादि”ति न्यायेन समस्तं निगम-
यन्ति निगमार्थं समस्तं समन्वितं कुर्वन्ति ये ते वेदान्तिन इत्यर्थः,
परमेशं=परब्रह्मपर्यायं, सात्त्वताः=पाञ्चरात्रिकाः, भगवन्तं=वासुदे-
वपर्यायम् ,

चिरञ्जीवित्युदाहरणाय कल्पनामात्रम् , एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् ,

प्रायेणेयं रसाभासकक्षायां पर्यवस्यति ॥ ३० ॥

किञ्च—

द्वयोरेकतरस्येह बाध्यत्वेनोपवर्णने ॥

स्मर्थ्यमाणतयाऽप्युक्तौ साम्येन रचनेऽपि च ॥ ३१ ॥

रसान्तरेण व्यवधौ तटस्थेन प्रियेण वा ॥

विषयाश्रयभेदे च गौणेन द्विषता सह ॥ ३२ ॥

इत्यादिषु न वैरस्यं वैरिणोर्जनयेद्युतिः ॥

तत्रैकतरस्य बाध्यत्वेन वर्णने यथा विदग्धमाधवे—

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन्मनो धित्सते

बालाऽसौ विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

प्रायेणेति । के चिद्रसाभासादप्यधमकक्षायां पर्यवस्यन्तीत्यर्थः,
बाध्यत्वं=बाध्ययोग्यत्वम्, अयमत्र बाध्ययोग्यो भवतीत्युपवर्णने=
युक्तिसंवलिततया निरूपण इत्यर्थः, अतो बाधाया अयोग्यस्य तथा
वर्णनं तु वैरस्यमेवेति भावः, अपिशब्दस्य सम्भववचनत्वाद्धासादौ
करुणस्मरणं वैरस्यायैवेति बोध्यम्, द्वितीयोऽप्यपिशब्दः पूर्ववद् अतो
वर्णनीयानां शृङ्गारादीनां बीभत्सादिभिः सामान्यवचनमनुचितम्
अपिशब्दस्य द्विरुक्त्वा रसान्तरेणेत्यादौ च व्यभिचारो द्रष्टव्यः, वत्स-
लादीनां वैरियोगे व्यवधानशतेनापि वैरस्याभावानुपपत्तेः, विषयाश्र-
यभेदेन यत्र भक्तिरसिकाभीष्टस्य रसविशेषस्यान्यत्र समतां दर्शय-
द्भिरन्यैः प्रतीतोत्तमत्वेऽपि भक्तिरसिकैर्बीभत्सितत्वमुद्भाव्यते तत्रैव;
न तूभयैरेव बीभत्सिततया ज्ञातेऽपीत्यादि ज्ञेयम्,

प्रत्याहृत्येति । अत्र पूर्वाद्धे मुनेर्बालायाश्च प्रथमा निष्ठा, उत्तराद्धे
योगिनस्तस्याश्च स्फुटमुत्तरा ।

यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते

मुग्धेयं किल तस्य पश्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति ॥

बाध्यत्वमत्र शान्तस्य शुचेरुत्कर्षवर्णनात् ॥ ३३ ॥

स्मर्यमाणत्वे यथा—

स एष वैहासिकताविनोदै-

ब्रजस्य हासोद्गमसंविधाता ।

फणीश्वरेणाद्य विकृष्णमाणः

करोति हा नः परिदेवनानि ॥

साम्येन वचने यथा—

विश्रान्तपोडशकला निर्विकल्पा निरावृत्तिः ।

सुखात्मा भवती राधे ! ब्रह्मविद्येव राजते ॥

दुर्गमसङ्गमनो ।

बाध्यत्वमिति । पूर्वपद्ये श्रीराधामाधवरहस्यसहायया पौर्णमा-
स्याख्यतपस्विन्या रसद्वयं भावितं, मुन्याद्यनुसारेण शान्तः, श्रीराधा-
ऽनुसारेण शुचिः, तत्र मुनियोगिनोर्योगबलेन प्रवर्त्यमानस्यापि म-
नसस्तत्राप्रवृत्तेः श्रीराधाया धर्मभयेन रुद्धमानस्यापि तस्मिन्प्रवृत्तेः
पूर्वस्य निकर्षः परस्य तु प्रकर्षः स्पष्ट एवेति, कित्वाद्गवर्णनं वक्तु-
मेदेनैवादोषाय ज्ञेयं न तु सर्वत्र,

स एष इति पद्यं केषां चित् क्षोदिष्टदिविष्टानामेव वचनं, यदिद-
मतिस्निग्धस्वभावानां नेति लक्ष्यते; ब्रजस्थानां तु सुतरां, तदा वैहा-
सिकादिशब्दानां प्रयोगानौचित्याद्, न चेदं ब्रह्माशिवादीनां ; तेषां-
स्वयंभगवत्त्वज्ञानात्,

विश्रान्ताः=प्राप्ताविश्रमाः, षोडश कला रचनाः शृङ्गारा यस्यां, पक्षे
विश्रान्तं निरुद्यमं षोडशकलं लिङ्गशरीरं यस्यां, निर्विकल्पा सुष्ठु

यथा वा—

राधा शान्तिरिवोन्निद्रं निर्निमेषेक्षणं च माम् ।

कुर्वती ध्यानलरनं च वासयत्यद्रिकन्दरे ॥

रसान्तरेण व्यवधौ यथा—

त्वं काऽसि शान्ता किमिहान्तरिक्षे

द्रष्टुं परं ब्रह्म कुतस्तताक्षी ।

अस्यातिरूपात् किमिवाकुलात्मा

रम्भे ! समारम्भि भिदा स्मरेण ॥

अत्राद्भुतेन व्यवधिः,

विषयभिन्नत्वे यथा श्रीदशमे—

त्वक्शमश्रुमनखकेशपिण्डमन्त-

मौंसास्थिरक्तकृमिविदूकफपित्तवातम् ।

जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा

या ते पदाज्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री ॥

यथा वा विदग्धमाधवे—

तस्याः कान्तद्युतिनि वदने मञ्जुले चाक्षियुग्मे

तत्रास्माकं यदवधि सखे ! दृष्टिरेषा निविष्टा ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

प्रत्यक्षतया निर्णीता, पक्षे भेदरहिता तत्र हेतुर्निरावृत्तिः=लताऽऽदि
व्यवधानरहिता पक्षे गुणावरणशून्या ब्रह्मविद्या=ब्रह्मानुभवः तदेत-
द्विधमपि वर्णनं नर्ममयमेव रसाय सम्पद्यत इति तथोदाहृतं, मुक्ति-
श्रीरिवेति पाठस्तु त्यक्तः,

त्वं काऽसीति । अत्र रूपस्यात्यद्भुततया तस्याः शान्तिरतिमाच्छा-
द्य मधुररतिरुद्भाविता, व्यवधिशब्दस्याप्येतावानवधिः, साक्षात्समरो-
त्तया तु यद्वैरस्यं तत्खलु न निषिध्यते किन्तु शान्तसङ्गेन यत्तदेवेति-

सत्यं ब्रूमस्तदवधि भवेदिन्दुमिन्दीवरं च
 स्मारं स्मारं मुखकुटिलताकारिणीयं हृणीया ॥
 उभयत्र शुचिबीभत्सयोः,
 आश्रयमिन्नत्वे यथा—

विजयिनमजितं विलोक्य रङ्ग-
 स्थलभुवि सम्मृतसांयुगीनलीलम् ।
 पशुपसवयसां वपूंषि भेजुः
 पुलककुलं द्विषतां तु कालिमानम् ॥

अत्र वीरभयानकयोः,

विषयाश्रयभेदेऽपि मुख्येन द्विषता सह ॥
 सङ्गतिः किल मुख्यस्य वैरस्यायैव जायते ॥ ३४ ॥

तत्र विषयभेदे यथा—

विमोचयार्गलाबन्धं विलम्बं तात ! नाचर ।
 यामि काश्यपगृहं यूनां मनः श्यामेन मे हृतम् ॥

अत्र शुचेः प्रीतेन,

दुर्गमसङ्गमनी ।

भावः, एवमन्यत्रापि,

स्मारं स्मारमिति हृणीयेति द्वयमप्यस्माकमित्यस्यैककर्तुः क्रि-
 याद्वये चास्मिन् स्मृतिक्रियायाः पूर्वत्वाद् णमुल् युज्यत एव,
 काश्यः=सान्दीपनिः,
 प्रीतेन तस्याः पितृविषयेण, भावनाविशेषे त्वत्रापि न दोषः,
 यथा—

“अहं त्रयीमयाज्जाता सात्त्वतानां पतिः स तु ।

तस्मादन्यो वरः को वा ममालम्बाय कल्पता”मिति,

त्रयीमयात्=सूर्यात्,

माश्रयभेदे यथा—

रुक्मिणीकुचकाश्मीरपङ्क्तिःस्थलं कदा ।

सदानन्दं परं ब्रह्म दृष्ट्या सेविष्यते मया ॥

अत्र शान्तस्य शुचिना,

अनुरक्तधियो भक्ताः के चन ज्ञानवर्त्मनि ॥

शान्तस्याश्रयभिन्नत्वे वैरस्यं नानुमन्वते ॥ ३५ ॥

किञ्च—

भृत्ययोर्नायकस्येव निसर्गद्वेषिणोरपि ॥

अङ्गयोरङ्गिनः पुष्टौ भवेदेकत्र सङ्गतिः ॥ ३६ ॥

यथा—

कुमारस्ते मल्लीकुसुमसुकुमारः प्रियतमे !

गरिष्ठोऽयं केशी गिरिवदिति मे वेल्लति मनः ।

शिवं भूयात्पश्योन्नमितभुजमेधिर्मुहुरमुं-

खलं क्षुन्दन् कुट्यीं व्रजमतितरां शालिनमहम् ॥

अत्र विद्विषौ वीरभयानकौ बत्सलं पुष्णीतः,

यथा वा—

“कम्प्रास्वेदिनि चूर्णकुन्तलतटे” इत्यादि,

अत्र हास्यकरुणौ बत्सलमेव पुष्णीतः,

दुर्गमसङ्गमनी ।

रुक्मिणीति । एषाऽत्र शुचेराश्रयः, वक्ता तु शान्तस्य, रुक्मिणी
त्यादि भावनार्यां त्वेष शुचेराश्रयः स्यादिति पक्षे तु सुतरामेव दोष-
इति भावः,

कुमार इत्यादौ विषयभेदोऽप्यपेक्ष्यते, शालिनं=श्लाघिनं, शाल् श्ला-
घायां, मेधिः=धान्यपलालपार्थक्याय भ्रात्म्यमाणबलीबर्द्धबन्धस्तम्भः,
कम्प्रेत्यादौ किञ्चित्कालभेदोऽपि दृश्यते,

अपि च—

मिथो वैरावपि द्वौ यौ भावौ धर्मसुतादिषु ॥

कालादिभेदात्प्राकट्यं तौ विन्दन्तौ न दुष्यतः ॥ ३७ ॥

अधिरूढे महाभावे विरुद्धैर्विरसा युतिः ॥

न स्यादित्युज्ज्वले राधाकृष्णयोर्दार्शितं पुरा ॥ ३८ ॥

काप्यचिन्त्यमहाशक्तौ महापुरुषशेखरे ॥

रसावलिसमावेशः स्वादायैवोपजायते ॥ ३९ ॥

तत्र रसानां विषयत्वे यथा ललितमाधवे—

दैत्याचार्यास्तदाऽऽस्ये विकृतिमरुणतां मलवग्र्याः सखायो-

गण्डौन्नित्यं खलेशाः प्रलयमृषिगणा ध्यानमुष्णास्त्रमन्त्राः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

मिथो वैरावपीति । तद्भावयोग्येषु तेषु भावभेदस्य यथाकालमुद-
याद्, धर्मसुते हि प्रीतो वात्सल्यं सख्यं च दृश्यते, योग्यता च तदी-
श्वरताज्ञानित्वाज्ज्येष्ठभ्रातृत्वान्नातिज्येष्ठभ्रातृत्वाच्च यथा श्रीबलदे-
वस्य, दोषत्वं खल्वयोग्य एव विधीयते तस्मान्न तेषु दोषः किन्त्व-
न्यत्रैवेत्यर्थः,

ये वा के चित्प्रयोगाः श्रीभागवते विरुद्धा इव दृश्यन्ते तत्समा-
धानं तु श्रीभागवतसन्दर्भे कृतमस्ति,

दर्शितं पुरेति । घोराखण्डितशङ्खचूडमित्यादौ,

काप्यचिन्त्येति । विषयत्वेन प्रायः स्वादो न विहन्यते; आश्रयत्वे-
ऽपि स्वादायैव स्यादित्यर्थः,

दैत्याचार्याः, कंसपुरोहिताः तदा=तदानीम्, आस्ये=मुखे, विकृ-
ति=कृणनादिकं, ययुः गजरक्तमदादिलिप्तत्वं दृष्टेति भावः, अनेन बीभ-
त्सः, सखाय इषनेन हास्यः प्रेयांश्चेति रसद्वयं, प्रलयं=भयेन नष्टचेष्टां,

रोमाञ्चं सांयुगीनाः कमपि नवचमत्कारमन्तः छुरेशा—

लास्यं दासाः कटाक्षं ययुरसितदृशः प्रेक्ष्य रङ्गे मुकुन्दम् ॥

आश्रयत्वे यथा—

स्वस्मिन् धुट्येऽप्यमानी शिशुषु गिरिधृतावुद्यतेषु स्मितास्य—

स्थूत्कारी दक्षि विस्त्रे प्रणयिषु विवृतप्रौढिरिन्द्रेऽरुणाक्षः ।

गोष्ठे साश्रुर्विदूने गुरुषु हरिमखं प्रास्य कम्प्रः स पाया-

दासारे स्फारदृष्टिर्युवतिषु पुलकी बिभ्रदद्रि बिभुर्वः ॥

इति भक्तिरसाभृतासिन्धावुत्तरविभागे रसानां-

मैत्रीवैरस्थितिलहरी ॥ ८ ॥



दुर्गमसङ्गमनी ।

ध्यानं ध्यानावस्थानमेव साक्षाद्ययुः; अनेन शान्तः, अम्बाः=देवक्या-
दयः; एतेन बत्सलः करुणश्च,

अमानीति निरहङ्कारतया शान्त उक्तः, कम्प्र इत्यनेन भयानकः,
एवमन्ये ज्ञेयाः, प्रास्य=खण्डयित्वा ॥ १-३९ ॥

इत्युत्तरविभागे नवलहर्यात्मके मैत्रीवैरस्थितिलहरीष्टमी ॥



अथ रसाभासाः—

पूर्वमेवानुशिष्टेन विकलाः रसलक्ष्मणा ॥

रसा एव रसाभासा रसज्ञैरनुकीर्तिताः ॥ १ ॥

स्युस्त्रिधोपरसाश्चानुरसाश्चापरसाश्च ते ॥

उत्तमा मध्यमाः प्रोक्ताः कनिष्ठाश्चेत्यमी क्रमात् ॥ २ ॥

तत्रोपरसाः—

प्राप्तैः स्थायिविभावानुभावचैस्तु विरूपताम् ॥

शान्तादयो रसा एव द्वादशोपरसा मताः ॥ ३ ॥

तत्र शान्तोपरसाः—

ब्रह्मभावात्परब्रह्मण्यद्वैताधिक्ययोगतः ॥

तथा बीभत्सभूमादेः शान्तो ह्युपरसो भवेत् ॥ ४ ॥

तत्राद्यं यथा—

विज्ञानछपमाधौते समाधौ यदुदञ्चति ।

सुखं दृष्टे तदेवाद्य पुराणपुरुषे त्वयि ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

रसा इति । रसत्वेनापाततः प्रतीयमाना अपीत्यर्थः, रसस्य लक्ष्मणा=लक्षणेन विकलाः=विभावादिषु लक्षणहीनतया हीनाः,

परब्रह्मणि “ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहं मि”त्यादिप्रतिपादिते श्रीभगवति ब्रह्मभावाद्=निर्विशेषतादृष्टेः, तथाऽद्वैताधिक्ययोगतः सर्वकारणेन तेन सह सर्वस्यात्यन्ताभेद इति मननात् तथा बीभत्सभूमादेर्निरन्तरं देहादौ जुगुप्साभावना, आदिग्रहणाच्चिदचिद्विवेकाच्चेति ज्ञेयम्, इतः परमुदाहरणान्येकदेशदर्शनादेव ज्ञापनीयानि,

द्वितीयं यथा—

यत्र यत्र विषये मम दृष्टि-
स्तं तमेव कलयामि भवन्तम् ।
यन्निरञ्जन ! परापरबीजं-
त्वां विना किमपि नापरमस्ति ॥

अथ प्रीतोपरसः—

कृष्णस्याग्रेऽतिधाष्ट्येन तद्भक्तेष्ववहेलया ॥
स्वाभीष्टदेवतोऽन्यत्र परमोत्कर्षवीक्षया ॥ ५ ॥
मर्यादाऽतिक्रमाद्यैश्च प्रीतोपरसता मता ॥

प्रथयन् तपुर्विवशतां सतां कुलै-
रवधोर्ध्वमाणनटनोऽप्यनर्गलः ।
विकिर प्रभो ! दशमिहेत्यकुण्ठवाक्
चटुलो बहुव्यवृणुतात्मनो रतिम् ॥

अथ प्रेयडपरसः—

एकस्मिन्नेव सख्येन हरिमित्राद्यवज्ञया ॥ ६ ॥
युद्धभूमादिना चापि प्रेयानुपरसो भवेत् ॥

तत्राद्यं यथा—

सहृदित्युदितो मिया चकम्पे
छलितो नर्मगिरा स्तुतिं चकार ।
स नृपः परिरिप्सितो भुजाभ्यां-

दुर्गमसङ्गमनी ।

विवशतां प्रथयन्=पृथुं कुर्वन्निति स्वल्पामपि तां पृथुतया दर्श-
यन्नित्यर्थः, प्रभो इति । श्रीकृष्णप्रतिमां प्रति संबोधनम्,
एकस्मिन्नेव न तु मिथः,
स नृप इति । श्रीहरेः पुत्र्याः पुत्रस्य वा श्वशुरः कश्चिदित्यर्थः,

हरिणा दण्डवदग्रतः पपात ॥

अथ वत्सलोपरसः—

सामर्थ्याधिक्यविज्ञानाल्लालनाद्यप्रयत्नतः ॥ ७ ॥

करुणस्यातिरेकादेस्तुर्ध्वश्चोपरसो भवेत् ॥

तत्राद्यं यथा—

मल्लानां यदवधि पर्वतोद्भटाना-

मुन्माथं सपदि तवात्मजादपश्यम् ।

नोद्वेगं तदवधि यामि जामि ! तस्मिन्

द्राघिष्ठामपि समितिं प्रपद्यमाने ॥

अथ शृङ्गारोपरसः; तत्र स्थायिवैरूप्यं—

द्वयोरेकतरस्यैव रतिर्या खलु दृश्यते ॥ ८ ॥

याऽनेकत्र तथैकस्य स्थायिनः सा विरूपता ॥

विभावस्यैव वैरूप्यं स्थायिन्यत्रोपचर्यते ॥ ९ ॥

तत्रैकत्र रतिर्यथा ललितमाधवे—

मन्दस्मितं प्रकृतसिद्धमपि व्युदस्तं—

सङ्कोपितश्च सहजोऽपि दृशोस्तरङ्गः ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

जामि ! हे भगिनि,

विभावस्य=आलम्बनरूपस्यैवेति क चित्तदेहस्य क चित्तदन्तःकरणस्येत्यर्थः, स्वरूपतः स्थायिनो वैरूप्यायोगात्, तत्रैकतररत्युदाहरणे यङ्गपत्नीषु देहस्यैव वैरूप्यं ज्ञेयं; ब्राह्मणदेहत्वात् तच्च तादृशी रति-विरूपयति, अनुचितेयमिति श्रीकृष्णरतिमपि नोद्गमयति, ततोऽन्य-दोषस्यान्यत्रसंक्रमणादुपचर्यत इत्युक्तम्, एकस्यानेकत्र रतिस्त्वन्तःकरणस्यैव वैरूप्यम् एकत्रानिष्ठितत्वात्, तदेतच्च नायिकागतमेव

धूमायिते द्विजवधूमदनात्तिवन्हा—

वन्हाय काऽपि गतिरदुरितामयासीत् ॥

अत्यन्ताभाव एवात्र रतेः खलु विवक्षितः ॥

एतस्याः प्रागभावे तु शुचिर्नोपरसो भवेत् ॥ १० ॥

अनेकत्र रतिर्यथा—

गान्धर्वि ! कुर्वाणमवेक्ष्य लीला—

मग्रे धरण्यां सखि ! कामपालम् ।

आकर्णयन्ती च मुकुन्दवेणु—

भिन्नाऽद्य साधिव ! स्मरतो द्विधाऽसि ॥

के चित्तु नायकस्यापि सर्वथा तुल्यरागतः ॥

नायिकास्वप्यनेकासु वदन्त्युपरसं शुचिम् ॥ ११ ॥

विभाववैरूप्यम्—

वैदग्ध्यौज्ज्वल्यविरहो विभावस्य विरूपता ॥

लतापशुपुलिन्दीषु वृद्धास्वपि स वर्तते ॥ १२ ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

ज्ञेयम्, उत्तमानुत्तमयोस्तारतम्याभावे नायकगतं च,

अत्यन्ताभावः=त्रैकालिक्यसत्ता,

अत्रेति ! तासां ब्राह्मणदेहमधिकृत्येत्यर्थः,

के चिद्रसतत्त्वविदः, अनेकासु=तारतम्येन बहुविधासु, वैदग्ध्यादि-
विरह उपलक्षणं गुरुत्वादीनां यथा यज्ञपत्न्यादिषु च वैरूप्यं मतम् ,

लतापशुष्वत्र तत्सांनिध्यादिस्वभावेनानन्दमात्रमेव मधुररतित-
योत्प्रेक्ष्यते, वृद्धासु हासमात्रार्थं तादृशत्वं च वर्ण्यते, तस्माद्वास्त-
वतद्रव्यभावाद्रसाभासत्वम्, पुलिन्दीषु तु वास्तवरतित्वेऽपि जाति-
वैरूप्याद्यज्ञपत्नीवत्तदाभासत्वं ज्ञेयं, तत्र लतापशुषु वैदग्ध्यं नास्त्येव,

तत्र लता यथा—

सखि ! मधु किरती निशम्य वंशी—
मधुमथनेन कटाक्षिताऽथ मृद्वी ।
मुकुलपुलकिता लतावलीयं—
रतिमिह पल्लवितं हृदि व्यनक्ति ॥

पशुयथा—

पश्याद्भुतास्तुङ्गमुदः तुरङ्गीः
पतङ्गकन्यापुलिनेऽद्य धन्याः ।
याः केशवाङ्गे तदपाङ्गपूताः
सानङ्गरङ्गां दृशमर्पयन्ति ॥

पुलिन्दी यथा—

कालिन्दीपुलिने पश्य पुलिन्दी पुलकाञ्चिता ।
हरेर्दृक्चापलं प्रेक्ष्य सहजं या विधूर्णते ॥

वृद्धा यथा—

कज्जलेन कृतकेशकालिमा

दुर्गमसङ्गमनी ।

वृद्धासु वैदग्ध्यप्रातिकूल्यं दृश्यते, पुलिन्दीषु च वैदग्ध्यं नातिसंभाव्यते, तस्मात्तद्विरह उद्दिष्टः, तथौज्ज्वल्यं नामाकृत्या जात्यादिना चायोग्यत्वं तत्तद्योग्यताविरहश्च यथायोग्यं द्रष्टव्यम्,

स वर्तते इति । स वैदग्ध्यादिविरहो वर्तते सखि ! मध्वित्यत्र, समुकुलपुलका निशम्य वंशीं नखलिखिता च हरिं प्रसज्य जाता । तदिह नववयाः प्रतानिनीयं लसति तथा भवती यथा वराङ्गि ! इति वा पाठः,

पश्याद्भुता इत्यस्योत्तरार्द्धे—

याः केशवाङ्गं सखि ! सङ्गमय्य स्वैरादपाङ्गं भवतीर्जयन्ती”ति वा पाठः,

विल्वयुग्मरचितोन्नतस्तनी ।

पद्म गौरि ! किरती दृगञ्जलं-

स्मेरयत्यघहरं जरत्यसौ ॥

स्थायिऽनोत्र विरूपत्वमेकरागतयाऽपि चेत् ॥

घटेतासौ विभावस्य विरूपत्वेऽप्युदाहृतिः ॥ १३ ॥

शुचित्वौज्ज्वल्यवैदग्ध्यसुवेषत्वाच्च कथ्यते ॥

शृङ्गारस्य विभावत्वमन्यत्राभासता ततः ॥ १४ ॥

अथानुभाववैरूप्यम्—

समयानां व्यतिक्रान्तिर्ग्राम्यत्वं धृष्टताऽपि च ॥

वैरूप्यमनुभावादेर्मनीषिभिरुदीरितम् ॥ १५ ॥

तत्र समयव्यतिक्रान्तिः—

समयाः खण्डिताऽऽदीनां प्रिये रोषोदितादयः ॥

पुंसः स्मितादयश्चात्र प्रियया ताडनादिषु ॥ १६ ॥

एतेषामन्यथाभावः समयानां व्यतिक्रमः ॥

तत्रार्थं यथा—

कान्तानखाङ्कितोऽप्यद्य परिहृत्य हरे ! ह्रियम् ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

वैदग्ध्येत्यादिना दर्शितमेव विवृण्वन्नुपसंहरति-शुचित्वेति ।

शुचित्वादिकमालम्बनस्य ज्ञेयं, विभावत्वं विशिष्टो भावः सत्ता
स्थायी वा यत्र तद्रूपत्वम्,

पाविऽयौज्ज्वल्यवैदग्ध्यसुवेषत्वैर्विभावगैः ।

शृङ्गारः पुष्टिमागच्छेदाभासत्वमतोऽन्यथेति

वा पाठान्तरम्,

समयाः=आचाराः,

कैलासवासिनीं दासीं कृपादृष्टया भजस्व माम् ॥

अथ ग्राम्यत्वम्—

बालशब्दाद्युपन्यासो विरसोक्तिप्रपञ्चनम् ॥ १७ ॥

कटीकण्डूतिरित्याद्यं ग्राम्यत्वं कथितं बुधैः ॥

तत्राद्यं यथा—

किं नः फणिकिशोरीणां त्वं पुष्करसदां सदा ।

मुरलीध्वनिना नीर्वि गोपबाल ! विलुम्पसि ॥

अथ धृष्टता—

प्रकटप्रार्थनाऽऽदिः स्यात्सम्भोगादेस्तु धृष्टता ॥ १८ ॥

यथा—

कान्तः कैलासकुञ्जोऽयं रम्याऽहं नवयौवना ।

त्वं विदग्धोऽसि गोविन्द ! किं वा वाच्यमतः परम् ॥

एवमेव तु गौणानां हासादीनामपि स्वयम् ॥

विज्ञेयोपरसत्वस्य मनीषिभिरुदाहृतिः ॥ १९ ॥

अथानुरसाः—

भक्तादिभिर्विभावाद्यैः कृष्णसम्बन्धवर्जितैः ॥

रसा हास्यादयः सप्त शान्तश्चानुरसा मताः ॥ २० ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

कैलासवासिनीनामिव पुराणान्तरकथितरीत्या फणिकिशोरी-
णामप्युदाहृतिमुपरस एवावज्ञया वर्णयति=किं न इति । पुष्करसदां=
कालियहृदस्य जलवासिनीनाम्,

अत्र श्रीकृष्णस्य तदा बाल्येऽपि मुरलीध्वनिविशेषेण कृतकैशो-
रभानस्य बालेति सम्बोधनं तासामवैदग्ध्यमेव ज्ञेयम्,

भक्तादिभिरिति । भक्ता अत्र पञ्चविधाः—शान्तस्तु रसशास्त्रान्तर-
प्रसिद्धो रसः,

तत्र हास्यानुरसः—

ताण्डवं व्यधित हन्त कक्खटी
मर्कटी श्रुकुटिभिस्तथोद्धुरम् ।
येन बल्लवकदम्बकं बभौ
हासडम्बरकरम्बिताननम् ॥

अथाद्भुतानुरसः—

भाण्डीरकक्षे बहुधा वितण्डां-
वेदान्ततन्त्रे शुक्रमण्डलस्य ।
आकर्णयन्निर्मिषाक्षिपक्षमा
रोमाञ्चिताङ्गश्च सरर्षिरासीत् ॥

एवमेवात्र विज्ञेया वीरादेरप्युदाहृतिः ॥

अष्टावमी तटस्थेषु प्राकट्यं यदि विभ्रति ॥ २१ ॥

कृष्णादिभिर्विभावाद्यैस्तदाऽप्यनुरसा मताः ॥

अथापरसः—

कृष्णतत्प्रतिपक्षाश्चेद्विषयाश्रयतां गताः ॥ २२ ॥

हासादीनां तदा तत्र प्राज्ञैरपरसा मताः ॥

तत्र हास्यापरसः—

पलायमानमुर्द्धाक्ष्य चपलायतलोचनम् ।

दुर्गमसङ्गमनी ।

कक्खटीनाम्नी,

भाण्डीरकक्षे तदूर्ध्वगलतासु,

सौरभे च तृणे कक्षः शुष्ककाननवीरुधोरिति विश्वः ।

भाण्डीरवृक्ष इति पाठस्तु सुगमः,

अष्टाविति । शान्तो हास्यादयश्च ससेत्यष्टौ,

पलायेति । अत्र जरासन्धस्य हासस्तावदपरस एव, कस्य चित्-

कृष्णमाराजरासन्धः सोलुण्ठमहसीन्मुहुः ॥

एवमन्येऽपि विज्ञेयास्तेऽद्भुतापरसादयः ॥ २३ ॥

उत्तमास्तु रसाभासाः कैश्चिद्रसतयोदिताः ॥

तथा हि—

भावाः सर्वे तदाभासा रसाभासाश्च के चन ॥ २४ ॥

अमी प्रोक्ता रसाभिज्ञैः सर्वेऽपि रसनाद्रसाः ॥

भारत्याद्याश्चतस्रस्तु रसावस्थानसूचिकाः ॥ २५ ॥

वृत्तयो नाट्यमातृत्वादुक्ता नाटकलक्षणे ॥

इति रसामृतसिन्धावुत्तरविभागे रसाभासलहरी ॥ ९ ॥

ग्रन्थस्य गौरवभयादस्या भक्तिरसश्रियः ॥

समाहृतिः समासेन मया सेयं विनिर्मिता ॥ १ ॥

गोपालरूपशोभां दधदपि रघुनाथभावविस्तारी ॥

दुर्गमसङ्गमनी ।

द्वेदासुरभावस्यापि,

तदनुगतो हासश्चेत्तदा शुद्ध एव हास्यरसः,

एवमिति । अत्र सर्वप्रकरणार्थः समस्य विन्यस्यते—

विभावाद्या मिथो योग्याः सम्पद्यन्ते रसाय ते ।

वैरस्यायान्यथा , सा तु योग्यता लोकविश्रुता ॥

नाट्यमातृत्वाद्=नाट्य एवोपयुक्तत्वादित्यर्थः,

नाटकलक्षणे=नाटकचन्द्रिकाऽऽख्ये स्वकृत इति ज्ञेयम् ।

इत्युत्तरविभागे नवलहृदयात्मके रसाभासलहरी नवमी ।

इति दुर्गमसङ्गमनीनाम्न्यां हरिभक्तिरसामृतसिन्धुटीकायां चतु-

र्थो विभागः ।

तुष्यतु सनातनोऽस्मिन्नुत्तरभागे रसामृताम्भोधेः ॥ २ ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ गौणभक्तिरसादिनिरूपण-

नामा चतुर्थो विभागः ।

रामाङ्गशक्र १४६३ गणिते शाके गोकुलमधिष्ठितनायम् ॥

भक्तिरसामृतसिन्धुर्विटङ्कितः क्षुद्ररूपेण ॥ १ ॥

* इति श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धुः *

॥ समाप्तः ॥



दुर्गमसङ्गमनी ।

रामाङ्गेति । शालिवाहनस्य संवत्सरगणनया विक्रमादित्यस्यापि-
सा ज्ञेया, अङ्कस्य वामा गतिरिति प्रसिद्ध्या त्रिषष्ट्यधिकचतुर्दशश-
तीगणित इत्यर्थः, विक्रमादित्यस्य त्वष्टनवत्यधिकपञ्चदशशतीगणित-
इति ज्ञेयम् ।

विटङ्कितः=उट्टङ्कितः, सुष्ठु रूपेणेत्येव पठितव्यं, तेषां दीनमन्य-
तामयपाठेऽपि तदसहिष्णुः सरस्वती क्षुद्रं सुक्ष्मं दुर्ज्ञेयं रूपं स्वरूपं-
यस्येति गत्यन्तरास्पदं पदं स्फोरयन्ती समाहितवती ।

श्रीकृष्णः सर्वपूर्णः स चरति विपुले गोकुले व्यक्ततत्त-
न्माधुर्यैश्वर्यवर्त्यः स च पशुपसुतानन्तलक्ष्मीभिरिष्टः ।

श्रीराधावर्गमध्ये स च मधुरगुणश्रीधुराधामधारी
त्यस्मिन् ग्रन्थे रसाब्धावभिमतमहिमाधारसारप्रचारः ॥
यदपि च नातिविशुद्धा तदपि च सद्भिः कदाऽप्युरीकार्या ।

दुर्गमसङ्गमनीयं नौकेवास्यामृताम्भोधेः ॥

समाप्ता चेयं टीका तेषामेव प्रीतये भवतु ।

[मूलं ३३२५ टीका ३६४४ समस्त ६९३९ ।]





श्रीश्रीगौरकृष्णः शरणम् ।

श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धो-

मूलकारिकामात्रभागः-

तत्र

भक्तिभेदनिरूपकाख्ये पूर्वभागे

प्रथमलहरी—

अखिलरसामृतमूर्त्तिः प्रसृमररुचिरुद्धतारकापालिः ।
कलितश्यामाललितो राधाप्रेयान् विधुर्जयति ॥ १ ॥
हृदि यस्य प्रेरणया प्रवर्त्तितोऽहं वराकरूपोऽपि ।
तस्य हरेः पदकमलं बन्दे चैतन्यदेवस्य ॥ २ ॥
विश्राममन्दिरतया तस्य सनातनतनोर्मदीशस्य ।
भक्तिरसामृतसिन्धुर्भवतु सदाऽयं प्रमोदाय ॥ ३ ॥
भक्तिरसामृतसिन्धौ चरतः परिभूतकालजालभियः ।
भक्तमकरानशीलितमुक्तिनदीकान्नमस्यामि ॥ ४ ॥
मीमांसकबडवाऽग्नेः काठिनामपि कुण्ठयन्नसौ जिह्वाम् ।
स्फुरतु सनातन ! सुचिरं तव भक्तिरसामृताम्भोधिः ॥ ५ ॥
भक्तिरसस्य प्रस्तुतिरखिलजगन्मङ्गलप्रसङ्गस्य ।
अज्ञेनापि मयाऽस्य क्रियते सुहृदां प्रमोदाय ॥ ६ ॥
एतस्य भगवद्भक्तिरसामृतपयोनिधेः ।
चत्वारः खलु वक्ष्यन्ते भागाः पूर्वादयः क्रमात् ॥ ७ ॥
तत्र पूर्वे विभागेऽस्मिन् भक्तिभेदनिरूपके ।
अनुक्रमेण वक्तव्यं लहरीणां चतुष्टयम् ॥ ८ ॥

आद्या सामान्यभक्त्याख्या द्वितीया साधनाङ्किता ।
 भावाश्रिता तृतीया च तुर्या प्रेमनिरूपिका ॥ ९ ॥
 तत्रादौ सुष्ठु वैशिष्ट्यमस्याः कथयितुं स्फुटम् ।
 लक्षणं क्रियते भक्तेरुत्तमायाः सतां मतम् ॥ १० ॥
 अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
 आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥ ११ ॥
 सालोक्येत्यादिपद्यस्थभक्तोत्कर्षनिरूपणम् ।
 भक्तेर्विशुद्धताव्यक्त्या लक्षणे पर्यवस्यति ॥ १२ ॥
 क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा ।
 सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षणी च सा ॥ १३ ॥
 क्लेशास्तु पापं तद्बीजमविद्या चेति ते त्रिधा ।
 अप्रारब्धं भवेत् पापं प्रारब्धं चेति तद् द्विधा ॥ १४ ॥
 दुर्जातिरेव सवनायोग्यत्वे कारणं मतम् ।
 दुर्जात्यारम्भकं पापं यत्स्यात्प्रारब्धमेव तत् ॥ १५ ॥
 शुभानि प्रीणनं सर्वजगतामनुरक्तता ॥
 सद्गुणाः सुखमित्यादीन्याख्यातानि मनीषिभिः ॥ १६ ॥
 सुखं वैषयिकं ब्राह्ममैश्वरं चेति तत्रिधा ।
 मनागेव प्ररूढायां हृदये भगवद्रतौ ॥ १७ ॥
 पुरुषार्थास्तु चत्वारस्तृणायन्ते समन्ततः ।
 साधनौघैरनासङ्गैरुभया सुचिरादपि ॥ १८ ॥
 हरिणा चाश्वदेयेति द्विधा सा स्यात्सुदुर्लभा ।
 ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः ॥ १९ ॥
 नैति भक्तिसुखाम्बोधेः परमाणुतुलामपि ।
 कृत्वा हरिं प्रेमभाजं प्रियवर्गसमन्वितम् ॥ २० ॥
 भक्तिर्वैशीकरोतीति श्रीकृष्णाकर्षिणी मता ।

अग्रतो वक्ष्यमाणायास्त्रिधा भक्तेरनुक्रमात् ॥ २१ ॥

द्विशः षड्भिः पदैरेतन्माहात्म्यं परिकीर्तितम् ।

स्वरूपाऽपि रुचिरेव स्याद्भक्तितत्त्वावबोधिका ॥ २२ ॥

युक्तिस्तु केवला नैव यदस्या अप्रतिष्ठता ।

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे भक्तिसामान्यलहरी प्रथमा ।

द्वितीयलहरी —

सा भक्तिः साधनं भावः प्रेमा चेति त्रिघोदिता ।

कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा ॥ १ ॥

नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता ।

सा भक्तिः सप्तमस्कन्धे भङ्ग्या देवर्षिणोदिता ॥ २ ॥

वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा ।

यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते ॥ ३ ॥

शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते ।

इत्यसौ स्याद्विधिर्नित्यः सर्ववर्णाश्रमादिषु ॥ ४ ॥

नित्यत्वेऽप्यस्य निर्णीतमेकादश्यादिवत्फलम् ।

यः केनाप्यतिभाग्येन जातश्रद्धोऽस्य सेवने ॥ ५ ॥

नातिष्ठको न वैराग्यभागस्यामधिकार्यसौ ।

उत्तमो मध्यमश्च स्यात्कनिष्ठश्चेति स त्रिधा ॥ ६ ॥

शास्त्रे युक्तौ च निपुणः सर्वथा हृदनिश्चयः ।

प्रौढश्रद्धोऽधिकारी यः स भक्तावुत्तमो मतः ॥ ७ ॥

यः शास्त्रादिष्वनिपुणः श्रद्धावान्स तु मध्यमः ।

यो भवेत्कोमलश्रद्धः स कनिष्ठो निगद्यते ॥ ८ ॥

तत्र गीतादिषूक्तानां चतुर्णामधिकारिणाम् ।

मध्ये यस्मिन् भगवतः कृपा स्यात्तत्प्रियस्य वा ॥ ९ ॥
 स क्षीणतत्तद्भावः स्याच्छुद्धभक्त्यधिकारवान् ।
 यथेभः शौनकादिश्च ध्रुवः स च चतुःसनः ॥ १० ॥
 मुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते ।
 तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥ ११ ॥
 तत्रापि च विशेषेण गतिमण्वीमनिच्छतः ।
 भक्तिर्हृतमनःप्राणान् प्रेम्णा तान् कुरुते जनान् ॥ १२ ॥
 श्रीकृष्णचरणाम्भोजसेवानिर्वृतचेतसाम् ।
 एषां मोक्षाय भक्तानां न कदाऽपि तृप्ता भवेत् ॥ १३ ॥
 अत्र त्याज्यतयैवोक्ता मुक्तिः सर्वविधाऽपि चेत् ।
 सालोक्यादिस्तथाऽप्यत्र भक्त्या नातिविरुध्यते ॥ १४ ॥
 सुखैश्वर्योत्तरा सेयं प्रेमसेवोत्तरेत्यपि ।
 सालोक्यादिर्द्विधा तत्र नाद्या सेवाजुषां मता ॥ १५ ॥
 किन्तु प्रेमैकमाधुर्यमुज एकान्तिनो हरौ ।
 नैवाङ्गीकुर्वते जातु मुक्तिं पञ्चविधामपि ॥ १६ ॥
 तत्राप्येकान्तिनां श्रेष्ठा गोविन्दहृतमानसाः ।
 येषां श्रीशप्रसादोऽपि मनो हर्तुं न शक्नुयात् ॥ १७ ॥
 सिद्धान्ततत्त्वभेदेऽपि कृष्णश्रीशस्वरूपयोः ।
 रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः ॥ १८ ॥
 शास्त्रतः श्रूयते भक्तौ नृमात्रस्याधिकारिता ।
 सर्वाधिकारितां माघस्नानस्य ब्रुवता यतः ॥ १९ ॥
 दृष्टान्तिता वशिष्टेन हरिभक्तिर्नृपं प्रति ।
 अननुष्ठानतो दोषो भक्त्यङ्गानां प्रजायते ॥ २० ॥
 न कर्मणामकरणादेष भक्त्याधिकारिणाम् ।
 निषिद्धाचारतो दैवात् प्रायश्चित्तं च नोचितम् ॥ २१ ॥

इति वैष्णवशास्त्राणां रहस्यं तद्विदां मतम् ।
 हरिभक्तिविलासेऽस्या भक्तेरङ्गानि लक्षशः ॥ २२ ॥
 किं तु तानि प्रसिद्धानि निर्द्देश्यन्ते यथामति ।
 आश्रितावान्तरानेकभेदं केवलमेव वा ॥ २३ ॥
 एकं कर्मात्रं विद्वाद्भिरेकं भक्त्यङ्गमुच्यते ।
 गुरुपादाश्रयस्तस्मात् कृष्णदीक्षाऽऽदिशिक्षणम् ॥ २४ ॥
 विस्मभ्मेण गुरोः सेवा साधुवर्त्मानुवर्त्तनम् ।
 सद्धर्मपृच्छा भोगादित्यागः कृष्णस्य हेतवे ॥ २५ ॥
 निवासो द्वारकाऽऽदौ च गङ्गाऽऽदेरपि संनिधौ ।
 व्यवहारेषु सर्वेषु यावदर्थानुवर्त्तिता ॥ २६ ॥
 हरिवासरसम्मानो धाम्यश्चत्यादिगौरवम् ।
 एषामत्र दशाङ्गानां भवेत् प्रारम्भरूपता ॥ २७ ॥
 सङ्गत्यागो विदूरेण भगवद्विमुखैर्जनैः ।
 शिष्याद्यननुबन्धित्वं महारम्भाद्यनुद्यमः ॥ २८ ॥
 बहुग्रन्थकलाऽभ्यासव्याख्यावादविवर्जनम् ।
 व्यवहारेऽप्यर्कापण्यं शोकाद्यवशवर्त्तिता ॥ २९ ॥
 अन्यदेवानवज्ञा च भूतानुद्वेगदायिता ।
 सेवानामापराधानामुद्धवाभावकारिता ॥ ३० ॥
 कृष्णतद्भक्तविद्वेषिविनिन्दाऽऽद्यसहिष्णुता ।
 व्यतिरेकतयाऽमीषां दशानां स्यादनुष्ठितिः ॥ ३१ ॥
 अस्यास्तत्र प्रवेशाय द्वारत्वेऽप्यङ्गविंशतेः ।
 त्रयं प्रधानमेवोक्तं गुरुपादाश्रयादिकम् ॥ ३२ ॥
 धृतिवैष्णवचिह्नानां हरेर्नामाक्षरस्य च ।
 निर्माल्यादेश्च तस्याग्रे ताण्डवं दण्डवन्नतिः ॥ ३३ ॥
 अभ्युत्थानमनुव्रज्या गतिः स्थाने परिक्रमा ।

अर्चनं परिचर्या च गतिः सङ्कीर्तनं जपः ॥ ३४ ॥
 विज्ञप्तिः स्तवपाठश्च स्वादो नैवेद्यपाद्ययोः ।
 धूपमाल्यादिसौरभ्यं श्रीमूर्तेः स्पृष्टिरीक्षणम् ॥ ३५ ॥
 आरात्रिकोत्सवादश्च श्रवणं तत्कृपेक्षणम् ।
 स्मृतिध्यानं तथा दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ ३६ ॥
 निजप्रियोपहरणं तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ।
 सर्वथा शरणापत्तिस्तदीयानां च सेवनम् ॥ ३७ ॥
 तदीयास्तुलसीशास्त्रमथुरावैष्णवादयः ।
 यथावैभवसामग्री सद्गोष्ठीभिर्महोत्सवः ॥ ३८ ॥
 ऊर्जादरो विशेषेण यात्रा जन्मदिनादिषु ।
 श्रद्धाविशेषतः प्रीतेः श्रीमूर्तेरङ्घ्रिसेवनम् ॥ ३९ ॥
 श्रीमद्भागवतार्थानामास्वादो रसिकैः सह ।
 सजातीयाशये स्निग्धे साधौ सङ्गः स्वतो वरे ॥ ४० ॥
 नामसङ्कीर्तनं श्रीमन्मथुरामण्डले स्थितिः ।
 अङ्गानां पञ्चकस्यास्य पूर्वं विलिखितस्य च ॥ ४१ ॥
 निखिलश्रेष्ठ्यबोधाय पुनरप्यत्र शंसनम् ।
 इति कायहृषीकान्तःकरणानामुपासनाः ॥ ४२ ॥
 चतुःषष्टिः पृथक् सांघातिकभेदात् क्रमादिमाः ।
 अथार्षानुमतेनैषामुदाहरणमीर्यते ॥ ४३ ॥
 भक्तिरैकान्तिकीवेयमविचारात्प्रतीयते ।
 वस्तुतस्तु तथा नैव यदशास्त्रियतेक्ष्यते ॥ ४४ ॥
 स्थानं तीर्थं गृहं चास्य तत्र तीर्थे गतिर्यथा ।
 शुद्धिन्यासादिपूर्वाङ्गकर्मनिर्वाहपूर्वकम् ॥ ४५ ॥
 अर्चनं तूपचाराणां स्यान्मन्त्रेणोपपादनम् ।
 परिचर्या तु सेवोपकरणादिपरिष्किया ॥ ४६ ॥

तथा प्रकीर्णकच्छत्रवादित्राद्यैरुपासना ।
 अङ्गानि विविधान्येव स्युः पूजापरिचर्ययोः ॥ ४७ ॥
 न तानि लिखितान्यत्र ग्रन्थबाहुल्यभीतितः ।
 नामलीलागुणादीनामुच्चैर्भाषा तु कीर्तनम् ॥ ४८ ॥
 मन्त्रस्य सुलघूच्चारो जप इत्यभिधीयते ।
 सम्प्रार्थनाऽऽत्मिका दैन्यबोधिका लालसामयी ॥ ४९ ॥
 इत्यादिर्विविधा धारैः कृष्णे विज्ञप्तिरीरिता ।
 प्रोक्ता मनीषिभिर्गीतास्तवराजादयः स्तवाः ॥ ५० ॥
 श्रवणं नामचरितगुणादीनां श्रुतिर्भवेत् ।
 यथा कथञ्चिन्मनसा सम्बन्धः स्मृतिरुच्यते ॥ ५१ ॥
 ध्यानं रूपगुणक्रीडासेवाऽऽदेः सुष्ठु चिन्तनम् ।
 दास्यं कर्मार्पणं तस्य कैङ्कर्यमपि सर्वथा ॥ ५२ ॥
 कर्म स्वाभाविकं भद्रे जपध्यानार्चनादि च ।
 इतीदं द्विविधं कृष्णे वैष्णवैर्दास्यमर्पितम् ॥ ५३ ॥
 मृदुश्रद्धस्य कथिता स्वरूपा कर्माधिकारिता ।
 तदर्पितं हरौ दास्यमिति कैश्चिदुदीर्यते ॥ ५४ ॥
 विश्वासो मित्रवृत्तिश्च सख्यं द्विविधमीरितम् ।
 श्रद्धामात्रस्य तद्भक्तावधिकारित्वहेतुता ॥ ५५ ॥
 अङ्गत्त्वमस्य विश्वासविशेषस्य तु केशवे ।
 रागानुगाऽङ्गताऽस्य स्याद्विधिमार्गानपेक्षणात् ॥ ५६ ॥
 मार्गद्वयेन चैतेन साध्या सख्यरतिर्मता ।
 अर्थो द्विधाऽऽत्मशब्दस्य पण्डितैरुपपाद्यते ॥ ५७ ॥
 देह्यहंताऽऽस्यदं कैश्चिद्देहः कैश्चिन्ममत्वभाक् ।
 दुष्करत्वेन विरले द्वे सख्यात्मनिवेदने ॥ ५८ ॥
 केषां चिदेव धीराणां लभेते साधनार्हताम् ।

शास्त्रमत्र समाख्यातं यद्वक्तिप्रतिपादकम् ॥ ५९ ॥
 श्रुता स्मृता कीर्तिता च वाञ्छिता प्रेक्षिता गता ।
 स्पृष्टा श्रिता सेविता च मथुराऽभीष्टदा नृणाम् ॥ ६० ॥
 इति ख्यातं पुराणेषु न विस्तरभियोच्यते ।
 यावन्ति भगवद्भक्तेरङ्गानि कथितानि ह ॥ ६१ ॥
 प्रायस्तावन्ति तद्भक्तभक्तेरपि बुधा विदुः ।
 अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः ॥ ६२ ॥
 सेवोन्मुखे हि जिह्वाऽऽदौ स्वयमेव स्फुरत्यदः ।
 दुरूहाद्भुतवीर्य्येऽस्मिन् श्रद्धा दूरेऽस्तु पञ्चके ॥ ६३ ॥
 यत्र स्वरूपोऽपि सम्बन्धः सद्भिद्यां भावजन्मने ।
 अलौकिकपदार्थानामचिन्त्या शक्तिरीदृशी ॥ ६४ ॥
 भावं तद्विषयं चापि या सहैव प्रकाशयेत् ।
 केषां चित् क चिदङ्गानां यत्क्षुद्रं श्रूयते फलम् ॥ ६५ ॥
 बहिर्मुखप्रवृत्त्यैतत्किं तु मुख्यं फलं रतिः ।
 सम्भतं भक्तिविज्ञानां भक्त्यङ्गत्वं तु कर्मणाम् ॥ ६६ ॥
 ज्ञानवैराग्ययोर्भक्तिप्रवेशायोपयोगिता ।
 ईदृशप्रथममेवेति नाङ्गत्वमुचितं तयोः ॥ ६७ ॥
 यदुभे चित्तकाठिन्यहेतू प्रायः सतां मते ।
 सुकुमारस्वभावेयं भक्तिस्तद्वेतुरीरिता ॥ ६८ ॥
 किं तु ज्ञानविरक्त्यादिसाध्यं भक्त्यैव सिध्यति ।
 रुचिमुद्वहतस्तत्र जनस्य भजने हरेः ॥ ६९ ॥
 विषयेषु गरिष्ठोऽपि रागः प्रायो विलीयते ।
 अनासक्तस्य विषयान् यथाऽर्हमुपयुञ्जतः ॥ ७० ॥
 निर्वन्धः कृष्णसंबन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते ।
 प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः ॥ ७१ ॥

मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फलं कथ्यते ।
 प्रोक्तेन लक्षणेनैव भक्तेरधिकृतस्य च ॥ ७२ ॥
 अङ्गत्वे सुनिरस्तेऽपि नित्याद्यखिलकर्मणाम् ।
 ज्ञानस्याध्यात्मिकस्यापि वैराग्यस्य च फलं गुणः ॥ ७३ ॥
 स्पष्टताऽर्थं पुनरपि तदेवेदं निराकृतम् ।
 धनशिष्यादिभिर्द्वैरैर्या भक्तिरुपपाद्यते ॥ ७४ ॥
 विदूरत्वादुत्तमताहान्या तस्याश्च नाङ्गता ।
 विशेषणत्वमेवैषां संश्रयन्त्यधिकारिणाम् ॥ ७५ ॥
 विवेकादीन्यतोऽभीषामपि नाङ्गत्वमुच्यते ।
 कृष्णोन्मुखं स्वयं यान्ति यमाः शौचादयस्तथा ॥ ७६ ॥
 इत्येषां च न युक्ता स्याद्भक्त्यङ्गान्तरपातिता ।
 सा भक्तिरेकमुख्याङ्गा श्रितानैकाङ्गिकाऽथ वा ॥ ७७ ॥
 स्ववासनाऽनुसारेण निष्ठातः सिद्धिर्भवेत् ।
 शास्त्रोक्तया प्रवल्या तत्तन्मर्यादयाऽन्विता ॥ ७८ ॥
 वैधी भक्तिरियं कैश्चिन्मर्यादामार्ग उच्यते ।
 विराजन्तीमभिव्यक्तं ब्रजवासिजनादिषु ॥ ७९ ॥
 रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते ।
 रागानुगाविवेकार्थमादौ रागात्मिकोच्यते ॥ ८० ॥
 इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत् ।
 तन्मयी या भवेद्भक्तिः साऽत्र रागात्मिकोदिता ॥ ८१ ॥
 सा कामरूपा सम्बन्धरूपा चेति भवेद् द्विधा ।
 आनुकूल्यविपर्ययाद् भीतिद्वेषौ पराहतौ ॥ ८२ ॥
 स्नेहस्य सख्यवाचित्वाद्वैधभक्त्यनुवर्तिता ।
 किं वा प्रेमाभिधायित्वान्नोपयोगोऽत्र साधने ॥ ८३ ॥
 “भक्त्या वयमि”ति व्यक्तं वैधी भक्तिरुदीरिता ।

यदरीणां प्रियाणां च प्राप्यमेकमिवोदितम् ॥ ८४ ॥

तद्ब्रह्मकृष्णयोरैकस्यात्किरणार्कोपमाजुषोः ।

ब्रह्मण्येव लयं यान्ति प्रायेण रिपवो हरेः ॥ ८५ ॥

के चित्प्राप्यापि सारूप्याभासं मज्जन्ति तत्सुखे ।

रागबन्धेन केनापि तं भजन्तो ब्रजन्त्यमी ॥ ८६ ॥

अङ्घ्रिपद्मसुधाः प्रेमरूपास्तस्य प्रियाजनाः ।

सा कामरूपा सम्भोगतृष्णां या नयति स्वताम् ॥ ८७ ॥

यदस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यमः ।

इयं तु ब्रजदेवीषु सुप्रसिद्धा विराजते ॥ ८८ ॥

आसां प्रेमविशेषोऽयं प्राप्तः कामपि माधुरीम् ।

तत्तत्क्रीडानिदानत्वात्काम इत्युच्यते बुधैः ॥ ८९ ॥

इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः ।

कामप्राया रतिः किन्तु कुब्जायामेव सम्मता ॥ ९० ॥

सम्बन्धरूपा गोविन्दे पितृत्वद्यभिमानिता ।

अत्रोपलक्षणतया वृष्णीनां बल्लवा मताः ॥ ९१ ॥

यदैश्वर्यज्ञानशून्यत्वादिषां रागे प्रधानता ।

कामसम्बन्धरूपे ते प्रेममात्रस्वरूपके ॥ ९२ ॥

नित्यसिद्धाश्रयतया नात्र सम्यग्बिचारिते ।

रागात्मिकाया द्वैविध्याद् द्विधा रागानुगा च सा ॥ ९३ ॥

कामानुगा च सम्बन्धानुगा चेति निगद्यते ।

रागात्मिकैकनिष्ठा ये ब्रजवासिजनादयः ॥ ९४ ॥

तेषां भावासये लुब्धो भवेदत्राधिकारवान् ।

तत्तद्भावादिमाधुर्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते ॥ ९५ ॥

नात्र शास्त्रं न युक्तिं च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणम् ।

वैधभक्त्यधिकारी तु भावाविर्भावनावधिः ॥ ९६ ॥

अत्र शास्त्रं तथा तर्कमनुकूलमपेक्षते ।
 कृष्णं स्मरन् जनं चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम् ॥ ९७ ॥
 तत्तत्कारणतश्चासौ कुर्याद्वासं व्रजे सदा ।
 सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि ॥ ९८ ॥
 तद्वावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः ।
 श्रवणोत्कीर्तनादीनि वैधभक्त्युद्गतानि तु ॥ ९९ ॥
 यान्यङ्गानि च तान्यत्र विज्ञेयानि मनीषिभिः ।
 कामानुगा भवेत्तृष्णा कामरूपानुगामिनी ॥ १०० ॥
 सम्भोगेच्छामयी तत्तद्वावेच्छाऽऽत्मेति सा द्विधा ।
 केलितात्पर्यवत्येव सम्भोगेच्छामयी भवेत् ॥ १०१ ॥
 तद्वावेच्छाऽऽत्मिका तासां भावमाधुर्यकामिता ।
 श्रीमूर्त्तेर्माधुरीं प्रेक्ष्य तत्तल्लीलां निश्चय वा ॥ १०२ ॥
 तद्वावाकाङ्क्षिणो ये स्युस्तेषु साधनताऽनयोः ।
 पुराणे श्रूयते पादमे पुंसामपि भवेदियम् ॥ १०३ ॥
 रिरंसां सुष्ठु कुर्वन् यो विधिमार्गेण सेवते ।
 केवलैर्नैव स तदा महिषीत्वामियात्पुरे ॥ १०४ ॥
 सा सम्बन्धानुगा भक्तिः प्रोच्यते सद्भिरात्मनि ।
 या पितृत्वादिसम्बन्धमननारोपणात्मिका ॥ १०५ ॥
 लुब्धैर्वात्सल्यसरूपादौ भक्तिः कार्याऽत्र साधकैः ।
 व्रजेन्द्रसुबलादीनां भावचेष्टितमुद्रया ॥ १०६ ॥
 तथा हि श्रूयते शास्त्रे कश्चित्कुरुपुरीस्थितः ।
 नन्दसूनोरधिष्ठानं तत्र पुत्रतया भजन् ॥ १०७ ॥
 नारदस्योपदेशेन सिद्धोऽभूद् वृद्धवार्द्धकिः ।
 कृष्णतद्भक्तकारुण्यमात्रलाभैकहेतुका ॥ १०८ ॥
 पुष्टिमार्गतया कैश्चिदियं रागानुगोच्यते ।
 इति भक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे साधनभक्तिरहरी ॥ २ ॥

तृतीयलहरी—

शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्याशुसाम्यभाक् ।
 रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते ॥ १ ॥
 आविर्भूय मनोवृत्तौ व्रजन्ती तत्स्वरूपताम् ।
 स्वयंप्रकाशरूपाऽपि भासमाना प्रकाश्यवत् ॥ २ ॥
 वस्तुतः स्वयमास्वादस्वरूपैव रतिस्त्वसौ ।
 कृष्णादिकर्मकास्वादहेतुत्वं प्रतिपद्यते ॥ ३ ॥
 साधनाभिनिवेशेन कृष्णतद्भक्तयोस्तथा ।
 प्रसादेनातिधन्यानां भावो द्वेषाऽभिजायते ॥ ४ ॥
 आद्यस्तु प्रायिकस्तत्र द्वितीयो विरलोदयः ।
 वैधीरागानुगामार्गभेदेन परिकीर्तितः ॥ ५ ॥
 द्विविधः खलु भात्यत्र साधनाभिनिवेशजः ।
 साधनाभिनिवेशस्तु तत्र निष्पादयन् रुचिम ॥ ६ ॥
 हरावासक्तिमुत्पाद्य रतिं संजनयत्यसौ ।
 रत्या तु भाव एवात्र न तु प्रेमाऽभिधीयते ॥ ७ ॥
 मम भक्तिः प्रवृत्तेति वक्ष्यते स यदग्रतः ।
 पुराणे नाट्यशास्त्रे च द्वयोस्तु रतिभावयोः ॥ ८ ॥
 समानार्थतया ह्यत्र द्वयमैक्येन लक्षितम् ।
 साधनेन विना यस्तु सहसैवाभिजायते ॥ ९ ॥
 स भावः कृष्णतद्भक्तप्रसादज इतीर्यते ।
 प्रसादा वाचिकालोकदानहार्दादयो हरेः ॥ १० ॥
 प्रसाद आन्तरो यः स्यात् स हार्द इति कथ्यते ।
 भक्तानां भेदतः सेयं रतिः पञ्चविधा मता ॥ ११ ॥
 अग्रे विविच्य वक्तव्या तेन नात्र प्रपञ्च्यते ।
 क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता ॥ १२ ॥

आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः ।
 आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्यले ॥ १३ ॥
 इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावाङ्कुरे जने ।
 श्लोभहेतावपि प्राप्ते क्षान्तिरश्रुभितात्मता ॥ १४ ॥
 विरक्तिरिन्द्रियार्थानां स्यादरोचकता स्वयम् ।
 उत्कृष्टत्वेऽप्यमानित्वं कथिता मानशून्यता ॥ १५ ॥
 आशाबन्धो भगवतः प्राप्तिसम्भावना दृढा ।
 समुत्कण्ठा निजाभीष्टलाभाय गुरुलुब्धता ॥ १६ ॥
 व्यक्तं मसृणतेवान्तर्लक्ष्यते रतिलक्षणम् ।
 मुमुक्षुप्रभृतीनां चेद्भवेदेषा रतिर्न हि ॥ १७ ॥
 विमुक्ताखिलतर्पेय्या मुक्तैरपि विमृश्यते ।
 या कृष्णेनातिगोप्याऽऽशु भजद्भयोऽपि न दीयते ॥ १८ ॥
 सा मुक्तिमुक्तिकामत्वाच्छुद्धां भक्तिमकुर्वताम् ।
 हृदये सम्भवत्येषां कथं भागवती रतिः ॥ १९ ॥
 किन्तु बालचमत्कारकारी तच्चिन्हवीक्षया ।
 अभिज्ञेन सुबोधोऽयं रत्याभासः प्रकीर्तितः ॥ २० ॥
 प्रतिबिम्बस्तथा छाया रत्याभासो द्विधा मतः ।
 आश्रमाभीष्टनिर्वाही रतिलक्षणलक्षितः ॥ २१ ॥
 भोगापवर्गसौख्यांशव्यञ्जकः प्रतिबिम्बकः ।
 दैवात्सद्भक्तसङ्गेन कीर्त्तनाद्यनुसारिणाम् ॥ २२ ॥
 प्रायः प्रसन्नमनसां भोगमोक्षादिरागिणाम् ।
 केषां चिद् घृदि भावेन्दोः प्रतिबिम्ब उदञ्चति ॥ २३ ॥
 तद्भक्तहृत्तमःस्थस्य तत्संसर्गप्रभावतः ।
 क्षुद्रकौतुहलमयी चञ्चला दुःखहारिणी ॥ २४ ॥
 रतेश्छाया भवेत् किञ्चित्त्सादृश्यावलम्बिनी ।

हरिप्रियाक्रियाकालदेशपात्रादिसङ्गमात् ॥ २५ ॥
 अप्यानुषङ्गिकादेशा क चिदज्ञेष्वपीक्ष्यते ।
 किं तु भाग्यं विना नासौ भावच्छायाऽप्युदञ्चति ॥ २६ ॥
 यदभ्युदयतः क्षेमं तत्र स्यादुत्तरोत्तरम् ।
 हरिप्रियजनस्यैव प्रसादभरलाभतः ॥ २७ ॥
 भावाभासोऽपि सहसा भावतामुपगच्छति ।
 तस्मिन्नेवापराधेन भावाभासोऽप्यनुत्तमः ॥ २८ ॥
 क्रमेण क्षयमायाति स्वस्थः पूर्णशशी यथा ।
 भावोऽप्यभावमायाति कृष्णप्रेष्ठापराधतः ॥ २९ ॥
 आभासतां च शनैर्न्यूनजातीयतामपि ।
 गाढासङ्गात्सदा याति मुमुक्षौ सुप्रतिष्ठिते ॥ ३० ॥
 आभासतामसौ किं वा भजनीयेशभावताम् ।
 अत एव क चित्तेषु नव्यमक्तेषु दृश्यते ॥ ३१ ॥
 क्षणमीश्वरभावोऽयं नृत्यादौ मुक्तिपक्षगः ।
 साधनेक्षां विना यास्मिन्नकस्माद्भाव ईक्ष्यते ॥ ३२ ॥
 विघ्नस्थगितमत्रोह्यं प्राग्भवीयं सुसाधनम् ।
 लोकोत्तरचमत्कारकारकः सर्वशक्तिदः ॥ ३३ ॥
 यः प्रथीयान् भवेद्भावः स तु कृष्णप्रसादजः ।
 जने चेज्जातभावेऽपि वैगुण्यमिव दृश्यते ॥ ३४ ॥
 कार्य्या तथाऽपि नासूया कृतार्थः सर्वथैव सः ॥
 रतिरनिशानिसर्गोष्णप्रबलतरानन्दपूररूपैव ।
 ऊष्माणमपि वमन्ती शुष्मांशुकोटेरपि स्वाद्वी ॥ ३५ ॥
 इति भक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे भावभक्तिलहरी ॥ ३ ॥

चतुर्थलहरी—

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः ।
 भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ॥ १ ॥
 भक्तिः प्रेमोच्यते भीष्ममुखैर्यत्र तु संगता ।
 ममताऽन्यममत्वेन वर्जितेत्यत्र योजना ॥ २ ॥
 भावोत्थोऽतिप्रसादोत्थः श्रीहरेरिति स द्विधा ।
 भाव एवान्तरङ्गाणामङ्गानामनुसेवया ॥ ३ ॥
 आरूढः परमोत्कर्ष भावोत्थः परिकीर्तितः ।
 हरेरितिप्रसादोऽयं सङ्गदानादिरात्मनः ।
 माहात्म्यज्ञानयुक्तश्च केवलश्चेति स द्विधा ॥ ४ ॥
 महिमज्ञानयुक्तः स्याद्विधिमार्गानुसारिणाम् ।
 रागानुगाश्रितानां तु प्रायशः केवलो भवेत् ॥ ५ ॥
 आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनाक्रिया !
 ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः ॥ ६ ॥
 अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाऽभ्युदञ्चति ॥
 साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः ॥ ७ ॥
 धन्यस्यायं नवः प्रेमा यस्योन्मीलति चेतसि ।
 अन्तर्वाणिभिरप्यस्य मुद्रा सुष्ठु सुदुर्गमा ॥ ८ ॥
 प्रेम्ण एव विलासत्वाद्वैरल्यात्साधकेष्वपि ।
 अत्र स्नेहादयो भेदा विचिच्य न हि शंसिताः ॥ ९ ॥
 श्रीमत्प्रभुपदाम्भोजैः सर्वा भागवतामृते ।
 व्यक्तीकृताऽस्ति गूढाऽपि भक्तिसिद्धान्तमाधुरी ॥ १० ॥
 इति भक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे प्रेमभक्तिलहरी ॥ ४ ॥
 गोपालरूपशोभां दधदपि रघुनाथभावविस्तारी ।
 तुल्यतु सनातनात्मा प्रथमविभागे रसाम्बुनिधेः ॥ १ ॥
 इति भक्तिरसामृतसिन्धौ रसोपयोगिस्थायिभावोपपादननामा
 पूर्वो विभागः ॥ १ ॥

सामान्यभक्तिरसनिरूपके दक्षिणविभागे

प्रथमलहरी—

प्रबलमनन्याश्रयिणा निषेवितः सहजरूपेण ।
अघमथनो मथुरायां सदा सनातनतनुर्जयति ॥ १ ॥
रसामृताब्धेर्भागेऽस्मिन् द्वितीये दक्षिणाभिधे ।
सामान्यभगद्वक्तिरसस्तावदुदीर्यते ॥ २ ॥
अस्य पञ्च लहर्यः स्युर्विभावाख्याऽग्निमा मता ॥
द्वितीया त्वनुभावाख्या तृतीया सात्त्विकाभिधा ॥ ३ ॥
व्यभिचार्य्यभिधा तुर्य्या स्थायिसंज्ञा तु पञ्चमी ।
अथास्याः केशवरतेल्लक्षिताया निगद्यते ॥ ४ ॥
सामग्रीपरिपोषेण परमा रसरूपता ।
विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ॥ ५ ॥
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः ।
एषा कृष्णरतिः स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत् ॥ ६ ॥
प्राक्तन्याधुनिकी चास्ति यस्य सद्भक्तिवासना ।
एष भक्तिरसास्वादस्तस्यैव हृदि जायते ॥ ७ ॥
भक्तिनिर्धूतदोषाणां प्रसन्नोज्ज्वलचेतसाम् ।
श्रीभागवतरक्तानां रसिकासङ्गरङ्गिणाम् ॥ ८ ॥
जीवनीभूतगोविन्दपादभक्तिसुखाश्रियाम् ।
प्रेमाम्तरङ्गभूतानि कृत्यान्येवानुतिष्ठताम् ॥ ९ ॥
भक्तानां हृदि राजन्ती संस्कारयुगलोज्ज्वला ।
रतिरानन्दरूपैव नीयमाना तु रस्यताम् ॥ १० ॥
कृष्णादिभिर्विभावाद्यैर्गतैरनुभवाध्वनि ।
प्रौढानन्दचमत्कारकाष्ठामापद्यते पराम् ॥ ११ ॥

किं तु प्रेमा विभावाद्यैः स्वरूपैर्नीतोऽप्यर्णायसीम् ।
 विभावनाद्यवस्थां तु सद्य आस्वाद्यतां व्रजेत् ॥ १२ ॥
 ये कृष्णभक्तमुरलीनादाद्या हेतवो रतेः ।
 कार्यभृताः स्मिताद्याश्च तथाऽष्टौ स्तब्धताऽऽदयः ॥ १३ ॥
 निर्वेदाद्याः सहायाश्च ते ज्ञेया रसभावने ॥
 विभावा अनुभावाश्च सात्त्विका व्यभिचारिणः ॥ १४ ॥
 तत्र ज्ञेया विभावास्तु रत्यास्वादनहेतवः ।
 ते द्विधाऽऽलम्बना एके तथैवोद्दीपनाः परे ॥ १५ ॥
 कृष्णश्च कृष्णभक्ताश्च बुधैरालम्बना मताः ।
 रत्यादेर्विषयत्वेन तथाऽऽधारतयाऽपि च ॥ १६ ॥
 नायकानां शिरोरत्नं कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
 यत्र नित्यतया सर्वं विराजन्ते महागुणाः ॥ १७ ॥
 सोऽन्यरूपस्वरूपाभ्यामस्मिन्नालम्बनो मतः ।
 आवृतं प्रकटं चेति स्वरूपं कथितं द्विधा ॥ १८ ॥
 अन्यवेषादिनाऽऽच्छन्नं स्वरूपं प्रोक्तमावृतम् ।
 अयं नेता सुरम्याङ्गः सर्वसलक्षणान्वितः ॥ १९ ॥
 रुचिरस्तेजसा युक्तो बलीयान् वयसाऽन्वितः ।
 विविधाद्भुतभाषावित् सत्यवाक्यः प्रियंवदः ॥ २० ॥
 वावदूकः सुपाण्डित्यो बुद्धिमान् प्रतिभाऽन्वितः ।
 विदग्धश्चतुरो दक्षः कृतज्ञः सुदृढव्रतः ॥ २१ ॥
 देशकालसुपात्रज्ञः शास्त्रचक्षुः शुचिर्वशी ।
 स्थिरो दान्तः क्षमाशीलो गभीरो धृतिमान् सप्तः ॥ २२ ॥
 वदान्यो धार्मिकः शूरः करुणो मान्यमानकृत् ।
 दक्षिणो विनयी ह्रीमान् शरणागतपालकः ॥ २३ ॥
 सुखी भक्तसुहृत् प्रेमवश्यः सर्वशुभङ्करः ।

प्रतापी कीर्तिमान् रक्तलोकः साधुसमाश्रयः ॥ २४ ॥
 नारीगणमनोहारी सर्वाराध्यः समृद्धिमान् ।
 वरीयानीश्वरश्चेति गुणास्तस्यानुकीर्तिताः ॥ २५ ॥
 समुद्रा इव पञ्चाशद् दुर्विगाहा हररमी ।
 जीवेष्वेते वसन्तोऽपि बिन्दुबिन्दुतया क्वचित् ॥ २६ ॥
 परिपूर्णतया भान्ति तत्रैव पुरुषोत्तमे ।
 तथा हि पादूमे पार्वत्यै शितिकण्ठेन तद्गुणाः ॥ २७ ॥
 कन्दर्पकोटिलावण्या इत्याद्याः परिकीर्तिताः ।
 एत एव गुणाः प्रायो धर्माय वनमालिनः ॥ २८ ॥
 पृथिव्या प्रथमस्कन्धे प्रथयाञ्चक्रिरे स्फुटम् ।
 अथ पञ्च गुणा ये स्फुरंशेन गिरिशादिषु ॥ २९ ॥
 सदास्वरूपसम्प्राप्तः सर्वज्ञो नित्यनूतनः ।
 सच्चिदानन्दसान्द्राङ्गः सर्वसिद्धिनिषेवितः ॥ ३० ॥
 अथोच्यन्ते गुणाः पञ्च ये लक्ष्मीशादिवर्तिनः ।
 अविचिन्त्यमहाशक्तिः कोटिब्रह्माण्डविग्रहः ॥ ३१ ॥
 अवतारावलीबीजं हतारिगतिदायकः ।
 आत्मारामगणाकर्षस्थिमी कृष्णे किलाद्भुताः ॥ ३२ ॥
 सर्वद्भुतचमत्कारलीलाकल्लोलवारिधिः ।
 अतुल्यमधुरप्रेममण्डितप्रियमण्डलः ॥ ३३ ॥
 त्रिजगन्मानसाकर्षी मुरलीकलकूजितैः ।
 असमानोर्ध्वरूपश्रीर्विस्मापितचराचरः ॥ ३४ ॥
 लीलाप्रेम्णा प्रियाधिक्यं माधुर्यं वेणुरूपयोः ।
 इत्यसाधारणं प्रोक्तं गोविन्दस्य चतुष्टयम् ॥ ३५ ॥
 एवं गुणाश्चतुर्भेदाश्चतुःषष्टिरुदाहृताः ।
 सोदाहरणमेतेषां लक्षणं क्रियते क्रमात् ॥ ३६ ॥

इलाध्याङ्गसंनिवेशो यः सुरम्याङ्गः स कथ्यते ।
 तनौ गुणोत्थमङ्कोत्थमिति सल्लक्षणं द्विधा ॥ ३७ ॥
 गुणोत्थं स्याद् गुणैर्योगो रक्ततातुङ्गताऽऽदिभिः ।
 रेखामयं रथाङ्गादि स्यादङ्कोत्थं करादिषु ॥ ३८ ॥
 सौन्दर्येण हृगानन्दकारी रुचिर उच्यते ।
 तेजो धाम प्रभावश्चेत्युच्यते द्विविधं बुधैः ॥ ३९ ॥
 दीप्तिराशिर्भवेद्भाम प्रभावः सर्वजित्स्थितिः ।
 प्राणेन महता पूर्णो बलीयानिति कथ्यते ॥ ४० ॥
 वयसो विविधत्वेऽपि सर्वभक्तिरसाश्रयः ।
 धर्मी किशोर एवात्र नित्यनानाविलासवान् ॥ ४१ ॥
 विविधाद्भुतभाषावित् स प्रोक्तो यस्तु कोविदः ।
 नानादेश्यासु भाषाषु संस्कृते प्राकृतेषु च ॥ ४२ ॥
 स्यान्नानृतं वचो यस्य सत्यवाक्यः स भण्यते ।
 जने कृतापराधेऽपि सान्त्ववादी प्रियंवदः ॥ ४३ ॥
 श्रुतिप्रेष्ठोक्तिरखिलवाग्गुणान्वितवागपि ।
 इति द्विधा निगदितो वावदृको मनीषिभिः ॥ ४४ ॥
 विद्वान् नीतिज्ञ इत्येष सुपाण्डित्यो द्विधा मतः ।
 विद्वानखिलविद्याविनीतिज्ञस्तु यथाऽर्हकृत् ॥ ४५ ॥
 मेधावी सूक्ष्मधीश्चेति प्रोच्यते बुद्धिमान् द्विधा ।
 सद्यो नवनबोल्लेखिज्ञानः स्यात्प्रतिभाऽन्वितः ॥ ४६ ॥
 कलाविलासादिघात्मा विदग्ध इति कीर्त्यते ।
 चतुरो युगपद् मूरिसमाधानकृदुच्यते ॥ ४७ ॥
 दुष्करे क्षिप्रकारी यस्तं दक्षं परिचक्षते ।
 कृतज्ञः स्यादभिज्ञो यः कृतसेवाऽऽदिकर्मणाम् ॥ ४८ ॥
 प्रतिज्ञानियमौ यस्य सत्यौ स सुदृढव्रतः ।

देशकाससुपात्रज्ञस्तत्तद्योग्यक्रियाकृती ॥ ४६ ॥
 शास्त्रानुसारिकर्मा यः शास्त्रचक्षुः स कथ्यते ।
 पावनश्च विशुद्धश्चेत्युच्यते द्विविधः शुचिः ॥ ५० ॥
 पावनः पापनाशी स्याद्विशुद्धस्त्यक्तदूषणः ।
 वशी जितेन्द्रियः प्रोक्तः आफलोदयकृत् स्थिरः ॥ ५१ ॥
 स दान्तो दुःसहमपि योग्यं क्लेशं सहेत यः ।
 क्षमाशीलोऽपराधानां सहनः परिकीर्त्यते ॥ ५२ ॥
 दुर्विवोधाशयो यस्तु स गम्भीर इतीर्यते ।
 पूर्णस्पृहश्च धृतिमान् शान्तश्च क्षोभकारणे ॥ ५३ ॥
 रागद्वेषविमुक्तो यः समः स कथितो बुधैः ।
 दानवीरो भवेद्यस्तु स वदान्यो निगद्यते ॥ ५४ ॥
 कुर्वन् कारयते धर्मं यः स धार्मिक उच्यते ।
 उत्साही युधि शूरोऽस्त्रप्रयोगे च विचक्षणः ॥ ५५ ॥
 परदुःखासहो यस्तु करुणः स निगद्यते ।
 गुरुब्राह्मणवृद्धादिपूजको मान्यमानकुत् ॥ ५६ ॥
 सौशील्यसौम्यचरितो दक्षिणः कीर्त्यते बुधैः ।
 औद्धत्यपरिहारी यः कथ्यते विनयीत्यसौ ॥ ५७ ॥
 ज्ञातेऽस्मररहस्येऽन्यैः क्रियमाणे स्तवेऽथ वा ।
 शालीनत्वेन संकोचं भजन् ह्रीमानुदीर्यते ॥ ५८ ॥
 पालयन् शरणापन्नान् शरणागतपालकः ।
 भोक्ता च दुःखगन्धैरप्यस्पृष्टश्च सुखी भवेत् ॥ ५९ ॥
 सुसेव्यो दासबन्धुश्च द्विधा भक्तसुहृन्मतः ।
 प्रियत्वमात्रवश्यो यः प्रेमवश्यो भवेदसौ ॥ ६० ॥
 सर्वेषां हितकारी यः स स्यात्सर्वशुभङ्करः ।
 प्रतापी पौरुषोद्भूतशत्रुतापिप्रसिद्धिमाक् ॥ ६१ ॥

साद्गुण्यैर्निर्मलैः ख्यातः कीर्त्तिमानिति कीर्त्त्यते ।
 पात्रं लोकानुरागाणां रक्तलोकं विदुर्बुधाः ॥ ६२ ॥
 सदेकपक्षपाती यः स स्यात्सुधुसमाश्रयः ।
 नारीगणमनोहारी सुन्दरीवृन्दमोहनः ॥ ६३ ॥
 सर्वेषामग्रपूज्यो यः सर्वाराध्यः स उच्यते ।
 महासंपत्तियुक्तो यो भवेदेष समृद्धिमान् ॥ ६४ ॥
 सर्वेषामभिमुख्ये यः स वरीयानित्यर्थ्यते ।
 द्विधेश्वरः स्वतन्त्रश्च दुर्लङ्घ्याज्ञश्च कीर्त्त्यते ॥ ६५ ॥
 सदास्वरूपसंप्राप्तो मायाकार्यावशीकृतः ।
 परचित्तस्थितं देशकालाद्यन्तरितं तथा ॥ ६६ ॥
 यो जानाति समस्तार्थं स सर्वज्ञो निगद्यते ।
 सदाऽनुभूयमानोऽपि करोत्यननुभूतवत् ॥ ६७ ॥
 विस्मयं माधुरीभिर्यः स प्रोक्तो नित्यनूतनः ।
 सच्चिदानन्दसान्द्राङ्गश्चिदानन्दघनाकृतिः ॥ ६८ ॥
 अतः श्रीवैष्णवैः सर्वश्रुतिस्मृतिनिदर्शनैः ।
 तद् ब्रह्म श्रीभगवतो विभूतिरिति कीर्त्त्यते ॥ ६९ ॥
 स्ववशाखिलसिद्धिः स्यात्सर्वासिद्धिनिषेवितः ।
 दिव्यस्वर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मरुद्रादिमोहनम् ॥ ७० ॥
 भक्तप्रारब्धविध्वंस इत्याद्याचिन्त्यशक्तिता ।
 अगण्यजगदण्डाद्यः कोटिब्रह्माण्डविग्रहः ॥ ७१ ॥
 इति श्रीविग्रहस्यास्य विभुत्वमनुकीर्त्तितम् ।
 अवतारावलीबीजमवतारी निगद्यते ॥ ७२ ॥
 मुक्तिदाता हतारीणां हतारिगतिदायकः ।
 आत्मारामगणाकर्षित्येतद्व्यक्तार्थमेव हि ॥ ७३ ॥
 समस्तविविधाश्चर्यकल्याणगुणवारिधिः ।

गुणानामिह कृष्णस्य दिङ्मात्रमुपदर्शितम् ॥ ७४ ॥
 नित्यगुणो वनमाली यदपि शिखामणिरशेषनैतृणाम् ।
 भक्ततापेक्षिकमस्य त्रिविधत्वं लिख्यते तदपि ॥ ७५ ॥
 हरिः पूर्णतमः पूर्णतरः पूर्ण इति त्रिधा ।
 श्रेष्ठमध्यादिभिः शब्दैर्नाट्ये यः परिपठ्यते ॥ ७६ ॥
 प्रकाशिताखिलगुणः स्मृतः पूर्णतमो बुधैः ।
 असर्वव्यञ्जकः पूर्णतरः पूर्णोऽरूपदर्शकः ॥ ७७ ॥
 कृष्णस्य पूर्णतमता व्यक्ताऽभूद् गोकुलान्तरे ।
 पूर्णपूर्णतरता द्वारकामथुराऽऽदिषु ॥ ७८ ॥
 स पुनश्चतुर्विधः स्याद् धीरोदात्तश्च धीरललितश्च ।
 धीरप्रशान्तनामां तथैव धीरोद्धतः कथितः ॥ ७९ ॥
 बहुविधगुणक्रियाणामास्पदभूतस्य पद्मनाभस्य ।
 तत्तल्लीलाभेदाद्विरुध्यते न हि चतुर्विधता ॥ ८० ॥
 गम्भीरो विनयो क्षन्ता करुणः सुहृद्व्रतः ।
 अकथनो गूढगर्वो धीरोदात्तः सुसत्त्वभृत् ॥ ८१ ॥
 गम्भीरत्वादिसामान्यगुणा यदिह कीर्तिताः ।
 तदेतेषु तदाधिक्यप्रतिपादनहेतवे ॥ ८२ ॥
 इदं हि धीरोदात्तत्वं पूर्वं प्रोक्तं रघूद्वहे ।
 तत्तद्भक्तानुसारेण तथा कृष्णे विलोक्यते ॥ ८३ ॥
 विदग्धो नवतारुण्यः परिहासविशारदः ।
 निश्चिन्तो धीरललितः स्यात्प्रायः प्रेयसीवशः ॥ ८४ ॥
 गोविन्दे प्रकटं धीरललितत्वं प्रदृश्यते ।
 उदाहरन्ति नाट्यज्ञा प्रायोऽत्र मकरध्वजम् ॥ ८५ ॥
 शमप्रकृतिकः क्लेशसहनश्च विवेचकः ।
 विनयादिगुणोपेतो धीरशान्त उदीर्यते ॥ ८६ ॥

युधिष्ठिरादिको धीरैर्धीरशान्तः प्रकीर्तितः।
 मात्सर्यवानहङ्कारी मायावी रोषणश्चलः ॥ ८७ ॥
 विकत्थनश्च विद्वद्भिर्धीरोद्धत उदाहृतः ।
 धीरोद्धतस्तु विद्वद्भिर्भीसेनादिरुच्यते ॥ ८८ ॥
 मात्सर्याद्याः प्रतीयन्ते दोषत्वेन यदप्यमी ।
 लीलाविशेषशालित्वान्निर्दोषेऽत्र गुणाः स्मृताः ॥ ८९ ॥
 मियोविरोधिनोऽप्येते के चिन्निगदिता गुणाः ।
 हरौ निरङ्कुशैश्चर्यात्कोऽपि न स्यादसम्भवः ॥ ९० ॥
 इत्थं सर्वावतारेभ्यस्ततोऽप्यत्रावतारिणः ।
 ब्रजेन्द्रनन्दने सुष्ठु माधुर्यभर ईरितः ॥ ९१ ॥
 अथाष्टावनुकीर्त्यन्ते सद्गुणत्वेन विश्रुताः ।
 मङ्गलालंक्रियारूपाः सत्त्वभेदास्तु पौरुषाः ॥ ९२ ॥
 शोभा विलासो माधुर्यं मङ्गल्यं स्थैर्यतेजसी ।
 ललितौदार्यमित्येते सत्त्वभेदास्तु पौरुषाः ॥ ९३ ॥
 नीचे दयाऽधिके स्पृह्या शौर्योत्साहौ च दक्षता ।
 सत्यं च व्यक्तिमायाति यत्र शोभेति तां विदुः ॥ ९४ ॥
 वृषभस्येव गम्भीरा गतिर्धीरं च वीक्षणम् ।
 सस्मितं च वचो यत्र स विलास इतीर्यते ॥ ९५ ॥
 तन्माधुर्यं भवेद्यत्र चेष्टाऽऽदेः स्पृहणीयता ।
 मङ्गल्यं जगतामेव विश्वासास्पदता मता ॥ ९६ ॥
 व्यवसायादचलनं स्थैर्यं विघ्नाकुलादपि ।
 सर्वचित्तावगाहित्वं तेजः सद्भिरुदीर्यते ॥ ९७ ॥
 तेजो बुधैरवज्ञाऽऽदेरसहिष्णुत्वमुच्यते ।
 शृङ्गारप्रचुरा चेष्टा यत्र तं ललितं विदुः ॥ ९८ ॥
 आत्माद्यर्पणकारित्वमौदार्यमिति कीर्त्यते ।

वदान्यः को भवेदत्र वदान्यः पुरुषोत्तमाद् ॥ ९९ ॥
 अकिञ्चनाय येनात्मा निर्गुणायपि दीयते ।
 सामान्या नायकगुणाः स्थिरताऽऽद्या यदप्यमी ॥ १०० ॥
 तथाऽपि पूर्वतः किञ्चिद्विशेषात्पुनरीरिताः ।
 अस्य गगर्दयो धर्मे युयुधानादयो युधि ॥ १०१ ॥
 उद्धवाद्यास्तथा मन्त्रे सहायाः परिकीर्त्तिताः ।
 तद्भावभावितस्वान्ताः कृष्णभक्ता इतीरिताः ॥ १०२ ॥
 ये सत्यवाक्य इत्याद्या हीमानित्यन्तिमा गुणाः ।
 प्रोक्ताः कृष्णेऽस्य भक्तेषु ते विज्ञेया मनीषिभिः ॥ १०३ ॥
 ते साधकाश्च सिद्धाश्च द्विविधाः परिकीर्त्तिताः ।
 उत्पन्नरतयः सम्यङ् नैर्विघ्न्यमनुपागताः ॥ १०४ ॥
 कृष्णसाक्षात्कृतौ योग्याः साधका इति कीर्त्तिताः ।
 बिल्वमङ्गलतुल्या ये साधकास्ते प्रकीर्त्तिताः ॥ १०५ ॥
 अविज्ञाताखिलक्लेशाः सदा कृष्णाश्रितक्रियाः ।
 सिद्धाः स्युः सततप्रेमसौख्यास्वादपरायणाः ॥ १०६ ॥
 संप्राप्तसिद्धयः सिद्धा नित्यसिद्धाश्च ते द्विधा ।
 साधनैः कृपया चास्य द्विधा संप्राप्तसिद्धयः ॥ १०७ ॥
 मार्कण्डेयादयः प्रोक्ताः साधनैः प्राप्तासिद्धयः ॥ १०८ ॥
 कृपासिद्धा यज्ञपत्नीवैरोचनिशुकादयः ।
 आत्मकोटिगुणे कृष्णे प्रेमाणं परमं गताः ।
 नित्यानन्दगुणाः सर्वे नित्यसिद्धा मुकुन्दवत् ॥ १०९ ॥
 सनातनं मित्रमिति तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम् ।
 स्नेहोऽस्मास्त्विति चैतेषां नित्यप्रेष्ठत्वमागतम् ॥ ११० ॥
 इत्यतः कथिताः नित्यप्रिया यादवबल्लवाः ।
 एषां लौकिकवच्छेष्टा लीला मुररिपोरिव ॥ १११ ॥

ये प्रोक्ताः पञ्चपञ्चाशत् क्रमात्कंसरिपोर्गुणाः ।
 ते चान्ये चापि सिद्धेषु सिद्धिदत्वादयो मताः ॥ ११२ ॥
 भक्तास्तु कीर्तिताः शान्तास्तथा दाससुतादयः ।
 सखायो गुरुवर्गाश्च प्रेयस्यश्चेति पञ्चधा ॥ ११३ ॥
 उद्दीपनास्तु ते प्रोक्ता भावमुद्दीपयन्ति ये ।
 ते तु श्रीकृष्णचन्द्रस्य गुणाश्चेष्टाः प्रसाधनम् ॥ ११४ ॥
 स्मिताङ्गसौरभे वंशशृङ्गनूपुरकम्बवः ।
 पदाङ्कः क्षेत्रतुलसीभक्ततद्वासरादयः ॥ ११५ ॥
 गुणास्तु त्रिविधा प्रोक्ताः कायवाङ्मानसाश्रयाः ।
 वयःसौन्दर्यरूपाणि कायिका मृदुताऽऽदयः ॥ ११६ ॥
 गुणाः स्वरूपमेवास्य कायिकाद्या यदप्यमी ।
 भेदं स्वीकृत्य वर्ण्यन्ते तथाऽप्युद्दीपना इति ॥ ११७ ॥
 अतस्तस्य स्वरूपस्य स्यादालम्बनतैव हि ।
 उद्दीपनत्वमेव स्यात् भूषणादेस्तु केवलम् ॥ ११८ ॥
 एषामालम्बनत्वं च तथोद्दीपनताऽपि च ।
 वयः कौमारपौगण्डकैशोरमिति तत् त्रिधा ॥ ११९ ॥
 कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि ।
 आपोडशाच्च कैशोरं यौवनं स्यात्ततः परम् ॥ १२० ॥
 औचित्यात्तत्र कौमारं वक्तव्यं बत्सले रसे ।
 पौगण्डं प्रेयसि तथा तत्तत्खेलाऽऽदियोगतः ॥ १२१ ॥
 श्रेष्ठ्यमुज्ज्वल एवास्य कैशोरस्य तथाऽप्यदः ।
 प्रायः सर्वरसौचित्यादत्रोदाह्रियते क्रमात् ॥ १२२ ॥
 आद्यं मध्यं तथा शेषं कैशोरं त्रिविधं भवेत् ।
 वर्णस्योज्ज्वलता काऽपि नेत्रान्ते चारुणच्छविः ॥ १२३ ॥
 रोमावलिप्रकटता कैशोरे प्रथमे सति ।

वैजयन्तीशिखण्डादिनटप्रवरेवेषता ॥ १२४ ॥
 वंशीमधुरिमा वस्त्रशोभा चात्र परिच्छदः ।
 खरताऽत्र नखाग्राणां धनुरान्दोलिता भ्रुवोः ॥ १२५ ॥
 रदानां रञ्जनं रागचूर्णैरित्यादि चेष्टितम् ।
 ऊरुद्वयस्य बाह्वोश्च काऽपि श्रीरुरसस्तथा ॥ १२६ ॥
 मूर्त्तैर्मधुरिमाद्यं च कैशोरे सति मध्यमे ।
 मुखं स्मितविकासाल्भ्यं विभ्रमोत्तरले दृशौ ॥ १२७ ॥
 त्रिजगन्मोहनं गीतमित्यादिरिह माधुरी ।
 वैदग्धीसारविस्तारः कुञ्जकेलिमहोत्सवः ॥ १२८ ॥
 आरम्भो रासलीलाऽऽदेरिह चेष्टाऽऽदिसौष्ठवम् ।
 पूर्वतोऽप्यधिकोत्कर्षं बाढमङ्गानि विभ्रति ॥ १२९ ॥
 त्रिवलिव्यक्तिरित्याद्यं कैशोरे चरमे सति ।
 इदमेव हरेः प्राज्ञैर्नवयौवनमुच्यते ॥ १३० ॥
 अत्र गोकुलदेवीनां भावसर्वस्वशालिता ।
 अभूतपूर्वकन्दर्पतन्त्रलीलोत्सवादयः ॥ १३१ ॥
 नेतुः स्वरूपमेवोक्तं कैशोरमिह यद्यपि ।
 नानाऽऽकृतिप्रकटनात्तथाऽप्युद्दीपनं मतम् ॥ १३२ ॥
 बाल्येऽपि नवतारुण्यप्राकट्यं श्रूयते क्वचित् ।
 तत्रातिरसवाहित्वान्न रसज्ञैरुदाहृतम् ॥ १३३ ॥
 भवेत्सौन्दर्यमङ्गानां सन्निवेशो यथोचितम् ।
 विभूषणं विभूष्यं स्याद्येन तद्रूपमुच्यते ॥ १३४ ॥
 मृदुता कोमलस्यापि संस्पर्शासहतोच्यते ।
 ये नायकप्रकरणे वाचिका मानसास्तथा ॥ १३५ ॥
 गुणाः प्रोक्तास्त एवात्र ज्ञेया उद्दीपना बुधैः ।
 चेष्टा रासादिलीलाः स्युस्तथा दुष्टवधादयः ॥ १३६ ॥

कथितं वसनाकरूपमण्डनाद्यं प्रसाधनम् ।
 नवार्करश्मिकाश्मीरहरितालादिखनिभम् ॥ १३७ ॥
 युगं चतुष्कं भूयिष्ठं वसनं त्रिविधं हरेः ।
 परिधानं ससंन्यानं युगरूपमुदीरितम् ॥ १३८ ॥
 चतुष्कं कञ्चुकोष्णीषतुन्दबन्धोत्तरीयकम् ।
 खण्डिताखण्डितं भूरि नटवेशक्रियोचितम् ॥ १३९ ॥
 अनेकवर्णवसनं भूयिष्ठं कथितं बुधैः ॥
 केशबन्धनमालेपो मालाचित्रविशेषकः ॥ १४० ॥
 ताम्बूलकोलिपद्मादिराकरूपः परिकीर्तितः ।
 स्याज्जुटः कवरी चूडा वेणी च कचबन्धनम् ॥ १४१ ॥
 पाण्डुरः कर्बुरः पीत इत्यालेपस्त्रिधा मतः ।
 माला त्रिधा वैजयन्ती रत्नमाला वनस्रजः ॥ १४२ ॥
 अस्या वैकक्षिकापीडप्रालम्बाद्या भिदा मताः ।
 मकरीपत्रभङ्गाद्यं चित्रं पीतसितारुणम् ॥ १४३ ॥
 तथा विशेषकोऽपि स्यादन्यदूह्यं स्वयं बुधैः ।
 किरीटं कुण्डले हारचतुष्कीबलयोर्मयः ॥ १४४ ॥
 केयूरनूपुराद्यं च रत्नमण्डनमुच्यते ।
 कुसुमादिकृतं चेदम् अन्यमण्डनमीरितम् ॥ १४५ ॥
 धातुकल्लर्पं च तिलकं पत्रभङ्गलताऽऽदिकम् ।
 एष त्रिधा भवेद्वेणुर्मुंरली वंशिकेत्यपि ॥ १४६ ॥
 पाविकारुयो भवेद्वेणुर्द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यभाक् ।
 स्थौल्येऽङ्गुष्ठमितः षड्भिरेष रन्ध्रैः समन्वितः ॥ १४७ ॥
 हस्तद्वयमितायामा मुखरन्ध्रसमन्विता ।
 चतुःस्वरच्छिद्रयुक्ता मुरली चारुनादिनी ॥ १४८ ॥
 अर्द्धाङ्गुलान्तरोन्मानं तारादिविवराष्टकम् ।

ततः साद्वाङ्मुलाद्यत्र मुखरन्ध्रं तथाऽङ्गुलम् ॥ १४२ ॥
 शिरो वेदाङ्गुलं पुच्छं त्र्यङ्गुलं सा तु वंशिका ।
 नवरन्ध्रा स्मृता सप्तदशाङ्गुलमिता बुधैः ॥ १५० ॥
 दशाङ्गुलान्तरा स्याच्चेत् सा तारमुखरन्ध्रयोः ।
 महानन्देति विख्याता तथा संमोहनीति च ॥ १५१ ॥
 भवेत्सूर्यान्तरा सा चेत्तत आकर्षणी मता ।
 आनन्दनी तदा वंशी भवेदिन्द्रान्तरा यदि ॥ १५२ ॥
 गोपानां वल्लभा सेयं वंशुलीति च विश्रुता ।
 क्रमान्माणिमयी हैमी वैणवीति त्रिधा च सा ॥ १५३ ॥
 शृङ्गं तु गवलं हेमनिबद्धाग्निमपश्चिमम् ।
 रत्नजालस्फुरन्मध्यं मन्द्रघोषाभिधं स्मृतम् ॥ १५४ ॥
 कम्बुस्तु दाक्षिणावर्त्तः पाञ्चजन्यतथोच्यते ।

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिणविभागे भक्तिरससामान्य-
 निरूपणे विभावलहरी ॥ १ ॥

द्वितीयलहरी—

अनुभावास्तु चित्तस्थभावानामवबोधकाः ।
 ते बहिर्विक्रियाप्रायाः प्रोक्ता उद्भासुराख्यया ॥ १ ॥
 नृत्यं विलुठितं गीतं क्रोशनं तनुमोटनम् ।
 हुङ्कारो जृम्भणं श्वासभूमा लोकानपेक्षिता ॥ २ ॥
 लालासवोऽट्टहासश्च धूर्णा हिक्काऽऽदयोऽपि च ।
 ते शीताः क्षेपणाश्चेति यथाऽर्थारूपा द्विधोदिताः ॥ ३ ॥
 शीताः स्युर्गीतजृम्भाऽऽद्या नृत्याद्याः क्षेपणाभिधाः ।
 हासाद्भिन्नोऽट्टहासोऽयं चित्तविक्षेपसम्भवः ॥ ४ ॥

वपुरुत्फुल्लतारक्तोद्गमाद्याः स्युः परेऽपि ये ।

अतीव विरलत्वात्ते नैवात्र परिकीर्तिताः ॥ ५ ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिणविभागे भक्तिरससामान्य-
निरूपणेऽनुभावलहरी ॥ २ ॥

तृतीयलहरी—

कृष्णसम्बन्धिभिः साक्षात्किञ्चिद्वा व्यवधानतः ।

भावैश्चित्तमिहाक्रान्तं सत्त्वमित्युच्यते बुधैः ॥ १ ॥

सत्त्वादस्मात् समुत्पन्ना ये भावास्ते तु सात्त्विकाः ।

स्निग्धा दिग्धास्तथा रूक्षा इत्यमी त्रिविधा मताः ॥ २ ॥

स्निग्धास्तु सात्त्विका मुख्या गौणाश्चेति द्विधा मताः ।

आक्रमान्मुख्यया रत्या मुख्याः स्युः सात्त्विका अभी ॥ ३ ॥

विज्ञेयः कृष्णसम्बन्धः साक्षादेवात्र सूरिभिः ।

मुख्यः स्तम्भोऽयमित्थं ते ज्ञेयाः स्वेदादयोऽपि च ॥ ४ ॥

रत्याऽऽक्रमणतः प्रोक्ता गौणास्ते गौणभूतया ।

अत्र कृष्णस्य सम्बन्धः स्यात् किञ्चिद्व्यवधानतः ॥ ५ ॥

रतिद्वयविनाभूतैर्भावैर्मनस आक्रमात् ।

जने जातरतौ दिग्धास्ते चेद्रत्यनुगामिनः ॥ ६ ॥

कम्पो रत्यनुगामित्वादसौ दिग्ध इतीर्यते ।

मधुराश्चर्यतद्वाचोत्पन्नैर्मुद्विस्मयादिभिः ॥ ७ ॥

जाता भक्तोपमे रूक्षा रतिशून्ये जने क्वचित् ।

चित्तं सत्त्वीभवत् प्राणे न्यस्यत्यात्मानमुद्धटम् ॥ ८ ॥

प्राणस्तु विक्रियां गच्छन् देहं विक्षोभयत्यलम् ।

तदा स्तम्भादयो भावा भक्तदेहे भवन्त्यमी ॥ ९ ॥

ते स्तम्भस्वेदरोमाञ्चाः स्वरभेदोऽथ वेपथुः ।
 वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥ १० ॥
 चत्वारि क्षमाऽऽदिभूतानि प्राणो जात्ववलम्बते ।
 कदा चित्स्वप्रधानः सन् देहे चरति सर्वतः ॥ ११ ॥
 स्तम्भं भूमिस्थितः प्राणस्तनोत्यश्रु जलाश्रयः ।
 तेजस्थः स्वेदवैवर्ण्यं प्रलयं वियदाश्रितः ॥ १२ ॥
 स्वस्थ एव क्रमान्मन्दमध्यतीव्रत्वभेदभाक् ।
 रोमाञ्चकम्पवैश्वर्याण्यत्र त्रीणि तनोत्यसौ ॥ १३ ॥
 बाहिरन्तश्च विक्षोभविधायित्वादतः स्फुटम् ।
 प्रोक्ताऽनुभावताऽमीषां भावता च मनीषिभिः ॥ १४ ॥
 स्तम्भो हर्षभयाश्चर्यविषादामर्षसम्भवः ।
 तत्र वागादिराहित्यं नैश्वर्यं शून्यताऽऽदयः ॥ १५ ॥
 स्वेदो हर्षभयक्रोधादिजः स्वेदकरस्तनौ ।
 रोमाञ्चोऽयं किलाश्चर्यहर्षोत्साहभयादिजः ॥ १६ ॥
 रोम्णामभ्युद्गमस्तत्र गात्रसंस्पर्शनादयः ।
 विषादविस्मयामर्षहर्षभीत्यादिसम्भवम् ॥ १७ ॥
 वैश्वर्यं स्वरभेदः स्यादेष गद्गदिकाऽऽदिकृत् ।
 वित्रासामर्षहर्षाद्यैर्वेपथुर्गात्रलौल्यकृत् ॥ १८ ॥
 विषादरोषभीत्यादेर्वैवर्ण्यं वर्णविक्रिया ।
 भावज्ञैरत्र मालिन्यकाश्याद्या परिकीर्तिताः ॥ १९ ॥
 विषादे श्वेतिमा प्रोक्तो घौसर्यं कालिमा क चित् ।
 रोषे तु रक्तिमा भीत्यां कालिमा कापि शुक्लिमा ॥ २० ॥
 रक्तिमा लक्ष्यते व्यक्तो हर्षोद्रेकेऽपि कुत्र चित् ।
 अत्रासार्वत्रिकत्वेन नैवास्योदाहृतिः कृता ॥ २१ ॥
 हर्षरोषविषादाद्यैरश्रु नेत्रे जलोद्गमः ।

हर्षजेऽश्रुणि शीतत्वमौष्ण्यं रोषादिसम्भवे ॥ २२ ॥
 सर्वत्र नयनक्षोभरागसंमार्जनादयः ।
 प्रलयः सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः ॥ २३ ॥
 तत्रानुभावाः कथिताः महीनिपतनादयः ।
 सर्वे हि सत्त्वमूलत्वाद्भावा यद्यपि सात्त्विकाः ॥ २४ ॥
 तथाऽप्यमीषां सत्त्वैकमूलत्वात्सात्त्विकप्रथा ।
 सत्त्वस्य तारतम्यात्प्राणतनुक्षोभतारतम्यं स्यात् ॥ २५ ॥
 तत एव तारतम्यं सर्वेषां सात्त्विकानां स्यात् ।
 धूमायितास्ते ज्वलिता दीप्ता उद्दीप्तसंज्ञिताः ॥ २६ ॥
 वृद्धिं यथोत्तरं यान्तः सात्त्विकाः स्युश्चतुर्विधाः ।
 सा भूरिकालव्यापित्वं बह्वङ्गव्यापिताऽपि च ॥ २७ ॥
 स्वरूपेण तथोत्कर्ष इति वृद्धिस्त्रिधा भवेत् ।
 तत्र नेत्राम्बुवैस्वर्यवर्जानामेव युज्यते ॥ २८ ॥
 बह्वङ्गव्यापिताऽमीषां तयोः काऽपि विशिष्टता ।
 तत्राश्रूणां हगौच्छून्यकारित्वमवदातता ॥ २९ ॥
 तथा ताराऽतिवैचित्र्यवैक्षल्यविधायिता ।
 वैस्वर्यस्य तु भिन्नत्वे कौण्ड्यव्याकुलताऽऽदयः ॥ ३० ॥
 भिन्नत्वं स्थानविभ्रंशः कौण्ड्यं स्यात्सन्नकण्ठता ।
 व्याकुलत्वं तु नानोच्चनीचगुप्तविलुप्तता ॥ ३१ ॥
 प्रायो धूमायिता एव रूक्षास्तिष्ठन्ति सात्त्विकाः ।
 सर्वानन्दचमत्कारहेतुर्भावो वरो रतिः ॥ ३२ ॥
 एते हि तद्विनाभावान्न चमत्कारिताऽऽश्रयाः ।
 अद्वितीया अमी भावा अथ वा सद्वितीयकाः ॥ ३३ ॥
 ईषद्व्यक्ता अपन्होतुं शक्या धूमायिता मताः ।
 ते द्वौ त्रयो वा युगपद्यान्तः सुप्रकटा दशाम् ॥ ३४ ॥

शक्याः कृच्छ्रेण निन्द्योतुं ज्वलिता इति कीर्तिताः ।

प्रौढां त्रिचतुरा व्यक्तिं पञ्च वा युगपद्गताः ॥ ३५ ॥

संवरीतुमशक्यास्ते दीप्ता धौरुरुदाहताः ।

एकदा व्यक्तिमापन्नाः पञ्चषाः सर्व एव वा ॥ ३६ ॥

आरूढाः परमोत्कर्षमुद्गीप्ता इति शब्दिताः ।

उद्गीप्ता एव सूद्गीप्ता महाभावे भवन्त्यमी ॥ ३७ ॥

सर्व एव परां कोटिं सात्त्विका यत्र विभ्रति ।

अथात्र सात्त्विकाभासां विलिख्यन्ते चतुर्विधाः ॥ ३८ ॥

रत्याभासभवास्ते तु सत्त्वाभासभवास्तथा ।

निःसत्त्वाश्च प्रतीपाश्च यथापूर्वममी वराः ॥ ३९ ॥

सुमुक्षुप्रमुखेष्वद्या रत्याभासात्पुरोदितात् ।

मुद्विस्मयादेराभासः प्रोद्यन् जात्या इत्येव हृदि ॥ ४० ॥

सत्त्वाभास इति प्रोक्तः सत्त्वाभासभवास्ततः ।

जरन्मीमांसकस्यापि शृण्वतः कृष्णविभ्रमम् ॥ ४१ ॥

हृष्टायमानमनसो बभूवोत्पुलकं वपुः ।

निसर्गोपिच्छिलस्वान्ते तदभ्यासपरेऽपि च ॥ ४२ ॥

सत्त्वाभासं विनाऽपि स्युः काप्यश्रुपुलकादयः ।

प्रकृत्या शिथिलं येषां मनः पिच्छिलमेव वा ॥ ४३ ॥

तेष्वेव सात्त्विकाभासः प्रायः संसदि जायते ।

हितादन्यत्र कृष्णस्य प्रतीपाः क्रुद्धयादिभिः ॥ ४४ ॥

नास्त्यर्थः सात्त्विकाभासकथने कोऽपि यद्यपि ।

सात्त्विकानां विवेकाय दिक् तथाऽपि प्रदर्शिता ॥ ४५ ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिणविभागे भक्तिरससामान्य-

निरूपणे सात्त्विकलहरी ॥ ३ ॥

चतुर्थलहरी—

अथोच्यन्ते त्रयस्त्रिंशद्भावा ये व्यभिचारिणः ।
 विशेषेणाभिमुख्येन चरन्ति स्थायिनं प्रति ॥ १ ॥
 वागङ्गसत्त्वसूच्या ये ज्ञेयास्ते व्यभिचारिणः ।
 संचारयन्ति भावस्य गतिं संचारिणोऽपि ते ॥ २ ॥
 उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति स्थायिन्यमृतवारिधौ ।
 ऊर्मिबद्धद्वयन्त्येनं यान्ति तद्रूपतां च ते ॥ ३ ॥
 निर्वेदोऽथ विषादो दैन्यं ग्लानिश्रमौ च मदगर्वौ ।
 शङ्कात्रासावेगा उन्मादापस्मृती तथा व्याधिः ॥ ४ ॥
 मोहो मृतिरालस्यं जाड्यं ब्रीडाऽवहित्था च ।
 स्मृतिरथ वितर्कचिन्तामतिघृतयो हर्ष उत्सुकत्वं च ॥ ५ ॥
 औग्यामर्षासूयाश्चापल्यं चैव निद्रा च ।
 सुसिर्बोध इतीमे भावा व्यभिचारिणः समाख्याताः ॥ ६ ॥
 महाऽऽर्त्तिविप्रयोगेर्ष्यासद्विवेकादिकल्पितम् ।
 स्वावमाननमेवात्र निर्वेद इति कथ्यते ॥ ३७ ॥
 अत्र चिन्ताऽश्रुवैवर्ण्यदैन्यानिश्वसितादयः ।
 अमङ्गलमपि प्रोच्य निर्वेदं प्रथमं मुनिः ॥ ८ ॥
 मेनेऽमुं स्थायिनं शान्त इति जल्पन्ति के चन ।
 इष्टानवासिप्रारब्धकार्यसिद्धिविपत्तिः ॥ ९ ॥
 अपराधादितोऽपि स्यादनुतापो विषण्णता ।
 अत्रोपायसहायानुसंधिश्चिन्ता च रोदनम् ॥ १० ॥
 विलापश्वासवैवर्ण्यमुखशोषादयोऽपि च ।
 दुःखत्रासापराधाद्यैरनौर्जित्यं तु दीनता ॥ ११ ॥
 चाटुकृन्मान्धमालिन्यचिन्ताऽङ्गजडिमादिकृत् ।
 ओजः सोमात्मकं देहे बलपुष्टिकृदस्य तु ॥ १२ ॥

क्षयाच्छ्रमाधिरत्याद्यैर्ग्लानिर्निष्प्राणता मता ।

कम्पाङ्गजाड्यवैवर्ण्यकार्श्यदृग्भ्रमणादिकृत् ॥ १३ ॥

अध्वनृत्यरताद्युत्थः खेदः श्रम इतीर्यते ।

निद्रास्वेदाङ्गसंमर्दजृम्भाश्वासादिभागसौ ॥ १४ ॥

विवेकहर उल्लाभो मदः स द्विविधो मतः ।

मधुपानभवोऽनङ्गविक्रियाभरजोऽपि च ॥ १५ ॥

गत्यङ्गवाणीस्खलनदृग्घूर्णारक्तिमादिकृत् ।

उत्तमस्तु मदाच्छेते मध्यो हसति गायति ॥ १६ ॥

कनिष्ठः क्रोशति स्वैरं परुषं वाक्ति रोदिति ।

मदोऽपि त्रिविधः प्रोक्तस्तरुणादिप्रभेदतः ॥ १७ ॥

अत्र नात्युपयोगित्वाद्विस्तार्य न हि वर्णितः ।

सौभाग्यरूपतारूप्यगुणसर्वोत्तमाश्रयैः ॥ १८ ॥

इष्टलाभादिना चान्यहेलनं गर्व ईर्यते ।

तत्र सोऽलुण्ठवचनं लीलाऽनुत्तरदायिता ॥ १९ ॥

स्वाङ्गेश्वा निन्हवोऽन्यस्य वचनाश्रवणादयः ।

स्वीयचौर्यापराधादेः परक्रौर्यादितस्तथा ॥ २० ॥

स्वानिष्टोत्प्रेक्षणं यत्तु सा शङ्केत्याभिधीयते ।

अत्रास्यशोषवैवर्ण्यदिक्प्रेक्षालीनताऽऽदयः ॥ २१ ॥

शङ्का तु प्रवरस्त्रीणां भीरुत्वाद्वयकृद्भवेत् ।

त्रासः क्षोभो हृदि तडिद्घोरसत्त्वोग्रनिस्वनैः ॥ २२ ॥

पाश्चस्थालम्बरोमाञ्चकम्पस्तम्भभ्रमादिकृत् ।

गात्रोत्कम्पी मनःकम्पः सहसा त्रास उच्यते ॥ २३ ॥

पूर्वापरविचारोत्थं भयं त्रासात्पृथग्भवेत् ।

चित्तस्य संभ्रमो यः स्यादावेगोऽयं स चाष्टधा ॥ २४ ॥

प्रियाप्रियानलमरुद्दर्पोत्पातगजारितः ।

प्रियोत्थे पुलकः सान्त्वं चापलाभ्युद्गमादयः ॥ २५ ॥

अप्रियोत्थे तु भूपातविक्रोशभ्रमणादयः ।

व्यत्यस्तगतिकम्पाक्षिमीलनास्त्रादयोऽग्निजे ॥ २६ ॥

वातजेऽङ्गावृत्तिक्षिप्रगतिदृड्मार्जनादयः ।

वृष्टिजो धावनच्छत्रगात्रसंकोचनादिकृत् ॥ २७ ॥

उत्पाते मुखवैवर्ण्यविस्मयोत्कम्पिताऽऽदयः ।

गाजे पलायनोत्कम्पत्रासपृष्ठेक्षणादयः ॥ २८ ॥

अरिजो वर्म्मशस्त्रादिग्रहापसरणादिकृत् ।

गजेन दुष्टसत्त्वोऽन्योऽप्यश्वादिरुपलक्ष्यते ॥ २९ ॥

आवेगाभास एवायं पराश्रयतयाऽपि चेत् ।

नायकोत्कर्षबोधाय तथाऽऽप्यत्र निदर्शितः ॥ ३० ॥

उन्मादौ हृद्भ्रमः प्रौढानन्दापद्विरहाधिजः ।

अत्रादहासो नटनं सङ्गीतं व्यर्थचेष्टितम् ॥ ३१ ॥

प्रलापधावनाक्रोशविपरीतक्रियाऽऽदयः ।

उन्मादः पृथगुक्तोऽयं व्याधिष्वन्तर्भवन्नपि ॥ ३२ ॥

यत्तत्र विप्रलम्भादौ वैचित्र्यं कुरुते पराम् ।

अधिरूढे महाभावे मोहनत्वमुपागते ॥ ३३ ॥

अवस्थाऽन्तरमाप्तोऽसौ दिव्योन्माद इतीर्यते ।

दुःखोत्थो वातवैषम्याद्युद्भूतश्चित्तविप्लवः ॥ ३४ ॥

अपस्मारोऽत्र पतनं धावनास्फोटनभ्रमाः ।

कम्पः फेनस्फुतिर्बाहुक्षेपोऽथ क्रोशनादयः ॥ ३५ ॥

उन्मादवदिह व्याधिविशेषोऽप्येष वर्णितः ।

परां भयानकाभासे यत्करोति चमत्कृतिम् ॥ ३६ ॥

दोषोद्रेकवियोगाद्यैर्व्याधयो ये ज्वरादयः ।

इह तत्प्रभवो भावो व्याधिरित्यभिधीयते ॥ ३७ ॥

अत्र स्तम्भश्लथाङ्गत्वश्चासोत्तापकलमादयः ।
 मोहो हन्मूढता हर्षाद्विश्लेषाद्भयतस्तथा ॥ ३८ ॥
 विषादादेश्च तत्र स्याद्देहस्य पतनं भुवि ।
 शून्येन्द्रियत्वं भ्रमणं तथा निश्चेष्टतामयः ॥ ३९ ॥
 अस्यान्यत्रात्मपर्यन्ते स्यात्सर्वत्रैव मूढता ।
 कृष्णस्फूर्तिविशेषस्तु न कदाऽप्यत्र लीयते ॥ ४० ॥
 विषादव्याधिसंत्राससम्प्रहारकलमादिभिः ।
 प्राणत्यागो मृतिस्तस्यामव्यक्ताक्षरभाषणम् ॥ ४१ ॥
 विवर्णगात्रताश्वासमान्द्यहिक्काऽऽदयः क्रियाः ।
 प्रायोऽत्र मरणापूर्वा चित्तवृत्तिर्मृतिर्मता ॥ ४२ ॥
 मृतिरत्रानुभावः स्यादिति केन चिदुच्यते ।
 किन्तु नायकवीर्यार्थं शत्रौ मरणमुच्यते ॥ ४३ ॥
 सामर्थ्यस्यापि सद्भावे क्रियाऽनुमुखता हि या ।
 तृप्तिश्रमादिसम्भूता तदालभ्यमुदीर्यते ॥ ४४ ॥
 अत्राङ्गभङ्गो जृम्भा च क्रियाद्वेषोऽक्षिमर्दनम् ।
 शय्याऽऽसनैकप्रियता तन्द्रानिद्राऽऽदयोऽपि च ॥ ४५ ॥
 जाड्यमप्रतिपत्तिः स्यानिष्टानिष्टश्रुतीक्षणैः ।
 विरहाद्यैश्च तन्मोहात्पूर्वावस्था पराऽपि च ॥ ४६ ॥
 अत्रानिमिषता तूष्णींभावविस्मरणादयः ।
 नवीनसङ्गमाकार्यस्तवावज्ञादिना कृता ॥ ४७ ॥
 अधृष्टता भवेद् ब्रीडा तत्र मौनं विचिन्तनम् ।
 अवगुण्ठमूलेखौ तथाऽघोमुखताऽऽदयः ॥ ४८ ॥
 अवहित्थाऽऽकारगुप्तिर्भवेद्भावेन केन चित् ।
 अत्राङ्गादेः पराभ्यूहस्थानस्य परिगूहनम् ॥ ४९ ॥
 अन्यत्रेक्षा वृथाचेष्टा वाग्भङ्गीत्यादयः क्रियाः ।

अनुभावपिधानार्थोऽवहित्थं भाव उच्यते ॥ ५० ॥
 हेतुः कश्चिद्भवेत् कश्चिद्गोप्यः कश्चन गोपनः ।
 इति भावत्रयस्यात्र विनियोगः समीक्ष्यते ॥ ५१ ॥
 हेतुत्वं गोपनत्वं च गोप्यत्वं चात्र सम्भवेत् ।
 प्रायेण सर्वभावानामेकशोऽनेकशोऽपि च ॥ ५२ ॥
 या स्यात् पूर्वानुभूतार्थप्रतीतिः सदृशेक्षया ।
 दृढाभ्यासादिना वाऽपि सा स्मृतिः परिकीर्तिता ॥ ५३ ॥
 भवेदत्र शिरःकम्पो भ्रूविक्षेपादयोऽपि च ।
 विमर्शात् संशयादेश्च वितर्कस्तूह उच्यते ॥ ५४ ॥
 एष भ्रूक्षेपणशिरोऽङ्गुलिसञ्चालनादिकृत् ।
 विनिर्णयान्त एवायं तर्क इत्युचिरे परे ॥ ५५ ॥
 ध्यानं चिन्ता भवेदिष्टानाप्यनिष्टासिनिर्मितम् ।
 श्वासाधोमुखभूलेखवैवर्ण्योन्निद्रता इह ॥ ५६ ॥
 विलापोत्तापकृशताबाष्पदेन्यादयोऽपि च ।
 शास्त्रादीनां विचारोत्थमर्थनिर्धारणं मतिः ॥ ५७ ॥
 अत्र कर्त्तव्यकरणं संशयभ्रमयोश्छिदा ।
 उपदेशश्च शिष्याणामूहापोहादयोऽपि च ॥ ५८ ॥
 धृतिः स्यात्पूर्णज्ञानदुःखाभावोत्तमाप्तिमिः ।
 अप्राप्तातीतनष्टार्थानभिसंशोचनादिकृत् ॥ ५९ ॥
 अभीष्टेक्षणलाभादिजाता चेतःप्रसन्नता ।
 हर्षः स्यादिह रोमाञ्चः स्वेदोऽश्रु मुखफुल्लता ॥ ६० ॥
 आवेगोन्मादजडतास्तथा मोहादयोऽपि च ।
 कालाक्षमत्वमौत्सुक्यमिष्टेक्षाऽऽसिस्पृहाऽऽदिमिः ॥ ६१ ॥
 मुखशोषत्वराचिन्तानिश्वासास्थिरताऽऽदिकृत् ।
 अपराधदुरुक्त्यादिजातं चण्डत्वमुग्रता ॥ ६२ ॥

वधबन्धशिरःकम्पभर्त्सनोत्ताडनादिकृत् ।
 अधिक्षेपापमानादेः स्यादमर्षोऽसहिष्णुता ॥ ६३ ॥
 तत्र स्वेदः शिरःकम्पो विवर्णत्वं विचिन्तनम् ।
 उपायान्वेषणाक्रोशवैमुख्योत्ताडनादयः ॥ ६४ ॥
 द्वेषः परोदयेऽसूया स्यात्सौभाग्यगुणादिभिः ।
 तत्रेर्ष्याऽनादराक्षेपा दोषारोपो गुणेष्वपि ॥ ६५ ॥
 अपवृत्तिस्तिरोवीक्षा भ्रुवो भङ्गुरताऽऽदयः ।
 रागद्वेषादिभिश्चित्तलाघवं चापलं भवेत् ॥ ६६ ॥
 तत्राविचारपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः ।
 चिन्तालस्यनिसर्गकलमादिभिश्चित्तमीलनं निद्रा ॥ ६७ ॥
 तत्राङ्गभङ्गजृम्भाजाल्यश्वासाक्षिमीलनानि स्युः ।
 युक्ताऽस्य स्फूर्तिमात्रेण निर्विशेषेण केन चित् ॥ ६८ ॥
 हृन्मीलनात्पुरोऽवस्था निद्रा भक्तेषु कथ्यते ।
 सुप्तिर्निद्राविभावा स्यान्नानाऽर्थानुभवात्मिका ॥ ६९ ॥
 इन्द्रियोपरतिश्वासनेत्रसमीलनादिकृत् ।
 अविद्यामोहनिद्रादिध्वंसाद् बोधः प्रबुद्धता ॥ ७० ॥
 अविद्याध्वंसतो बोधो विद्योदयपुरःसरः ।
 अशेषक्लेशविश्रान्तिस्वरूपावगमादिकृत् ॥ ७१ ॥
 बोधो मोहक्षयाच्छब्दगन्धस्पर्शरसैर्हरेः ।
 दृग्गुन्मीलनरोमाञ्चाधरोत्थानादिकृद्भवेत् ॥ ७२ ॥
 बोधो निद्राक्षयात्स्वप्ननिद्रापूर्तिस्वनादिभिः ।
 तत्राक्षिर्मर्दनं शय्यामोक्षोऽङ्गवलनादयः ॥ ७३ ॥
 इति भावाख्यार्थशक्त्यति व्यभिचारिणः ।
 श्रेष्ठमध्यकनिष्ठेषु वर्णनीया यथोचितम् ॥ ७४ ॥
 मात्सर्योद्वेगदम्भेर्ष्या विवेको निर्णयस्तथा ।

क्लैव्यं क्षमा च कुतुकमुत्कण्ठा विनयोऽपि च ॥ ७५ ॥
 संशयो धाष्ट्यमत्याद्या भावा ये स्युः परेऽपि च ।
 उक्तेष्वन्तर्भवन्तीति न पृथक्त्वेन दर्शिताः ॥ ७६ ॥
 असूयायां तु मात्सर्यं त्रासेऽप्युद्वेग एव तु ।
 दम्भस्तथाऽवाहितायामीर्ष्याऽमर्षं मतावुभौ ॥ ७७ ॥
 विवेको निर्णयश्चमौ दैन्ये क्लैव्यं क्षमा धृतौ ।
 औत्सुक्ये कुतुकोत्कण्ठे लज्जायां विनयस्तथा ॥ ७८ ॥
 संशयोऽन्तर्भवेत्तर्के तथा धाष्ट्यं च चापले ।
 एषां संचारिभावानां मध्ये कश्चन कस्य चित् ॥ ७९ ॥
 विभावश्चानुभावश्च भवेदेव परस्परम् ।
 निर्वेदे तु यथेष्ट्याया मवेदत्र विभावता ॥ ८० ॥
 असूयायां पुनस्तस्या व्यक्तमुक्ताऽनुभावता ।
 औत्सुक्यं प्रति चिन्तायाः कथिताऽत्रानुभावता ॥ ८१ ॥
 निद्रां प्रति विभावत्वमेवं ज्ञेयाः परेऽप्यमी ।
 एषां च सात्त्विकानां च तथा नानाक्रियाततेः ॥ ८२ ॥
 कार्यकारणभावस्तु ज्ञेयः प्रायेण लोकतः ।
 निन्दायास्तु विभावत्वं वैवर्ण्यामर्षयोर्मतम् ॥ ८३ ॥
 असूयायां पुनस्तस्याः कथितैवानुभावता ।
 प्रहारस्य विभावत्वं संमोहप्रलयौ प्रति ॥ ८४ ॥
 औगम्यं प्रत्यनुभावत्वमेवं ज्ञेयाः परेऽपि च ।
 त्रासनिद्राश्रमालस्यमदमिद्बोधवर्जिनाम् ॥ ८५ ॥
 संचारिणामिह कापि भवेद्रत्यनुभावता ॥ ८६ ॥
 साक्षाद्रतेन सम्बन्धः षड्भिस्त्रासादिभिः सह ।
 स्यात्परम्परया किन्तु लीलाऽनुगुणताकृते ॥ ८७ ॥
 वितर्कमतिनिर्वेदधृतीनां स्मृतिहर्षयोः ।

बोधभिदैन्यमुत्तीनां क चिद्वतिविभावता ॥ ८८ ॥
 परतन्त्राः स्वतन्त्राश्चेत्युक्ताः संचारिणो द्विधा ॥
 वरावरतया प्रोक्ताः परतन्त्रा अपि द्विधा ॥ ८९ ॥
 साक्षाद् व्यवहितश्चेति वरोऽप्येष द्विधोदितः ।
 मुख्यामेव रतिं पुष्पन् साक्षादित्यभिधीयते ॥ ९० ॥
 पुष्पाति यो रतिं गौणीं स तु व्यवहितो मतः ।
 निर्वेदः क्रोधवश्यत्वादयं व्यवहितो रतेः ॥ ९१ ॥
 रसद्वयस्याप्यङ्गत्वमगच्छन्नवरो मतः ।
 घोरक्रियाऽऽद्यनुभवादाच्छाद्य सहजां रतिम् ॥ ९२ ॥
 दुर्बाराऽऽविरभूद्भीतिमोहोऽयं भीवशस्ततः ।
 सदैव पारतन्त्र्येऽपि क चिदेषां स्वतन्त्रता ॥ ९३ ॥
 भूपालसेवकस्येव प्रवृत्तस्य करग्रहे ।
 भावज्ञै रतिशून्यश्च रत्यनुस्पर्शनस्तथा ॥ ९४ ॥
 रतिगन्धिश्च ते त्रेधा स्वतन्त्राः परिकीर्त्तिताः ।
 जनेषु रतिशून्येषु रतिशून्यो भवेदसौ ॥ ९५ ॥
 यः स्वतो रतिगन्धेन विहीनोऽपि प्रसङ्गतः ।
 पश्चाद्रतिं स्पृशेदेष रत्यनुस्पर्शनो मतः ॥ ९६ ॥
 यः स्वान्तज्येऽपि तद्गन्धं रतिगन्धिर्व्यनाक्ति सः ।
 आभासः पुनरेतेषामस्थाने वृत्तितो भवेत् ॥ ९७ ॥
 प्रातिकूल्यमनौचित्यमस्थानत्वं द्विधोदितम् ।
 विपक्षे वृत्तिरेतेषां प्रातिकूल्यमितीर्यते ॥ ९८ ॥
 असत्यत्वमयोग्यत्वमनौचित्यं द्विधा भवेत् ।
 अप्राणिनि भवेदाद्यं तिर्य्यगादियु चान्तिमम् ॥ ९९ ॥
 बहमानेष्वपि सदा ज्ञानविज्ञानमाधुरीम् ।
 कदम्बादिषु सामान्यदृष्ट्याऽऽभासत्वमुच्यते ॥ १०० ॥

भावानां क चिदुत्पत्तिसन्धिशावल्यशान्तयः ।

दशाश्चतस्र एतासामुत्पत्तिस्त्विह सम्भवः ॥ १०१ ॥

सरूपयोर्मिन्नयोर्वा सन्धिः स्याद्भावयोर्युतिः ।

सन्धिः सरूपयोस्तन्नामिन्नहेतूत्थयोर्मतः ॥ १०२ ॥

मिन्नयोर्हेतुनैकेन मिन्नेनाप्युपजातयोः ।

एकेन जायमानानामनेकेन च हेतुना ॥ १०३ ॥

बहूनामपि भावानां सन्धिः स्फुटमवेक्ष्यते ।

शबलत्वं तु भावानां सम्मर्हः स्यात्परस्परम् ॥ १०४ ॥

अत्यारूढस्य भावस्य विलयः शान्तिरुच्यते ।

शब्दार्थरसवैवित्री वाचि का च न नास्ति मे ॥ १०५ ॥

यथा कथं चिदेवोक्तं भावोदाहरणं परम् ।

त्रयस्त्रिंशदिमेऽष्टौ च वक्ष्यन्ते स्थायिनश्च ये ॥ १०६ ॥

मुख्यभावाभिधास्त्वेकचत्वारिंशदमी स्मृताः ।

शरीरेन्द्रियवर्गस्य विकाराणां विधायकाः ॥ १०७ ॥

भावा विभावजानिताश्चित्तवृत्तय ईरिताः ।

क चित्स्वाभाविको भावः कश्चिदागन्तुकः क चित् ॥ १०८ ॥

यस्तु स्वाभाविको भावः स व्याप्यान्तर्बहिःस्थितः ।

मल्लिष्ठाऽऽद्ये यथा द्रव्ये रागस्तन्मय ईक्ष्यते ॥ १०९ ॥

अत्र स्यान्नाममात्रेण विभावस्य विभावता ।

एतेन सहजेनैव भावेनानुगता रतिः ॥ ११० ॥

एकरूपाऽपि या भक्ते विविधा प्रतिभात्यसौ ।

आगन्तुकस्तु यो भावः पटादौ रक्तिमेव सः ॥ १११ ॥

तैस्तैर्विभावैरेवायं धीयते दीप्यतेऽपि च ।

विभावनादिवैशिष्ट्याद्भक्तानां भेदतस्तथा ॥ ११२ ॥

प्रायेण सर्वभावानां वैशिष्ट्यमुपजायते ।

विविधानां तु भक्तानां वैशिष्ट्याद्विविधं मनः ॥ ११३ ॥

मनोऽनुसाराद्भवानां तारतम्यं किलोदये ।

चित्ते गरिष्ठे गम्भीरे महिष्ठे कर्कशादिके ॥ ११४ ॥

सम्यगुन्मीलिताश्चामी न लक्ष्यन्ते स्फुटं जनैः ।

चित्ते लघिष्ठे चोत्ताने क्षोदिष्ठे कोमलादिके ॥ ११५ ॥

मनागुन्मीलिताश्चामी लक्ष्यन्ते बहिरुत्थिताः ।

गरिष्ठं स्वर्णपिण्डाभं लघिष्ठं तूलपिण्डवत् ॥ ११६ ॥

चित्तयुग्मेऽत्र विज्ञेया भावस्य पवनोपमा ।

गम्भीरं सिन्धुवाच्चित्तमुत्तानं परवलादिवत् ॥ ११७ ॥

चित्तद्वयेऽत्र भावस्य महाद्रिशिखरोपमा ।

पत्तनाभं महिष्ठं स्यात् क्षोदिष्ठं तु कुटीरवत् ॥ ११८ ॥

चित्तयुग्मेऽत्र भावस्य दीपेनेभेन वोपमा ।

कर्कशं त्रिविधं प्रोक्तं वज्रं स्वर्णं तथा जतु ॥ ११९ ॥

चित्तत्रयेऽत्र भावस्य ज्ञेया वैश्वानरोपमा ।

अत्यन्तकठिनं वज्रमकुतश्चनमार्दवम् ॥ १२० ॥

ईदृशं तापसादीनां चित्तं तावदवेक्ष्यते ।

स्वर्णं द्रवति भावाग्नेस्तापेनातिगरीयसा ॥ १२१ ॥

जतु द्रवत्वमायाति तापलेशेन सर्वतः ।

कोमलं च त्रिधैवोक्तं मदनं नवनीतकम् ॥ १२२ ॥

अमृतं चैति भावोऽत्र प्रायः सूर्यातपायते ।

द्रवेदत्राद्ययुगलमातपेन यथायथम् ॥ १२३ ॥

द्रवीभूतं स्वभावेन सर्वदैवामृतं भवेत् ।

गोविन्दप्रेष्ठवर्याणां चित्तं स्यादमृतं किल ॥ १२४ ॥

कृष्णभक्तविशेषस्य गरिष्ठत्वादिभिर्गुणैः ।

समवेतं सदाऽमीभिर्द्वित्रैरपि मनो भवेत् ॥ १२५ ॥

किन्तु सुष्ठु महिष्ठत्वं भावो बाढमुपागतः ।

सर्वप्रकारमेवेदं चित्तं विक्षोभयत्यलम् ॥ १२६ ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिणविभागे भक्तिरससामान्यनि-
रूपणे व्यभिचारिलहरी ॥ ४ ॥

पञ्चमलहरी—

अविरुद्धान् विरुद्धांश्च भावान् यो वशतां नयन् ।

सुराजेव विराजेत स स्थायी भाव उच्यते ॥ १ ॥

स्थायी भावोऽत्र सम्प्रोक्तः श्रीकृष्णविषया रतिः ।

मुख्या गौणी च सा द्वेधा रसज्ञैः परिकीर्तिता ।

शुद्धसत्त्वविशेषात्मा रतिर्मुख्येति कीर्तिता ।

मुख्याऽपि द्विविधा स्वार्था परार्था चेति कीर्त्यते ॥ ३ ॥

अविरुद्धैः स्फुटं भावैः पुष्पात्यात्मानमेव या ।

विरुद्धैर्दुःशकलानिः सा स्वार्था कथिता रतिः ॥ ४ ॥

अविरुद्धं विरुद्धं च सङ्कुचन्ती स्वयं रतिः ।

या भावमनुगृह्णाति सा परार्था निगद्यते ॥ ५ ॥

शुद्धा प्रीतिस्तथा सख्यं वात्सल्यं प्रियतेत्यसौ ।

स्वपरार्थैव सा मुख्या पुनः पञ्चविधा भवेत् ॥ ६ ॥

वैशिष्ट्यं पात्रवैशिष्ट्याद्रतिरेषोपगच्छति ।

यथाऽर्कः प्रतिबिम्बात्मा स्फटिकादिषु वस्तुषु ॥ ७ ॥

सामान्याऽसौ तथा स्वच्छा शान्तिश्चेत्यादिमा त्रिधा ।

एषाऽङ्गकम्पतानेत्रमीलनोन्मीलनादिकृत् ॥ ८ ॥

कञ्चिद्विशेषमप्राप्ता साधारणजनस्य या ।

बालिकाऽऽदेश्च कृष्णे स्यात् सामान्या सा रतिर्मता ॥ ९ ॥

तत्तत्साधनतो नानाविधभक्तप्रसङ्गतः ।

साधकानां तु वैविध्यं यान्ती स्वच्छा रतिर्मता ॥ १० ॥

यदा यादृशि भक्ते स्यादासक्तिस्तादृशं तदा ।

रूपं स्फटिकवद्धत्ते स्वच्छाऽसौ तेन कीर्तिता ॥ ११ ॥

अनाचान्तधियां तत्तद्भावनिष्ठा सुखार्णवे ।

आर्याणामतिशुद्धानां प्रायः स्वच्छा रतिर्भवेत् ॥ १२ ॥

मानसे निर्विकल्पत्वं शम इत्यभिधीयते ।

विहाय विषयैन्मुख्यं निजानन्दस्थितिर्यतः ॥ १३ ॥

आत्मनः कथ्यते सोऽत्र स्वभावः शम इत्यसौ ।

प्रायः शमप्रधानानां ममतागन्धवर्जिता ॥ १४ ॥

परमात्मतया कृष्णे जाता शान्ती रतिर्मता ।

अग्रतो वक्ष्यमाणैस्तु स्वादैः प्रीत्यादिसंश्रयैः ॥ १५ ॥

रतेरस्या असम्पर्कादियं शुद्धेति भण्यते ।

अथ भेदत्रयी हृद्या रतेः प्रीत्यादिरीर्यते ॥ १६ ॥

गाढानुकूलतोत्पन्ना ममत्वेन सदाश्रिता ।

कृष्णभक्तेष्वनुग्राह्यसाखिपूज्येष्वनुक्रमात् ॥ १७ ॥

त्रिविधेषु त्रयी प्रीतिः सख्यं बत्सलतेत्यसौ ।

अत्र नेत्रादिफुल्लत्वजृम्भणोद्घूर्णनादयः ॥ १८ ॥

केवला सङ्कुला चेति द्विविधेयं रतित्रयी ।

रत्यन्तरस्य गन्धेन वर्जिता केवला भवेत् ॥ १९ ॥

ब्रजानुगे रसालादौ श्रीदामादौ वयस्यके ।

गुरौ च ब्रजनाथादौ क्रमेणैव स्फुरत्यसौ ॥ २० ॥

एषां द्वयोस्त्रयाणां वा संनिपातस्तु सङ्कुला ।

उद्धकादौ च भीमादौ मुखराऽऽदौ क्रमेण सा ॥ २१ ॥

यस्याधिक्यं भवेद्यत्र स तेन व्यपदिश्यते ।

स्वस्माद्भवन्ति ये न्यूनास्तेऽनुग्राह्या हरेर्मताः ॥ २२ ॥
 आराध्यत्वात्मिका तेषां रतिः प्रीतिरितारिता ।
 तत्रासक्तिकृदन्यत्र प्रीतिसंहारिणी ह्यसौ ॥ २३ ॥
 ये स्युस्तुल्या मुकुन्दस्य ते सखायः सतां मताः ।
 साम्याद्विश्रम्भरूपैषां रतिः सख्यमिहोच्यते ॥ २४ ॥
 परीहासप्रहासादिकारिणीयमयन्त्रणा ।
 गुरवो ये हरेरस्य ते पूज्या इति विश्रुताः ॥ २५ ॥
 अनुग्रहमयी तेषां रतिर्बात्सल्यमुच्यते ।
 इदं लालनभव्याशीश्चिबुकस्पर्शनादिकृत् ॥ २६ ॥
 मिथो हरेर्मृगाक्ष्याश्च सम्भोगस्यादिकारणम् ।
 मधुरापरपर्याया प्रियताऽऽख्योदिता रतिः ॥ २७ ॥
 अस्यां कटाक्षभ्रूक्षेपप्रियवाणीस्मितादयः ।
 यथोत्तरमसौ स्वादविशेषोल्लासमय्यपि ॥ २८ ॥
 रतिर्वासनया स्वाद्वी भासते काऽपि कस्य चित् ।
 विभावोत्कर्षर्जा भावविशेषो योऽनुगृह्यते ॥ २९ ॥
 सङ्कुचन्त्या स्वयं रत्या स गौणी रतिरुच्यते ।
 हासो विस्मय उत्साहः शोकः क्रोधो भयं तथा ॥ ३० ॥
 जुगुप्सा चेत्यसौ भावविशेषः सप्तधोदितः ।
 अपि कृष्णविभावत्वमाद्यषट्कस्य सम्भवेत् ॥ ३१ ॥
 स्यादेहादिविभावत्वं सप्तम्यास्तु रतेर्वशात् ।
 हासादावत्र भिन्नोऽपि शुद्धसत्त्वविशेषतः ॥ ३२ ॥
 परार्थाया रतेर्योगाद्रतिशब्दः प्रयुज्यते ।
 हासोत्तरा रतिर्या स्यात्सा हासरतिरुच्यते ॥ ३३ ॥
 एवं विस्मयरस्याद्या विज्ञेया रतयश्च षट् ।
 कं चित्कालं क चिद्भक्ते हासाद्याः स्थायिताममी ॥ ३४ ॥

रत्या चारुकृता यान्ति तल्लीलाऽऽद्यनुसारतः ।

तस्मादनियताधाराः सप्त सामयिका इमे ॥ ३५ ॥

सहजा अपि लीयन्ते बलिष्ठेन तिरस्कृता ।

काऽप्यव्यभिचरन्ती सा स्वाधारान् स्वस्वरूपतः ॥ ३६ ॥

रतिरात्यन्तिकस्थायी भावो भक्तजनेऽखिले ।

स्युरेतस्या विनाभावाद्भावाः सर्वे निरर्थकाः ॥ ३७ ॥

विपक्षादिषु यान्तोऽपि क्रोधाद्या स्थायितां सदा ।

लभन्ते रतिशून्यत्वान्न भक्तिरसयोग्यताम् ॥ ३८ ॥

अविरुद्धैरपि स्पृष्टा भावाः सञ्चारिणोऽखिलाः ।

निर्वेदाद्या विलीयन्ते नार्हन्ति स्थायितां ततः ॥ ३९ ॥

इत्यतो मतिगर्वादिभावानां घटते न हि ।

स्थायिता कैश्चिदिष्टाऽपि प्रमाणं तत्र तद्विदः ॥ ४० ॥

सप्त हासादयस्त्वेते तैस्तैर्नाताः सुपुष्टताम् ।

भक्तेषु स्थायितां यान्तो रुचिमेभ्यो वितन्वते ॥ ४१ ॥

अष्टानामेव भावानां संस्काराधायिता मता ।

तत्तिरस्कृतसंस्काराः परे न स्थायितोचिताः ॥ ४२ ॥

चेतोविकासो हासः स्याद्वाग्बेषेहादिवैकृतात् ।

स दृग्विकासनासौष्ठकपोलस्पन्दनादिकृत् ॥ ४३ ॥

कृष्णसम्बन्धिचेष्टोत्थः स्वयंसङ्कुचदात्मना ।

रत्याऽनुगृह्यमाणोऽयं हासो हासरतिर्भवेत् ॥ ४४ ॥

लोकोत्तरार्थवीक्षाऽऽदेर्विस्मयश्चित्तविस्तृतिः ।

अत्र स्युर्नेत्रविस्तारसाधूक्तिपुलकादयः ॥ ४५ ॥

पूर्वोक्तरीत्या निष्पन्नः स विस्मयरतिर्भवेत् ।

स्थेयसी साधुभिः श्लाघ्यफले युद्धादिकर्मणि ॥ ४६ ॥

सत्त्वर मानसासक्तिरुत्साह इति कीर्त्यते ।

कालानवेक्षणं तत्र धैर्यत्यागोद्यमादयः ॥ ४७ ॥
 सिद्धः पूर्वोक्तविधिनाऽसावुत्साहरतिर्भवेत् ।
 शोकस्त्विष्टवियोगाद्यैश्चित्तक्लेशभरः स्मृतः ॥ ४८ ॥
 विलापपातनिश्वासमुखशोषभ्रमादिकृत् ।
 पूर्वोक्तविधिनैवायं सिद्धः शोकरतिर्भवेत् ॥ ४९ ॥
 प्रातिकूल्यादिभिश्चित्तज्वलनं क्रोध ईर्यते ।
 पारुष्यभ्रुकुटीनेत्रलौहित्यादिविकारकृत् ॥ ५० ॥
 एतं पूर्वोक्तवत्सिद्धं विदुः क्रोधरतिं बुधाः ।
 द्विधाऽसौ कृष्णतद्वैरिविभावत्वेन कीर्त्तिता ॥ ५१ ॥
 भयं चित्तातिचाञ्चल्यं मन्तुघोरेक्षणादिभिः ।
 आत्मगोपनहृच्छोषविद्रवभ्रमणादिकृत् ॥ ५२ ॥
 निष्पन्नं पूर्ववदिदं बुधा भयरतिं विदुः ।
 एषाऽपि क्रोधरतिवद् द्विविधा कथिता बुधैः ॥ ५३ ॥
 जुगुप्सा स्यादहृद्यानुभवाच्चित्तनिमीलनम् ।
 तत्र निष्ठीवनं वक्रकूणनं कुत्सनादयः ॥ ५४ ॥
 रतेरनुग्रहाज्जाता सा जुगुप्सारतिर्मता ।
 रतित्वात्प्रथमैकैव सप्त हासादयस्तथा ॥ ५५ ॥
 इत्यष्टौ स्थायिनो यावद्रसावस्थां न संश्रिताः ।
 चेत्स्वतन्त्रास्त्रयस्त्रिंशद्भवेयुर्व्यभिचारिणः ॥ ५६ ॥
 इहाष्टौ सात्त्विकाश्चैते भावाख्यास्तानसंख्यकाः ।
 कृष्णान्वयाद् गुणातीतप्रौढानन्दमया अपि ॥ ५७ ॥
 भान्त्यमी त्रिगुणोत्पन्नसुखदुःखमया इव ।
 तत्र स्फुरन्ति हीनोत्साहाद्याः सात्त्विका इव ॥ ५८ ॥
 तथा राजसवद्गर्वहर्षसुप्तिहसादयः ।
 विषाददीनतामोहशोकाद्यास्तामसा इव ॥ ५९ ॥

प्रायः सुखमयाः शीता उष्णा दुःखमया इह ।
 चित्रेयं परमानन्दसान्द्राऽप्युष्णा रतिर्मता ॥ ६० ॥
 शीतैर्भावैर्बलिष्ठैस्तु पुष्टा शीतायते ह्यसौ ।
 उष्णैस्तु रतिरत्युष्णा तापयन्तीव भासते ॥ ६१ ॥
 विप्रलम्भे ततो दुःखभराभासकृदुच्यते ।
 रतिर्द्विधाऽपि कृष्णाद्यैः श्रुतैरवगतैः स्मृतैः ॥ ६२ ॥
 तैर्विभावादितां यद्विस्तद्धक्तेषु रसो भवेत् ।
 यथा दध्यादिकं द्रव्यं शर्करामरिचादिभिः ॥ ६३ ॥
 संयोजनविशेषेण रसालारूयो रसो भवेत् ।
 तदत्र सर्वथा साक्षात् कृष्णाद्यनुभवाद्भुतः ॥ ६४ ॥
 प्रौढानन्दचमत्कारो भक्तैः कोऽप्यनुरस्यते ।
 स रत्यादिविभावाद्यैरेकीभावमयोऽपि सन् ॥ ६५ ॥
 ज्ञप्ततत्तद्विशेषश्च तत्तदुद्भेदतो भवेत् ।
 रतेः कारणभूता ये कृष्णकृष्णप्रियादयः ॥ ६६ ॥
 स्तम्भाद्याः कार्यभूताश्च निर्वेदाद्याः सहायकाः ।
 हिंत्वा कारणकार्य्यादिशब्दवाच्यत्वमत्र ते ॥ ६७ ॥
 रसोद्बोधे विभावादिव्यपदेश्यत्वमाप्नुयुः ।
 रतेस्तु तत्तदास्वादविशेषायातियोग्यताम् ॥ ६८ ॥
 विभावयन्ति कुर्वन्तीत्युक्ता धीरैर्विभावकाः ।
 तां चानुभावयन्त्यन्तस्तन्वन्त्यास्वादिर्भराम् ॥ ६९ ॥
 इत्युक्ता अनुभावास्ते कटाक्षाद्याः ससात्त्विकाः ।
 संचारयन्ति वैचित्र्यं नयन्ते तां तथाविधाम् ॥ ७० ॥
 ये निर्वेदादयो भावास्ते तु सञ्चारिणो मताः ।
 एतेषां तु तथाभावे भगवत्काव्यनाट्ययोः ॥ ७१ ॥
 सेवामाहुः परं हेतुं के चित्तत्पक्षरागिणः ।

किन्तु तत्र सुदुस्तर्कमाधुर्यादुभुतसंपदः ॥ ७२ ॥
 रतेरस्याः प्रभावोऽयं भवेत्कारणमुत्तम् ।
 महाशक्तिविलासात्मा भावोऽचिन्त्यस्वरूपभाक् ॥ ७३ ॥
 रत्याख्य इत्ययं युक्तो न हि तर्केण बाधितुम् ।
 भारताद्युक्तिरषा हि प्राक्तनैरप्युदाहृता ॥ ७४ ॥
 विभावताऽऽदीनानीय कृष्णादीन्मञ्जुला रतिः ।
 एतैरेव तथाभूतैः स्वं संवर्द्धयति स्फुटम् ॥ ७५ ॥
 यथास्वैरेव सलिलैः परिपूर्य्य बलाहकान् ।
 रत्नालयो भवत्येभिर्वृष्टैस्तैरेव वाग्धिः ॥ ७६ ॥
 नवे रत्यङ्कुरे जाते हरिभक्तस्य कस्य चित् ।
 विभावत्वादिहेतुत्वं किञ्चित्त्काव्यनाट्ययोः ॥ ७७ ॥
 हरेरीषच्छ्रुतिविधौ रसास्वादः सतां भवेत् ।
 रतेरेव प्रभावोऽयं हेतुस्तेषां तथाकृतौ ॥ ७८ ॥
 माधुर्याद्याश्रयत्वेन कृष्णार्दांस्तनुते रतिः ।
 तथाऽनुभूयमानास्ते विस्तीर्णा कुर्वन्ते रतिम् ॥ ७९ ॥
 अतस्तस्य विभादिचतुष्कस्य रतेरपि ।
 अत्र साहायकं व्यक्तं मिथोऽजस्रमवेक्ष्यते ॥ ८० ॥
 किन्त्वेतस्याः प्रभावोऽपि वैरूप्ये सति कुञ्चति ।
 वैरूप्यं तु विभावादेरनौचित्यमुदीर्य्यते ॥ ८१ ॥
 अलौकिक्या प्रकृत्येय सुदुरुहा रसस्थितिः ।
 यत्र साधारणतया भावाः साधु स्फुरन्त्यमी ॥ ८२ ॥
 एषां स्वपरसम्बन्धनियमानिर्णयो हि यः ।
 साधारण्यं तदेवोक्तं भावानां पूर्वसूरिभिः ॥ ८३ ॥
 शक्तिरस्ति विभावादेः काऽपि साधारणीकृतौ ।
 प्रमाता तदभेदेन स्वं यया प्रतिपद्यते ॥ ८४ ॥

दुःखादयः स्फुरन्तोऽपि जातु स्वीयतया हृदि ।
 प्रौढानन्दचमत्कारचर्वणाभेव तन्वते ॥ ८५ ॥
 पराश्रयतयाऽप्येते जातु भान्तः सुखादयः ।
 हृदये परमानन्दसंदोहमुपाचिन्वते ॥ ८६ ॥
 सद्भावश्चेद्विभावादेः किञ्चिन्मात्रस्य जायते ।
 सद्यश्चतुष्टयाक्षेपात्पूर्णतैवोपपद्यते ॥ ८७ ॥
 रतिः स्थिताऽनुकार्येषु लौकिकत्वादिहेतुभिः ।
 रसः स्यान्नेति नाट्यज्ञा यदाहुर्युक्तमेव तत् ॥ ८८ ॥
 अलौकिकी त्वियं कृष्णरतिः सर्वादभुताद्भुता ।
 योगे रसविशेषत्वं गच्छन्त्येव हरिप्रिये ॥ ८९ ॥
 त्रियोगे त्वद्भुतानन्दविवर्त्तत्वं दधत्यपि ।
 तनोत्येषा प्रगाढार्त्तिभराभासत्वमूर्जिता ॥ ९० ॥
 तत्रापि वल्लवाधीशनन्दनालम्बना रतिः ।
 सान्द्रानन्दचमत्कारपरमावधिरिष्यते ॥ ९१ ॥
 यत्सुखौघलवागस्त्यः पिबत्येव स्वतेजसा ।
 रमेशमाधुरीसाक्षात्कारानन्दाब्धिमप्यलम् ॥ ९२ ॥
 परमानन्दतादात्म्याद्रत्यादेरस्य वस्तुतः ।
 रसस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिद्ध्यति ॥ ९३ ॥
 पूर्वमुक्ताद् द्विधा भेदान्मुख्यगौणतया रतेः ।
 भवेद्भक्तिरसोऽप्येष मुख्यगौणतया द्विधा ॥ ९४ ॥
 पञ्चधाऽपि रतेरैक्यान्मुख्यस्त्वेक इहोदितः ।
 सप्तधाऽत्र तथा गौण इति भक्तिरसोऽष्टधा ॥ ९५ ॥
 मुख्यस्तु पञ्चधा शान्तः प्रीतिः प्रेयाश्च बत्सलः ।
 मधुरश्चेत्यमी ज्ञेया यथापूर्वमनुत्तमाः ॥ ९६ ॥
 हास्योऽद्भुतस्तथा वीरः करुणो रौद्र इत्यपि ।

भयानकः सबीभत्स इति गौणश्च सप्तधा ॥ ९७ ॥
 एवं भक्तिरसो भेदाद् द्वयोर्द्वादशोच्यते ।
 वस्तुतस्तु पुराणादौ पञ्चधैव विलोक्यते ॥ ९८ ॥
 श्वेतश्चित्रोऽरुणः शोण श्यामः पाण्डरपिङ्गलौ ।
 गौरो धूम्रस्तथा रक्तः कालो नीलः क्रमादमी ॥ ९९ ॥
 कपिलो माधवोपेन्द्रौ नृसिंहो नन्दनन्दनः ।
 बलः कूर्मस्तथा कल्की राघवो भार्गवः किरिः ॥ १०० ॥
 बुद्ध इत्येषु कथिताः क्रमाद् द्वादश देवताः ।
 पूर्वविकाशविस्तारविक्षेपक्षोभतस्तथा ॥ १०१ ॥
 सर्वभक्तिरसास्वादः पञ्चधा परिकीर्तितः ।
 पूर्तिः शान्ते विकाशस्तु प्रीतादिष्वपि पञ्चसु ॥ १०२ ॥
 वीरेऽद्भुते च विस्तारो विक्षेपः करुणाग्रयोः ।
 भयानकेऽथ बीभत्से क्षोभो धीरैरुदाहृतः ॥ १०३ ॥
 अखण्डमुखरूपत्वेऽप्येषामस्ति क चित् क चित् ।
 रसे सुगहनास्वादविशेषः कोऽप्यनुत्तमः ॥ १०४ ॥
 प्रतीयमाना अप्यज्ञैर्ग्राम्यैः सपदि दुःखवत् ।
 करुणाद्या रसाः प्राज्ञैः प्रौढानन्दमया मताः ॥ १०५ ॥
 अलौकिकविभावत्वं नीतेभ्यो रतिलीलया ।
 सदुक्त्या च सुखं तेभ्यः स्यात्सुव्यक्तमिति स्थितिः ॥ १०६ ॥
 करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।
 सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥ १०७ ॥
 सर्वत्र करुणाख्यस्य रसस्यैवोपपादनात् ।
 भवेद्रामायणादीनामन्यथा दुःखहेतुता ॥ १०८ ॥
 तथात्वे रामपादाब्जप्रेमकल्लोलवारिधिः ।
 प्रीत्या रामायणं नित्यं हनुमान् शृणुयात्कथम् ॥ १०९ ॥

संचारी स्यात्समोना वा कृष्णरस्याः सुहृदतिः ।
 अधिका पुण्यमाणा चेद्भावोल्लास इतीर्यते ॥ ११० ॥
 फल्गुवैराग्यनिर्दग्धाः शुष्कज्ञानाश्च हैतुकाः ।
 भीमांसका विशेषेण मक्त्यास्वादवाहिर्मुखाः ॥ १११ ॥
 इत्येष भक्तिरसिकश्चोरादिव महानिधिः ।
 जरन्मीमांसकाद्रक्ष्यः कृष्णभक्तिरसः सदा ॥ ११२ ॥
 सर्वथैव दुरूहोऽयमभक्तैर्भगवद्रसः ।
 तत्पादाम्बुजसर्वस्वभक्तैरेवात्र रस्यते ११३ ॥
 व्यतीत्य भावनावर्त्म यश्चमत्कृतिभारभूः ।
 हृदि सत्त्वोज्ज्वले बाढं स्वदत्ते स रसो मतः ॥ ११४ ॥
 भावनायाः पदं यस्तु बुधेनानन्यबुद्धिना ।
 भाव्यते गाढसंस्कारश्चित्ते भावः स कथ्यते ॥ ११५ ॥
 इति भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिविभागे भक्तिरससामान्य-
 निरूपणे स्थायिभावलहरी ॥ ५ ॥
 गोपालरूपशोभां दधदपि रघुनाथभावविस्तारी ।
 तुण्यतु सनातनात्मा दक्षिणभागे सुधाऽम्बुनिधेः ॥ १ ॥
 इति भक्तिरसामृतसिन्धौ भक्तिरससामान्यानिरूपणनामा
 दक्षिणो विभागः ॥

पश्चिमविभागे

प्रथमलहरी—

धृतमुग्धरूपभारो भागवतार्पितपृथुप्रेमा ।
स मयि सनातनमूर्त्तिस्तनोतु पुरुषोत्तमस्तुष्टिम् ॥ १ ॥
रसामृताब्धेर्भागेऽत्र तृतीये पश्चिमाभिधे ।
मुख्यो भक्तिरसः पञ्चविधः शान्तादिरीर्यते ॥ २ ॥
अतोऽत्र पाञ्चविध्येन लह्यर्थः पञ्च कीर्तिताः ।
अथामी पञ्च लक्ष्यन्ते रसाः शान्तादयः क्रमात् ॥ ३ ॥
वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः शमिनां स्वाद्यतां गतः ।
स्थायी शान्तिरतिर्धीरैः शान्तभक्तिरसः स्मृतः ॥ ४ ॥
प्रायः स्वमुखजातीयं सुखं स्यादत्र योगिनाम् ।
किन्वात्मसौख्यमघनङ्गनं त्वीशमयं सुखम् ॥ ५ ॥
तत्रापीशस्वरूपानुभावस्यैवोरुहेतुता ।
दासादिवन्मनोज्ञत्वलीलाऽऽदर्शं तथा मता ॥ ६ ॥
चतुर्भुजश्च शान्ताश्च तस्मिन्नालम्बना मताः ।
सच्चिदानन्दसान्द्राङ्ग आत्मारामशिखामणिः ॥ ७ ॥
परमात्मा परं ब्रह्म समो दाम्न्तः शुचिर्वशी ।
सदा स्वरूपसम्प्राप्तो हतारिगतिदायकः ॥ ८ ॥
विभुरित्यादिगुणवानस्मिन्नालम्बनो हरिः ।
शान्ताः स्युः कृष्णतत्प्रेष्ठकारुण्येन रतिं गताः ॥ ९ ॥
आत्मारामास्तदीयाध्ववद्धश्रद्धाश्च तापसाः ।
आत्मारामास्तु सनकसनन्दनमुखा मताः ॥ १० ॥
प्राधान्यात्सनकादीनां रूपं भक्तिश्च कथ्यते ।
मुक्तिर्भक्त्यैव निर्विघ्नेत्यात्तयुक्तविरक्तताः ॥ ११ ॥

अनुज्झितमुमुक्षा ये भजन्ते ते तु तापसाः ।
 भक्तात्मारामकरुणाप्रपञ्चेनैव तापसाः ॥ १२ ॥
 शान्त्याख्यभावचन्द्रस्य हृदाकाशे कलां श्रिताः ।
 श्रुतिर्महोपनिषदां विविक्तस्थानसेवनम् ॥ १३ ॥
 अन्तर्धृतिविशेषोऽस्य स्फूर्तिस्तत्त्वविवेचनम् ।
 विद्याशक्तिप्रधानत्वं विश्वरूपप्रदर्शनम् ॥ १४ ॥
 ज्ञानिभक्तेन संसर्गो ब्रह्मसत्रादयस्तथा ।
 एष्वसाधारणाः प्रोक्ता बुधैरुद्दीपना अमी ॥ १५ ॥
 पादाब्जतुलसीगन्धः शङ्खनादो मुराद्विषः ।
 पुण्यशैलः शुभारण्यं सिद्धक्षेत्रं स्वरापगा ॥ १६ ॥
 विषयादिक्षयिष्णुत्वं कालस्याखिलहारिता ।
 इत्याद्युद्दीपनाः साधारणास्त्रेषां किलाश्रितैः ॥ १७ ॥
 नासाग्रन्यस्तनेत्रत्वमवधूताविचेष्टितम् ।
 युगमात्रेक्षितगतिज्ञानमुद्राप्रदर्शनम् ॥ १८ ॥
 हरेर्द्विष्यपि न द्वेषो नातिभक्तिः प्रियेष्वपि ।
 सिद्धतायास्तथा जीवन्मुक्तेश्च बहुमानिता ॥ १९ ॥
 नैरपेक्ष्यं निर्ममता निरहंकारिता तथा ।
 मौनमित्यादयः शीताः स्युरसाधारणाः क्रियाः ॥ २० ॥
 जृम्भाऽङ्गमोटनं भक्तेरुपदेशो हरेर्नतिः ।
 स्तवाद्यश्च दासाद्यैः शीताः साधारणाः क्रियाः ॥ २१ ॥
 रोमाञ्चस्वेदकम्पाद्याः सात्त्विकाः प्रलयं विना ।
 एषां निरभिमानानां शरीरादिषु योगिनाम् ॥ २२ ॥
 सात्त्विकास्तु ज्वलन्त्येव न तु दीप्ता भवन्त्यमी ।
 सञ्चारिणोऽत्र निर्वेदो धृतिर्हर्षो मतिः स्मृतिः ॥ २३ ॥
 विषादोत्सुकताऽऽवेगवितर्काद्याः प्रकीर्तिताः ।

अत्र शान्तिरतिः स्थायी समा सान्द्रा तु सा द्विधा ॥ २४ ॥
 शान्तो द्विषैष परोक्षसाक्षात्कारविभेदतः ।
 भवेत्कदा चित्कुत्रापि नन्दसूनोः कृपाभरः ॥ २५ ॥
 प्रथमं ज्ञाननिष्ठोऽपि सोऽत्रैव रतिमुद्वहेत् ।
 तत्कारुण्यश्लथीभूतज्ञानसंस्कारसन्ततिः ॥ २६ ॥
 एष भक्तिरसानन्दनिपुणः स्याद्यथा शुकः ।
 शमस्य निर्विकारत्वान्नाट्यज्ञैर्नैष मन्यते ॥ २७ ॥
 शान्त्याख्याया रतेत्र स्वीकारान्न विरुध्यते ।
 शमो मन्निष्ठता बुद्धेरिति श्रीभगवद्वचः ॥ २८ ॥
 तन्निष्ठा दुर्धटा बुद्धेरेतां शान्तिरतिं विना ।
 नास्ति यत्र सुखं दुःखं न द्वेषो न च मत्सरः ॥ २९ ॥
 समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः ।
 सर्वथैवमहङ्काररहितत्वं व्रजन्ति चेत् ॥ ३० ॥
 अत्रान्तर्भावमर्हन्ति धर्मवीरादयस्तदा ।
 धृतिस्थायिनमेके तु निर्वेदस्थायिनं परे ॥ ३१ ॥
 शान्तमेव रसम्पूर्वं प्रोचुरेकमनेकधा ।
 निर्वेदो विषये स्थायी तत्त्वज्ञानोद्भवः स चेत् ॥ ३२ ॥
 इष्टानिष्टविभागासिद्धतस्तु व्यभिचार्यसौ ।

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ पश्चिमविभागे मुख्यभक्तिरस-
 पञ्चकनिरूपणे शान्तभक्तिरसलहरी ॥ १ ॥

द्वितीयलहरी—

श्रीधरस्वामिभिः स्पष्टमयमेव रसोत्तमः ।
 रङ्गप्रसङ्गे सप्रेमभक्तिकारुण्यः प्रकीर्तितः ॥ १ ॥

रतिस्थायितया नामकौमुदीकृद्भिरप्यसौ ।
 शान्तत्वेनायमेवाद्धा सुदेवाद्यैश्च वर्णितः ॥ २ ॥
 आत्मोचितैर्विभावाद्यैः प्रीतिरास्वादनीयताम् ।
 नीता चेतसि भक्तानां प्रीतभक्तिरसो मतः ॥ ३ ॥
 अनुग्राहस्य दासत्वाल्लास्यत्वादप्यं द्विधा ।
 मिद्यते सम्भ्रमप्रीतो गौरवप्रीत इत्यपि ॥ ४ ॥
 दासाभिमानिनां कृष्णे स्यात् प्रीतिः सम्भ्रमोत्तरा ।
 पूर्ववत् पुण्यमाणोऽयं सम्भ्रमप्रीत उच्यते ॥ ५ ॥
 हरिश्च तस्य दासाश्च ज्ञेया आलम्बना इह ।
 आलम्बनोऽस्मिन् द्विभुजः कृष्णो गोकुलवासिषु ॥ ६ ॥
 अन्यत्र द्विभुजः क्वापि कुत्राप्येष चतुर्भुजः ।
 ब्रह्माण्डकोटिघामैकरोमकूपः कृपाऽम्बुधिः ॥ ७ ॥
 अविचिन्त्यमहाशक्तिः सर्वसिद्धिनिषेवितः ।
 अवतारावलीबीजं सदात्मारामहृद्गुणः ॥ ८ ॥
 ईश्वरः परमाराध्यः सर्वज्ञः सुदृढव्रतः ।
 समृद्धिमान् क्षमाशीलः शरणागतपालकः ॥ ९ ॥
 दक्षिणः सत्यवचनो दक्षः सर्वशुभङ्करः ।
 प्रतापी धार्मिकः शास्त्रचक्षुर्भक्तसुहृत्तमः ॥ १० ॥
 वदान्यस्तेजसा युक्तः कृतज्ञः कीर्तिसंश्रयः ।
 वरीयान् बलवान् प्रेमवश्य इत्यादिभिर्गुणैः ॥ ११ ॥
 युतश्चतुर्विधेष्वेष दासेष्वालम्बनो हरिः ।
 दासास्तु प्रश्रितास्तस्य निदेशवशवर्तिनः ॥ १२ ॥
 विश्वस्ताः प्रभुताज्ञानविनम्रितधियश्च ते ।
 चतुर्धाऽमी अधिकृताश्रितपारिषदानुगाः ॥ १३ ॥
 ब्रह्मशङ्करशक्राद्याः प्रोक्ता अधिकृता बुधैः ।

रूपं प्रसिद्धमेवैषां तेन भक्तिरुदीर्यते ॥ १४ ॥
 ते शरण्या ज्ञानिचराः सेवानिष्ठास्त्रिधा श्रिताः ।
 शरण्या कालियजरासन्धबद्धनृपादयः ॥ १५ ॥
 ये मुमुक्षां परित्यज्य हरिमेव समाश्रिताः ।
 शौनकप्रमुखास्ते तु प्रोक्ता ज्ञानिचरा बुधैः ॥ १६ ॥
 मूलतो भजनासक्ताः सेवानिष्ठा इतीरिताः ।
 चन्द्रध्वजो हरिहयो बहुलाश्वस्तथा नृपः ॥ १७ ॥
 इक्ष्वाकुः श्रुतदेवश्च पुण्डरीकादयश्च ते ।
 उद्धवो दारुको जैत्रः श्रुतदेवश्च शत्रुजित् ॥ १८ ॥
 नन्दोपनन्दभद्राद्याः पार्षदा यदुपत्तने ।
 नियुक्ताः सन्त्यमी मन्त्रसारथ्यादिषु कर्मसु ॥ १९ ॥
 तथाऽपि काप्यवसरे परिचर्यां च कुर्वते ।
 कौरवेषु तथा भीष्मपरीक्षिद्बिदुरादयः ॥ २० ॥
 एतेषां प्रवरः श्रीमानुद्धवः प्रेमविक्रवः ।
 सर्वदा परिचर्यासु प्रभोरासक्तचेतसः ॥ २१ ॥
 पुरस्थाश्च व्रजस्थाश्चेत्युदिता अनुगा द्विधा ।
 सुचन्द्रो मण्डनः स्तम्भः सुतम्बाद्याः पुरानुमाः ॥ २२ ॥
 एषां पार्षदवत्प्रायो रूपालंकरणादयः ।
 रक्तकः पत्रकः पत्री मधुकण्ठो मनुव्रतः ॥ २३ ॥
 रसालः सुविलासश्च प्रेमकन्दो मरन्दकः ।
 आनन्दश्चन्द्रहासश्च प्रमोदो बकुलस्तथा ॥ २४ ॥
 रसदः शारदाद्याश्च व्रजस्था अनुगा मताः ।
 ब्रजानुगेषु सर्वेषु वरीयान् रक्तको मतः ॥ २५ ॥
 धुर्य्यो धीरश्च वीरश्च त्रिधा पारिषदादिकः ।
 कृष्णेऽस्य प्रेयसीवर्गे दासादौ च यथायथम् ॥ २६ ॥

यः प्रीतिं तनुते रक्तः स धुर्य इति कीर्त्यते ।
 आश्रित्य प्रेयसीमस्य नातिसेवापरोऽपि यः ॥ २७ ॥
 तस्य प्रसादपत्रं स्यान्मुख्यं धीरः स उच्यते ।
 कृपां तस्य समाश्रित्य प्रौढा नान्यमपेक्षते ॥ २८ ॥
 अतुला यो वहन् कृष्णे प्रीतिं वीरः स उच्यते ।
 एतेषु तस्य दासेषु त्रिविधेष्वश्रितादिषु ॥ २९ ॥
 नित्यसिद्धाश्च सिद्धाश्च साधका अपि कीर्तिताः ।
 अनुग्रहस्य संप्राप्तिस्तस्याङ्घ्रिरजसां तथा ॥ ३० ॥
 मुक्तावशिष्टभक्तादेरपि तद्वक्तसङ्गतिः ।
 इत्यादयो विभावाः स्युरेष्वसाधारणा मताः ॥ ३१ ॥
 मुरलीशृङ्गयोः स्वानः स्मितपूर्वावलोकनम् ।
 गुणोत्कर्षश्रुतिः पद्मपदाङ्गनवनरिरदाः ॥ ३२ ॥
 तदङ्गसौरभाद्यास्तु सर्वैः साधारणा मताः ।
 सर्वतः स्वनियोगानामाधिक्येन परिग्रहः ॥ ३३ ॥
 ईर्ष्यालवेन चास्पृष्टा मैत्री तत्प्रणते जने ।
 तन्निष्ठताऽऽद्याः शीताः स्युरेष्वसाधारणाः क्रियाः ॥ ३४ ॥
 उद्भास्वराः पुरोक्ता ये तथाऽस्य सुहृदादरः ।
 विरागाद्याश्च ये शीताः प्रोक्ताः साधारणास्तु ते ॥ ३५ ॥
 स्तम्भाद्याः सात्त्विकाः सर्वे प्रीतादित्रितये मताः ।
 हर्षो गर्वो घृतिश्चात्र निर्वेदोऽथ विषण्णता ॥ ३६ ॥
 दैन्यं चिन्ता स्मृतिः शङ्का मतिरौत्सुक्यचापले ।
 वितर्कावेगह्रीजाड्यमोहोन्मादाबहिर्धिकाः ॥ ३७ ॥
 बोधः स्वप्नः क्लमो व्याधिर्मृतिश्च व्याभिचारिणः
 इतरेषां मदादीनां नातिपोषकता भवेत् ॥ ३८ ॥
 योगे त्रयः स्युर्धृत्याद्या अयोगे तु क्लमादयः ।

उभयत्र परे शेषा निर्वेदाद्या सतां मताः ॥ ३६ ॥
 सम्भ्रमः प्रभुताज्ञानात्कम्पश्चेतसि सादरः ।
 अनेनैक्यं गता प्रीतिः संभ्रमप्रीतिरुच्यते ॥ ४० ॥
 एषा रसेऽत्र कथिता स्थायिभावतया बुधैः ।
 आश्रितादेः पुरैवोक्तः प्रकारो रतिजन्मनि ॥ ४१ ॥
 तत्र पारिषदादेस्तु हेतुः संस्कार एव हि ।
 संस्कारोद्धोषकास्तस्य दर्शनश्रवणादयः ॥ ४२ ॥
 एषां तु सम्भ्रमप्रीतिः प्राप्नुवत्युत्तरोत्तराम् ।
 वृद्धिं प्रेमा ततः स्नेहस्ततो राग इति त्रिधा ॥ ४३ ॥
 हासशङ्काच्युता बद्धमूला प्रेमेयमुच्यते ।
 अस्यानुभावाः कथितास्तत्र व्यसनिताऽऽदयः ॥ ४४ ॥
 सान्द्रश्चित्तद्रवं कुर्वन् प्रेमा स्नेह इतीर्यते ।
 क्षणिकस्यापि नेह स्याद्विश्लेषस्य सहिष्णुता ॥ ४५ ॥
 स्नेहः स रागो येन स्यात् सुखं दुःखमपि स्फुटम् ।
 तत्सम्बन्धलवेऽप्यत्र प्रीतिः प्राणव्ययैरपि ॥ ४६ ॥
 प्राय आद्यद्वये प्रेमा स्नेहः पारिषदेष्वसौ ।
 परीक्षिति भवेद्रागो दारुके च तथोद्धवे ॥ ४७ ॥
 ब्रजानुगेष्वनेकेषु रक्तकप्रमुखेषु च ।
 अस्मिन्नभ्युदिते भावः प्रायः स्यात्सख्यलेशभाक् ॥ ४८ ॥
 अयोगयोगावेतस्य प्रभेदौ कथितावुभौ ।
 सङ्गाभावो हरेर्धैरैरयोग इति कथ्यते ॥ ४९ ॥
 अयोगे तन्मनस्कत्वं तद्गुणाद्यनुसंधयः ।
 तत्प्राप्त्युपायचिन्ताऽऽद्याः सर्वेषां कथिता क्रियाः ॥ ५० ॥
 उत्कण्ठितं वियोगश्चेत्ययोगोऽपि द्विधोच्यते ।
 अदृष्टपूर्वस्य हरेर्दिदृशोत्कण्ठितं मतम् ॥ ५१ ॥

अत्रायोगप्रसक्तानां सर्वेषामपि सम्भवे ।
 औत्सुक्यदैर्न्यनिर्वेदचिन्तानां चापलस्य च ॥ ५२ ॥
 जडतोन्मादमोहानामपि स्यादतिरिक्ता ।
 वियोगो लब्धसङ्गेन विच्छेदो दनुजद्विषा ॥ ५३ ॥
 अङ्गेषु तापः कृशता जागर्याऽऽलम्बशून्यता ।
 अधृतिर्जडता व्याधिरुन्मादो मूर्च्छितं मृतिः ॥ ५४ ॥
 वियोगसम्भ्रमप्रीतेर्दशावस्थाः प्रकीर्तिताः ।
 अनवस्थितिरारूपाता चित्तस्यालम्बशून्यता ॥ ५५ ॥
 अरागिता तु सर्वस्मिन्नधृतिः कथिता बुधैः ।
 अन्येऽष्टौ प्रकटार्थत्वात्तापाद्या न हि लक्षिताः ॥ ५६ ॥
 अशिवत्वाच्च घटते भक्ते कुत्राप्यसौ मृतिः ।
 क्षोभकत्वाद्वियोगस्य जातप्रायेति कथ्यते ॥ ५७ ॥
 कृष्णेन सङ्गमो यस्तु स योग इति कीर्त्यते ।
 योगोऽपि कथितः सिद्धिस्तुष्टिः स्थितिरिति त्रिधा ॥ ५८ ॥
 उत्कण्ठते हरैः प्राप्तिः सिद्धिरित्यभिधीयते ।
 जाते वियोगे कंसारेः सम्प्राप्तिस्तुष्टिरुच्यते ॥ ५९ ॥
 सहवासो मुकुन्देन स्थितिर्निर्गदिता बुधैः ।
 निजावसरशुश्रूषाविधाने सावधानता ॥ ६० ॥
 पुरस्तस्यानिवेशाद्या योगेऽमीषां क्रिया मताः ।
 के चिदस्या रतेः कृष्णभक्त्यास्वादबहिर्मुखाः ॥ ६१ ॥
 भावत्वमेव निश्चित्य न रसावस्थतां जगुः ।
 इति तावदसाधीयो यत्पुराणेषु केषु चित् ॥ ६२ ॥
 श्रीमद्भागवते चैष प्रकटो दृश्यते रसः ।
 एषाऽत्र भक्तभावानां प्रायिकी प्रक्रियोदिता ॥ ६३ ॥
 किन्तु कालादिवैशिष्ट्यात्क चित्स्यात् सीमलङ्घनम् ।

लास्याभिमानिनां कृष्णे स्यात् प्रीतिगौरवोत्तरा ॥ ६४ ॥

सा विभावादिभिः पुष्टा गौरवप्रीत उच्यते ।

हरिश्च तस्य लास्याश्च भवन्त्यालम्बना इह ॥ ६५ ॥

महागुरुर्महाकीर्त्तिर्महाबुद्धिर्महाबलः ।

रक्षी लालक इत्याद्यैर्गुणैरालम्बनो हरिः ॥ ६६ ॥

लास्याः किल कनिष्ठत्वपुत्रत्वाद्यभिमानिनः ।

कनिष्ठाः सारणगदसुभद्राप्रमुखाः स्मृताः ॥ ६७ ॥

प्रद्युम्नचारुदेष्णाद्याः साम्बाद्याश्च कुमारकाः ।

रुक्मिणीनन्दनस्तेषु लाल्येषु प्रवरो मतः ॥ ६८ ॥

उभयेषां सदाऽऽराध्यधियैव भजतामपि ।

सेवकानामिहैश्वर्यज्ञानस्यैव प्रधानता ॥ ६९ ॥

लास्यानां तु स्वसम्बन्धस्फूर्तिरेव समन्ततः ।

ब्रजस्थानां परश्चैर्यज्ञानशून्यधियामपि ॥ ७० ॥

अस्यैव बल्लवाधीशपुत्रत्वैश्वर्यबन्दनम् ।

उद्दीपनास्तु बात्सल्यस्मितप्रेक्षाऽऽदयो हरेः ॥ ७१ ॥

अनुभावास्तु तस्याग्रे नीचासननिवेशनम् ।

गुरोर्वर्त्मानुसारित्वं धुरस्तस्य परिग्रहः ॥ ७२ ॥

स्वैराचारविमोक्षाद्याः शीता लाल्येषु कीर्त्तिताः ।

दासैः साधारणाश्चान्ये प्रोच्यन्तेऽमीषु के चन ॥ ७३ ॥

प्रणामो मौनबाहुल्यं संकोचः प्रश्रयाढ्यता ।

निजप्राणव्ययेनापि तदाज्ञापरिपालनम् ॥ ७४ ॥

अधोवदनता स्थैर्यं कासहासादिवर्जनम् ।

तदीयातिरहःकेलिवात्ताव्युपरमादयः ॥ ७५ ॥

अनन्तरोक्ताः सर्वेऽत्र भवन्ति व्यभिचारिणः ।

देहसम्बन्धितामात्राद् गुरुधीरत्र गौरवम् ॥ ७६ ॥

तन्मयी लालके प्रीतिगौरवप्रीतिरुच्यते ।
 स्थायी भावोऽत्र सा चैषामामूलात् स्वयमुच्छ्रिता ॥ ७७ ॥
 कं चिद्विशेषमापन्न प्रेमेति स्नेह इत्यपि ।
 राग इत्युच्यते चात्र गौरवप्रीतिरेव सा ॥ ७८ ॥
 त्रिवेवायोगयोगाद्या भेदाः पूर्ववदीरिताः ।
 उत्कण्ठितवियोगादौ यद्यद्विस्तारितं न हि ॥ ७९ ॥
 संभ्रमप्रीतवज्ज्ञेयं तत्तदेवाखिलं बुधैः ।
 इति रसामृतसिन्धौ पश्चिमविभागे मुख्यभक्तिरसपञ्चकनिरूपणे
 प्रीतभक्तिरसलहरी ॥ २ ॥

तृतीयलहरी—

स्थायी भावो विभावाद्यैः सख्यमात्मोचितैरिह ।
 नीतश्चित्ते सतां पुष्टिं रसः प्रेयानुदीर्यते ॥ १ ॥
 हरिश्च तद्वयस्याश्च तस्मिन्नालम्बना मताः ।
 द्विभुजत्वादिभागत्र प्राग्बदालम्बनो हरिः ॥ २ ॥
 सुवेषः सर्वसल्लक्ष्मलक्षितो बलिनां वरः ।
 विविधाद्भुतभाषाविद्वावदूकः सुपण्डितः ॥ ३ ॥
 विपुलप्रतिभो दक्षः करुणो वीरशेखरः ।
 विदग्धो बुद्धिमान् क्षन्ता रक्तलोकः समृद्धिमान् ॥ ४ ॥
 सुखी वरीयानित्याद्या गुणास्तस्येह कीर्तिताः ।
 रूपवेषगुणाद्यैस्तु समाः सम्यगयन्त्रिताः ॥ ५ ॥
 विस्रम्भसम्भृतात्मानो वयस्यास्तस्य कीर्तिताः ।
 ते पुरब्रजसम्बन्धाद् द्विविधाः प्राय ईरिताः ॥ ६ ॥
 अर्जुनो भीमसेनश्च दुहिता द्रुपदस्य च ।

श्रीदामभूसुराद्याश्च सखायः पुरसंश्रयाः ॥ ७ ॥
 श्रेष्ठः पुरवयस्येषु भगवान् वानरध्वजः ।
 क्षणादर्शनतो दीनाः सदा सहविहारिणः ॥ ८ ॥
 तदेकजीविताः प्रोक्ता वयस्या ब्रजवासिनः ।
 अतः सर्ववयस्येषु प्रधानत्वं भजन्त्यमी ॥ ९ ॥
 सुहृदश्च सखायश्च तथा प्रियसखाः परे ।
 प्रियनर्मवयस्याश्चेत्युक्ता गोष्ठे चतुर्विधाः ॥ १० ॥
 बात्सल्यगन्धिसख्यास्तु किञ्चित्ते वयसाऽधिकाः ।
 सायुधास्तस्य दुष्टेभ्यः सदा रक्षापरायणाः ॥ ११ ॥
 सुभद्रमण्डलीभद्रभद्रवर्द्धनगोभटाः ।
 यक्षेन्द्रभटभद्राङ्गवीरभद्रमहागुणाः ॥ १२ ॥
 विजयो बलभद्राद्याः सुहृदस्तस्य कीर्तिताः ।
 सुहृत्सुमण्डलीभद्रबलभद्रौ किलोत्तमौ ॥ १३ ॥
 कनिष्ठकरुपाः सख्येन सम्बद्धाः प्रीतिगन्धिना ।
 विशालवृषभौजम्बिदेवप्रस्थवरूथपाः ॥ १४ ॥
 मरन्दकुमुमापीडमणिवन्धकरन्धमाः ।
 इत्यादयः सखायोऽस्य सेवासौख्यैकरागिणः ॥ १५ ॥
 सर्वेषु सखिषु श्रेष्ठो देवप्रस्थोऽयमीरितः ।
 वयस्तुल्याः प्रियसखाः सख्यं केवलमाश्रिताः ॥ १६ ॥
 श्रीदामा वसुदामा च दामा च वसुदामकः ।
 किङ्किणिस्तोककृष्णांशुभद्रसेनविलासिनः ॥ १७ ॥
 पुण्डरीकविटङ्गाक्षकलबिङ्गादयोऽप्यमी ।
 रमयन्ति प्रियसखाः केलिभिर्विविधैः सदा ॥ १८ ॥
 नियुद्धदण्डयुद्धादिकौतुकैरपि केशवम् ।
 एषु प्रियवयस्येषु श्रीदामा प्रवरो मतः ॥ १९ ॥

प्रियनर्मवयस्यास्तु पूर्वतोऽप्यभितो वराः ।
 आत्यन्तिकरहस्येषु युक्ता भावविशेषिणः ॥ २० ॥
 सुबलार्जुनगन्धर्वास्ते वसन्तोऽज्ज्वलादयः ।
 प्रियनर्मवयस्येषु प्रवरौ सुबलोऽज्ज्वलौ ॥ २१ ॥
 उज्ज्वलोऽयं विशेषेण सदा नमोक्तिलालसः ।
 एतेषु केऽपि शास्त्रेषु केऽपि लोकेषु विश्रुताः ॥ २२ ॥
 नित्यप्रियाः सुरचराः साधकाश्चेति ते त्रिधा ।
 के चिदेषु स्थिरा जात्या मन्त्रिवत्तमुपासते ॥ २३ ॥
 तं हासयन्ति चपलाः के चिद्वैहासिकोपमाः ।
 के चिदार्जवसारेण सरलाः शीलयन्ति तम् ॥ २४ ॥
 वामा वक्रिमचक्रेण के चिद्विस्माययन्त्यमुम् ।
 के चित्प्रगल्भाः कुर्वन्ति वितण्डाममुना समम् ॥ २५ ॥
 सौम्याः सूनृतया वाचा धन्या धिन्वन्ति तं परे ।
 एवं विविधया सर्वे प्रकृत्या मधुरा अमी ॥ २६ ॥
 पवित्रमैत्रीवैचित्रीचारुतामुपचिन्वते ।
 उद्दीपना वयरूपशृङ्गवेणुदरा हरेः ॥ २७ ॥
 विनोदनर्मविक्रान्तिगुणाः प्रेष्ठजनास्तथा ।
 राजदेवावतारादिचेष्टाऽनुकरणादयः ।
 वयः कौमारपौगण्डे कैशोरं चेह सम्मतम् ।
 गोष्ठे कौमारपौगण्डे कैशेरं पुरगोष्ठयोः ॥ २९ ॥
 कौमारं बत्सले वाच्यं ततः संक्षिप्य लिख्यते ।
 आद्यं मध्यं तथा शेषं पौगण्डं च त्रिधा भवेत् ॥ ३० ॥
 अधरादेः सुलौहित्यं जठरस्य च तानवम् ।
 कम्बुग्रीवोद्गमाद्यं च पौगण्डे प्रथमे सति ॥ ३१ ॥
 पुष्पमण्डनवैचित्री चित्राणि गिरिधातुभिः ।

पीतपट्टदुकूलाद्यमिह प्रोक्तम् प्रसाधनम् ॥ ३२ ॥
 सर्वाटवीप्रचारेण नैचिकीचयचारणम् ।
 नियुद्धकेलिनृत्यादिशिक्षाऽऽरम्भोऽत्र चेष्टितम् ॥ ३३ ॥
 नासा सुशिखरा तुङ्गा कपोलौ मण्डलाकृती ।
 पाश्वाद्यङ्गं सुवलितं पौगण्डे सति मध्यमे ॥ ३४ ॥
 उष्णीषं पट्सूत्रोत्थपाशेनात्र तडित्त्विषा ।
 यष्टिः श्यामा त्रिहस्तोच्चा स्वर्णाग्रेत्यादिमण्डनम् ॥ ३५ ॥
 भाण्डोर क्रीडनं शैलोद्धारणाद्यं च चेष्टितम् ।
 पौगण्डमध्य एवायं हरिर्दिव्यन् विराजते ॥ ३६ ॥
 माधुर्याद्भुतरूपत्वात्कैशोराग्रांशभागिव ।
 वेणी नितम्बलम्बाग्रा लीलाऽलकलताद्युतिः ॥ ३७ ॥
 अंसयोस्तुङ्गतेत्यादि पौगण्डे चरमे सति ।
 उष्णीषे वक्रिमा लीलासरसीरुहपाणिता ॥ ३८ ॥
 काश्मीरेणोर्ध्वपुण्ड्राद्यमिह मण्डनमीरितम् ।
 अत्र भङ्गी गिरा नर्मसखैः कर्णकथारसः ॥ ३९ ॥
 एषु गोकुलबालानां श्रीश्लाघेत्यादिचेष्टितम् ।
 कैशोरम् पूर्वमेवोक्तं सङ्क्षेपेणोच्यते ततः ॥ ४० ॥
 प्रायः किशोर एवायं सर्वभक्तेषु भासते ।
 तेन यौवनशोभाऽस्य नेह का चित्प्रपञ्चिता ॥ ४१ ॥
 नियुद्धकन्दुकचूतवाह्यवाहादिकेलिभिः ।
 लगुडालगुडि क्रीडासङ्गरैश्चास्य तोषणम् ॥ ४२ ॥
 पल्यङ्कासनदोलासु सह स्वापोपवेशनम् ।
 चारुचित्रपरीहासो विहारः सलिलाशये ॥ ४३ ॥
 युगमत्वे लास्यगानाद्याः सर्वसाधारणाः क्रियाः ।
 युक्तायुक्तादिकथनं हितकृत्ये प्रवर्त्तनम् ॥ ४४ ॥

प्रायः पुरःसरत्वाद्याः सुहृदामीरिताः क्रियाः ।
 ताम्बूलाद्यर्पणं वक्त्रे तिलकस्थासकक्रिया ॥ ४५ ॥
 पत्राङ्कुरविलेखादि सखीनां कर्म कीर्तितम् ।
 निजिंतीकरणं युद्धे वस्त्रे धृत्वाऽस्य कर्षणम् ॥ ४६ ॥
 पुष्पाद्याच्छेदनं हासात् कृष्णेन स्वप्रसाधनम् ।
 हस्ताहस्तिप्रसङ्गाद्याः प्रोक्ताः प्रियसखक्रियाः ॥ ४७ ॥
 दूत्यं ब्रजकिशोरीषु तासां प्रणयगामिता ।
 तामिः केलिकलौ साक्षात्सख्युः पक्षपरिग्रहः ॥ ४८ ॥
 असाक्षात्स्वस्वपूर्वेशापक्षस्थापनचातुरी ।
 कर्णाकर्णिकथाऽऽद्याश्च प्रियनर्मसखक्रियाः ॥ ४९ ॥
 वन्यरत्नाद्यलङ्कारैर्माधवस्य प्रसाधनम् ।
 पुरस्तौर्यत्रिकं तस्य गवां सम्भालनक्रियाः ॥ ५० ॥
 अङ्गसंवाहनं माख्यगुम्फनं बीजनादयः ।
 एताः साधारणा दासैर्व्यस्यानां क्रिया मताः ॥ ५१ ॥
 पूर्वोक्तेष्वपराश्चात्र ज्ञेया धीरैर्यथोचितम् ।
 औग्यं त्रासं तथाऽऽलस्यं वर्जयित्वाऽखिलाः परे ॥ ५२ ॥
 रसे प्रेयसि भावज्ञैः कथिता व्यभिचारिणः ।
 तत्रायोगे मदं हर्षं गर्वं निद्रां घृतिं विना ॥ ५३ ॥
 योगे मृतिं क्लमं व्याधिं विनाऽपस्मृतिदानते ।
 विसुक्तसंभ्रमा या स्याद् विश्रम्भात्मा रतिद्वयोः ॥ ५४ ॥
 प्रायः समानयोरत्र सा सख्यं स्थायिशब्दभाक् ।
 विश्रम्भो गाढविश्वासविशेषो यन्त्रणोज्झितः ॥ ५५ ॥
 एषा सख्यरतिर्बुद्धिं गच्छन्ती प्रणयः क्रमात् ।
 प्रेमा स्नेहस्तथा राग इति पञ्चभिदोदिता ॥ ५६ ॥
 प्राप्तायां संभ्रमादीनां योग्यतायामपि स्फुटम् ।

तद्गन्धेनाप्यसंस्पृष्टा रतिः प्रणय उच्यते ॥ ५७ ॥
 अत्रापि पूर्ववत्प्रोक्तास्तापाद्यास्ता दशा दश ।
 प्रोक्तं विरहावस्था स्पष्टलीलाऽनुसारतः ॥ ५८ ॥
 कृष्णेन विप्रयोगः स्यान्न जातु व्रजवासिनाम् ।
 द्वयोरप्येकजातीयभावमाधुर्यभागसौ ॥ ५९ ॥
 प्रेयान् कामपि पुष्पाति रसश्चित्तचमत्कृतिम् ।
 प्रीते च वत्सले चापि कृष्णतद्भक्तयोः पुनः ॥ ६० ॥
 द्वयोरन्योन्यभावस्य भिन्नजातीयता भवेत् ।
 प्रेयानेव भवेत्प्रेयानतः सर्वरसेष्वयम् ॥ ६१ ॥
 सख्यसंपृक्तहृदयैः सद्भिरेवानुबुध्यते ।

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ पश्चिमविभागे मुख्यभक्तिरसानिरूपणे
 प्रेयोभक्तिलहरी ॥ ३ ॥

चतुर्थलहरी—

विभावद्यैस्तु वात्सल्यं स्थायी पुष्टिमुपागतः ।
 एष वत्सलतामात्रः प्रोक्तो भक्तिरसो बुधैः ॥ १ ॥
 कृष्णं तस्य गुरुंश्चात्र प्राहुरालम्बनान् बुधाः ।
 श्यामाङ्गो रुचिरः सर्वसलक्षणयुतो मृदुः ॥ २ ॥
 प्रियवाक् सरलो ह्रीमान् विनयी मान्यमानकृत् ।
 दातेत्यादिगुणः कृष्णो विभाव इह कथ्यते ॥ ३ ॥
 एवङ्गुणस्य चास्यानुग्राह्यत्वादेव कीर्तिता ।
 प्रभावानास्पदतया वेद्यस्यात्र विभावता ॥ ४ ॥
 अधिकंमम्यभावेन शिक्षाकारित्याऽपि च ।
 लालकत्वादिनाऽप्यत्र विभावा गुरवो मताः ॥ ५ ॥

ते तु तस्यात्र कथिता व्रजराज्ञी व्रजेश्वरः ।
 रोहिणी ताश्च बल्लव्यो याः पद्मजहृतात्मजाः ॥ ६ ॥
 देवकी तत्सपत्न्यश्च कुन्ती चानकदुन्दुभिः ।
 सान्दीपनिमुखाश्चान्ये यथापूर्वममी वराः ॥ ७ ॥
 व्रजेश्वरीव्रजाधीशौ श्रेष्ठौ गुरुजनेष्विमौ ।
 कौमारादिवयोरूपवेषाः शैशवचापलम् ॥ ८ ॥
 जल्पितस्मितलीलाऽऽद्या बुधैरुदीपनाः स्मृताः ।
 आद्यं मध्यं तथा शेषं कौमारं त्रिविधं मतम् ॥ ९ ॥
 स्थूलमध्योरुताऽपाङ्गश्वेतिमा स्वल्पदन्तता ।
 प्रव्यक्तमार्दवाद्यं च कौमारे प्रथमे सति ॥ १० ॥
 अस्मिन्मुहुः पदक्षेपः क्षणिके रुदितस्मिते ।
 स्वाङ्गुष्ठपानमुत्तानशयनाद्यं च चेष्टितम् ॥ ११ ॥
 अत्र व्याघ्रनखः कण्ठे रक्षातिलकमञ्जनम् ।
 पट्टडोरी कटौ हस्ते सूत्रमित्यादि मण्डनम् ॥ १२ ॥
 हृत्कटीभागलकताऽऽनग्नता च्छिद्रिकर्णता ।
 कलोक्तिरिङ्गणाद्यं च कौमारे सति मध्यमे ॥ १३ ॥
 घ्राणस्य शिखरे मुक्ता नवनीतं कराम्बुजे ।
 किङ्किण्यादि च कट्यादौ प्रसाधनमिहोदितम् ॥ १४ ॥
 अत्र किञ्चित्कृशं मध्यमीषत्प्रथितभागुरः ।
 शिरश्च काकपक्षाढ्यं कौमारे चरमे सति ॥ १५ ॥
 घटी फणपटी चात्र किञ्चिद्वन्यविभूषणम् ।
 लघुवेत्रकरत्वादि मण्डनं परिकीर्तितम् ॥ १६ ॥
 वत्सरक्षा व्रजाभ्यर्णे वयस्यैः सह खेलनम् ।
 पावशृङ्गदलादीनां बादनाद्यत्र चेष्टितम् ॥ १७ ॥
 पौगण्डादि पुरैवोक्तं तेन संक्षिप्य लिख्यते ।

नव्येन यौवनेनापि दीव्यन् गोपेन्द्रनन्दनः ॥ १८ ॥
 भाति केवलबात्सल्यभाजां पौगण्डभागिव ।
 सुकुमारेण पौगण्डवयसा संगतोऽप्यसौ ॥ १९ ॥
 किशोराभः सदा दासविशेषाणां प्रभासते ।
 अनुभावाः शिरोघ्राणं करेणाङ्गाभिमार्जनम् ॥ २० ॥
 आशीर्वादो निदेशश्च लालनं प्रतिपालनम् ।
 हितोपदेशदानाद्या बत्सले परिकीर्त्तिताः ॥ २१ ॥
 चुम्बाश्लेषौ तथाऽऽह्वानं नामग्रहणपूर्वकम् ।
 उपालम्भादयश्चात्र मित्रैः साधारणी क्रिया ॥ २२ ॥
 नैवात्र सात्त्विकाः स्तन्यस्रावः स्तम्भादयश्च ते ।
 अत्रापस्मारसहिताः प्रीतोक्ताः व्यभिचारिणः ॥ २३ ॥
 सम्भ्रमादिच्युता या स्यादनुकम्प्येऽनुकम्पितुः ।
 रतिः सैवात्र बात्सल्यं स्थायी भावो निगद्यते ॥ २४ ॥
 यशोदाऽऽदेस्तु बात्सल्यरतिः प्रौढा निसर्गतः ।
 प्रेमवस्त्रेह्वयद्भाति कदा चित्किल रागवत् ॥ २५ ॥
 बहूनामपि सद्भावे वियोगेऽत्र तु के चन ।
 चिन्ताविषादनिर्वेदजाड्यदैर्न्यानि चापलम् ॥ २६ ॥
 उन्मादमोहावित्याद्या अत्युद्रेकं व्रजन्त्यसी ।
 स्वीकुर्वते रसमिमं नाख्यज्ञा अपि के चन ॥ २७ ॥
 अप्रतीतौ हरिरतेः प्रीतस्य स्यादपुष्टता ।
 प्रेयसस्तु तिरोभावो बत्सलस्यास्य न क्षतिः ॥ २८ ॥
 एषा रसत्रयी प्रोक्ता प्रीतादिः परमाद्भुता ।
 तत्र केषु चिदप्यस्या सङ्कुलत्वमुदीर्यते ॥ २९ ॥
 सङ्कर्षणस्य सख्यं तु प्रीतिबात्सल्यसङ्गतम् ।
 युधिष्ठिरस्य बात्सल्यं प्रीत्या सख्येन चान्वितम् ॥ ३० ॥

आहुकप्रभृतीनां तु प्रीतिर्वात्सल्यमिश्रिता ।
 जरदाभीरिकाऽऽदीनां वात्सल्यं सख्यमिश्रितम् ॥ ३१ ॥
 माद्रेयनारदादीनां सख्यं प्रीत्या करम्बितम् ।
 रुद्रताक्षर्योद्धवादीनां प्रीतिः सख्येन मिश्रिता ॥ ३२ ॥
 अनिरुद्धादिनप्तुष्णामेव के चिद्धभाषिरे ।
 एवं केषु चिदन्येषु विज्ञेयं भावमिश्रणम् ॥ ३३ ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ पश्चिमविभागे मुख्यभक्तिरस-
 निरूपणे बत्सलभक्तिरसलहरी ॥ ४ ॥

पञ्चमलहरी—

आत्मोचितैर्विभावाद्यैः पुष्टिं नीता सतां हृदि ।
 मधुरारुख्यो भवेद्भक्तिरसोऽसौ मधुरा रतिः ॥ १ ॥
 निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुरुहत्वादयं रसः ।
 रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य वितताङ्गोऽपि लिख्यते ॥ २ ॥
 अस्मिन्नालम्बनः कृष्णः प्रियास्तस्य च सुश्रुवः ।
 असमानोर्ध्वसौन्दर्य्यलीलावैदग्ध्यसम्पदाम् ॥ ३ ॥
 आश्रयत्वेन मधुर हरिरालम्बनो मतः ।
 प्रेयसीषु हरेरासु प्रवरा वार्षभानवी ॥ ४ ॥
 उद्दीपना इह प्रोक्ता मुरलीनिस्वनादयः ।
 अनुभावास्तु कथिता दृगन्तेक्षास्मितादयः ॥ ५ ॥
 आलस्यौग्ये विना सर्वे विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
 स्थायी भावो भवत्यत्र पूर्वोक्ता मधुरा रतिः ॥ ६ ॥
 राधाभाषवयोरेव कापि भावः कदाऽप्यसौ ।
 सजातीयविजातीयैर्नैव विच्छिद्यते रतिः ॥ ७ ॥

स विप्रलम्भसम्भोगभेदेन द्विविधो मतः ।

स पूर्वरागो मानश्च प्रवासादिमयस्तथा ॥ ८ ॥

विप्रलम्भो बहुविधो विद्वद्भिरिह कथ्यते ।

प्रागसङ्गतयोर्भावः पूर्वरागो भवेद् द्वयोः ॥ ९ ॥

मानः प्रसिद्ध एवात्र प्रवासः सङ्गविच्युतिः ।

द्वयोर्मिलितयोर्मोगः संभोग इति कीर्त्यते ॥ १० ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ पश्चिमाविभागे मुख्यभक्तिरसनिरूपणे
मधुराख्यभाक्तिरसलहरी ॥ ५ ॥

श्रीमद्भागवताद्यर्हशास्त्रदार्शितया दृशा ।

इयमाविष्कृता मुख्या पञ्चभक्तिरसी मया ॥ १ ॥

गोपालरूपशोभां दधदपि रघुनाथभावविस्तारी ।

तुष्यतु सनातनात्मा पश्चिमभागे रसाम्बुनिधेः ॥ २ ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ मुख्यभक्तिरसनिरूपणनामा पश्चि-
मो विभागः ॥

गौणरसादिनिरूपकोत्तरविभागे

प्रथमलहरी—

भक्तिभरेण प्रीतिं कलयन्नुत्तरकृतव्रजासङ्गः ॥
तनुतां सनातनात्मा भगवान्मयि सर्वदा तुष्टिम् ॥ १ ॥
रसामृताब्धेर्भागेऽत्र तुरीये तूत्तरामिधे ।
रसः सप्तविधो गाणो मैत्रीवैरस्थितिर्मिथः ॥ २ ॥
रसाभासाश्च तेनात्र लहय्यो नव कीर्तिताः ।
प्रागत्रानियताधाराः कदा चित् काप्युदित्वराः ॥ ३ ॥
गौणा भक्तिरसाः सप्त लेख्या हास्यादयः क्रमात् ।
भक्तानां पञ्चधोक्तानामेषां मध्यत एव हि ॥ ४ ॥
काप्येकः काप्यनेकश्च गौणेष्वालम्बनो मतः ।
वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः पुष्टिं हासरतिर्गता ॥ ५ ॥
हास्यभक्तिरसो नाम बुधैरेष निगद्यते ।
अस्मिन्नालम्बनः कृष्णस्तथाऽन्योऽपि तदन्वयी ॥ ६ ॥
बृद्धाः शिशुमुखाः प्रायः प्रोक्ता धीरैस्तदाश्रयाः ।
विभावनादिवैशिष्ट्यात्प्रवराश्च क चिन्मताः ॥ ७ ॥
यच्चेष्टा कृष्णविषया प्रोक्तः सोऽत्र तदन्वयी ।
उद्दीपना हरेस्तादृग्वाग्बेषचरितादयः ॥ ८ ॥
अनुभावास्तु नासौष्ठगण्डविस्पन्दनादयः ।
हर्षालस्याबहिस्थाऽऽद्या विज्ञेया व्यभिचारिणः ॥ ९ ॥
सा हासरतिरेवात्र स्थायिभावतयोदिता ।
षोढा हासरतिः स्यात् स्मितहसिते विहसितावहसिते च ॥ १० ॥
अपहसितातिहसितके ज्येष्ठादीनां क्रमाद् द्वे द्वे ।
विभावनादिवैचित्र्यादुत्तमस्यापि कुत्र चित् ॥ ११ ॥

भवेद्विहसिताद्यं च भावज्ञैरिति भण्यते ।
 स्मितं त्वलक्ष्यदशनं नेत्रगण्डाविकासकृत् ॥ १२ ॥
 तदेव दरसंलक्ष्यदन्ताग्रं हसितं भवेत् ।
 सस्वनं दृष्टदशनं भवेद्विहसितं तु तत् ॥ १३ ॥
 तच्चावहसितं फुल्लनासकुञ्चितलोचनम् ।
 तच्चापहसितं साधुलोचनं कम्पितांसकम् ॥ १४ ॥
 सहस्ततालं क्षिसाङ्गं तच्चातिहसितं विदुः ।
 यस्य हासः स चेत् कापि साक्षान्नैव निबध्यते ॥ १५ ॥
 तथाऽप्येष विभावदिसामर्थ्यादुपलभ्यते ।
 एष हास्यरसस्तत्र कैशिकीवृत्तिविस्तृतौ ॥ १६ ॥
 शृङ्गारादिरसोद्भेदाद्बहुधैव प्रपञ्चितः ।

इति भक्तिरसामृतसिन्धुवृत्तरविभागे गौणभक्तिरस-
 निरूपणे हास्यभक्तिरसलहरी ॥ १ ॥

द्वितीयलहरी—

आत्मोचितैर्विभावाद्यैः स्वाद्यत्वं भक्तचेतसि ।
 सा विस्मयरतिर्नीताऽद्भुतभक्तिरसो भवेत् ॥ १ ॥
 भक्तः सर्वविधोऽप्यत्र घटते विस्मयाश्रयः ।
 लोकोत्तरक्रियाहेतुर्विषयस्तत्र केशवः ॥ २ ॥
 तस्य चेष्टाविशेषाद्यास्तस्मिन्नुद्दीपना मताः ।
 क्रियास्तु नेत्रविस्तारस्तम्भाश्रुपुलकादयः ॥ ३ ॥
 आवेगहर्षजाड्याद्यास्तत्र स्युर्व्यभिचारिणः ।
 स्थायी स्याद्विस्मयरतिः सा लोकोत्तरकर्मतः ॥ ४ ॥
 साक्षादनुमितं चेति तच्च द्विविधमुच्यते ।

साक्षाद्वैन्द्रियकं दृष्टश्रुतसङ्कीर्तितादिकम् ॥ ५ ॥
 अप्रियादेः क्रिया कुर्यान्नालौकिक्यपि विस्मयम् ।
 असाधारण्यपि मनाक् करोत्येव प्रियस्य सा ॥ ६ ॥
 प्रियात् प्रियस्य किमुत सर्वलोकोत्तरोत्तरा ।
 इत्यत्र विस्मये प्रोक्ता रत्यनुग्रहमाधुरी ॥ ७ ॥

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धानुत्तरविभागे गौणभक्तिरस-
 निरूपणेऽद्भुतभक्तिरसलहरी ॥ २ ॥

तृतीयलहरी—

सैवोत्साहरतिः स्थायी विभावाद्यैर्निजोचितैः ।
 आनीयमाना स्वाद्यत्वं वीरभक्तिरसो भवेत् ॥ १ ॥
 युद्धदानदयाधर्मैश्चतुर्धा वीर उच्यते ।
 आलम्बन इह प्रोक्त एष एव चतुर्विधः ॥ २ ॥
 उत्साहस्त्वेष भक्तानां सर्वेषामेव सम्भवेत् ।
 परितोषाय कृष्णस्य दधदुत्साहमाहवे ॥ ३ ॥
 सखा बन्धुविशेषो वा युद्धवीर इहोच्यते ।
 प्रतियोद्धा मुकुन्दो वा तास्मिन्वा प्रेक्षके स्थिते ॥ ४ ॥
 तदीयेच्छावशेनात्र भवेदन्यः सुहृद्भरः ।
 प्रायः प्रकृतिशूराणां स्वपक्षैरपि कर्हि चित् ॥ ५ ॥
 युद्धकेलिसमुत्साहो जायते परमाद्भुतः ।
 कत्थितास्फोटविस्पर्धाविक्रमास्त्रग्रहादयः ॥ ६ ॥
 प्रतियोधस्थिताः सन्तो भवन्त्युद्दीपना इह ।
 कत्थिताद्याः स्वसंस्थाश्चेदनुभावाः प्रकीर्तिताः ॥ ७ ॥
 तथैवाहोपुरुषिकाक्षवेडिताक्रोशबलानम् ।

असहायेऽपि युद्धेच्छा समरादपलायनम् ॥ ८ ॥

भीताभयप्रदानाद्या विज्ञेयाश्चापरे बुधैः ।

चतुष्टयेऽपि वीराणां निखिला एव सात्त्विकाः ॥ ९ ॥

गर्वावेगधृतिब्रीडामतिहर्षावहित्तिकाः ।

अमर्षोत्सुकताऽसूयास्मृत्याद्या व्यभिचारिणः ॥ १० ॥

युद्धोत्साहरतिस्त्वस्मिन् स्थायिभावतयोदिता ।

या स्वशक्तिसहाय्यैराहार्य्या सहजाऽपि वा ॥ ११ ॥

जिगीषा स्थेयसी युद्धे स युद्धोत्साह ईर्यते ।

सुहृदेव प्रतिभटो वीरे कृष्णस्य न त्वरिः ॥ १२ ॥

स भक्तिक्षोभकारित्वाद्वैद्रे त्वालम्बनो रसे ।

रागाभावो दृगादीनां रौद्रादस्य विभेदकः ॥ १३ ॥

द्विविधो दानवीरः स्यादेकस्तत्र बहुप्रदः ।

उपस्थितदुरापार्थत्यागी चापर उच्यते ॥ १४ ॥

सहसा दीयते येन स्वयं सर्वस्वमप्युत ।

दामोदरस्य सौरुयाय प्रोच्यते स बहुप्रदः ॥ १५ ॥

संप्रदानस्य वीक्षाऽऽद्या अस्मिन्नुद्दीपना मताः ।

वाञ्छिताधिकदातृत्वं स्मितपूर्वाभिभाषणम् ॥ १६ ॥

स्थैर्य्यदाक्षिण्यधैर्य्याद्या अनुभावा इहोदिताः ।

वितर्कौत्सुक्यहर्षाद्या विज्ञेया व्यभिचारिणः ॥ १७ ॥

दानोत्साहरतिस्त्वत्र स्थायिभावतयोदिता ।

प्रगाढा स्थेयसी दित्सा दानोत्साह इतीर्य्यते ॥ १८ ॥

द्विधा बहुप्रदोऽप्येष विद्वद्भिरिह कथ्यते ।

स्यादाभ्युदायिकस्त्वेकः परस्तत्संप्रदानकः ॥ १९ ॥

कृष्णस्याभ्युदयार्थं तु येन सर्वस्वमर्प्यते ।

अर्थिभ्यो ब्राह्मणादिभ्यः स आभ्युदयिको भवेत् ॥ २० ॥

ज्ञातये हरये स्वीयमहन्ताममताऽऽस्पदम् ।
 सर्वस्वं दीयते येन स स्यात्तत्संप्रदानकः ॥ २१ ॥
 तद्दानं प्रीतिपूजाभ्यां भवेदित्युदितं द्विधा ।
 प्रीतिदानं तु तस्मै यद्दद्याद् बन्ध्वादिरूपिणे ॥ २२ ॥
 पूजादानं तु तस्मै यद्विप्ररूपाय दीयते ।
 उपस्थितदुरापार्थत्याग्यसौ येन नेष्यते ॥ २३ ॥
 हरिणा दीयमानोऽपि साष्टर्यादिस्तुष्यता वरः ।
 पूर्वतोऽत्र विपर्यस्तकारकत्वं द्वयोर्भवेत् ॥ २४ ॥
 अस्मिन्नुद्दीपनाः कृष्णकृपाऽऽलापस्मितादयः ।
 अनुभावास्तदुत्कर्षवर्णनद्रढिमादयः ॥ २५ ॥
 अत्र संचारिता भूम्ना धृतेरेव समीक्ष्यते ।
 त्यागोत्साहरतिर्धैरैः स्थायी भाव इहोदितः ॥ २६ ॥
 त्यागेच्छा तादृशी प्रौढा त्यागोत्साह उदीर्यते ।
 अयमेव भवन्नुच्चैः प्रौढभावविशेषभाक् ॥ २७ ॥
 धुर्यादीनां तृतीयस्य वीरस्य पदवीं व्रजेत् ।
 कृपाऽऽर्द्रहृदयत्वेन खण्डशो देहमर्पयन् ॥ २८ ॥
 कृष्णायाच्छन्नरूपाय दयावीर इहोच्यते ।
 उद्दीपना इह प्रोक्तास्तदार्त्तिव्यञ्जनादयः ॥ २९ ॥
 निजप्राणव्ययेनापि विपन्नत्राणशीलता ।
 आश्वासनोक्तयः स्थैर्यमित्याद्यास्तत्र विक्रियाः ॥ ३० ॥
 औत्सुक्यमतिहर्षाद्या ज्ञेयाः संचारिणो बुधैः ।
 दयोत्साहरतिस्त्वत्र स्थायिभाव उदीर्यते ॥ ३१ ॥
 दयोद्रेकभृदत्साहो दयोत्साह इहोदितः ।
 हरेश्चेत्तत्त्वविज्ञानं नैवास्य घटते दया ॥ ३२ ॥
 तदभावे त्वसौ दानवीरेऽन्तर्भवति स्फुटम् ।

वैष्णवत्वादितिः कृष्णे क्रियतेऽनेन सर्वदा ॥ ३३ ॥
 कृताऽत्र द्विजरूपे च भक्तिस्तेनास्य भक्तता ।
 अन्तर्भावं वदन्तोऽस्य दानवीरे दयाऽऽत्मनः ॥ ३४ ॥
 वोपदेवादयो धीरा वीरमाचक्षते त्रिधा ।
 कृष्णैकतोषणे धर्मे यः सदा परिनिष्ठितः ॥ ३५ ॥
 प्रायेण धीरशान्तस्तु धर्मवीरः स उच्यते ।
 उद्दीपना इह प्रोक्ताः सच्छास्त्रश्रवणादयः ॥ ३६ ॥
 अनुभावा नयास्तिक्यसहिष्णुत्वयमादयः ।
 मतिस्मृतिप्रभृतयो विज्ञेया व्यभिचारिणः ॥ ३७ ॥
 धर्मोत्साहरतिर्धीरैः स्थायी भाव इहोच्यते ।
 धर्मैकाभिनिवेशस्तु धर्मोत्साहो मतः सताम् ॥ ३८ ॥
 यज्ञः पूजाविशेषोऽस्य भुजाद्यङ्गानि वैष्णवः ।
 ध्यात्वेन्द्राद्याश्रयत्वेन यदेष्वहुतिरर्प्यते ॥ ३९ ॥
 अयं तु साक्षात्तस्यैव निदेशात्कुरुते मखान् ।
 युधिष्ठिरोऽम्बुधिः प्रेम्णां महाभागवतोत्तमः ॥ ४० ॥
 दानादित्रिविधं वीरं वर्णयन्तः परिस्फुटम् ।
 धर्मवीरं न मन्यन्ते कति चिद्भनिकादयः ॥ ४१ ॥

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुवृत्तरविभागे गौणभक्तिरसनिरूपणे
 वीरभक्तिरसलहरी ॥ ३ ॥

चतुर्थलहरी —

आत्मोचितेर्विभावाद्यैर्नाता पुष्टिं सतां हृदि ।
 भवेच्छोकरतिर्भक्तिरसोऽयं करुणाभिधः ॥ १ ॥
 अव्युच्छिन्नमहानन्दोऽप्येष प्रेमविशेषतः ।

अनिष्टासेः पदतया वेद्यः कृष्णोऽस्य च प्रियः ॥ २ ॥
 तथाऽनवाप्ततद्भक्तिसौख्यश्च स्वप्रिये जनः ।
 इत्यस्य विषयत्वेन ज्ञेय आलम्बनसिद्धा ॥ ३ ॥
 तत्तद्वेदी च तद्भक्त आश्रयत्वेन च त्रिधा ।
 सोऽप्यौचित्येन विज्ञेयः प्रायः शान्तादिवर्जितः ॥ ४ ॥
 तत्कर्मगुपारूपाद्या भवन्त्युद्दीपना इह ।
 अनुभावा मुखे शोषो विलापः स्रस्तगात्रता ॥ ५ ॥
 श्वासक्रोशनभूपातघातोरस्ताडनादयः ।
 अत्राष्टौ सात्त्विका जाड्यनिर्वेदग्लानिदीनताः ॥ ६ ॥
 चिन्ता विषाद औत्सुक्यचापलोन्मादमृत्यवः ।
 आलस्यापस्मृतिव्याधिमोहाद्या व्यभिचारिणः ॥ ७ ॥
 हृदि शोकयतयांशेन गता परिणतिं रतिः ।
 उक्ता शोकरतिः सैव स्थायी भाव इहोच्यते ॥ ८ ॥
 रतिं विनाऽपि घटते हासादेरुद्गमः क्व चित् ।
 कदा चिदपि शोकस्य नास्य सम्भावना भवेत् ॥ ९ ॥
 रतेर्भूम्ना कश्चिन्ना च शोको भूयान् कृशश्च सः ।
 रत्या सहाविनाभावात्काप्येतस्य विशिष्टता ॥ १० ॥
 कृष्णैश्चर्याद्यविज्ञानं कृतं नैषामविद्यया ।
 किन्तु प्रेमोत्तररसविशेषेणैव तत्कृतम् ॥ ११ ॥
 अतः प्रादुर्भवन् शोको लब्ध्वाऽप्युद्भूतां मुहुः ।
 दुरुहामेव तनुते गतिं सौख्यस्य कामपि ॥ १२ ॥

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुवृत्तरविभागे गौणभक्तिरसनिरूपणे
 करुणभक्तिरसलहरी ॥ ४ ॥

पञ्चमलहरी—

नीता क्रोधरति पुष्टिं विभावाद्यैर्निजोचितैः ।
 हृदि ऋक्तजनस्यासौ रौद्रभाक्तिरसो भवेत् ॥ १ ॥
 कृष्णो हितोऽहितश्चेति क्रोधस्य विषयस्त्रिधा ।
 कृष्णे सखीजरत्याद्याः क्रोधस्याश्रयतां गताः ॥ २ ॥
 भक्ताः सर्वविधा एव हिते चैवाहिते तथा ।
 सखीक्रोधो भवेत्सख्याः कृष्णादत्याहिते सति ॥ ३ ॥
 क्रोधो जरत्या वध्वादिसम्बन्धे प्रेक्षिते हरौ ।
 गोबद्धनं महामल्लं विनाऽन्येषां ब्रजौकसाम् ॥ ४ ॥
 सर्वेषामेव गोविन्दे रतिः प्रौढा विराजते ।
 हितास्त्रिधाऽनवहितः साहसी चेष्ट्युरित्यपि ॥ ५ ॥
 कृष्णपालनकर्त्ताऽपि तत्कर्माभिनिवेशतः ।
 क्व चित्तत्र प्रपन्नो यः प्रोक्तोऽनवहितोऽत्र सः ॥ ६ ॥
 यः प्रेरको भयस्थाने साहसी स निगद्यते ।
 ईष्युर्मानधना प्रोक्ता प्रौढेऽप्यक्रान्तमानसा ॥ ७ ॥
 अहितः स्याद् द्विधा स्वस्य हरेश्चेति प्रभेदतः ।
 अहितः स्वस्य स स्याद्यः कृष्णसम्बन्धवाधकः ॥ ८ ॥
 अहितस्तु हरेस्तस्य वैरिपक्षो निगद्यते ।
 सोऽल्लुण्ठहासवक्रोक्तिकटाक्षानादरादयः ॥ ९ ॥
 कृष्णाहितहितस्थाः स्युरमी उद्दीपना इह ।
 हस्तनिष्पेषणं दन्तघट्टेन रक्तनेत्रता ॥ १० ॥
 दष्टौष्ठताऽतिभ्रुकुटी भुजास्फालनताडनाः ।
 तूष्णीकता नतास्यत्वं निश्वासो भुग्नदृष्टिता ॥ ११ ॥
 भर्त्सनं मूर्द्धविधुतिर्दृगन्ते पाटलच्छविः ।
 भूभेदाधरकम्पाद्या अनुभावा इहोदिता ॥ १२ ॥

अत्र स्तम्भादयः सर्वे प्राकट्यं यान्ति सात्त्विकाः ।
 आवेगो जडता गर्वो निर्वेदो मोहचापले ॥ १३ ॥
 असूयौग्न्यं तथाऽमर्षश्रमाद्या व्यभिचारिणः ।
 अत्र क्रोधरतिः स्थायी स तु क्रोधस्त्रिधा मतः ॥ १४ ॥
 कोपो मन्युस्तथा रोषस्तत्र कोषस्तु शत्रुगः ।
 मन्युर्वन्धुषु ते पूज्यसमन्यूनास्त्रिघोदिताः ॥ १५ ॥
 रोषस्तु दयिते स्त्रीणामतो व्यभिचरत्यसौ ।
 हस्तपेषादयः कोपे मन्यौ तूष्णीकताऽऽदयः ॥ १६ ॥
 दृगन्तपाटलत्वाद्या रोषे तु कथिताः क्रियाः ।
 अस्मिन्न तादृशो मन्यौ वर्तते रत्यनुग्रहः ॥ १७ ॥
 उदाहरणमात्राय तथाऽप्येष निदर्शितः ।
 क्रोधाश्रयाणां शत्रूणां चैद्यादीनां स्वभावतः ।
 क्रोधो रतिविनाभावान्न भक्तिरसतां व्रजेत् ॥ १८ ॥
 इति भक्तिरसामृतसिन्धुवुत्तरविभागे गौणभक्तिरसनिरूपणे
 रौद्रभक्तिरसलहरी ॥ ५ ॥

षष्ठलहरी—

वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः पुष्टिं भयरतिर्गता ।
 भयानकाभिघो भक्तिरसो धीरैरुदार्ज्यते ॥ १ ॥
 कृष्णश्च दारुणाश्चेति तस्मिन्नालम्बना द्विधा ।
 अनुकम्प्येषु सागःसु कृष्णस्तस्य च बन्धुषु ॥ २ ॥
 दारुणाः स्नेहतः शश्वत्तदनिष्टासिदर्शिषु ।
 दर्शनाच्छ्रवणाच्चर्चेति स्मरणाच्च प्रकीर्तिताः ॥ ३ ॥
 विभावस्य भुक्त्वाद्यास्तास्मिन्नुद्दीपना मताः ।

मुखशोषणमुच्छ्वासः पराहत्य विलोकनम् ॥ ४ ॥
 स्वसङ्गोपनमुद्धूर्णा शरणान्वेषणं तथा ।
 क्रोशनाद्याः क्रियाश्चात्र सात्त्विकाश्चाश्रुवर्जिताः ॥ ५ ॥
 इह सन्त्रासमरणचापलवेगदीनताः ।
 विषादमोहापस्मारशङ्काद्या व्यभिचारिणः ॥ ६ ॥
 अस्मिन् भयरतिः स्थायी भावः स्यादपराधतः ।
 भीषणेभ्यश्च तत्र स्याद्बहुधैवापराधिता ॥ ७ ॥
 तज्जा भीर्नापरत्र स्यादनुग्राह्यजनान्विता ।
 आकृत्या ये प्रकृत्या ये ये प्रभावेण भीषणाः ॥ ८ ॥
 एतदालम्बना भीतिः केवलप्रेमशालिषु ।
 नारीबालादिषु तथा प्रायेणात्रोपजायते ॥ ९ ॥
 आकृत्या पूतनाऽऽद्याः स्युः प्रकृत्या दुष्टभूभुजः ।
 भीषणास्तु प्रभावेण सुरेन्द्रगिरिशायकः ॥ १० ॥
 सदा भगवतो भीतिं गता आत्यन्तिकीमपि ।
 कंसाद्या रतिशून्यत्वादत्र नालम्बना मताः ॥ ११ ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धवुत्तरविभागे गौणभक्तिरसनिरूपणे
 भयानकभक्तिरसलहरी ॥ ६ ॥

सप्तमलहरी—

पुष्टिं निजविभावाद्यैर्जुगुप्सारतिरागता ।
 असौ भक्तिरसो धीरैर्वाभित्सार्य इतीर्यते ॥ १ ॥
 अस्मिन्नाश्रितशान्ताद्या धीरैरालम्बना मताः ।
 अत्र निष्ठीवनं वक्त्रकूणनं प्राणसंभृतिः ॥ २ ॥
 धावनं कम्पपुलकप्रस्वेदाद्याश्च विक्रियाः ।

इह ग्लानिश्रमोन्मादमोहनिर्वेददीनताः ॥ ३ ॥
 विषादचापलवेगजाब्जाद्या व्यभिचारिणः ।
 जुगुप्सारतिरत्र स्यात्स्थायी सा च विवेकजा ॥ ४ ॥
 प्रायिकी चेति कथिता जुगुप्सा द्विविधा बुधैः ।
 जातकृष्णरतेर्भक्तविशेषस्य तु कस्य चित् ॥ ५ ॥
 विवेकोत्था तु देहादौ जुगुप्सा स्याद्विवेकजा ।
 अमेध्यपूत्यनुभवात्सर्वेषामेव सर्वतः ॥ ६ ॥
 या प्रायो जायते सेयं जुगुप्सा प्रायिकी मता ।
 लब्धकृष्णरतेरेव सुष्ठु पूतं मनस्सदा ॥ ७ ॥
 क्षुभ्यत्यहृद्यलेशेऽपि ततोऽस्यां रत्यनुग्रहः ।
 हास्यादीनां रसत्वं यद् गौणत्वेनापि कीर्तितम् ॥ ८ ॥
 प्राचां मतानुसारेण तद्विज्ञेयं मनीषिभिः ।
 अभी पञ्चैव दान्ताद्या हरेर्भक्तिरसा मताः ॥ ९ ॥
 एषु हासादयः प्रायो बिभ्रति व्याभिचारिताम् ।

इति भक्तिरसामृतसिन्धुवुत्तरविभागे गौणभक्तिरस-
 निरूपणे बीभत्सभक्तिरसलहरी ॥ ७ ॥

अष्टमलहरी —

अथामीषां क्रमेणैव शान्तादीनां परस्परम् ।
 मित्रत्वं शात्रवत्त्वं च रसानामभिधीयते ॥ १ ॥
 शान्तस्य प्रीतबीभत्सधर्मवीराः सुहृद्वराः ।
 अद्भुतश्चैष विज्ञेयः प्रीतादिषु चतुर्ष्वपि ॥ २ ॥
 द्विषन्नस्य शुचिर्युद्धवीरो रौद्रो भयानकः ।
 सुहृत्प्रीतस्य बीभत्सः शान्तो वीरद्वयं तथा ॥ ३ ॥

वैरी शुचिर्युद्धवीरो रौद्रश्चैकविभावकः ।
 प्रेयसस्तु शुचिर्हास्यो युद्धवीरः सुहृद्वराः ॥ ४ ॥
 द्विषो बत्सलबीभत्सरौद्रा भीष्मश्च पूर्ववत् ।
 बत्सलस्य सुहृद्भास्यः करुणो भीष्मभित्तथा ॥ ५ ॥
 शत्रुः शुचिर्युद्धवीरः प्रीतो रौद्रश्च पूर्ववत् ।
 शुचेर्हास्यस्तथा प्रेयान् सुहृदस्य प्रकीर्तितः ॥ ६ ॥
 द्विषो बत्सलबीभत्सशान्तरौद्रभयानकाः ।
 प्राहुरेकस्य सुहृदं वीरयुग्मं परे रिपुम् ॥ ७ ॥
 मित्रं हास्यस्य बीभत्सः शुचिः प्रेयान्सबत्सलः ।
 प्रतिपक्षस्तु करुणस्तथा प्रोक्तो भयानकः ॥ ८ ॥
 अद्भुतस्य सुहृद्वीरः पञ्च शान्तादयस्तथा ।
 प्रतिपक्षो भवेदस्य रौद्रो बीभत्स एव च ॥ ९ ॥
 वीरस्य त्वद्भुतो हास्यः प्रेयान् प्रीतस्तथा सुहृत् ।
 भयानको विपक्षोऽस्य कस्य चिच्छान्त एव च ॥ १० ॥
 करुणस्य सुहृद्रौद्रो बत्सलश्च विलोक्यते ।
 वैरी हास्योऽस्य संभोगशृङ्गारश्चाद्भुतस्तथा ॥ ११ ॥
 रौद्रस्य करुणः प्रोक्तो वीरश्चापि सुहृद्वरः ।
 प्रतिपक्षस्तु हास्योऽस्य शृङ्गारो भीषणोऽपि च ॥ १२ ॥
 भयानकस्य बीभत्सः करुणश्च सुहृद्वरः ।
 द्विषस्तु वीरशृङ्गारहास्यरौद्राः प्रकीर्तिताः ॥ १३ ॥
 बीभत्सस्य भवेच्छान्तो हास्यः प्रीतस्तथा सुहृत् ।
 शत्रुः शुचिस्तथा प्रेयान् ज्ञेया युक्त्या परे च ते ॥ १४ ॥
 कथितेभ्यः परे ये स्युस्ते तटस्थाः सतां मताः ।
 सुहृदामिश्रणं सम्यगास्वाद्यं कुरुते रसम् ॥ १५ ॥
 द्वयोस्तु मिश्रणे साम्यं दुःशकं स्यात्तुलाभृतम् ।

तस्मादङ्गाङ्गिभावेन मेलनं विदुषां मतम् ॥ १६ ॥

भवेन्मुख्योऽथ वा गौणो रसोऽङ्गी किल यत्र सः ।

कर्त्तव्यं तत्र तस्याङ्गं सुहृदेव रसो बुधैः ॥ १७ ॥

अथाङ्गित्वं प्रथमतो मुख्यानामिह लिख्यते ।

अङ्गतां यत्र सुहृदो मुख्या गौणाश्च बिभ्रति ॥ १८ ॥

केवले बत्सले नास्ति मुख्यस्य खलु सौहृदम् ।

अतोऽत्र बत्सले तस्य नतरां लिखिताऽङ्गता ॥ १९ ॥

हास्यादीनां तु गौणानां यदुदाहरणं कृतम् ।

तेनैषामङ्गिता व्यक्ता मुख्यानां च तथाऽङ्गता ॥ २० ॥

तथाऽप्यरूपविशेषाय किञ्चिदेव विलिख्यते ।

एवमन्यस्य गौणस्य ज्ञेया कविभिरङ्गिता ॥ २१ ॥

तथाऽत्र मुख्यगौणानां रसानामङ्गताऽपि च ।

सोऽङ्गी सर्वातिगो यः स्यान्मुख्यो गौणोऽथ वा रसः ॥ २२ ॥

स एवाङ्गं भवेदङ्गिपोषी संचारितां व्रजेत् ।

स्तोकाद्विभावनाज्जातः सम्प्राप्य व्यभिचारिताम् ॥ २३ ॥

पुष्पान्निजप्रभुं मुख्यं गौणस्तत्रैव लीयते ।

प्रोद्यन्विभावनोत्कर्षात्पुष्टिं मुख्येन लम्बितः ॥ २४ ॥

कुञ्चता निजनाथेन गौणोऽप्यङ्गित्वमश्नुते ।

मुख्यस्त्वङ्गत्वमासाद्य पुष्पान्निन्द्रमुपेन्द्रवत् ॥ २५ ॥

गौणमेवाङ्गिनं कृत्वा निगूढनिजवैभवः ।

अनादिवासनोद्भासवासिते भक्तचेतसि ॥ २६ ॥

भात्येव न तु लीनः स्यादेष संचारिगौणवत् ।

अङ्गं मुख्यः स्वमत्राङ्गैर्भावस्तैरभिवर्द्धयन् ॥ २७ ॥

सजातीयैर्विजातीयैः स्वतन्त्रः सन् विराजते ।

यस्य मुख्यस्य यो भक्तो भवेन्नित्यनिजाश्रयः ॥ २८ ॥

अङ्गी स एव तत्र स्यान्मुख्योऽप्यन्योऽङ्गतां व्रजेत् ।
 आस्वादोद्रेकहेतुत्वमङ्गस्याङ्गत्वमाङ्गिनि ॥ २६ ॥
 तद्विना तस्य सम्पातो वैफल्ययैव कल्पते ।
 यथा मृष्टरसालायां यवसादेः कथं चन ॥ ३० ॥
 तच्चर्वणे भवेदेव सतृणाभ्यवहारिता ।
 जनयत्येव वैरस्यं रसानां वैरिणा युतिः ॥ ३१ ॥
 सुमृष्टपानकादीनां क्षारतिक्तादिना यथा ।
 शुचेः सम्बन्धगन्धोऽपि कथं चिद्यदि वत्सले ॥ ३२ ॥
 क चिद्ववेत्ततः सुष्ठु वैरस्यायैव कल्पते ।
 एवमन्याऽपि विज्ञेया प्राज्ञै रसविरोधिता ॥ ३३ ॥
 प्रायेणेयं रसाभासकक्षायां पर्थवस्यति ।
 द्वयोरेकतरस्येह बाध्यत्वेनोपवर्णनम् ॥ ३४ ॥
 स्मर्यमाणतयाऽप्युक्तौ साम्येन रचनेऽपि च ।
 रसान्तरेण व्यवधौ तटस्थेन प्रियेण वा ॥ ३५ ॥
 विषयाश्रयभेदे च गौणेन द्विषता सह ।
 रत्यादिषु न वैरस्यं वैरिणोर्जनयेद्युतिः ॥ ३६ ॥
 बाध्यत्वमत्र शान्तस्य शुचेरुत्कर्षवर्णनात् ।
 विषयाश्रयभेदेऽपि मुख्येन द्विषता सह ॥ ३७ ॥
 सङ्गतिः किल मुख्यस्य वैरस्यायैव जायते ।
 अनुरक्तधियो भक्ताः के चन ज्ञानवर्त्मनि ॥ ३८ ॥
 शान्तस्याश्रयभिन्नत्वे वैरस्यं नानुमन्वते ।
 भृत्ययोर्नायकस्येव निसर्गद्वेषिणोरपि ॥ ३९ ॥
 अङ्गयोरङ्गिनः पुष्टौ भवेदेकत्र सङ्गतिः ।
 मिथो वैरावपि द्वौ यौ भावौ धर्मसुतादिषु ॥ ४० ॥
 कालादिभेदात्प्राकट्यं तौ बिन्दन्तौ न दुष्यतः ।

अधिरूढे महाभावे विरुद्धैर्विरसा युतिः ॥ ४१ ॥
 न स्यादित्युज्ज्वले राधाकृष्णयोर्दर्शितं पुरा ।
 काप्यचिन्त्यमहाशक्तौ महापुरुषशेखरे ॥ ४२ ॥
 रसावलिसमावेशः स्वादायैवोपजायते ।

इति भक्तिरसामृतसिन्धवुत्तरविभागे रसानां-
 भैत्रीवैरस्थितिलहरी ॥ ८ ॥

नवमलहरी —

पूर्वमेवानुशिष्टेन विकलाः रसलक्ष्मणा ।
 रसा एव रसामासा रसज्ञैरनुकीर्तिताः ॥ १ ॥
 स्युस्त्रिषोपरसाश्चानुरसाश्चापरसाश्च ते ।
 उत्तमा मध्यमाः प्रोक्ताः कनिष्ठाश्चेत्यमी क्रमात् ॥ २ ॥
 प्राप्तेः स्थायिविभावानुभावार्थैस्तु विरूपताम् ।
 शान्तादयो रसा एव द्वादशोपरसा मताः ॥ ३ ॥
 ब्रह्मभावात्परब्रह्मण्यद्वैताधिक्ययोगतः ।
 तथा बीभत्सभूमादेः शान्तो ह्युपरसो भवेत् ॥ ४ ॥
 कृष्णस्याग्नेऽतिधाष्ट्येन तद्भक्तेष्ववहेलया ।
 स्वामीष्टदेवतोऽन्यत्र परमोत्कर्षवीक्षया ॥ ५ ॥
 मर्यादाऽतिक्रमाद्यैश्च प्रीतोपरसता मता ।
 एकस्मिन्नेव सख्येन हरिमित्राद्यवज्ञया ॥ ६ ॥
 युद्धभूमादिना चापि प्रेयानुपरसो भवेत् ।
 सामर्थ्याधिक्यविज्ञानाल्लालनाद्यप्रयत्नतः ॥ ७ ॥
 करुणस्यातिरेवादेस्तु र्यश्चापरसो भवेत् ।
 द्वयोरेकतरस्यैव रतिर्याः खलु दृश्यते ॥ ८ ॥

याऽनेकत्र तथैकस्य स्थायिनः सा विरूपता ।
 विभावस्यैव वैरूप्यं स्थायिन्यत्रोपचर्यते ॥ ९ ॥
 अत्यन्ताभाव एवात्र रतेः खलु विवक्षितः ।
 एतस्याः प्रागभावे तु शुचिर्नोपरसो भवेत् ॥ १० ॥
 के चित्तु नायकस्यापि सर्वथा तुल्यरागतः ।
 नायिकास्वप्यनेकासु वदन्त्युपरसं शुचिम् ॥ ११ ॥
 वैदग्ध्यौज्ज्वल्यविरहो विभावस्य विरूपता ।
 लतापशुपुलिन्दीषु वृद्धास्वपि स वर्तते ॥ १२ ॥
 स्थायिऽनोत्र विरूपत्वमेकरागतयाऽपि चेत् ।
 घटेतासौ विभावस्य विरूपत्वेऽप्युदाहृति ॥ १३ ॥
 शुचित्वौज्ज्वल्यवैदग्ध्यात्सुवेषत्वाच्च कथ्यते ।
 शृङ्गारस्य विभावत्वमन्यत्राभासता ततः ॥ १४ ॥
 समयानां व्यतिक्रान्तिर्प्राप्त्यत्वं धृष्टताऽपि च ।
 वैरूप्यमनुभावादेर्मनीषिभिरुदीरितम् ॥ १५ ॥
 समयाः खण्डिताऽऽदीनां प्रिये रोषोदितादयः ।
 पुंसः स्मितादयश्चात्र प्रियया ताडनादिषु ॥ १६ ॥
 एतेषामन्यथाभावः समयानां व्यतिक्रमः ।
 बालशब्दाद्युपन्यासो विरसोक्तिप्रपञ्चनम् ॥ १७ ॥
 कटीकण्डूतिरित्याद्यं प्राप्त्यत्वं कथितं बुधैः ।
 प्रकटप्रार्थनाऽऽदिः स्यात्सम्भोगादेस्तु धृष्टता ॥ १८ ॥
 एवमेव तु गौणानां हासादीनामपि स्वयम् ।
 विज्ञेयोपरसत्वस्य मनीषिभिरुदाहृतिः ॥ १९ ॥
 भक्तादिभिर्विभावाद्यैः कृष्णसम्बन्धवर्जितैः ।
 रसा हास्यादयः सप्त शान्तश्चानुरसा मताः ॥ २० ॥
 एवमेवात्र विज्ञेया वीरादेरप्युदाहृतिः ।

अष्टावमी तटस्थेषु प्राकट्यं यदि विभ्रति ॥ २१ ॥

कृष्णादिभिर्विभावाद्यैस्तदाऽप्यनुरसा मताः ।

कृष्णतत्प्रतिपक्षाश्चेद्विषयाश्रयतां गताः ॥ २२ ॥

हासादीनां तदा तत्र प्राज्ञैरपरसा मताः ।

एवमन्येऽपि विज्ञेयास्तेऽद्भुतापरसादयः ॥ २३ ॥

उत्तमास्तु रसाभासाः कैश्चिद्रसतयोदिताः ।

भावाः सर्वे तदाभासा रसाभासाश्च के चन ॥ २४ ॥

अमी प्रोक्ता रसाभिज्ञैः सर्वेऽपि रसनाद्रसाः ।

भारत्याद्याश्चतस्रस्तु रसावस्थानसूचिकाः ॥ २५ ॥

वृत्तयो नाट्यमातृत्वादुक्ता नाटकलक्षणे ।

इति भक्तिरसामृतसिन्धुवुत्तरविभागे रसाभासलहरी ॥ ९ ॥

ग्रन्थस्य गौरवभयादस्या भक्तिरसश्रियः ।

समाहृतिः समासेन मया सेयं विनिर्मिता ॥ १ ॥

गोपालरूपशोभां दधदपि रघुनाथभावविस्तारी ।

तुष्यतु सनातनोऽस्मिन्नुत्तरभागे रसामृताम्भोषेः ॥ २ ॥

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ गौणभक्तिरसादिनिरूपणनामा

चतुर्थो विभागः ।

रामाङ्गशक्र १४६२ गणिते शाके गोकुललमाधिष्ठितेनायम् ।

भक्तिरसामृतसिन्धुर्विटाङ्कितः क्षुद्ररूपेण ॥ १ ॥

* इति श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धुः *

समाप्तः ॥

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY.

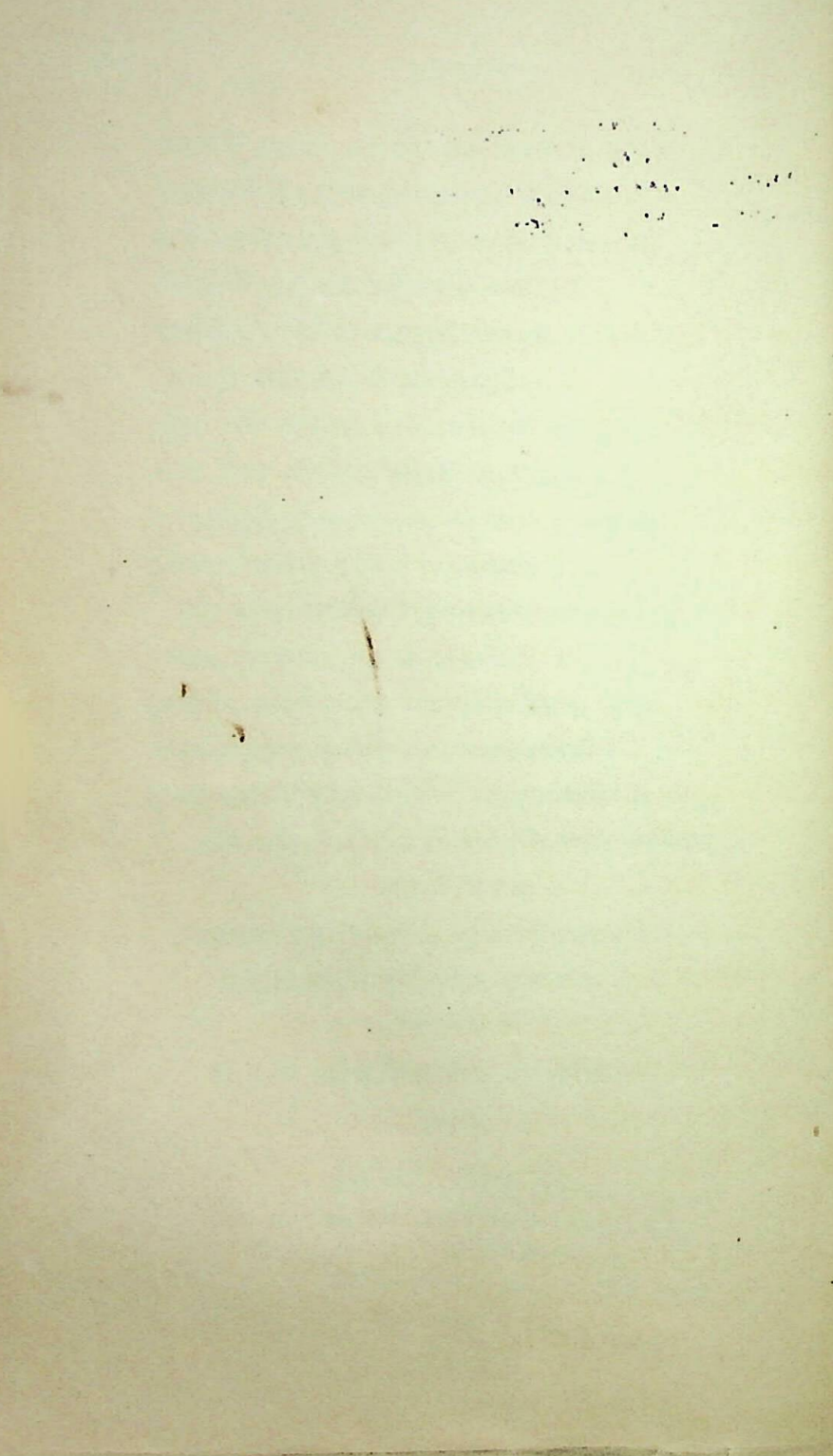
SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY.

Jangamwadi Math, VARANASI.

Acc. No.

Acc. No.

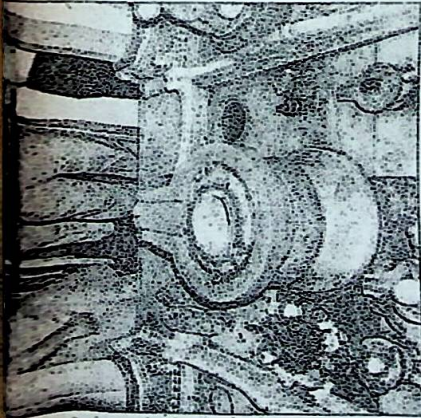
1197







आपका ध्यान रहे कि यह लेख केवल सूचना के लिए है।



को रोप दिया। राहुल ने भी उसके साथ कुछ फाला दिया। 29 जून को पीड़िता ने घटना के संबंध में अपने घर वालों को जानकारी दी। अपने साथ हुई घटना से क्षुब्ध होकर पीड़िता ने अपने शरीर पर मिट्टी का तेल छिड़ककर आग लगा ली। बाद में इलाज के दौरान उसकी मौत हो गई।

पति से गुस्सा, वरुणा में कूदी

वाराणसी : पति से किसी बात पर गुस्सा होकर मंगलवार सुबह छान्नी क्षेत्र की उषा देवी ने वरुणा में छलांग लगा दी। संयोग ही था कि वरुणा में आई बाढ़ के कारण वहां पीएसी व जल पुलिस के जवान तैनात थे और उन्होंने महिला को बचा लिया। पीएनयू क्लब के पास बंगला नंबर 67 की उषा देवी सुबह छह बजे नए वरुणापुल पर पहुंची और वरुणा नदी में कूद गई। पानी में उतरते-डूबते देख वहां मौजूद पीएसी के स्मेश चंद तिवारी, मिस्त्रिशाकर, राजनाथ यादव व स्मेश मोटरबोट से पहुंचे और उषा देवी को बाहर निकाला। वेंहेश उषा देवी का प्राथमिक उपचार करने के बाद पीएसी के जवानों ने उनके घरवालों को सूचना दी। मौके पर आए घरवालों ने बताया कि पारिवारिक कलह के चलते भावना में बहकर उषा देवी ने अपनी जान देने की कोशिश की।

गिराशोक यादववर शिव को लाना लड़कर कर दिया। गत 31 अगस्त को मठ से शिवलिंग चोरी हो गया था। इस संबंध में मठ के पंचाखरी लिंगाई ने प्राथमिकी दर्ज कराई थी।

उपर अहम सुराग मिलने के बाद भी इस मामले में चोथे दिन भी पुलिस के हाथ खाली हैं। एडिजी ने बताया कि इस शिवलिंग से आम लोगों की भावनाएं जुड़ी हैं इसलिए इसका पर्दाफाश करना पुलिस के लिए एक बड़ी चुनौती है। दुर्लभ पत्थर के इस शिवलिंग पर रयत ही चंद्रमा की आकृति उभरी है।

इसका पुरातात्विक महत्व भी है। शिवलिंग को जल्द बरामद नहीं किया गया तो हो सकता है इस पर हाथ साफ करने वाला इसे देश से बाहर भेज दें। मठ में बड़ी संख्या में शिवलिंग है। इसके बादजूद वही शिवलिंग गायब किया गया इसका मतलब यह भी निकलता है कि इसकी खासियत के बारे में उसे भतीभाति जानकारी रही होगी।

दूसरी ओर मठ के सूत्रों ने बताया कि मंडुवाडीह निवासी एक व्यक्ति डेढ़ वर्ष से यहां दर्शन के लिए आता रहा। इसकी जानकारी मठ के आंगतुक रजिस्टर से भी हुई है। रजिस्टर पर उसका नाम पीन पांडेय दर्ज है। सीसीटीवी फुटेज में भी सदिग्ध को देग में शिवलिंग ले जाते देखा गया है। ज्ञात हो कि इसे बरामद करने वाले को मठ प्रबंधन ने 51 हजार रुपये का इनाम देने की घोषणा की है। आंगतुक रजिस्टर में भी कुछ मोबाइल नंबर मिले हैं जिसे भी खंगाला जा रहा है।

जंगमबाड़ी मठ में निरीक्षण करते आइजी जोन।

वाराणसी : जंगमबाड़ी मठ से चोरी गए दुर्लभ शिवलिंग प्रकरण की गार्निटिंग अपर पुलिस महानिदेशक व प्रभारी पुलिस महानिरीक्षक जीएल मीणा खुद कर रहे हैं। उन्होंने शिवलिंग बरामद करने वाले पुलिस दल के लिए 15 हजार रुपये का इनाम भी घोषित किया है। साथ ही प्रशस्ति पत्र भी दिया जाएगा। इसी सिलसिले में उन्होंने मंगलवार को मठ का निरीक्षण किया और वहां के प्रबंधन से चोरी की बाबत जानकारी हासिल की।

